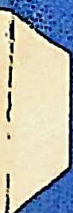


C. No-1359



015, 1A
f4

1359

Vishnusharma.
Hitopadesha.

015, 1A

1359

SHRI JAGADGURU VISHWARADHYA JNANAMANDIR
(LIBRARY)
JANGAMAWADIMATH, VARANASI

✿ ✿ ✿ ✿ ✿

Please return this volume on or before the date last stamped.
Overdue volume will be charged ten paise per day.

[illegible]



हितोपदेशः ।



श्रीविष्णुशर्मणा सङ्कलितः ।

पण्डितकुलपतिना,

वि, ए, उपाधिधारिणा

श्रीमज्जीवानन्द-विद्यासागर-भट्टाचार्य्येण

विरचितया व्याख्यया समुद्भासितः ।

तदालिजाभ्यां

पण्डित-श्रीमदाशुबोध-विद्याभूषण-

पण्डित-श्रीमन्नित्यबोध-विद्यारत्नाभ्यां

परिवर्द्धितटीकया समलङ्कृतः प्रकाशितश्च ।

एकादशसंस्करणम् ।

कालिकातामहानगर्याम्

वाचस्पत्ययन्दे

मुद्रितः ।

इं १८९४ ।

015,1A

FA

प्रकाशक— { पण्डित-श्रीआशुबोध-विद्याभूषण
तथा
पण्डित-श्रीनित्यबोध-विद्यारत्न ।

प्राप्तिस्थान— { २ न०, रमानाथ मजुमदार ट्रीट, आम्हाष्ट-
ट्रीट पोष्ट-अफिस । कलिकाता ।

प्रिण्टर—वि, वि, मुखर्जी ।

२ न०, रमानाथ मजुमदार ट्रीट, कलिकाता ।

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY,

Jangamwadi Math, VARANASI,

Acc. No. ~~1027~~ ~~1724~~

1359



उपोद्घातः ।

अस्ति हि नीतिशास्त्रं नाम अतिप्राचीनमतिविस्तृतञ्च शास्त्रम् । तस्मिंश्च राजनीति-दण्डनीत्यर्थनीत्यादीनामर्वाचीनानां शास्त्राणामन्तर्भावः ।

तच्च खृष्टप्रादुर्भावात् प्राक् पञ्चमादिशतके विशालाख्य-बाहुदन्तीपुत्र-कुणपदन्त-घोटकमुख-वृहस्पति-शुक्रप्रभृतिभिः आचार्यैरतिविस्तृतिं नीतम् । अध्ययनाध्यापन-सौकर्यार्थं तच्च विस्तृतं शास्त्रं चन्द्रगुप्तस्य मौर्यस्य निमित्तं कौटिल्येन षड्भिः श्लोकसहस्रैः सङ्गृहीतम् ।

तेन चोक्तं,—“चतस्रा राजविद्याः, आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति” । तासु च वृहस्पतिः, आन्वीक्षिकीं त्रयीञ्च न मन्यते ; तेन च वृहस्पतेर्नास्तिक इत्याख्या, शुक्रस्तु दण्डनीति-मेवैकां मन्यते, नान्याः ; अतः सोऽसुरगुरुरिति नामभाग्भवति । कौटिल्येन च स्वमतस्थापनार्थं परमतदूषणार्थञ्च बहूनां प्राचीनानां नीतिशास्त्रविदां वचनान्युद्धृतानि । ते च मानवा-चार्यः वृहस्पतिः शुक्रः भारद्वाजः विशालाक्षः पाराशरः पिशुनः कुणपदन्तः वातव्याधिः आसभीयः कात्यायनः कण्वः चारायणः घोटकमुखः किञ्चल्कः पिशुनपुत्रश्चेति । कौटिल्य-शिष्यः कामन्दकः नीतिसारनामानं राजनीतिग्रन्थं व्यरीरचत् । पुनरप्येतेषां टीकाटिप्पण्यादिभिः बहुविस्तृतिं गते नीतिशास्त्रे तदध्ययनालसैः राजपुत्रैरुच्छृङ्खलता समासादिता । तस्माद् कारणात् केनापि सुबुद्धिना पण्डितेन पशुपक्षिकथाव्याजेन पञ्चतन्त्रं नाम नीतिपुस्तकं लिखितम् । तच्च कौटिल्यस्यान्यस्मिन् नामनि विष्णुशर्मणि आरोपितम् । तच्च पुस्तकं खृष्टीयषष्ठशतके लिखितमिति विदुषां परामर्शः ।

तत्र प्रमाणम्,—एतत् पञ्चतन्त्रं नाम पुस्तकं नासिरवान्-
नामकः पारस्यदेशीयो राजा पारदीयभाषायां सङ्कलितवान् ।
स च राजा ख्रिष्टीय ५३१ अब्दम् आरभ्य ५७८ अब्दं यावत्
पारस्यमहीं शशास इति ख्यातिः । तस्मिंश्च पञ्चतन्त्रग्रन्थे वराह-
मिहिरस्य ज्योतिर्ग्रन्थाद्वह्नि वचनान्युद्धृतानि । वराहमिहिरस्य
ख्रिष्टीय ४७६ अब्दे जातः, ख्रिष्टीय ५०५ अब्दे च तेन ग्रन्थो
लिखितः । तस्मात् ख्रिष्टीय ४७६ अब्दादूर्ध्वम् ५७८ अब्दादर्वाक्
पञ्चतन्त्रस्य रचनाकालः । तस्मिंश्च शताधिकवर्षमध्ये ख्रिष्टीय
५०५ अब्दादूर्ध्वम् ५३१ अब्दादर्वाक् ग्रन्थरचनायाः अत्यधिका
सम्भावना ।

हितोपदेशो नाम नीतिग्रन्थः प्रधानतः पञ्चतन्त्रमवलम्ब्यैव
लिखित इति ग्रन्थकर्त्ता स्वयमेव कथारम्भे उक्तम्, अत एवायं
पञ्चतन्त्ररचनाकालादूर्ध्वं रचित इति स्पष्टम् । स च ग्रन्थो ग्रन्थ-
कर्त्ता नारायणेन विष्णुशर्मा राजपुत्रसंवादरूपेण लिखित इति,
विष्णुशर्मणैव कृत इति च किंवदन्ती विजृम्भते । तस्य च
रचनाकालो न ज्ञायते । यच्चाध्यापकमागदोनेलेनाभिहितं, यतः
पञ्चशतवर्षेभ्यः प्राचीनतमं हितोपदेशस्य पुस्तकं नोपलभ्यते,
अतः इतः समयात् पञ्चशतवर्षोत्तरमेव स ग्रन्थो रचित इति,
तद्वेद्यम् ; यतः यत् प्राचीनतमं पुस्तकं प्राप्तं तत् ग्रन्थकर्त्ता स्वय-
मेव स्वहस्तेन लिखितमित्यत्रास्ति किञ्चित् प्रमाणम् ? यदि
नास्ति, तदा ख्रिष्टीय ५७८ वर्षादूर्ध्वम् इतश्च पञ्चशतवर्षादर्वाक्
कस्मिन्नपि काले लिखितमिति तावदेव वक्तुं शक्यं, यावत्
प्रमाणान्तराविष्कृतिर्न भवति इति ।

महामहोपाध्याय—श्रीयुक्तहरप्रसाद-शास्त्रिणाम् ।

हितोपदेशस्य कथानां सूचीपत्रम् ।

विषयाः

पृष्ठाङ्काः

| | | | | |
|-----------------|-----|-----|-----|---|
| मङ्गलाचरणम् | ... | ... | ... | १ |
| ग्रन्थप्रयोजनम् | ... | ... | ... | १ |
| विद्याप्रशंसा | ... | ... | ... | २ |
| ग्रन्थाभिधेयम् | ... | ... | ... | ३ |
| कथामुखम् | ... | ... | ... | ४ |

मित्रलाभे

| | | | | |
|------------------------------------|-----|-----|-----|-----|
| मित्रलाभः | ... | ... | ... | १६ |
| काक-कृष्ण-शृग-मूषिक-कथा | ... | ... | ... | १७ |
| वृद्धन्यात्र-पथिककथा | ... | ... | ... | १८ |
| शृग-वायस-शृगालकथा | ... | ... | ... | ४२ |
| वृद्धपुत्र-माज्जारकथा | ... | ... | ... | ४३ |
| चूडाकर्ण-वीणाकर्ण-नानकपरिव्राजककथा | ... | ... | ... | ७१ |
| वृद्धवणिग्दम्पतिकथा | ... | ... | ... | ७३ |
| व्याध-शृग-शूकर-सर्प-जम्बुककथा | ... | ... | ... | ८६ |
| राजपुत्र-वणिक्पुत्रबधूकथा | ... | ... | ... | ११२ |
| गज-शृगालकथा | ... | ... | ... | ११७ |

सुहृद्भेदे

| | | | | |
|--|-----|-----|-----|-----|
| सुहृद्भेदः | ... | ... | ... | १२८ |
| वणिग्-वृषभ-सिंह-शृगालद्वयकथा | ... | ... | ... | १२८ |
| कीलोत्पाटि-वानरकथा | ... | ... | ... | १४१ |
| रजक-चौर-गर्दभ-कुक्कुरकथा | ... | ... | ... | १४२ |
| सिंह-माज्जार-मूषिककथा | ... | ... | ... | १७१ |
| कुङ्कुम-चण्डाकर्ण-राक्षसकथा | ... | ... | ... | १७६ |
| राज-राजपुरुष-परिव्राजक-साधु-गोप-गोपबधू-नापित-नापितबधूकथा | ... | ... | ... | १८८ |
| गोपी-तज्जारद्वयकथा | ... | ... | ... | १८५ |
| काकदम्पति-कृष्णसर्प-कनकसूक्ष्मकथा | ... | ... | ... | १८८ |
| सिंह-जगज्जकथा | ... | ... | ... | १८८ |
| समुद्र-टिड्ढिदम्पतिकथा | ... | ... | ... | २१५ |

विषयः

पृष्ठाङ्कः

विग्रहे

| विग्रहः | ... | ... | ... | ... |
|------------------------------------|-----|-----|-----|-----|
| हंस-मयूरकथा | ... | ... | ... | २३६ |
| विहग-वानरकथा | ... | ... | ... | २३८ |
| रजक-व्याघ्रचम्पावृतगर्भकथा | ... | ... | ... | २४१ |
| गज-शशककथा | ... | ... | ... | २४५ |
| हंस-वायसकथा | ... | ... | ... | २५१ |
| काक-वत्सककथा | ... | ... | ... | २५३ |
| रथकार-तद्वधूजारकथा | ... | ... | ... | २५५ |
| नीलवर्णशृगालकथा | ... | ... | ... | २७३ |
| यूद्धकन्यपति वीरवरनामक-राजपुत्रकथा | ... | ... | ... | २८४ |
| नापित-भिचुककथा | ... | ... | ... | २०२ |

सन्धौ

| सन्धिः | ... | ... | ... | ... |
|---------------------------------|-----|-----|-----|-----|
| कूय-हंसद्वयकथा | ... | ... | ... | ३२८ |
| मत्स्यद्वयकथा | ... | ... | ... | ३३१ |
| वणिग्-वणिग्-वधू-मृत्युकथा | ... | ... | ... | ३३२ |
| वक-सर्प-नकुलकथा | ... | ... | ... | ३३५ |
| सुनि-भूपिकाशत्रुकथा | ... | ... | ... | ३३८ |
| भक्तवक-मत्स्य-कुलीरकथा | ... | ... | ... | ३४१ |
| ब्राह्मण-शत्रुशरावकथा | ... | ... | ... | ३४४ |
| मुन्दोपमुन्दनामक-दैत्यद्वयकथा | ... | ... | ... | ३४८ |
| ब्राह्मण-काग-धूर्तद्वयकथा | ... | ... | ... | ३६६ |
| सिंह काक-व्याघ्र शृगालोद्भूतकथा | ... | ... | ... | ३६७ |
| वृद्धसर्प-मण्डूककथा | ... | ... | ... | ३७१ |
| ब्राह्मण-नकुलकथा | ... | ... | ... | ३८८ |

अकारादिक्रमेण श्लोकोक्तविषयनिघण्टुः ।

| विषयः | श्लोकाङ्काः |
|---------------------------------------|-------------------------|
| अकालस्योरभावः | स १५ |
| अकृतयुक्तः सर्व एव गूरः | वि ४४ |
| अकृतपथादीनां प्रियवादित्वादिकम् | वि १०६ |
| अजितेन्द्रियः | मि ६४, ७६, २२० |
| अज्ञानम् | वि १२३, स ८७ |
| अतिथिः मि १०७—१०८, १११, ११२, १६२, १६३ | |
| अतिलोभः | स १५ |
| अतिव्ययः | वि १२८ |
| अतिसञ्चयी टोपाय | मि २२५ |
| अटातः जीवन्मृतत्वम् | मि २१८ |
| अट्टकल्पिः मि ६७, ८८, २२७, स २ | |
| अधिकारखण्डनस्य अकसंज्यता | स १३ |
| अधीनता | स १८ |
| अध्यवसायभीरोदोषः | मि २३३ |
| अध्रुवसेवने दोषः | मि २७७ |
| अनधिकारचर्चा | स २८, २९ |
| अननुष्ठितमन्त्रस्य वैफल्यम् | वि ७१ |
| अनर्थहेतुः | मि ११ |
| अनायतनवृत्तिता | स २० |
| अनित्यजीवनाद्यं श्लोकस्य अनौचित्यम् | स ६७ |
| अनित्यता | स ७०, ७१, ७३—७६, ७८, ७९ |
| अनिष्टात् शुभफलं न भवति | मि ५२ |
| अनुसरणप्रशंसा | वि ३०—३२ |
| अपवादोनां गृह्यशून्यतादि | मि १८५ |
| अपृष्टस्यापि हितवचनकालः | स ६४, १२६ |
| अप्राप्तकालवचने दोषः | स ६३ |
| अवधच्छायादीनां क्षयोपभोग्यत्वम् | मि २३८ |
| अभयदानम् | स ६१, ६२ |
| अकादिसंवेदनविधिः | स ३२ |
| अयः मि १८३, १८४, २४२, २४८ | |
| अत्यशुद्धेरपि श्लाघ्यता | मि १२० |

| विषयः | श्लोकाङ्काः |
|--|------------------|
| अविनयः | वि ११६ |
| अविवेकिता आपत्तेतुः | स १०३ |
| अश्वसैन्यप्रशंसा | वि ८७, ८८ |
| असटादिषु उपकारादेर्वैफल्यम् | स १६५ |
| असन्तुष्टहिजादीनां निन्दनीयत्वम् | वि ६७ |
| असन्धेयः मि १३८ स ३४—३८ | |
| असन्धेयत्वे हेतुः | स ३८—५२ |
| असारमैश्वर्यद्वये दोषः | वि ८२ |
| अहिंसाप्रशंसा | मि ११३—११५ |
| आक्रमणाद्यं शत्रुसैन्यम् | वि ११२—११५ |
| आत्मज्ञस्य अनवसादः | स १५३ |
| आत्मनः गुणदोषयोः | स ४५, ४६ |
| आत्मरक्षा | मि ८० |
| आत्मरक्षायाः प्रयोजनीयता | मि ८१ |
| आत्मशक्तिः | स ८२ |
| आत्मोद्योगश्रीभयङ्करता | वि ६२ |
| आदित्यादयः लोकव्यवहारज्ञाः | स ११४ |
| आपत्पात्रम् | मि १२५, २०१, स ४ |
| आपदि हृदयवचनस्य श्लाघ्यता | मि ६८ |
| आयुः समररक्षकः | स १४ |
| आयुषः दिवानाशं क्षयित्वम् | स ८१ |
| आश्रयार्थवर्ज्यप्राप्त्या अज्ञादीनां योग्या- योग्यत्वम् | सु ७६ |
| आश्रयसौन्दर्याद्गुणस्य शोभनीयता | स १६१ |
| आश्रितपरित्यागे दोषः | मि २५४ |
| उत्साहादिशून्यपुत्रस्य अप्राप्तनीयता | स ७ |
| उन्नतिकानिनः भीरुता असिद्धये | मि ५३ |
| उपायचतुष्टये साक्ष एव कार्यसाधकता | स १०४ |
| उपायज्ञस्य सर्वत्रैव सिद्धिभाजनता | वि ५२ |
| उपायस्य कार्यसाधकता | स १२२ |
| एकता | मि ८२, ८३ |

| विषयः | श्रीकाण्डः |
|--|-----------------------|
| एकदा बहुभिर्युद्धस्यात्मनाशकत्वम् | स ८८ |
| एकस्मिन्निधिं प्राधान्यार्पणस्य दोषः | स १३० |
| कर्मव्यत्वम् | स ८ |
| कर्मणा बुद्धेः परिचयः | वि १२५ |
| कामस्य हेयता | स ८६ |
| कामासक्तस्य विचारविमूढता | सु १४५ |
| कायादेरायविनाशित्वादिकम् | मि २०४ |
| कालप्राधान्यम् | मि १००, सु १४८, स १०० |
| कीर्तयश्चरन्तृणीयता | मि ८५, ८६, वि १४६ |
| कुत्रादिरक्षाये पदादीनां त्यागः | मि २०८ |
| कुलालम्बो एकोऽपि पुनः वरम् | मि २१ |
| कृतकृत्यो भूयः पुरस्ताद्यः | स १२ |
| कृपणसन्निधौ याज्ञाया चकतव्यता | मि १८३ |
| कृपणस्य धनम् | मि २२१, २२२ |
| केन राजा सहायवान् | स २१ |
| कोकिलादीनां रूपनिर्णयः | मि २६२ |
| कोपं विना राजताया असम्भाव्यता | वि ८० |
| कोषस्यसनम् | स ८६ |
| क्रोधस्य देवतादिषु नियन्त्रित्यता | वि १२४ |
| क्रोधस्य सन्नापकता | स ८८ |
| क्षुद्रशत्रुजयाय क्षुद्रमेवं नियोज्यम् | सु ८५ |
| क्षुधातस्य निष्कारणत्वम् | स ५८ |
| खलता | मि १३२ |
| खलसंसर्गस्य दूषरिणामता | वि २२, २३ |
| गजाटेः स्पर्शनादिनापि हन्तृत्वम् | वि १५ |
| गतायुर्लक्षणम् | मि १२० |
| गुणवतामपि भयस्थानम् | मि १२६ |
| गुणस्य कल्पान्तव्याधित्वम् | मि ८७ |
| गुणस्य रक्षणीयता | स ६५ |
| गुणिनः पूज्यता | मि २३ |
| गुणिनि गुणज्ञस्य तुष्टिः | मि २५२ |
| गरुः | मि १६२ |
| गोपनीयविषयः | मि १८१, १८२ |
| गौरवलाघवयोर्धनाधननिवन्धनता | वि ८१ |

| विषयः | श्रीकाण्डः |
|------------------------------------|----------------------|
| चतुर्भद्रस्य दौर्लभ्यम् | मि २२४ |
| चारचक्षुर्हि राजानः | वि ३७ |
| जलादीनां सेवादिभेदकत्वम् | स ८० |
| जीवन्मृताः | मि १८८ |
| जीवितवैफल्यम् | स ४२ |
| जीवितसाफल्यम् | स ३४, ३५, ४१ |
| जीविताशया विनयः क्रियते | सु १२५ |
| ज्ञानस्य प्रभावः | सु ४७, ४८ |
| ताम्बूलम् | वि १०३ |
| दण्डायाः दास्यहेतुत्वम् | मि २४८ |
| त्याज्यग्राह्यादिविषये उपदेशः | वि २४ |
| त्याज्या दोषाः | मि ८१ |
| त्याज्या वृषादयः | स १८७ |
| दक्षादीनां लज्जाराश्रयत्वादिकम् | वि ११७ |
| दण्डविधाने शास्त्रमतम् | सु १४६, १४७ |
| दया | मि ५८, ११० |
| दानपात्रम् | मि ५७, ६१ |
| दानभोगादिना धनस्य धनत्वम् | मि २२८ |
| दानादिविहीनधनिनो न धनस्त्वामित्वम् | मि २१८ |
| दारिद्र्यस्य दुःसहत्वम् | मि १८६, १८८, २११ |
| दारिद्र्यस्य दोषः | मि १८७, १८८ सु ३, ८५ |
| दासत्वम् | सु ३६, ३७ |
| दुःखभागिनः | मि ७१ |
| दुःखम् | मि २४६, स ८२ |
| दुःसन्धेयमुसन्धेयो | मि १४३, स १०५ |
| दुर्गप्रशंसा | वि ५३, ५४ |
| दुर्गलक्षणोपायः | वि १४३ |
| दुर्गविधिः | वि ५५ |
| दुर्गव्यसनम् | वि १४२ |
| दुर्गसम्पत् | वि ५६ |
| दुर्जनः विश्वासानहं | मि १३३ |
| दुर्जनता | स १३८—१४१, १६८ |
| दुर्जनदूषितस्य सज्जनेऽप्यविश्वासः | स १०८ |
| दुर्जनधारणादुसुम्हरां प्रत्यनुयोगः | मि १३० |

विषयाः

श्लोकाङ्काः

| | |
|--|---------------|
| दुर्जनवाक्यस्य भयजनकता | वि २५ |
| दुर्जनस्य परिहाय्यता | मि १४० |
| दुर्जने विश्वासः दोषाय | स ५७ |
| दुर्नयदोषः | वि १२१, १२२ |
| दुर्लभप्रसुप्त्यर्थोर्लक्षणम् | वि १४५ |
| दुष्टभाष्यादीनामसंग्रहं सत्यहेतुत्वम् | स १२३ |
| दूतलक्षणदूतकसंख्ये | वि १६, २०, २१ |
| दूतस्य अवध्यता | वि ६५, ६६ |
| दूरादूतदर्शनं कर्तव्यम् | वि ६३ |
| दैवप्राधान्यम् | स १६ |
| दौर्जन्यप्रतीकारे विधातापि भग्नोद्यमः | सु १६८ |
| द्रवत्वादि लोहादीनां मेलने हेतुः | मि १४४ |
| धनचिन्ताया अकर्तव्यता | मि २४७ |
| धनप्राप्तरक्षणे कौटुम्बिकी नियोज्यः | वि १३५ |
| धनरक्षणेपायः | मि २१५ |
| धनवत्ता वलादिहेतुः | मि १८१, १८२ |
| धनसङ्गावाभावयोः गर्वविषादयोर्नौचित्यम् | मि २३८ |
| धनस्य त्रिविधा गतिः | मि २२३ |
| धनार्जनविषये | स ८ |
| धनिनः सर्वत्र भयम् | मि २४४, २४५ |
| धन्यसौख्यादिविषयकं प्रशोत्तरम् | मि २०७ |
| धन्यस्य एकमात्रसुदृढत्वम् | मि ११६ |
| धन्यस्य मार्गः | मि ५४ |
| धन्यां चरणार्थमाश्रयान्तरस्थानावश्यकता | स ८० |
| धन्यान्मित्रः | स ६० |
| धन्यानां चरणे दोषः | मि २१४ |
| धन्यान्मित्रानपरस्य दुर्लभत्वम् | मि १५७ |
| धन्यायेनपि धनचेष्टाया अकर्तव्यता | मि २४३ |
| धान्यसङ्ग्रहस्य प्रशस्तता | वि ५८ |
| धीमतां मुखाणाञ्च कालयापनोपायः | मि ४७ |

विषयाः

श्लोकाङ्काः

| | |
|--|-------------------------------------|
| धीरकृपणयोर्भेदः | मि २३७ |
| धीरस्य बुद्धिलोपगङ्गा न काव्यां | स ६८ |
| धृतादिमन्त्रिकस्य वृपतेः विपन्नता | वि १३६ |
| नाथ्याः भूषणम् | वि २८ |
| नारोचरित्रम् | मि १७४, १७६, १८०, सु ११७—१२१ स ७, ८ |
| नारोणां दूषणानि | मि १७१, १७२ |
| नारोणां सतीत्ये कारणम् | मि १७३, १७७ |
| नारोमिः सद्य एकत्वावस्थानविषये | मि १७५, १७६ |
| निजस्यभयानुनानेन पररक्षणप्रवृत्तिः | मि ११८ |
| निन्दनीयमूल्यमन्त्रिणोः लक्षणम् | वि ४१ |
| निन्दनीयमूल्यस्त्रामिनोः लक्षणम् | स ३० |
| निन्दनीयमन्त्री | वि १०७ |
| नियोगविषये | स ८८—१०८ |
| निर्गुणस्य गुणयदृष्टाक्षमता | वि १२ |
| निर्गुणे-गुणा अपि दोषाः | मि ४६ |
| निक्षेपजसः सर्वाभिभवनीयत्वम् | स १७८ |
| नीचता | स १४ |
| नीतिज्ञलक्षणम् | वि ५१ |
| नैराश्यावलम्बिनः प्रशंसा | मि २०४ |
| पण्डितः | मि ६०, २३१ स ५० |
| पदातिकर्षं | वि ८८ |
| परार्थे धनजीवनयोस्त्रागः | मि २२, वि १०४ |
| परोपकारार्थे जीवनदानप्रवृत्तेः पुण्यबल-हेतुत्वम् | वि १४७ |
| पशुभ्यो नराणां वैशिष्ट्यम् | मि २५ |
| पाण्डित्यम् | मि २०८ |
| पापस्य उदरभरणार्थमकर्तव्यता | मि ११८ |
| पुंसामेवमर्थकामिता | स १३३ |
| पुण्यवान् | मि ८७ |
| पुरुषपयः | स ४३ |
| पुरुषाणां धर्माद्यभावे जन्यवैफल्यम् | मि २६ |
| पुरुषाणां सन्मार्गे अवस्थानादि | मि २५८ |
| पौरुषसावश्यकमवलम्बनीयता | मि ३०—३६ |

| विषयः | श्लोकाः |
|---|--------------|
| प्रकृतिषु स्वामिनः प्राधान्यम् | स ६३ |
| प्रभुपदाङ्गस्य लक्षणम् | मि २६५ |
| प्रशस्तमन्त्रिलक्षणं सु२४, वि१७, १८, स१०२ | |
| प्रायश्चित्तम् | सु १८६ |
| प्रियसंयोगस्य परिणामः | स ८० |
| प्रियस्त्राप्रियं कुर्वतोऽपि प्रियत्वं स १३४. | |
| | १३५ |
| वन्धुलक्षणम् | मि १२४ स ६६ |
| वल्लानां वैराग्यहेतुः | वि ८३ |
| वनिना सह युद्धं मृत्यवे | वि ४८ |
| बालादपि युक्तवचनं याज्ञम् | सु ८० |
| बुद्धेः प्राधान्यम् | स ८७, १२४ |
| भक्तशक्तमृत्यस्य भवज्ञा अनुचिता | सु ७७ |
| भवविषयकम् | मि १०५, स १७ |
| भवितव्यताया अवश्यभावित्वम् | स ८ |
| भाव्यालक्षणम् | मि २६१ |
| भावानुसरणेन सर्वेषां वशीकरणम् | सु ५३ |
| भावामिव्यक्तिः | सु ४८ |
| मृत्युविचारज्ञस्य राज्ञः सम्पन्नता | सु ७५ |
| मृत्युष्ववशाप्रदर्शनस्नानिटकारिता | सु ७८. |
| | ७८ |
| भेदविधिः | वि ८५, ८६ |
| मनस्त्रिभुवः | मि १८८, १८० |
| मन्त्रणा कुत्र केन सह कर्तव्या वि३८, ३८ | |
| मन्त्रफलम् | वि ४५ |
| मन्त्रभेदजदोषव्यासमाधेयता | वि ४० |
| मन्त्रस्य गुप्तं रक्षणीयत्वम् | सु १४८ |
| मन्त्रस्य परेषां भेदग्रहा | सु १५० |
| मन्त्रस्य रक्षितं कर्तव्यत्वम् | वि ३५ |
| मन्त्रिणः काव्यप्रणाली | सु ८३ |
| मन्त्रिणा विघटितचित्तो वृपतिः पुनर- | |
| सन्धेयः | सु १७१ |
| महत्तः स्वभावः | स ८७ |
| महती गुणाः | वि ४७ |
| महत्त्वविघातकाः | सु ५ |
| महात्मदुरात्मनोर्भेदः | मि १५२ |

| विषयः | श्लोकाः |
|--|-----------------------|
| महात्मलक्षणम् | मि ७८, ८०, २३० |
| मित्रचातुर्विध्यम् | मि २५१ |
| मित्रदूषणम् | मि १४८ |
| मित्रम् | मि २७१, २७२, २७५, २७६ |
| मित्रादेः सारवत्ताज्ञानकालः | मि १२३ |
| | सु ८५ |
| मूढः शोकभयाद्याश्रयः | मि ४८ |
| मूर्खः | वि ५०, १२८, स ३ |
| मूर्खपुत्रस्य जननी बन्ध्यासदृशी | मि १६ |
| मूर्खपुत्रस्य पटेपटे दुःखदायकता | मि १३ |
| मूर्खपुत्रस्याप्रयोजनीयता | मि १२, १४, १८ |
| मूर्खविद्वदोः भेदः | वि १२६ |
| मूर्खे उपदेशस्य दोषः | वि ४, ५ |
| मूलमृत्यापराधेन | आगन्तुपालनम् |
| दोषवत्ता | सु १३८ |
| मृत्युचिन्ता | सर्वप्रयत्ननाशिनी |
| मृत्युहेतुः | मि २२६ सु १५४ |
| मृत्योर्दिने दिने आसन्नतरत्वम् | स ७२, ८६ |
| मृत्योरवश्यभावित्वम् | स ६८ |
| युद्धकालः | स १७५, १७६, वि ६८, ६९ |
| युद्धक्षेत्रे राजोपास्थितेरावश्यकत्वं | वि १४१ |
| युद्धयात्रायां सैन्यसमावेशादिविधिः | वि ७२ |
| | —७८ |
| युद्धे अपरास्तुष्टाणां स्वर्गप्राप्तिः | सु १७४ |
| युद्धे शत्रुविजयप्रयत्नस्य अकर्तव्यता | वि ४१ |
| रक्षादिव्यामिनी गुणत्रैविध्यम् | स ६२ |
| राजकर्तव्यम् | सु ७१, ७२, १११, १८३, |
| | वि ८७, ८८ |
| राजगुणाः | वि १३४ |
| राजनौतिः | वि ८८ |
| राजनोतेरनेकफलत्वम् | सु १८८ |
| राजनोतेश्चिराय फलप्रदत्वम् | वि ४६ |
| राजपदस्य निन्दनीयता | सु १८१ |
| राजलक्षणम् | मि २६५ |
| राजसंशयस्य दोषः | सु १५५ |
| राजा अपूर्वप्रतिभाविशेषः | सु १६३ |

विषयाः

श्रीकाण्डाः

राजाभावस्य अनिष्टकारिता मि २६६—

२६८ वि २, ३

राजाश्रयस्य उद्देश्यम् सु ३३

राज्ञः अत्यन्तचमाशीलता दीषाय सु

१८४, १८५

राज्ञः अवस्थादेशत्वं भाव्यम् सु १०८

राज्ञः निमीलनोन्मीलने प्रजानामपि तथा

वि १५०

राज्ञः मन्त्रिण्य भेदकथनम् सु १२७

राज्ञः सर्वतज्जोमयत्वम् सु ८२

राज्ञः सर्वत्र समवर्तिता दीषाय सु ७०

राज्ञः सर्वदेवमयत्वम् सु ८३

राज्ञा मन्त्रिणोऽपमानं न कर्त्तव्यं वि १३८

राज्याङ्गम् वि १४८

लक्ष्मीः अत्युच्चितमन्त्रिपाथिवयोरैकतरं

जहाति सु १२८

लक्ष्मीपरित्यक्तः सु ४

लक्ष्म्याः आश्रयः मि २३६, सु १३६,

वि १२७, स ५३

लक्ष्म्याः कोपे सञ्चितायंविनाशः वि १३०

लक्ष्म्यादीनामाश्रयः सु १६०

लघुचित्तीदारचित्तयोर्भेदः मि १२१

लवणस्य रसेषु श्रेष्ठता वि ५८

लोभस्य अनिष्टकारिता मि ७२, २००

वज्रराजतेजसीर्भेदः सु १७२

वर्जनीयं मित्रम् मि १२८

वासायोग्यदेशः मि १५८—१६१

विङ्मना मि १८८

विद्यादीनां सञ्चयविधिः सु १०

त्रिधाप्रशंसा मि ४—७

विद्यावृद्धोपसेवा सम्पत्कारणम् वि ११८

विद्याहीनस्य निन्दा मि ३८, ३९

विद्वन्मित्रस्य एव राज्ञः रक्षणं भवति वि ११९

विद्वज्जलणम् मि २३२

विरक्तस्य गृहमेव तपोवनम् स ८८

विरक्तानुरक्तजनलक्षणम् मि १६४, १६५

विषयाः

श्रीकाण्डाः

विवादः समवित्तवन्तयोः शोभते सु १७०

विवादस्य अकर्त्तव्यता वि ३४

विश्वस्तवस्थने पौरुषाभावः स ५६

विश्वासानर्हाः मि ६५, १३८, १४२, स ११

विषयिककर्त्तव्यम् मि ५०

विषाक्तभक्तादीनां समूलीकरणं कर्त्तव्यम्

सु १३१

विश्वयः सर्वकर्माणां प्रत्यक्षः सु १३

वीराः शीघ्रवन्तमेव प्रतिदन्तिनं मन्यन्ते

सु ८८, ८९

वैद्यादीनां प्रियवादित्वं राज्ञः अनिष्टाय

वि १०८

वैद्यादीनामातुरादि श्रेयसे वि ३६

वृत्त्यर्थे नातिचेष्टा कर्त्तव्या मि २४०

वृद्धत्वस्य विङ्मना मि १७०

वृद्धपतिषु स्त्रीणां मनोभावः मि १६७, १६८

वृद्धस्य युवती भार्या मि १६८

व्यवसायफलस्य विधेरायत्तता सु १२

व्यवहारज्ञानं बध्यत्वपूज्यत्वयोर्हेतुः मि १०६

व्यवहारेण शत्रुमित्रं वा भवति मि १२२

व्यसनम् वि ११८

शक्याशक्ययोः शक्यत्वाशक्यत्वमेव मि १४१

शत्रुः मि २२

शत्रुमित्रिरक्ताद्यैः वि ८

शत्रुरपि बन्धुः बन्धुरपि शत्रुः वि १०१

शत्रुराज्याक्रमणविधिः वि ८२—८५

शत्रुविजये सामादीनां प्राधान्यम् वि ४३

शत्रुसैन्यजन्योपयोगिकैव्यम् वि १३१, १३२

शास्त्रस्य प्रशंसा मि १०

शिश्टेः त्याग्याः वि १३३

शराणां गुणौ सु १७३

शोकस्य महीषधम् स ८८

श्रीध्वञ्चनाप्रदर्शनकाण्डः वि ७

श्रेष्ठतमकैव्यम् वि ६०

संयमिप्रशंसा स ८१

संसर्गस्य सर्वथा त्यागवर्णनश्रीरूपदेशः स ८५

| विषयाः | श्लोकाङ्काः |
|----------------------------------|------------------|
| संसारत्यागिनः सुखम् | स ८३ |
| संसारविषयवृत्तस्य फलवृत्तम् | मि २१२ |
| संसारे सारव्रथम् | मि २१३ |
| सचिवायनवृत्तपतेरवसन्नता | सु १३२ |
| सज्जनासज्जनयोः भेदः | मि १४५ |
| सतां धर्मः | सु १४३ |
| सतौलक्षणम् | वि २७, २८, ३३ |
| सत्त्वदैविध्यम् | वि १०० |
| सत्पुत्रः पितुः पुण्यलक्षणम् | मि १८ |
| सत्यादीनां सन्धेयत्वे हेतुः | स २७—३३ |
| सर्वसर्गस्य गुणस्थापनम् | मि ४०, ४४, ४५ |
| | २६८ |
| सन्त एव सतां विपददुःखरक्षणक्षमः | मि २५१ |
| सन्तोषप्रशंसा | मि २०२, २०३, २०६ |
| सन्धेयः | स २२, २६ |
| सन्धेयासन्धेयौ | स १६ |
| समादीनां लक्षणम् | वि ६४ |
| सनवलयोः सुसन्धेयत्वम् | स ५५ |
| सनथादीनां भारवोधेन कर्मणि परासु- | |
| खत्वाभावः | स ११ |
| सन्पत्तेः अवस्थितिस्थानम् | सु १३७, वि १२० |
| साल्त्विकदानम् | मि ६२ |
| साधुलक्षणम् | मि १३७, १४६, २५३ |
| साधूनां संसर्गविरागः | स ८३ |
| मिहिरन्तरायः | वि ४८ |
| सुखम् | मि २०, २१०, स ८४ |
| सुखसाधनस्य विघ्नविहृतता | सु १६६ |
| सखी | स १०१ |
| सुखोच्छेदो रिपुः | वि ८४, १११ |
| सुहृद्विनाशः राज्ञां मरणतुल्यम् | सु १८२ |

| विषयाः | श्लोकाङ्काः |
|---|--------------------------|
| सुविचारितकर्मणः अवैकारिकता | मि ६३ |
| सुहृद्गणः | मि १४१ |
| सेवकनिन्दा | सु १८—२४, ४१ |
| सेवादीनां मानादिनाशकत्वम् | मि १८१ |
| सेवाधर्मः परमगहनः | सु २५, १६१ |
| सेवाभिज्ञलक्षणम् | स ५४, ५५ |
| सेवायाः अभ्युदयजनकत्वम् | सु २६, २७ |
| सेव्यासेव्यनिर्णयः | वि १०, ११ |
| सैन्धेयः सम्मानप्रदर्शनस्य फलम् | वि ८१ |
| सौन्दर्यासौन्दर्यं कचिभेदेन | सु ५२ |
| सत्त्वादीनां कौत्स्यादिनाशः | सु ११० |
| स्त्रीणां स्वाभाविकदोषः | मि २६० |
| स्थानान्तरगमनविषये बुद्धिमतां कर्तव्यम् | मि १५६ |
| स्निग्धादीनां काश्यम् | सु १४४ |
| स्नेहसम्बन्धस्य शोकहेतुत्वम् | स ७७ |
| स्वचेष्टितस्यैव गौरवागौरवहेतुता | सु ४४ |
| स्वदेशविदेशौ मनस्विनो न क्तः | मि १५५ |
| स्वभावतः द्वितैविष्यः | मि ८५ |
| स्वभावप्राधान्यम् | मि ६३, ६६, सु १४२, वि ६१ |
| स्वर्गोपयोगिनः | वि १५२, १५३ |
| स्वस्थानव्यष्टता अशोभनाय | मि १५३ |
| | वि १४० |
| स्वस्थानव्यष्टता गौरवाय | मि १५४ |
| स्वामिपदलिप्तोर्भृत्यस्य प्राणत्याग एव | |
| प्रायश्चित्तम् | सु १८६ |
| स्वामिपदलिप्तोरुपेक्षणमकर्तव्यम् | सु १२८ |
| इक्षिसैन्यप्रशंसा | वि ८६ |
| हितमपश्यतः अभियुक्तस्य कर्तव्यम् | स १८ |
| हीनादिसंसर्गेण हीनत्वादिप्राप्तिः | मि ४१ |

हितोपदेशः ।

मङ्गलाचरणम् ।—

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात् तस्य धूर्जटेः ।

जाङ्गवीफेनलेखेव यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥ १ ॥

यन्यप्रयोजनम् ।—

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।

वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥ २ ॥

(१) अन्याग्ने विघ्नविघाताय मङ्गलमाचरति, सिद्धिरिति ।—यस्य मूर्ध्नि यन्मूर्ध्नि यस्य खलाटे इत्यर्थः ; शशिनश्चन्द्रस्य, कला षोडशभागैकभागः, जाङ्गवीफेनलेखेव जटानवर्तिन्म्याः गङ्गायाः फेनरेखा इव, राजते इति शेषः । [पुरा कपिलशापदग्धानां सगरसन्ततीनामुद्धाराय भगीरथेन स्वर्लोकादाभीयमाना गङ्गा, स्वाश्रमभङ्गकुपितेन राजर्षिणा जङ्गना गण्डभीकता, ततो भगीरथेन प्रसादितः स जानुना तां निःसारितवानिति गङ्गाया जाङ्गवीनामहेतुः ;—“जानुद्वारापुराऽटातां जङ्गुः सम्यीय कीपतः । तस्य कन्यास्वरूपा च जाङ्गवी तेन कीर्त्तिता” ॥ इति] तस्य तादृशस्य, धूर्मारभुता जटिः जटा यस्य सः, धुरः तैल्लोकचिन्तायाः जटिः मङ्गलोऽव इति वा धूर्जटिः, [जटवातोऽरिन्] तस्य धूर्जटेः शिन्नस्य, प्रसादात् अनुराधात्, सतां साधूनां, साध्ये साधनाऽभिप्रायविषयीभूते कार्ये, सिद्धिः सफलता, अस्तु भवतु । प्रथमावकाशं वक्तुम् ।

(२) यन्यस्य प्रयोजनमाह, श्रुत इति ।—अयं हितोपदेशः हितः अनकूल उपकारक इति यावत्, उपदेशः शिक्षा, तमधिकृत्य कृतः यन्य इत्यन् तस्य लक्ष्णे, हितोपदेशः, यद्वा,—हितः हितकरः उपदेशः शिक्षा यत्र सः, तन्नामयन्यः, श्रुतः आकर्णितः अर्पितः वा सन्, संस्कृतोक्तिषु संस्कृतभाषाकथनेषु व्याकरणानुसारभावादिभिश्च वाक्यप्रयोगेषु वा, पाटवं पटुत्वं, तथा सर्वत्र सर्वान् विषयं, वाचां

विद्याप्रशंसा ।—

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
 गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥ ३ ॥
 सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
 अहार्थत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥
 सङ्गमयति विद्यैव नीचगापि नरं सरित् ।
 समुद्रमिव दुर्द्धर्षं नृपं भाग्यमतः परम् ॥ ५ ॥

वाक्यानां वैचित्र्यं विचित्रतां विविधविषयकवाक्प्रयोगनेपथ्यमिति भावः, नीतिवशां
 मामादिराजनीतौ अभिज्ञताश्च ददाति यच्छति ।

(३) अजरामरवदिति ।—प्राज्ञ एव प्राज्ञः [प्राज्ञादित्वादयः] पण्डितो
 जनः, अजरः बार्हक्यहीनः, अमरः मृत्युरहितः तौ इव, जरामृत्यू न कदापि नाश-
 मियतः इति विविच्य, विद्यां शास्त्रज्ञानम्, अर्थं धनञ्च, चिन्तयेत् उपार्जयेदित्यर्थः ।
 मृत्युना कालेन, केशेषु [अवच्छेदे सप्तमी] गृहीतः धृत इव, आकृतकेश इव,
 आसन्नमृत्युकाल इवेत्यर्थः, धर्मम् आचरेत् उपार्जयेत् ।

(४) विद्याया उत्तमत्वमाह, सर्वेति ।—सर्वदा सर्वस्मिन् काले, अहार्थत्वात्
 श्रीरादिभिरपहर्तुनशक्यत्वात्, अनर्घत्वात् अमूल्यत्वात्, अक्षयत्वात् दातादिना अपरि-
 ह्रीयमाणत्वाच्च, सर्वाणि द्रव्याणि तेषु सर्ववस्तुषु [निर्धारणे सप्तमी] विद्यैव अनुत्तमं
 शक्ति उत्तमं यस्मात् तत् सर्वोत्कृष्टं द्रव्यम्, आहुः ब्रुवन्ति, विद्वांस इति शेषः ।

(५) विद्यायाः फललाभ इत्याद्यां, सङ्गमयतीति ।—सरित् नदी, नीचगा
 निचगापि सती, नरं तृणादिकं वा दुर्द्धर्षं दुर्गमं, समुद्रं जलनिधिमिव, नीचगापि
 नीचपुरुषाश्चापि, विद्यैव एका विद्या एव, नान्यत् किमपीति भावः ; नरं दुर्द्धर्षं नृपं
 राजानम्, अतः परं राजसदनप्रापणानन्तरं, भाग्य सौभाग्यं, सङ्गमयति प्रापयति ;
 “संयोजयति” इति पाठेऽपि स एवार्थः । नदी यथा तदाम्रं तृणादिकं सागरं
 नयति, तद्वदेका विद्यैव स्नायितं पुरुषं नीचवंशीयस्य प्रथमं राजसकाशं ततः
 सौभाग्यं प्रापयतीत्यर्थः । नीचवंशीयोऽपि यदि विद्यावान् भवति तदा सोऽपि
 राजभवति सन्मानं लभते सौभाग्यवाञ्छ भवति । नदी हि तृणादः समुद्रप्रापणादधिकं
 किनपि शोषकर्तुं शक्नोति, विद्या तु दुर्द्धर्षराजसकाशप्रापणानन्तरं सौभाग्यमपि
 नृचयति इति व्यतिरेकालङ्कारेण विद्याया उत्तमत्वं ध्वन्यते । अतः नीचवंशीयाणां
 राजसवंशीयानां वा सर्वेषामेव विद्याप्राप्तिं कर्तव्यमिति भावः ।

विद्या ददाति विनयं, विनयाद् याति पात्रताम् ।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनाद् धर्मं, ततः सुखम् ॥ ६ ॥
विद्या शस्त्रञ्च शास्त्रञ्च, द्वे विद्ये प्रतिपत्तये ।
आद्या हास्याय वृद्धत्वे द्वितीयाद्रियते सदा ॥ ७ ॥

ग्रन्थाभिधेयम् ।—

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत् ।
कथाच्छलेन बालानां नौतिस्तदिह कथ्यते ॥ ८ ॥
मित्रलाभः, सुहृद्भेदो, विग्रहः, सन्धिरेव च ।
पञ्चतन्त्रात् तथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृत्य लिख्यते ॥ ९ ॥

(६) विद्येति ।—विद्या शास्त्रज्ञानं, विनयं सौजन्यं, ददाति, जनाय इति शेषः ; विनयात् नम्रतालाभानन्तरं, पात्रतां गुणशालित्वं सकलकार्यकरणयोग्यताम् इत्यर्थः, याति प्राप्नोति, [विद्यानिति कर्तृपदं सर्वत्राध्याहार्यम्] । पात्रत्वात् धनम् आप्राप्ति, धनात् धर्मं, ततः तस्मात् धर्मात्, सुखम् आप्नोतीत्यनेनान्वयः, अतो विद्यैव सर्वमूलमिति भावः ।

(७) विद्येति ।—शस्त्रञ्च शास्त्रञ्च विद्या विद्याशब्दप्रतिपाद्यमित्यर्थः । एते द्वे विद्ये प्रतिपत्तये यशोलाभाय, [तादर्थ्ये चतुर्थी] भवतः इति शेषः । आद्या विद्या अत्र श्लोके प्रथमोक्ता विद्या शस्त्रविद्येत्यर्थः, वृद्धत्वे बालके उपस्थिते सति, सामर्थ्यापगमे इति भावः, हास्याय उपहासाय, शस्त्रव्यवहारे अपारकत्वात् । द्वितीया शास्त्रविद्या, सर्वसाधकतया सदा सर्वभिन् वाक्ये यौवने प्रौढे बालकेऽपि च चतसृषु अवस्था-
लिख्यर्थः, आद्रियते लोकेः पूज्यते, आहृता भवतीति भावः ।

(८) वदिति ।—यत् यस्मात्, नवे नूतने, आर्द्धे, भाजने पात्रे मृत्पात्रादौ, लग्नः अङ्कितः, संस्कारः कारुचिह्नदिकं, न अन्यथा अन्यप्रकारः विलीन इत्यर्थः, भवेत् । तत् तस्मात्, बालानां बालकानां सन्त्यजे, इह द्वितीयेऽप्यन्ये, कथाच्छलेन काककूना-
दीनाम् उपपाख्यानव्याजेन, नौतिः कथ्यते उपदिश्यते, मयेति शेषः ।

(९) मित्रलाभ इति ।—पञ्चतन्त्रात् तदाख्यग्रन्थात्, तथा अन्यस्मात् महाभारत-
कामन्दकीयादेः ग्रन्थादाकृत्य समाहृत्य, मित्रलाभः सुहृद्भेदः विग्रहः सन्धिरेव चेति भागचतुष्टयेन विभज्य लिख्यते, मयेति शेषः ।

कथामुखम् ।

अस्ति भागीरथीतौरे पाटलिपुत्रनामधेयं नगरं, तत्र
(क) सर्वस्वामिगुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत् । स
भूपतिरेकदा केनापि पठ्यमानं श्लोकद्वयं श्रुत्वा ।—

“अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम् ।

सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नास्त्यन्ध एव सः ॥ १० ॥

यौवनं, धनसम्पत्तिः, प्रभुत्वमविवेकिता ।

एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम् ?” ॥ ११ ॥

इत्याकर्ण्यः पुत्राणाम् (ख) अनधिगतशास्त्राणां
नित्यमुच्चार्यगामिनां शास्त्राननुष्ठानेनोद्विग्नमनाः स राजा
चिन्तयामास ।—

(क) सर्वस्वामिगुणोपेतः—सर्वैः स्वामिनः गुणैः शौख्यबोद्ध्यादिभिर्दयादाचिण्या-
दिभिश्च उपेतः युक्तः, निखिलप्रभुत्वचणसम्पन्न इति यावत् ।

(१०) अनेकेति ।—अनेकेषु विषयेषु संशयस्तम् उच्छिन्नतीति तथोक्तं बहु-
विषयकसंशयनिरासकम्, अनेकेषां संशयानामुच्छेदोति वा । अचाणाम् इन्द्रियाणां
परः परोक्षः [अः समासान्तः] स चासौ अर्थयेति तस्य अतीन्द्रियस्य, यद्वा,—अस्तः
परः परोक्षः [टच् समासान्तः निपातनात् परस्त्रीकारादेशः] तथाविधस्वार्थस्य प्रत्यक्षा-
विषयीभूतस्य, विषयस्य दर्शकं प्रत्यक्षकारकं, सर्वस्य जनस्य लोचनं चक्षुर्मृतं, शास्त्रं
विद्या इत्यर्थः, यस्य जनस्य नास्ति सः अन्धः दृष्टिहीनः एव, तदभावेन हिताहित-
विवेचनाऽसमर्थत्वादिति भावः ।

(११) यौवनमिति ।—यौवनं यौवनावस्था, धनसम्पत्तिः धनशालिता, प्रभुत्वं
प्रभुता, आधिपत्यमिति यावत्, अविवेकिता विवेकशून्यता, एतेषां चतुर्णां मध्ये
एकैकं प्रत्येकम् अपि, अनर्थाय असङ्गलाय, भवतीति शेषः, यच्च [तत्रेति पाठान्तरम्]
अस्मिन् पुरुषे, चतुष्टयं यौवनादीनां चतुर्णां समवायः, तत्र तस्मिन् पुरुषे, किमु ? किं
वक्तव्यम् ? तस्य अनर्थोत्पत्तिरवश्यम्भाविनीति भावः ।

(ख) अनधिगतशास्त्राणां—न अधिगतं लब्धं पठितमित्यर्थः, शास्त्रं यैः

“कोऽर्थः पुत्रेण जातेन, यो न विद्वान् न धार्मिकः ? ।

काणेन चक्षुषा किं वा चक्षुः पौडैव केवलम् ॥ १२ ॥

अजातशत्रुनमूर्खाणां वरमाद्यौ, न चान्तिमः ।

सकृदुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥ १३ ॥

किञ्च—वरं गर्भस्त्रावो वरमपि च नैवाभिगमनं,

वरं जातः प्रेतो, वरमपि च कन्याऽवजनिता ।

वरं बन्ध्या भार्या, वरमपि च गर्भेषु वसतिः,

न वाऽविद्वान् रूपद्रविणगणयुक्तोऽपि तनयः ॥ १४ ॥

तेषां, शास्त्रज्ञानरहितानाम् । नित्यमुन्मार्गगामिनां—सदा कुपप्रवृत्तानां
कौडादिव्यसनासक्तानामिति यावत् ।

(१२) कोऽर्थ इति ।—यः पुत्रः न विद्वान् शास्त्रज्ञानवान्, न धार्मिकः धर्मज्ञः
धर्मानुशीलनरतः इत्यर्थः, तेन पुत्रेण जातेन उत्पन्नेन [साध्यते इत्यस्य कारणे तृतीया ।]
कः अर्थः ? किं प्रयोजनम् ? अपि तु तस्य जन्म क्लेशायैत्याह, काणेनेति ।—कान् न
दृशनशक्तिविहीनेन, चक्षुषा [अत्रापि कारणे तृतीया, न तु येनाङ्गेनाङ्गिनो विकार
इति तृतीया] वा किं ? किं प्रयोजनमित्यर्थः, चक्षुः तादृशं चक्षुः, केवलं पौडा
एव पौडादायकमेवित्यर्थः, भवतीति शेषः, न तु तस्मात् किमपि फलं भवतीति भावः ।
काणचक्षुरिव मूर्खः पुत्रः केवलं पित्रीः क्लेशायैत्यर्थः ।

(१३) अतपुत्रादपि मूर्खपुत्रस्य शोकहेतुत्वनाह, अजातेति ।—अजातः अनुत्पन्नः,
मृतः उत्पद्य कालवशं गतः, मूर्खः विद्याहीनस्तेषां मध्ये [निन्दारं षष्ठी, क्वचित् तत्रैव
पञ्चमीबहुवचनं दृश्यते] आद्यौ प्रथमनिर्दिष्टौ अजातशत्रौ, वरं श्रेष्ठौ, अन्तिमः
मूर्खस्तु, न, वरमिति शेषः । कुतः न वरम् ? इत्याह, सकृदिति ।—आद्यौ अजातशत्रौ
हौ, सकृदुःखकरो वारमेकमेव क्लेशावहौ, अन्तिमः शेषः मूर्खस्तु, पदे पदे प्रतिपद
[वीक्षायां द्वित्वम्] नियतमेव, क्लेशकरः इति शेषः ।

(१४) वरमिति ।—गर्भस्त्रावः कुचिस्थभ्रूणस्य पातः, वरम् ईषत्प्रीतिकरः ।
[“देवाद्भूते वरः श्रेष्ठे त्रिषु, क्लीवं मनाक्प्रिये” इत्यमरः] नैवाभिगमनम् अतुल्यता
भाष्येया सह सन्धोगाभावोऽपि च वरं, अतौ पदुपेक्षाजनितपापमपि मनाक्प्रियम्
इत्यर्थः । जातः प्रेतः उत्पद्य मृतः पुत्रश्च वरम् । अवजनिता उत्पादिता कन्याऽपि च
वरम् । बन्ध्या अप्रसूतसन्ताना, भार्यापि वरम् । गर्भेषु कुचिषु, वसतिः स्थितिरपि,

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।

परिवर्त्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ? ॥ १५ ॥

अन्यच्च—गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनो ससम्भ्रमाद् यस्य तेनाम्बा यदि सुतिनौ, वद वन्ध्या कीदृशी भवति ? ॥

अपिच,—दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं मनः ।

विद्यायामर्थलाभे च, मातुरुच्चार एव सः ॥ १७ ॥

अपरच्च,—वरमेको गुणौ पुत्रो, न च भूर्खशतैरपि ।

एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति न च तारागणैरपि ॥ १८ ॥

अप्रसवोऽपि च, वरं, पुत्रस्तेति शेषः । किन्तु रूपद्वेषिगणयुक्तः रूपराशिधनराशि युक्तोऽपि, अविद्वान् मूर्खः, तनयः न वा वरं नैव काङ्क्षितव्य इत्यर्थः । शिखरिणं हन्तम् ।—“रसे रुद्रैर्द्विज्जा यमनसभला गः शिखरिणी” इति लक्षणात् ।

(१५) स इति ।—येन पुत्रेण जातेन उत्पन्नेन, वंशः समुन्नतिम् उत्कर्षं, याति प्राप्नोति, यो हि कुलदीपकः, स जातः प्रशस्तजन्मा सफलजन्मेति यावत् ; परिवर्त्ति पुनरावृत्तिधर्मिणि, संसारे जगति, को वा जनः मृतः सन् न जायते ? पुनः उत्पद्यते ? अपि तु सर्व एव जायते, परन्तु यः कुलोष्णलकारो स एव पुत्र इत्यर्थः ।

(१६) गुणिगणेति ।—गुणिगणस्य गुणवतां जनानां समूहस्य, गणनायाः “ते गुणिनः” इति संख्याकरणस्य, आरम्भे प्रथमे, यस्य पुत्रस्य सन्व कठिनो (खड्गीति भाषा) तथा कृता रक्षित्यर्थः, ससम्भ्रमात् सगौरवात्, सर्वाये इत्यर्थः, न पतति, ते पुत्रेण यदि अम्बा माता, सुतिनी पुत्रवती, तदा वन्ध्या अपुत्रा, कीदृशी भवति कथय; सैव वन्ध्या इति भावः, गुणवज्जनन्येव पुत्रवती न तु निर्गुणजननीति । “ससम्भ्रमात्” इत्यत्र क्वचित् “ससम्भ्रमं” क्वचित् “ससम्भ्रमात्” इति पाठान्तरं दृश्यते आर्या जातिः ।

(१७) दाने इति ।—दाने सत्यावे धनवितरणे, तपसि तपस्यायां, शौर्ये शूरतां प्रकटने, विद्यायां विद्योपार्जने, अर्थलाभे धनोपार्जने च [सर्वत्र विषयाधिकरणं सप्तमी] यस्य पुत्रस्य मनः [पाठान्तरे यशः] न प्रथितं प्रख्यातं सोत्सुकमिति यावत्, स तादृशः यशोरहितः पुत्रः, मातुर्जनन्याः, उच्चारः मलसदृश एव, [“उच्चारवस्तु श्रमलं शक्नोति” इत्यमरः] तादृशस्य पुत्रस्य जन्म निरर्थकमित्यर्थः ।

(१८) वरमिति ।—गुणौ गुणवान्, एकः एकमात्रः, पुत्रस्तनयोऽपि, वरं श्रेष्ठ

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्षाप्यतिदुष्करम् ।

तस्य पुत्रो भवेद् वश्यः, समृद्धो धार्मिकः सुधौः ॥ १८ ॥

तथा चोक्तम्—अर्थागमो नित्यमरोगिता च,

प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।

वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरो च विद्या,

षट् जीवलोकेषु सुखानि राजन् ! ॥ २० ॥

को धन्यो बहुभिः पुत्रैः, कुशुलापूरणाढकैः ? ।

वरमेकः कुलालम्बौ, यत्र विश्रूयते पिता ॥ २१ ॥

मगुणत्वात् वाञ्छनीयः, मूर्खशतैः शतसङ्घट्टकैः मूर्खैः पुत्रैः अपि [“भूयते” इत्यध्या-
ह्वयक्रियायाः अनुक्ते कर्त्तरि ढतीया] न च, वरं भूयते इति शेषः, तैः न किमपि
प्रयोजनमित्यर्थः । “मूर्खशतान्वापि” इति पाठान्तरम् । तथाहि एकः एकाकी अपि,
चन्द्रः तमः निखिलं ध्वान्तं, हन्ति नाशयति दूरीकरोतीति यावत्, ताराणां नक्षत्राणां,
गणाः समूहास्तैरपि मिलितैः [अत्रापि “हन्वते” इत्युच्चाक्रियापदस्य अनुक्ते कर्त्तरि
ढतीया] न च, तमः हन्वते इति शेषः । “तारागणोऽपि च” इति पाठान्तरम् ।

(१८) पुण्येति ।—येन पुरुषेण, कापि कुत्रचिदपि, पुण्यतीर्थे पवित्रे वारा-
णस्यादौ चेत्त्रे, [तरति अनेन गमंवासात् इति तृ + थक् तीर्थे] अतिदुष्करम् अति-
कठोरं, तपः यागादिनियमविशेषः, कृतम् अनुष्ठितम् आचरितमिति यावत्, तस्य
पुत्रः सुतः, वश्यः आज्ञावहः, समृद्धः धनसम्पन्नः, धार्मिकः धर्मपरायणः, सुधौः
पण्डितश्च भवेत् । “पुत्रे यशसि तोये च नराणां पुण्यलक्षणम्” इति स्मृत्या
चान्द्रायणाद्व्रतपरायणानां पुण्यवतामेव सत्पुत्रलाभो भवदित्यर्थः ।

(२०) अर्थागम इति ।—हं राजन् ! जीवलोकेषु मर्त्ये जगति, “जीवलोकास्त्र”
इति पाठान्तरम् ; षट् वक्ष्यमाणानि षट्प्रकाराणि सुखानि, भवन्तीति शेषः ।
कानि तानीत्याह, अर्थागम इति ।—नित्यं प्रतिदिनम्, अर्थस्य आगमः आयः, प्रत्यहं
धनलाभः, अरोगिता च नौरोगित्वं स्वास्थ्ययुक्तंति यावत्, प्रिया सर्वथा प्रीतिप्रदा,
प्रियवादिनी च प्रियं मधुरं वदतीति तथोक्ता मधुरभाषिणी, भार्या स्त्री, वश्यः आज्ञा-
वहः, पुत्रः सुतश्च, अर्थकरी अर्थागमहेतुभूता विद्या च इति । उक्तमुपजातिः ।—
“स्वादिन्द्रवच्चा यदि तौ जगौ गः” “उपेन्द्रवच्चा प्रथमे लघौ सा” इति च लक्षणात् ।

(२१) क इति ।—कुशुलैः आपूरणं येषां ते कुशुलापूरणाः ते च आढकाः

ऋणकर्त्ता पिता शत्रुर्माता च व्यभिचारिणी ।

भार्या रूपवती शत्रुः पुत्रः शत्रुरपण्डितः ॥ २२ ॥

यस्य तस्य प्रसूतोऽपि गुणवान् पूज्यते नरः ।

धनुर्वंशविशुद्धोऽपि निर्गुणः किं करिष्यति ? ॥ २३ ॥

हा हा पुत्रक ! नाधीतं गतास्वेतासु रात्रिषु ।

तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि ॥ २४ ॥

यंति तैः तुषपूर्णपरिमाणपात्रसदृशैः, बहुभिः पुत्रैः असारतुषपूर्णपात्रवत् विद्यादिगुण-
शून्यत्वादकिञ्चित्करैरिति भावः ; को जनः धन्यः ज्ञाघनीयः ? न कोऽपीत्यर्थः । किन्तु
यत्र यास्मिन् पुत्र जाते सति, पिता विश्रुयते परिकीर्त्यते इत्यर्थः, लोकोक्तिरिति शेषः, लोकोक्त्यु-
विख्यातो भवति तादृशः, कुलं वंशम् आलम्बते अयति, सत्कार्यार्थादिना प्रतिष्ठानापादय-
तीत्यर्थः, यः स कुलालस्त्री कुलधुरन्धरः कुलप्रदीप इति यावत्, एकः पुत्रः, वरं अयान् ।

(२२) ऋणकर्त्तेति ।—ऋणस्य कर्त्ता गृहीता, पिता तातः, शत्रुः शत्रुसदृशः,
भवेदिति शेषः । तथा व्यभिचारिणी परपुरुषगामिनी, माता च शत्रुः शत्रुसदृशी ।
रूपवती अत्यन्तसुखा, भार्या पत्नी, शत्रुः शत्रुसदृशी, एवम् अपण्डितः मूर्खः, पुत्रः शत्रुः
शत्रुसदृशः, शत्रवत् कष्टदाता इत्यर्थः ।

(२३) यस्येति ।—गुणाः विद्यन्ते अस्य इति गुणवान् नरः, यस्य तस्य, “कस्य”
इति पाठान्तरम् ; अनिर्दिष्टस्य वंशस्य इत्यर्थः, [सम्बन्धविषयायां षष्ठी] प्रसूतोऽपि
जातोऽपि सन्, पूज्यते सम्मान्यते, लोकोक्तिरिति शेषः । तत्र दृष्टान्तः,—वंशः वंशुः विशुद्धः
यस्य सः उत्तमवंशुसञ्जातोऽपि, (“वंशो वंशौ कुले वर्गे पृष्टाद्यवयवेषु च” इति मेदिनी)
धनुः चापः, [उत्तमधनुस्-शब्दस्य रूपनिदम् । उणा० पा० २।११४—११६ सू०]
निर्गुणः ज्याहीनः चतुः, (“गुणो ज्यामूत्रतन्तुषु । रूपादावप्रधाने च दोषान्यास्मिन्
विशेषणे ॥” इति हेमः) किं करिष्यति ? न किमपि इत्यर्थः । उत्तमवंशनिष्कृतमपि
धनुर्गुणा गुणहीनं किमपि स्वकार्यं साधयितुं न शक्नोति, तथा उत्तमकुले सञ्जातोऽपि
नरः यदि गुणहीनो भवति, तदा सोऽपि कार्यकरणे नालं भवतीति भावः ।

(२४) हा हेति ।—हा हेति खेदं । हे पुत्रक ! एतासु गतासु रात्रिषु याः
रात्रयः गताः तासु, अतीतेषु एतेषु दिनेषु इत्यर्थः, त्वया न अधीतम् इति यत् तेन
कारणेन त्वं विदुषां मध्ये उपस्थितः इत्यर्थः, पङ्के गौरिव सीदसि अवसन्नो भविष्यसि
इत्यर्थः । यथा हि पङ्के पतितः गौः बुद्धाभावात् उत्थातुं नालं भवति तथा त्वमपि
पण्डितसमायां गतः विद्याबुद्धिविहीनत्वात् अवसन्नो भविष्यसि इति ।

तत् कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम् ? यतः,—

आहारनिद्राभयमैथुनञ्च

सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।

धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,

धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥ २५ ॥

यतः,—धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।

अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ २६ ॥

अहीच्यते,—आयुः कर्म च वित्तञ्च विद्या निधनमेव च ।

पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ॥ २७ ॥

किञ्च,—अवश्यम्भाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।

नग्नत्वं नीलकण्ठस्य, महाहिमयनं हरिः ॥ २८ ॥

(२५) आहारिति ।—आहारश्च निद्रा च भयञ्च मैथुनञ्च तेषां समाहारः, नराणाम् एतत् आहारादिकं पशुभिः सामान्यं तुल्यम् । किन्तु तेषां नराणां, धर्मः हि धर्म एव, अधिकः विशेषः पशुभ्यो व्यवच्छेदकः । तथा सति धर्मेण हीनाः वर्जिताः नराः, पशुभिः समानास्तुल्याः, धर्मविवर्जितानां नराणां पशुभ्यो नास्ति कश्चिद्विशेष इत्यर्थः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

(२६) धर्मार्थेति ।—यस्य जनस्य धर्मस्य अर्थस्य कामस्य मोक्षस्य तेषां, चतुर्वर्ग-स्येत्यर्थः, मध्ये एकोऽपि न विद्यते नास्ति, अजा क्लृप्तो तस्याः गलस्तनस्य गलदेशजात-स्तनस्येव तस्य धर्मादिपुरुषार्थचतुष्टयविहीनस्य, जन्म उत्पत्तिः, निरर्थकं विफलम् ।

(२७) आयुरिति ।—आयुर्जीवितकालः, कर्म जीवदवस्थायां कार्यकलापश्च, वित्तं सम्पत्, विद्या शास्त्रज्ञानं, निधनं मरणञ्च, एतानि आयुरादीनि पञ्चापि, गर्भस्थस्य मातृगर्भे स्थितस्यैव, प्रसवात् प्रागेव, देहिनः शरीरिणः सन्तन्त्रे, सृज्यन्ते निर्णोयन्ते, कष्टेति शेषः । भूनिष्ठोभवनात् प्रागेव देहिनाम् आयुरादीनि पञ्च निर्दिष्टानीत्यर्थः ।

(२८) अवश्यमिति ।—महताम् अलौकिकशक्तिसम्पन्नानामपि देवानामपीत-भावः, अवश्यम्भाविनः अवश्यमेव भवितव्याः, भावाः विषयाः, भवन्ति सम्पद्यन्ते, “नियतिः केन बाध्यते ?” इति भावः । तद्विदाहरन्नाह—नीलः कण्ठे यस्य तस्य हरस्य, नग्नत्वं दिगम्बरत्वं, हरिः विष्णोः, महान् अहिः सर्पः महाहिरन्यः तस्मिन् शयनम्, अथवा “महाहिः” इति पाठे महाहिः शयनं शय्या [श्रुतेऽस्मिन्निति आधि-

अन्यच्च,—यदभावि न तज्जावि. भावि चेन्न तदन्यथा ।

इति चिन्ताविषयोऽयमगदः किं न पीयते ? ॥ २९ ॥

एतत् (ग) कार्यान्तमाणां केषाञ्चिदालस्यनिबन्धनं वचनम् ।

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।

एवं पुरुषकारेण विना देवं न सिध्यति ॥ ३० ॥

तथाच,—पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्वैवमिति कथ्यते ।

तस्मात् पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादतन्द्रितः ॥ ३१ ॥

न देवमपि सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः ।

अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाप्तमर्हति ॥ ३२ ॥

करणे ल्युट् । महादेवोऽपि यदा वस्त्राभावेन नग्नः तथा वैलोक्यनाथो विश्वरूपि यदा शय्याभावेन नागशायी वर्तते तदा नियतिरपरिहार्यैव ।

(२९) यदिति ।—यत् अभावि असम्भवं, तत् न भावि न भविष्यत्येव । भावि अवश्यं सम्भवं चेत्, तत् अन्यथा विपरीतं न, भविष्यतीति शेषः । इति इत्यन्, अयम् ईदृशः, न कोऽपि भवितव्यद्वाराणि पिधातुमीष्टे इत्येवंरूपः, चिन्तैव विषं तत् हन्तीति चिन्ताविषनाशकः, नास्ति गदो यस्मात् स अगदः औषधं, किं कथं, न पीयते ? न सेव्यते ? एवं सति सर्वथा सेवनीय एवेत्यर्थः ।

(ग) कार्यान्तमाणां—कार्यसम्पादने अशक्तानाम्, अलसानामिति यावत् ।

(३०) पुरुषकारोत्कर्षमाह, यथेत्यादिभिः ।—एकेन चक्रेण यथा रथस्य स्यन्दनस्य, गतिः चलनं, न हि भवेत्, एवं पुरुषकारेण पुरुषस्य चेष्टया विना, देवं भाग्यं, [“देवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः” इत्यमरः] न सिध्यति न फलति । पौरुषेण विना केवलेन देवेन किमपि कार्यं न सम्पद्यते इत्यर्थः ।

(३१) पूर्वश्लोके देवं न सिध्यतीत्युक्तं, किं तद्वैवमित्याह, पूर्वजन्मेति ।—पूर्वजन्म जन्मानि कृतं सम्पादितं कर्म पुरुषकारः, प्राग्भवोयं यत् पौरुषमित्यर्थः, तत् देवमिति कथ्यते उच्यते, बुधैरिति शेषः । तस्मात् कारणात् देवस्यापि पूर्वजन्मकृत-कर्मविशेषत्वेन पौरुषेणाविशेषत्वात्, जन्मान्तराऽपि पौरुषाश्रयणादित्यर्थः तन्द्रा असंजाता तन्द्रितः, स न भवति इत्यतन्द्रितः अनलसः सन्, पुरुषकारेण करणेन पौरुष-मवलम्ब्य इत्यर्थः, यत्नं कार्यसाधनाय उद्योगं, कुर्यात् ।

(३२) अलसानां किमपि न सिध्यति अतः आलस्यपरिवर्जनं सर्वथा कर्तव्य-

अन्वयः,—उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-

दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,

यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥ ३३ ॥

यथा सृत्पिण्डतः कर्त्ता कुरुते यद् यदिच्छति ।

एवमात्मकतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ३४ ॥

अपरञ्च,—काकतालीयवत् प्राप्तं दृष्ट्वापि निधिमग्रतः ।

न स्वयं देवमादत्ते, पुरुषार्थमपेक्षते ॥ ३५ ॥

मित्याह, नेति ।—दैवमपि सच्चिन्म आत्मनः उद्योगं न त्यजेत् “अहं किं करवाणः ? यथा ममादृष्टं विद्यते तथैव भविष्यति” इति मत्वा चेष्टां न परिहरन् ; यतः,—अन्वयः—योगिनं अचेष्टया इति भावः, तिलैभ्यः तैलानि तिलेषु वर्तमानान्यापि, आतुं बहिष्कर्तुं सित्यर्थः, न अहंति न योग्यी भवति, कन इति शेषः ।

(३३) पुरुषव्यापारमन्त्रेण न किमपि सिध्यति इति वक्तुं देववादिनां निन्दनौद्यतनाह, उद्योगिनमित्यादिभिर्युक्तिभिः ।—लक्ष्मीः सम्पदधिष्ठात्री देवी, उद्योगिनं काव्यसम्पादनार्थं यतमानं, पुरुषः सिंह इव पुरुषसिंहः तम् [“उपमितं व्याघ्रादिभिः” इत्यनेन उपमितकर्मधारयः ।] पुरुषयेष्टम्, उपैति प्राप्नोति आश्रयति । दैवेन भाग्येन, देव सम्पादनौद्यमिति, कापुरुषाः कुंत्सताः पुरुषाः [“वा पुरुषे” इति वैकल्पिकः क्तादेशः] अशक्ताः पौरुषहीना एव पुरुषाः, वदन्ति कथयन्ति । अतः दैवं निहत्य निराकृत्य अवज्ञया दूरीकृत्यत्यर्थः, आत्मशक्त्या स्वसामर्थ्येन, पौरुषं कुरु आश्रयस्व । यत्ने उद्योगं, कृते सति यदि न सिध्यति कार्यं न सम्पद्यते, तदा अत्र यत्ने, कः कश्चिदपि, दोषः यतमानस्य त्रुटिः, विद्यते इति शेषः, अन्यथा कथं काव्यसिद्धिर्न भवेत् ? सम्यक् प्रवश्येत् कर्तुं शक्यते, तदा नूनमेव काव्यसिद्धिरिति सन्नत्यम् । वसन्ततिलकं वृत्तम्—“ज्येष्ठं वसन्ततिलकं तमजा जगौ गः” इति लक्षणात् ।

(३४) यद्येति ।—यथा यद्वत्, कर्त्ता कुशकारः, सृत्पिण्डतः सृत्तिकाकूपान्, यत् यत् शरावादिकम्, इच्छति निर्मातुमभिलषति, यत् तत् कुरुते निर्माति ; एवं तथा, मानवः आत्मकतं स्वकृतं स्वप्रयत्नानुरूपं, कर्म कर्मफलमित्यर्थः, प्रतिपद्यते लभते । प्रयत्नवारतम्येन स्वानुष्ठितं कार्यं विभिन्नरूपेण परिणमतीत्यर्थः ।

(३५) काकिति ।—काकतालीयवत् काकतालीयव्याघ्रेण काकगमनकाले अवि-

उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि, न मनोरथैः ।

न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ ३६ ॥

तथाचोक्तम्,—माता शत्रुः पिता वैरी, येन बालो न पाठितः ।

न शोभते सभामध्ये, हंसमध्ये वको यथा ॥ ३७ ॥

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः ।

विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ ३८ ॥

अपरम्,—पुस्तकेषु च नाधीतं, नाधीतं गुरुसन्निधौ ।

न शोभते सभामध्ये, जारगर्भ इव स्त्रियाः” ॥ ३९ ॥

अर्किततालपतनवदित्यर्थः, प्राप्तम् उपस्थितं, निधिं धनविशेषम्, अद्यतः पुरतः, दृष्टः
देव तत् स्वयं न आदत्ते गृह्णाति, अपि तु पुरुषार्थम् अभीष्टप्रापकं हस्तेन ग्रहण्य
प्रश्रवम्, अपेक्षते आश्रयति अवलम्बते इति यावत् । अतः पौरुषमेवाश्रयणीयमिति भावः

(३६) उद्यमेनेति ।—कार्याणि साधयितुमभिप्रेतानि कार्याणि, उद्यमेन उद्योगेन, सिध्यन्ति सम्पद्यन्ते सफलानि भवन्ति इति भावः, मनोरथैः केवलं सप्तादनवासनाभिः न, सिध्यन्तीति शेषः । हि तथाहि सुप्तस्य निद्रितस्य अचेष्टमानस्येति यावत्, सिंहस्य मुखे मृगाः पशवः, न प्रविशन्ति, स्वयमिति भावः ।

(३७) मातेति ।—येन माता-पितृवर्यतमेन, बालः न पाठितः न शिक्षितः, मा माता, तस्य बालकस्येति शेषः, शत्रुः अहितकारिणी, स पिता जनकः, वैरी शत्रुः भवतीति शेषः । स बालकः हंसमध्ये वको यथा वक इव [अत्र यथाशब्द इवार्थे] सभामध्ये न शोभते न आदृतो भवति ।

(३८) रूपयौवनेति ।—रूपं शरीरकान्तिः, यौवनं तरुणत्वं, ताभ्यां सम्पन्नः युक्ताः रूपवन्तः युवानस्येत्यर्थः । तथा विशालं महत् कुलं तस्मिन् सम्भवः उत्पत्तिर्येषां तैतथोक्ताः महाकुलसम्भूताः, अपीति शेषः, विद्याया हीनाः विद्याहीना निर्गन्धाः पुरुषाः, निर्गन्धाः सौरभहीनाः, किंशुकाः पलाशकुसुमानौष, न शोभन्ते न राजन्ते, न समादृता भवन्तीत्यर्थः । विद्याहीनस्य रूपयौवनादिकं सर्वमेव विफलमिति भावः ।

(३९) पुस्तकोपस्थिति ।—येन बालेन पुस्तकेषु ग्रन्थेषु च, न अधीतं पठितं, गुरुसन्निधौ शिक्षागुरोः सकाशेऽपि, न अधीतं पठितम्, अभ्यस्यन्नापि किमपि शास्त्रमिति शेषः, तादृशो बालकः स्त्रियाः रमण्याः, जारगर्भः उपपतिसम्भोगजनितः बालक इव, सभामध्ये लोकसमाज्ञे, न शोभते न उत्कर्षेण राजते ।

एतच्चिन्तयित्वा स राजा (घ) पण्डितसभां कारितवान् ।
राजोवाच,—“भो भोः पण्डिताः ! श्रूयतां मम वचनम्—अस्ति
कश्चिद् (ङ) एवम्भूतो विद्वान्, यो मम पुत्राणां नित्यम् उन्मार्ग-
गामिनाम् (च) अनधिगतशास्त्राणाम् इदानीं (छ) नीति-
शास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः ? यतः,—

काचः काञ्चनसंसर्गाद्वत्ते मारकतीर्युतौः ।

तथा सत्सन्निधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥ ४० ॥

उक्तञ्च,—हीयते हि मतिस्तात ! हीनैः सह समागमात् ।

समैश्च समतामेति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥ ४१ ॥

(घ) पण्डितानां सभा पण्डितसभा ताम् ।

(ङ) एवम्भूतः,—ईदृशः । उन्मार्गगामिनाम्—उत्तु चकृतः, कुत्सित इत्यर्थः,
मार्गः पन्थाः, तस्मिन् गच्छन्ति ये तेषां, सदा कुकर्मप्रवृत्तानाम् इत्यर्थः । [“प्रातः
स्त्रोऽयगामिनि” इति सूत्रे दन्त्यनकारनिर्देशात् “गामिन्” शब्दस्य णत्वाभावी बोध्यः] ।

(च) अनधिगतशास्त्राणाम्—अनधिगतम् अविदितम्, अपठितम् इत्यर्थः, शास्त्रं
शैलेषां, शास्त्रज्ञानविहीनानाम् ।

(छ) नीतिशास्त्रोपदेशेन—नीतिशास्त्रशिक्षया ।

(४०) काच इति ।—काचः तदाख्यः अनायासमेवः मणिविशेषः, काञ्चन-
संसर्गात् सुवर्णसङ्केतः, सुवर्णसान्निध्यादित्यर्थः, (अत्र यथेति पदम् अध्याहार्यम्)
मारकतोः मरकतो हरिद्वर्णमणिविशेषः तत्सम्बन्धिनीः, दुतीः काकीः, धत्ते धारयति,
प्राप्नोतीति यावत् । तथा तद्वत्, सतां सन्निधानं संसर्गः तेन साधुसङ्केतः, मूर्खः
प्रवीणताम् अभिज्ञतां, याति लभते ।

(४१) हीयते इति ।—हे तात वत्स ! [“सिग्धे पितरि पूज्ये च तातशब्दः
प्रयुज्यते”] हीनैः स्वापेक्षया अल्पबुद्धिभिः, सह समागमात् संसर्गात्, मतिः बुद्धिः,
हीयते हीना भवति, [कर्मकर्तारि लट्] । समैः समानैः, तुल्यज्ञानैरिति यावत्,
सह समागमादिति सर्वत्र सम्बन्धः ; मतिः समतां समानत्वम्, एति च प्राप्नोति च,
न उत्पत्तिं नावगतिश्च लभते इत्यर्थः । विशिष्टैः स्वापेक्षया प्रकटबुद्धिभिः, विशिष्टताम्
सुल्लङ्घिताम्, एतीति शेषः । “संसर्गजा दीपगुणा भवन्ति” इति स्मरणात् सदा
सत्सङ्ग एव स्तोत्रार्चसाधनस्य प्रकटोप्राय इति भावः ।

हि—२

अत्रान्तरे विष्णुशर्मनामा महापण्डितः (ज) सकलनीति-
शास्त्रतत्त्वज्ञो बृहस्पतिरिवान्वीतः,—“देव ! (भ) महाकुल-
सम्भूता एते राजपुत्राः, तन्मया नीतिं (ज) ग्राहयितुं शक्यन्ते ।
यतः,—नाद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत् ।

न व्यापारशतेनापि शुक्वत् पाठ्यते वकः ॥ ४२ ॥

अथ—अस्मिंस्तु निर्गुणं गोत्रे नापत्यमुपजायते ।

आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ? ॥ ४३ ॥

अतोऽहं षण्मासाभ्यन्तरे भवत्पुत्रान् (ट) नीतिशास्त्रा-
भिज्ञानं करिष्यामि” । राजा सविनयं पुनरुवाच,—

(ज) सकलनीतिशास्त्रतत्त्वज्ञः,—सकलानां समस्तां, नीतिशास्त्राणां राज-
नीतिष्वर्थनीतिप्रभतीनां, तत्त्वस्य बृहस्पत्यस्य, ज्ञः, सकलनीतिशास्त्रपारदर्शी ।

(भ) महाकुलसम्भूताः,—महत् कुलं महाकुलं, तस्मिन् सम्भूताः उत्पन्नाः ।

(ज) ग्राहयितुं—प्रापयितुं, शिक्षयितुम् इत्यर्थः ।

(४२) नाद्रव्ये इति ।—अद्रव्ये अथवाभूते विषये, अयोग्यप्राप्ते इत्यर्थः, निहिता
प्रयुक्ता, काचिदपि क्रिया शिक्षादानादिरूपा, फलवती सफला, न भवेत् । तदेव
दृष्टान्तेन द्रष्टव्यं,—व्यापारशतेनापि बहुशश्लेषयापि, वकः शुक्वत् शुक्लेन तुल्यं, [“तेन
तुल्यं क्रिया चेद्वतिः” (५।१।१५ पा०) इति वार्तिः] न पाठ्यते न अध्याप्यते, पाठयितुं
न शक्यते इत्यर्थः ।

(४३) अस्मिन्निति ।—अस्मिन् गोत्रे राज्ञः मरुति वंशे, तु निर्गुणं गुणहीनम्,
अपत्यं सन्ततिः, न उपजायते न उत्पद्यते, [अत्र “उपजायते” इति क्रियायाः
हेतुत्वाभावात् “गोत्रे” इति पदस्य नापादानत्वम् ; “जनिकर्तुः प्रकृतिः” (१।४।२०
पा०) इति सूत्रे “जायमानस्य हेतुरपादानं स्यात्” इति भट्टोजिदीक्षितवचनात्] । तथा
हि पद्मरागाणां पद्मरागाख्यसङ्गमूल्यमणिविशेषाणाम्, आकरे उत्पत्तिस्थाने, काचमणे
रूपमङ्कुरत्वात् अल्पमूल्यत्वाच्च अतिनिष्ठस्य मणिविशेषस्य, जन्म उत्पत्तिः, कुतः ?
कस्मात्, सम्भवतीति श्रेष्ठः ; महावंशसम्भूतत्वात् विनाप्यध्ययनादिकं वंशसुलभः नैसर्गिक-
भौमत्वादिगुणसमूहः एषामख्येव, अतः स्वल्पायासैर्नैव एतान् शिक्षयितुं शक्नोतीति भावः ।

(ट) नीतिशास्त्राभिज्ञानं—नीतिः शास्त्रं नीत्यै नीतिज्ञानाय शास्त्रमिति न,
तस्मिन् अभिज्ञाः पण्डिताज्ञानं, नीतिशास्त्रकुशलान् ।

“कौटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः ।

अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः ॥ ४४ ॥

अन्वय—यथोदयगिरिर्द्रव्यं सन्निकर्षेण दीप्यते ।

तथा सत्सन्निधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४५ ॥

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति

ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।

आस्त्राद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः

समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥ ४६ ॥

(४४) कौट इति ।—सुमनसः पुष्पस्य सुमनसां वा, सङ्गात् संसर्गात्, पुष्पेण सह सम्पर्कात् इत्यर्थः, पुष्पमध्ये अवस्थानादिति यावत्, कौटोऽपि सतां महतां, शिरः आरोहति, महतां शिरसि स्थानं लभते इत्यर्थः । तथा अश्मा प्रक्षरोऽपि, महद्भिः साधुभिः, सुप्रतिष्ठितः यथाविधि स्थापितः सन्, देवत्वं याति प्राप्नोति । मत्पुत्रा मूर्खा अपि अधुना भवत्सन्निधानेन गुणवत्तां प्राप्य सर्वपूज्या भविष्यन्तीति निष्कर्षः ।

(४५) यथेति ।—यथा यद्वत्, उदयगिरिः उदयाचलस्य, सन्निकर्षेण सान्निध्येन, सूर्यकिरणसंयोगेनेत्यर्थः, द्रव्यं वस्तुजातम्, उदयाचलसमीपस्थमिति यावत्, दीप्यते प्रकाशते, दीप्तिमद्भवतीत्यर्थः, तथा सतः महतः, सन्निधानं सन्निकर्षः, संसर्ग इति यावत्, तेन, हीनवर्णः नीचवर्णस्याख्यालादिरपि, अथवा हीना वर्णाः अक्षराणि यस्य सः, अक्षरज्ञानशून्यापि, दीप्यते शीभते, औत्कर्ष्यं लभते इत्यर्थः, हीनत्वापगमात् लोकैः समद्विष्यते इति यावत् ।

(४६) गुणा इति ।—गुणा दयाटाक्षिणादयः, गुणज्ञेषु गुणिन आश्रित्येत्यर्थः, गुणा एव भवन्ति प्रकृतगुणत्वेन परिणमन्ति, ते पूर्वोक्ता दयादयो गुणाः, निर्गुणं गुणहीनं पुरुषं, प्राप्य आसाद्य, निर्गुणाविष्ठिताः सन्त इत्यर्थः, दोषाः दीषरूपेण परिणमन्ताः, भवन्ति । तथाहि नद्यः सरितः, प्रवहन्ति यावत्कालं समुद्रेणासङ्गत्य स्वयं प्रवहन्त्यः विद्यन्ते इत्यर्थः, तावत् आस्त्राद्यतोयाः आस्त्राद्यं सुपेयं, तोयं जलं यासु तादृश्यो भवन्ति, “प्रभवन्ति” इति पाठे—प्रभाववत्यः भवन्ति, खादुतोयत्वात् लोकैः समदरणीया भवन्तीत्यर्थः । ता एव समुद्रं लवणोदसागरम्, आसाद्य प्राप्य, अपेयाः लवणसंसर्गेण पानायोग्याः, भवन्ति । यथा हि खादूदका नद्यः लवणसंसर्गेण अपेया भवन्ति, तथा स्वभावत एव पूतचरिताः सज्जना अपि दुर्जनसंसर्गेण दुश्चरिता भवन्तीति भावः । इत्तमुपजातिनाम् ।

तदेतेषामस्मत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय (ठ) भवन्तः प्रमाणम्” इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणो बहुमानपुरःसरं पुत्रान् समर्पितवान् ।

[इति कथामुखम्] ।

मित्रलाभः ।

अथ (ड) प्रासादपृष्ठे सुखीपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात् प्रस्तावक्रमेण स पण्डितोऽब्रवीत्,—“भो राजपुत्राः ! शृणुत,—
काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।

व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥ ४७ ॥

तद्भवतां (ढ) विनोदाय काककूर्मादौनां (ण) विचित्रां

(ठ) भवन्तः प्रमाणं—भवन्तः एव प्रमातरः, स्वाधीनवृत्तयः इत्यर्थः, भवन्तेव समयः, अतो यथा भवते रोचते तथैव नीतिमुपदिशतु इति भावः । [“प्रमाणं नित्यमव्यादाशस्त्रेषु सत्यवादिनि । इयत्तायाश्च हेतौ च क्लीवैकले प्रमातरि” ॥ इति मेदिनीवचनात् “प्रमाणम्” इत्यत्र एकवचनं क्लीबत्वञ्च] ।

(ड) प्रासादपृष्ठे—इत्थोपरि । [प्रासाद इति प्रसीदतेर्घञि उपसर्गदीर्घत्वम्] ।

(४७) काव्येति ।—प्रशस्ता धीः येषां तेषां धीमतां पण्डितानां, [“भूमनिन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशयने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुवादयः” ॥ इति नियमात् प्रशंसायां मतुप्] काव्यशास्त्रविनोदेन काव्यशास्त्रालोचनाजनितेन आमीदेन, मूर्खाणां विद्याहीनानाञ्च, व्यसनेन द्यूतपानाद्यासङ्गेन, विविधगर्हितकर्मागुष्ठानेनेत्यर्थः, निद्रया वा अथवा, कलहेन, कालः समयः, गच्छति याति ; पण्डिताः शास्त्रालोचनयेव मूर्खाञ्च व्यसनादिभिरेव कालम् अतिवाहयन्तीत्यर्थः । दिवानिद्राया एव व्यसनान्तर्गतत्वात् अत्र सामान्येन निद्रापदोपन्यासात् न पुनरुक्तिः ।

(ढ) विनोदाय—प्रोत्थयम् ।

(ण) विचित्रां—रमणीयां, विविधाम् इत्यर्थः ।

कथां कथयामि” । राजपुत्रैरुक्तम्,—“आर्य्य ! कथ्यताम्” ।

विष्णुशर्मोवाच,—“यूयं शृणुत, सम्प्रति (त) मित्रलाभः प्रस्तूयते । यस्यायमाद्यः श्लोकः,—

असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः ।

साधयन्त्याशु कार्याणि काककूर्ममृगाखुवत्” ॥ ४८ ॥

राजपुत्रा ऊचुः,—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्,—

काक-कूर्म-मृग-मूपिककथा ।—

“अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीतकः । तत्र
(थ) नानादिदेशादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति । अथ कदा-
चित् (द) अवसन्नायां रात्रौ अस्ताचलचूडावलम्बिनि भगवति
(ध) कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि, लघुपतनकनामा वायसः
(न) प्रबुद्धः (प) कृतान्तमिव द्वितीयमटन्तं पाशहस्तं व्याधम-

(त) मित्रस्य लाभः प्राप्तिः, मित्रलाभाख्यो विषय इत्यर्थः । प्रस्तूयते—प्रकाश-
क्रमेण कथ्यते, आरभ्यते इत्यर्थः ।

(४८) असाधना इति ।—न सन्ति साधनानि अस्त्रशस्त्राद्युपायाः येषां ते
असाधनाः उपायहीनाः, वित्तेन धनेन हीनाः निर्धनाः, सुहृत्तमाः परस्परम् अतिशयेन
सौहार्दमापन्नाः, बुद्धिमन्तः बुद्धिशालिनः, जनाः इति शेषः, काककूर्ममृगाखुवत्
वायसकच्छपहरिणमूपिकवत्, आशु शीघ्रं, कार्याणि साधयन्ति सम्पादयन्ति । हन्तमिदं
विपुलावक्रमम् ।

(थ) नानादिदेशात्—दिक् च देशश्च तयोः समाहारः दिदेशं, ततो नाना-
अन्वेन कर्मधारयः, तस्मात्, विभिन्नदिशः विभिन्नदेशाच्च इत्यर्थः ।

(द) अवसन्नायां—क्षीणायां, प्रमातायाम् इत्यर्थः ।

(ध) कुमुदिनीनायके—कुमुदतीपती ।

(न) प्रबुद्धः,—जागरितः ।

(प) कृतान्तं—कृतं सप्तम् अन्तयति यः, कृतः अन्तः विनाशो येन इति वा सः
तं, यन्म ।

पश्यत् । तमवलोक्याचिन्तयत्,—“अद्य प्रातरेव (फ) अनिष्ट-
दर्शनं जातं, न जाने किम् (व) अनभिमतं दर्शयिष्यति ?”
इत्युक्त्वा तदनुसरणक्रमेण व्याकुलश्चलितः । यतः,—

शोकस्थानसहस्राणि, भयस्थानशतानि च ।

दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ ४९ ॥

अन्यच्च—(भ) विषयिणामिदमवश्यं कर्त्तव्यम्,—

उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम् ।

मरणव्याधिशोकानां किमद्य निपतिष्यति ? ॥ ५० ॥

अथ तेन व्याधेन तण्डुलकणान् विकीर्य जालं विस्तीर्णम् ।
स च तत्र प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः । अस्मिन्नेव काले चित्रग्रीव-
नामा कपोतराजः सपरिवारो (म) वियति विसर्पंस्तांस्तण्डुल-

(फ) अनिष्टदर्शनं—व्याघमुखदर्शनरूपामङ्गलाखीकनम् ।

(व) अनभिमतम्—अप्रियम्, अमङ्गलमित्यर्थः । दर्शयिष्यति—घटयिष्यति
इत्यर्थः, अनिष्टदर्शनमिति शेषः ।

(४९) शोकस्थानेति ।—शोकस्थानानां सहस्राणि सहस्रशः शोककारणानि,
भयस्थानानां शतानि शतशो भयहेतवश्च, दिवसे दिवसे प्रतिदिनं, मूढं मन्दमतिं
पुरुषम्, आविशन्ति प्रविशन्ति, आश्रयन्तीत्यर्थः, पण्डितं पण्डा वेदोक्त्वला बुद्धिः पक्ष
जाता इति [इतच्] तं, न, आविशन्ति इत्यन्वयः ; पण्डिताः सदैव शोकादीनामवशो
भूताः सानन्दा एव वर्तन्ते इति भावः ।

(भ) विषयिणां—विषयानुरक्तानां, गृहिणामित्यर्थः ।

(५०) उत्थायेति ।—उत्थाय उत्थाय प्रतिदिनं शय्याया उत्थितो भूत्वेत्यर्थः,
[“नित्यबौद्धयोः” (न११४ पा०) इति द्विर्भावः] मच्चत् अतिदारुणमित्यर्थः, भयं भय-
कारणम्, उपस्थितम् आगतम्, इति बोद्धव्यं ज्ञातव्यम्, अनुपस्थितमपि उपस्थितव्यं
मन्तव्यम् इत्यर्थः, विषयिमिरिति शेषः । किन्तुभयमित्याह—अद्य मरणव्याधिशोकानां
मध्ये किं निपतिष्यति ? समेष्यति ? इति । भयहेतौ उपस्थिते यथा तत्प्रतीकाराय यत्नः
क्रियते, तथा तदनुपस्थितावपि तदागमननिवारणाय यत्नः करणीय इति भावः । प्रति-
दिनमेव अनिष्टापातशङ्कां कृत्वा तत्प्रतीकाराय सावधानेन भवितव्यमिति फलितम् ।
(म) वियति—आकाशे ।

कणान् अवलोकयामास । ततः कपोतराजस्तण्डुलकणलुब्धान्
कपोतान् प्रत्याह,—“कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुलकणानां
सम्भवः, तन्निरूप्यतां तावत्, भद्रमिदं न पश्यामि ; (य) प्राये-
णानेन तण्डुलकणलोभेनास्माभिरपि तथा भवितव्यम् ;—

कङ्कणस्य तु लोभेन मग्नः पङ्के सुदुस्तरे ।

वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः पथिकः संसृतो यथा” ॥ ५१ ॥

कपोता ऊचुः,—“कथमेतत् ?” सोऽब्रवीत्,—

वृद्धव्याघ्र-पथिककथा ।—

“अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम्,—एको वृद्धो व्याघ्रः
स्नातः कुशहस्तः सरस्तीरे ब्रूते,—“भो भोः पान्थाः ! इदं
सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम्” । ततो लोभाकण्ठेन केनचित् पान्थेन
आलोचितं,—“भाग्येनैतत् सम्भवति, किन्तु अस्मिन्
(२) आत्मसन्देहे प्रवृत्तिर्न विधेया । यतः,—

अनिष्टादिष्टलाभेऽपि न गतिर्जायते शुभा ।

यत्रास्ते विषसंसर्गोऽसृतं तदपि सृत्यवे ॥ ५२ ॥

(य) प्रायेण—वाङ्मयेन [प्रकृत्यादित्वात् सर्वविभक्त्यपवादेन तृतीया] ।

(५१) कङ्कणस्येति ।—कङ्कणस्य सुवर्णमयकरभूषणविशेषस्य, लोभेन लिप्तया,
सुदुस्तरे अतिदुःखेनापि सत्तर्तुमशक्ते, अतिगादे इत्यर्थः, पङ्के कर्हमे, मग्नः पतितः,
पथिकः वृद्धव्याघ्रेण केनचित् वृद्धशार्दूलेन, सम्प्राप्तः आक्रान्तः सन्, यथा येन प्रकारेण,
संसृतः सृत्युं प्राप्तः, अस्माभिरपि प्रायेण तथा भवितव्यमित्यनेनान्वयः ।

(२) आत्मसन्देहे—आत्मनः सन्देहः यस्मिन् तस्मिन्, स्वशरीरनाशशङ्कायुक्ते
कार्ये । प्रवृत्तिः,—मतिः, लोभ इति यावत् ।

(५२) अनिष्टादिति ।—अनिष्टात् अप्रियात्, अहितकारात् इत्यर्थः, इष्टलाभेऽपि
अभीष्टप्राप्तौ अपि, शुभा श्रेयसी, गतिः दशा, परिणाम इत्यर्थः, न जायते न भवति
इत्यर्थः । यत्र यस्मिन् असृते इत्यर्थः, विषसंसर्गः विषसंयोगः, आस्ते वसन्ते, तत्
असृतमपि सृत्यवे मरणाय, भवतीति शेषः । विषमिश्रितम् असृतमिव अनिष्टादिष्ट-
लाभोऽपि न श्रेयसे भवतीति फलिताग्रः ।

किन्तु सर्वत्रार्थार्जनप्रवृत्तौ सन्देह एव । तथा चोक्तम्,—
न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।

संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति ॥ ५३ ॥

तन्निरूपयामि तावत्” । प्रकाशं ब्रूते,—“कुत्र तव कङ्कणम् ?
व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति । पान्थोऽवदत्,—“कथं (ल) मारा
त्मके त्वयि विश्वासः ?”

व्याघ्र उवाच,—“शृणु रे पान्थ ! प्रागेव यौवनदशायामहम्
अतिदुर्वृत्त आसम् । अनेकगोमानुषाणां बधात् मे पुत्रा सृता
दाराश्च, वंशहीनश्चाहम् । ततः केनचिद्वार्मिकेणाहमुपदिष्टः,—
‘दानधर्मादिकमाचरतु भवान्’ इति । तदुपदेशादिदानीमहं
स्नानशीलो दाता वृद्धो (व) गलितनखदन्तः न कथं
(श) विश्वासभूमिः ? उक्तञ्च,—

इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।

अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ॥ ५४ ॥

(५३) न संशयमिति ।—नरः संशयमनारुह्य कश्चिच्छान् प्रवृत्तौऽहं जीवि-
ष्यामि नरिष्यामि वा इत्येवं जीवनसन्देहविषयम् अननुप्रविश्य, अप्राप्येत्यर्थः, भद्राणि
शुभानि, सम्पदः इति यावत्, न पश्यति न खलते इत्यर्थः । संशयं जीवनशङ्काम्,
आरुह्य प्राप्य, पुनः किन्तु, यदि जीवति प्राप्नोति, तदा पश्यति, भद्राणीति शेषः ।
मन्त्रं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि इत्येवमध्यवस्य कश्चिंप्रवृत्तौ नरः एव श्रेयोभाग्
भवतीति भावः ।

(ल) मारात्मके—मारः हिंसात्मकः, आत्मा स्वभावो यस्य तस्मिन्, हिंसे ।

(व) गलितनखदन्तः,—नखाश्च दन्ताश्च नखदन्तं, गलितं पतितं, नखदन्तं
वस्य सः ।

(श) विश्वासभूमिः,—विश्वासपात्रम् ।

(५४) इत्येति ।—इज्या यागः, अध्ययनं वेदपाठः, दानं सत्पात्रे विनियोगः,
तपः धर्मानुष्ठानार्थं सान्त्तपनादि व्रतं, सत्यम् व्रतं, धृतिः सन्तोषः, निर्विकल्प-
चित्ततेति यावत्, क्षमा तितिक्षा, अलोभः वीतस्पृहता, इति अयम् अष्टविधः अष्ट-
प्रकारः, धर्मस्य धर्मावरणस्य, मार्गः पन्थाः, स्मृतः कथितः ।

तत्र पूर्वद्यतुर्वर्गो दम्भार्थमपि सेव्यते ।

उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥ ५५ ॥

मम चैतावान् लोभविरहः, येन स्वहस्तस्यमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मैचिदातुमिच्छामि । तथाऽपि 'व्याघ्रो मातुषं खादति' इति (ष) लोकापवादो दुर्निवारः । यतः,—

गतानुगतिको लोकः कुट्टनीमुपदेशिनीम् ।

प्रमाणयति नो धर्मं, यथा गोघ्नमपि द्विजम् ॥ ५६ ॥

मया च धर्मशास्त्राणि अधीतानि, शृणु,—

मरुस्थल्यां यथा वृष्टिः क्षुधार्ते भोजनं तथा ।

दरिद्रे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ! ॥ ५७ ॥

(५५) तत्रेति ।—तत्र तेषु अष्टविधेषु मध्ये, पूर्वः प्रथमनिर्दिष्टः, चतुर्वर्गः यागाध्ययनदानतपोरूपाः चत्वार इत्यर्थः, दम्भार्थं प्रभुत्वस्थापनार्थमपि, यागाध्ययनादिना अहं सर्वत्र विख्यातो भवामि, सर्वे मां मानयिष्यन्ति इत्येवं गर्वप्रकाशार्थमित्यर्थः, सेव्यते अनुष्ठीयते इत्यर्थः, केनापि इति शेषः, उत्तरः पञ्चान्निर्दिष्टः, चतुर्वर्गः सत्यवृत्तिचमोऽलोभरूपस्तु, महात्मनि उदारचरिते नैष्ठिकधार्मिके एव, न तु दुरात्मनि इति भावः, तिष्ठति ।

(ष) लोकापवादः,—लोकेषु अपवादः निन्दा । दुर्निवारः,—दुष्परिहाय्यः ।

(५६) गतेति ।—गतस्य अतीतस्य, पूर्वैरवलम्बितस्य मार्गस्य इत्यर्थः, अनुगतिः अनुसरणं यच्च स गतानुगतिकः प्राचीनाचरितमागानुसारौ, लोकः धर्मं धर्ममिच्छे, गोघ्नं द्विजं यथा गोहत्याकारिब्राह्मणमिव, उपदेशिनीम् उपदेशदानपरामपि, कुट्टनीं संश्रलीं, परपुरुषेण परनारीं संयोजयित्रीमित्यर्थः, नो प्रमाणयति प्रमाणं न करोति । लोकानामयं स्वभावी यत् ते परम्पराचरितेन अपकृष्टेनापि पथा व्यवहरन्ति, न पुनः उपकृष्टेनापि केनचिदनाचरितेन पथा, एवञ्च सप्तचारित्र्येषु कुट्टनीजनेषु गोहत्यादिपातकान्वितेषु द्विजेषु वा धर्ममुपदिशन्त्यपि लोकानां तत्र अनादरी जायते, इति समुद्दिष्टार्थः । स्वभावतो हिंस्रतया परिचितेष्वपि व्याघ्रेषु किम् एकेनापि व्याघ्रेण हिंसाहेषादिपरिशुन्नेन धर्मज्ञानरतेन न भवितव्यम् ? यत् मां न प्रमाणयसि ? इति भावः ।

(५७) मरुस्थल्यमिति ।—हे पाण्डुनन्दन ! मरुस्थल्यां मरुभूमौ, जलशून्य-

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः भूतानामपि ते तथा ।

आत्मौपम्येन भूतानां दयां कुर्वन्ति साधवः ॥ ५८ ॥

अपरच—प्रत्याख्याने च दाने च सुखदुःखे प्रियाप्रिये ।

आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥ ५९ ॥

अन्यच्च—मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत् ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यन्ति स पण्डितः ॥ ६० ॥

प्रदेशे इत्यर्थः, इष्टिः वर्षथं, जलदानमिति भावः, यथा, सफलं भवति इति ज्ञेयं यथा आर्त्तं पीडिते, वसुचिते इत्यर्थः, भोजनं भोजनदानमपि, तथा तदा सफलं भवति इत्यर्थः, एवंच दरिद्रे यत् दानं दीयते तदेव सफलम् ।

(५८) प्राणा इति ।—आत्मनः स्वस्य, प्राणाः [नित्यबहुवचनान्तः । “प्राणं हन्यादते वोहि काव्यजीवेऽनिले वले । पुंलिङ्गः पूरिते वाच्यलिङ्गः पुं भृञि चात्मसु” इति मेदिनी] यथा अभीष्टाः प्रियाः अभिलषिताः वा, सर्वप्रयत्नेन रक्षणीयाः इत्यर्थः भूतानाम् आत्मभिन्नप्राणिनामपि, ते प्राणाः, तथा अभीष्टा इत्यर्थः, इति विविच्य साधवः सज्जनाः, आत्मौपम्येन आत्मतुल्यतया, भूतानां प्राणिनां सम्बन्धे, [सर्वत्र घटी, न तु “अधीग्यंददेशां कर्मणि” (१।३।५२ पा०) इति कर्मणि घटी, दयधारी रथीनात् ; “भूतेषु” इति पाठान्तरम् ;] दयां कुर्वन्ति । यदेवात्मनः क्लेशावहं परेषामपि तत्तथेति विविच्य साधवः सर्वभूतेषु आत्मवत् आचरन्तीति भावः ।

(५९) प्रथेति ।—प्रत्याख्याने अन्यकर्तृकवैमुख्यसम्पादने, प्राणितस्मात्प्राण इत्यर्थः, दाने स्वस्य अर्थादिरपण्ये च, सुखदुःखे सुखदुःखाद्यवस्थायामित्यर्थः, प्रियाप्रिये शुभाशुभे च विषये, पुरुषः आत्मौपम्येन आत्मतुल्यतया, प्रमाणं दृष्टान्तम्, अधिगच्छति प्राप्नोति । आत्मनः प्रत्याख्यानादौ यथा आत्मना कष्टमनुभूयते तथा परैरपि विविच्य जनान्तरं प्रति व्यवहर्त्तव्यम् इति भावः ।

(६०) मातृवदिति ।—यौ जनः परदारेषु [दारशब्दः नित्यबहुवचनान्तः परकलत्रेषु, परदारानित्यर्थः, मातृवत् मातरीव, परद्रव्येषु परेषां वस्तुषु, परद्रव्यौपम्यर्थः, लोष्टवत् मृखण्डवत्, सर्वभूतेषु सर्वप्राणिषु, सर्वप्राणिनः इत्यर्थः, [सर्वत्र अधिकरणविवचया ङी] आत्मवत् आत्मतुल्यं, सर्वभूतानि निजजीवनीपमप्रमाणौपम्यर्थः, [सर्वत्र “तेन तुल्यं क्रिया चेदिति” (५।१।११५ पा०) इति वतिः] पश्यति, पण्डितः पण्डितः ज्ञानवान् । जितेन्द्रियो निर्लोभः दयानानेव पण्डितः इति निर्गलितार्थः ।

त्वच्च अतीव (स) दुर्गतः, तेन (ह) तत् तुभ्यं दातं
सयन्नोऽहम् । तथा चोक्तम्,—

दरिद्रान् भर कौन्तेय ! मा प्रयच्छेश्वरं धनम् ।

व्याधितस्त्रीषधं पथ्यं नौरुजस्य किमौषधैः ? ॥ ६१ ॥

अन्वच्च—दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं विदुः ॥ ६२ ॥

तदन्नं सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणमिदं गृह्णाण” ।

ततो यावदसौ (क) तद्वचःप्रतीतो लोभात् सरः स्नातं

(स) दुर्गतः,—दुरवस्थापन्नः, निर्धन इति यावत् ।

(ह) तत्—सुवर्णकङ्कणम् ।

(६१) दरिद्राङ्गिति ।—हे कौन्तेय ! कुन्तीतनय ! युधिष्ठिर !, दरिद्रान्
निर्धनान्, भर अन्नवस्त्रादिना प्रतिपालय, ईश्वरे धनवति जने, [अपात्रत्वद्योतनात्
विवक्षावशाद् वा समगो] धनं मा प्रयच्छ न देहि । कुतः ? इत्याशङ्क्यामाह,—
व्याधिरस्य जातः [तारकादित्वादितच्] व्याधितः रुग्णः तस्य पीडितस्य, औषधं पथ्यं
हितकरं, [“धर्मपथ्यधन्यायादनपेते” (४।४।८२ पा०) इति यत्] । निन्तांसि, रुजा
श्लेष्मः यस्य तस्य रोगहीनस्य, औषधैः भेषजैः, किम् ? न किमपि प्रयोजनमित्यर्थः ।
व्याधिरहिते पुरुषे औषधप्रयोग इव धनवति धनदानं विफलमिति भावः ।

(६२) दातव्यमिति ।—दातव्यं दानं कर्तव्यम्, इति एवं निश्चयेन, निःस्वार्थ-
भावेनेति यावत्, यद्दानम् अनुपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थाय, दुर्गतायेति शेषः, तथा
देशे कुरुक्षेत्रादौ पवित्रे तीर्थे, काले गृहणादौ पूर्णिमादिपर्वणि च, पात्रे च
पात्रभूताय तपःश्रुतादिसम्पन्नाय ब्राह्मणायित्यर्थः, [देशकालसङ्गच्छत्यात् पात्रे इति
७मी] यद्वा,—पातीति पात्रा तस्यै रक्षकायित्यर्थः, स हि सर्वस्वादापङ्गणात् दातारं
पाति ; दीयते, तत् दानं सात्त्विकं सात्त्विकभावानुगतं, विदुः जानन्ति, विद्वांस
इति शेषः ।

(क) तद्वचःप्रतीतः,—तस्य व्याघ्रस्य, वचः वाक्यं, तस्मिन् तेन वा प्रतीतः दृष्टः,
व्याघ्रवाक्येन सञ्जातानन्द इत्यर्थः, व्याघ्रवचने कृतप्रत्ययः इति भावः, (“स्नाते दृष्टे
प्रतीतः स्नात्” इत्यमरः) । अत्र “जातविश्वासः” इति पाठान्तरम् ।

प्रविष्टः, तावत् महापङ्के (ख) निमग्नः पलायितुमक्षमः ।
 पङ्के पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्,—“अहह !!! महापङ्के पतितो
 ऽसि ? अतस्त्वामहमुत्थापयामि” इत्युक्त्वा (ग) शनैः शनैरुत्था-
 गम्य तेन व्याघ्रेण धृतः स पाथोऽचिन्तयत्,—

“न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं

न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।

स्वभाव एवात्र तथाऽतिरिच्यते

यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥ ६३ ॥

किञ्च—अवशेन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया ।

दुर्भगाऽऽभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना ॥ ६४ ॥

(ख) निमग्नः,—अवगाढं प्रविष्टः, निपतितः इत्यर्थः, [नि + मस्ञ् + क्तः]

(ग) शनैः शनैः,—मन्दं मन्दम् [उपगम्येति क्रियाया विशेषणम्] ।

(६३) नेति ।—अयमित्यध्याहर्तव्यम् । धर्मशास्त्रं मत्वादिप्रणीतं धर्मोपदेश-
 शास्त्रं, पठति अधीते, इति एतत् धर्मशास्त्रपठनं, न, च तथा, वेदाध्ययनं वेदपाठ-
 ऽपि, दुरात्मनः स्वभावतो दुराचारात्, कारणं धर्मप्रवृत्तिहेतुः, न, भवतीति शेषः ।
 अत्र साधुत्वासाधुत्वविषये इत्यर्थः, स्वभावः प्रकृतिरेव, तथा तद्वत्, अतिरिच्ये
 सर्वमतौल्यं वर्त्तते, प्रवृत्तिहेतुः भवति इत्यर्थः । [अति + रिच + कर्म्मकर्त्तरि लट्-ते]
 यथा गवां कटुतिक्तादिदण्मक्षिणीनामपीति भावः, पयः दुग्धं, प्रकृत्या स्वभावेन, मधु-
 सुखाद्, न पुनः खाद्यादिगुणेन कदाचित् कटु तिक्तं वा इति भावः, भवति इति
 शेषः, गोपयसो माधुर्यं दुग्धस्वभाव एव यथा हेतुः, साधुत्वासाधुत्वविषयेऽपि स्वभाव-
 एव तथा हेतुर्भवति, न तु धर्मशास्त्रादिपाठः इति समुदितार्थः । यस्य यादृश-
 स्वभावः न केनापि तद्वेपरीत्यं जायते इति भावः । वंशस्थविलं वृत्तम् ।

(६४) अवशेति ।—इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, चित्तं मनः, अवशानि अवशी-
 भूतानि, इन्द्रियाणि चित्तञ्च येषां तेषाम् अजितेन्द्रियाणामित्यर्थः, क्रिया सत्या-
 वन्दनादिव्यापारः, हस्तिस्नानमिव निष्फला इत्यर्थः । यथा हि हस्ती स्नानानन्तरमेव
 प्रांशुविकीरणेन खदेहं मलिनोक्करोति, तथा अजितेन्द्रियाः प्राज्ञा अपि इन्द्रियपा-
 पुश्लेन आत्मानं संदूष्य क्रियां विफलोक्कुर्वन्तीति भावः । तस्मा क्रियां विना इन्द्रिय-
 जयवपं शास्त्रीकं वा अनुष्ठानमन्तरेण, ज्ञानं धर्मशास्त्राध्ययनजनितप्राज्ञा, दुर्भगाऽऽ-

तन्मया भद्रं न कृतं, यदत्र (घ) मारात्मके विश्वासः कृतः ।

यथा चोक्तम्—शृङ्गिणाञ्च नदीनाञ्च नखिनां शस्त्रपाणिनाम् ।

विश्वासो नैव कर्त्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ॥ ६५ ॥

अपरञ्च—सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावाः नेतरे गुणाः ।

अतौल्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्च्छितं वर्त्तते ॥ ६६ ॥

अन्यञ्च—स हि गगनविहारौ कल्पषध्वंसकारी

दशशतकरधारौ ज्योतिषां मध्यचारी ।

पतिसौभाग्यहीनायाः नाय्याः, आभरणप्रायः अलङ्कारतुल्यः, भारः भारभूत एव ; यथा हि दुर्भंगायाः भूषणधारणं न पातमनोरञ्जकम्, अपि तु शरीरभारभूतं भवति, तद्वत् सदनुष्ठानं विना केवलं ज्ञानमपीति भावः । केचित्तु एवं व्याख्यानयन्ति, यथा,—दुर्भंगा वय्या नारी, तस्याः भरणप्रायः अन्नवस्त्रादिना पोषणतुल्यः, भारः विफलमपि अवशकत्तव्यतया क्लेशवद् कर्म । वय्याकानिनीनां यावज्जीवं पोषणवत् क्रियां विना काव्यकलापपरिज्ञानं ह्यैवेत्यर्थः ।

(घ) मारात्मके—मारे हिंसायाम्, आत्मा स्वभावो यस्य तस्मिन् हिंस्रप्रकृतिके ।

(६५) शृङ्गिणामिति ।—शृङ्गाणि एषां सन्तीति शृङ्गिणः विषाणवन्तः तेषां शृङ्गायुधानां गोमहिषादीनां, नदीनां स्रोतस्वतीनां, नखिनां नखायुधानां व्याघ्रादीनाम्, अत्र नखिनामित्युपलक्षणं, तेन दन्तिनामपीति बोध्यं, दन्तायुधानां वराहादीनामित्यर्थः, शृङ्गाणि पाणौ येषां तेषां शस्त्रपाणिनां शस्त्रधारिणां, [सत्त्वं सत्त्वमेव षष्ठी । शस्त्रपाणिनामित्यत्र संज्ञापूर्वकत्वात् दीर्घस्य अनित्यता, महाकविप्रयोगवशात् ङनिर्वा ; शस्त्रेण पणायन्ते व्यवहरन्ति इति आशङ्क्य-अभावपक्षे यद्वादित्वात् णिनिः वा] स्त्रीषु नारीषु, राजकुलेषु च राजवंशीयवेषु च, [अधिकरणे सप्तमी] विश्वासः प्रत्ययः, नैव कर्त्तव्यः विधेयः, एतेषु न कथमपि विश्वसितव्यमित्यर्थः ।

(६६) सर्वस्येति ।—सर्वस्य जनस्य, स्वभावाः हि प्रकृतय एव, परीक्ष्यन्ते मय्यक् विचार्यन्ते, इतरे गुणाः विद्यावत्तादिधर्माः, न, परीक्ष्यन्ते लोकेरिति शेषः, अन्यान् गुणानपेक्ष्य प्रथमं स्वभावपरीक्षणमेव श्रेयः इत्यर्थः, हि यतः, स्वभावः सर्वान् गुणान् अतौल्य अतिक्रम्य, मूर्च्छितं शिरसि, सर्वोपरि इत्यर्थः, वर्त्तते तिष्ठति ; प्रकृतिः दुरतिक्रमेति भावः । अस्य प्रकृतिमनालोचयता मया मय्यक् न कृतमिति तात्पर्यम् ।

(६७) स हीति ।—गगने विहरतीति गगनविहारौ आकाशे विचरणशीलः,

हि—इ

विधुरपि विधियोगाद् गच्छते राहुणाऽसौ

लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितं कः समर्थः ? ॥ ६७ ॥

इति चिन्तयन्नेवासौ व्याघ्रेण धृत्वा व्यापादितः स्वादितश्च
अतोऽहं ब्रवीमि—“कङ्कणस्य तु लोभेन” इत्यादि ।

[इति बृहद्व्याघ्रप्रथिककथा] ।

अतः सर्वथा (७) अविचारितं कर्म न कर्तव्यमिति

यतः,—सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः

सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।

सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत् कृतं

सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ ६८ ॥

एतद्वचनं श्रुत्वा कश्चित् कपोतः सदपमाह,—“आः
किमेवमुच्यते ?—

कल्पं पापं, तस्य ध्वंसं नाशं करोतीति तथोक्तः सर्वपापघ्नः, दशावतं शतं दशस्रं
सहस्रमित्यर्थः, कराः मयूखालान् धरतीति सहस्रकिरणमाली, सः प्रसिद्धः सूर्यः, तस्य
ज्योतिषां नक्षत्राणां, मध्यचारी मध्ये विराजमानः, असौ प्रसिद्धः, विधुरश्चोक्तः
विधियोगात् देवनियमनात्, राहुणा विधुन्वदेन, गच्छते कवलीकृत्यते, स्पृष्टं
इति भावः ; अपि निश्चितं अग्रे वा, “अपि” इत्यत्र “इह” इति पाठान्तरम् ; ललाटे
भाले, लिखितं, विधाया इति शेषः, प्रोज्झितम् अन्वधाकर्तुं, को जनः, समर्थः ?
स्त्रीऽपि ।—“ललाटे लिखितं यत् पृष्ठोनागरवासरे । न हरिः शङ्करो ब्रह्मा चालम्
कर्तुमर्हति ॥” इति भावः । साक्षिणी वृत्तम् ।

(७) अविचारितं—पूर्वं सम्यग्ज्ञालोचितं, प्राग्वितर्कितम् इति यावत् ।

(६८) सुजीर्णमिति ।—सुजीर्णं परिपाकमापन्नम्, अन्नं सुतं यस्तु, सुविचक्षणः
सुष्ठु शिखितः, सुतः पुत्रः, सुशासिता त्रिशप्रेण वृशं शमिता, स्त्री भ्रातृयां, प्रतिच्छिन्नोऽ
वर्जिनो नारीत्यर्थः, सुसेवितः—सर्वप्रयत्नेन आराधितः, नृपतिः राजा, सुचिन्त्य सविज्ञे
विविच्य, कृतं कथितं, सुविचार्य सम्यक् समालोच्य, यत् कृतम् अनुष्ठितम्, एतत् कृतं
सुदीर्घकालेऽपि बहुतिथे काले गतेऽपि, चिरैवापीति यावत्, विक्रियां विकारण
अन्वधात्वमिति यावत्, न याति प्राप्नोति, कदापि नानिष्टमुत्पादयतीति भावः
संशयविलं वृत्तम् ।

वृद्धस्य वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते ।

सर्वत्रैवं विचारि न भोजनेऽपि प्रवर्त्तनम् ॥ ६८ ॥

यतः,—शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानञ्च भृतले ।

प्रवृत्तिः कुत्र कर्त्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा ? ॥ ७० ॥

तथा चीकाम्,—ईर्ष्यां घृणौ त्वसन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।

परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः ॥ ७१ ॥

एतच्छ्रुत्वा सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः । यतः,—

(६८) वृद्धस्येति ।—आ सम्यक्, सर्वतो व्याप्येत्यर्थः, (“आङ्गीषदर्थेऽभिव्याहो सीमार्थे धातुयोगजे” इत्यमरः) पद्यते आगच्छतीति आपत्, तस्याः काले आपत्काले विपत्त्यमये, उपस्थिते हि आगते सत्येव, न सर्वदा इति भावः ; वृद्धस्य वयोवृद्धत्वेन लब्धप्रावीण्यस्य, वचनं वाक्यम्, उपदेश इति यावत्, ग्राह्यं ग्रहणयोग्यं, परन्तु सर्वत्र सर्वस्मिन् विषये, अनपेक्षितवृद्धोपदेशविषये इत्यर्थः, एवं वृद्धवचनं ग्राह्यमिति, विचारि सिद्धान्ते कृते सति, भोजनेऽपि आहारेऽपि, आस्तां तावत् विषयान्तरं, जीवनधारणस्य प्रधानसाधनभूतेऽपीति अपिशब्दाद्यर्थः, प्रवर्त्तनं न प्रवृत्त्यभावः, स्यादिति शेषः, वृद्धा हि “खाद्यमिदं गुरुपाकं चिरेण पच्यते अतो नो भुङ्क्षु” इत्येवम् उपदिशन्तीति न सर्वत्र तेषां वचनमनुसरणीयमित्यर्थः ।

(७०) शङ्काभिरिति ।—भृतले पृथिव्यां, सर्वम् अन्नं भोज्यं, पानञ्च नीर-
चीरादिकञ्च, [पीयते यत् तत् पानं कर्माणि ल्युट्] शङ्काभिः श्रमश्रमं वेति संशयेः, आक्रान्तं युक्तम्, एवं सति कुत्र कस्मिन् वस्तुनि, प्रवृत्तिः अभिलाषः, पान-
भोजनेच्छा इत्यर्थः, कर्त्तव्या विधेया ? नु भोः ! (चित्रगीवसन्बोधनमेतत्) नु इति प्रश्नार्थकमव्यर्थं वा, पृच्छामीत्यर्थः, कथं केन प्रकारेण वा, पानभोजने प्रवृत्तिमन्तरेण वेत्यर्थः, जीवितव्यं प्राणितव्यम् ?

(७१) ईर्ष्येति ।—ईर्ष्यां परश्रीकातरता सा विद्यतेऽस्य इति ईर्ष्यां परश्री-
कातरः, घृणौ अत्यन्तदशालुः, सर्वदा सर्वस्मिन् विषये जुगुप्साशीलो वा, असन्तुष्टः
सन्तीषद्गीनः, क्रोधनः कोपनस्त्रभावः, नित्यं शङ्कितः नित्यशङ्कितः सर्वदा सर्वत्र
शङ्कायुक्तः, [शङ्का अस्म्य जातेति इतच्] परस्य भाग्यं तेन उपजीवतीति पर-
भाग्योपजीवी परसम्पदा जीविकानिवाहकश्च, एते षट् षड्विधा लोकाः, तु दुःख-
भागिनः दुःखभाजः, भवन्तीति शेषः ।

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः ।

क्षेतारः संशयानाञ्च क्लिश्यन्ते लोभमोहिताः ॥ ७२ ॥

अन्यच्च,—लोभात् क्रोधः प्रभवति लोभात् कामः प्रजायते ।

लोभात् मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम् ॥ ७३ ॥

अन्यच्च,—असम्भवं हेमसृगस्य जन्म

तथापि रामो लुलुभे सृगाय ।

प्रायः समापन्नविपत्तिकाले

धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥ ७४ ॥

(७२) सुमहान्तीति ।—सुमहान्ति महाप्रतिपादकानि, शास्त्राणि वेदवेदान्तादिग्रन्थान्, [“न लोका—” (२।३।६६ पा०) इत्यादिना षष्ठीनिषेधः धारयन्तः पठन्तः, बहु श्रुतं शास्त्रं, राज्ञ्यज्ञानमिति यावत्, येषां ते बहुश्रुता बहुदर्शिनः, अत एव संशयानां बहुषु विषयेषु जातानां सन्देहानाञ्च, [कृद्द्योना कर्मणि षष्ठी] क्षेतारः निराकर्त्तारः पण्डिताः अपि, लोभमोहिताः लोभपरवशा सन्तः, क्लिश्यन्ते क्लेशनापद्यन्ते, क्लेशमनुभवन्तीत्यर्थः, [देवादिक्लिश्यन्तः रूपमिदम् । कर्मकर्त्तारि रूपं वा] स्वयमेव क्लेशमनुभवन्तीत्यर्थः । विविधरुंशयनिराकर्त्ता अप्येतदेवेदेवान्तादिशास्त्रसमूहाः विहासोऽपि यदा लोभपरवशाः सन्तः विपद्यन्ते तदा जडबुद्धीनां स्वभावत एव लुब्धानां तिथ्यग्योनीनामेषां तण्डुलकणलोभे विपत्तिसङ्घटने कथैव नास्तीति निष्कर्षः ।

(७३) लोभादिति ।—लोभात् धनदृष्ट्यायाः लामे उत्कटेच्छायाः वा, क्रोधः क्रोपः, प्रभवति जायते । लोभात् कामः विषयभोगवासना, प्रजायते उत्पद्यते । लोभात् मोहश्च अज्ञानश्च, विवेकाराहित्यमिति यावत्, तथा नाशश्च सत्युश्च, प्रकाशश्च इति पूर्वेष्वन्यः । अत एव लोभः पापस्य सर्वानिष्टस्य, कारणं मूलं, लोभः सर्वानर्थनिदानमित्यर्थः ।

(७४) लोभस्य विपत्तिनिदानत्वं द्रष्टव्यं, असम्भवमिति ।—हेमसृगस्य सुवर्णनिर्मितहरिणस्य, जन्म उत्पत्तिः, असम्भवं सम्भावनारहितम् इति प्रसिद्धमेवेत्यर्थः । मूर्खा अपि जानन्ति यत् रत्नमांसादिनिर्मितशरीरधारो एव मादृगर्भान्निःसृत्य जीवति गमनादिकञ्च करोति, न तु कदापि सुवर्णादिधातुनिर्मितः प्राणो इति । तथापि तज्ज्ञानसत्तेऽपि, रामः दाशरथिः, विष्णोरंशभूत इति यावत्, सृगाय हेमसृगलामाभ,

अनन्तरं ते सर्वे (च) जालनिबद्धा बभूवुः, ततो यस्य वचनात् (छ) तत्र अवलम्बितास्तं सर्वे तिरस्कुर्वन्ति ।

यतः,—न गणस्याग्रतो गच्छेत् सिद्धे कार्ये समं फलम् ।

यदि कार्यविपत्तिः स्यात् सुखरस्तत्र हन्यते ॥ ७५ ॥

तथा चोक्तम्,—आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।

तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥ ७६ ॥

तस्य तिरस्कारं श्रुत्वा चित्रग्रीव उवाच, (ज)—“नायमस्य दोषः । यतः,—

लुलुभे लोभवशं गतः, तद्गृह्णार्थमियेषेत्यर्थः । तथाहि समापन्नायाः निकटवर्तिन्याः, विपत्तेः आपदः, काले समये, पुंसां नृणां, धियोऽपि बुद्धयोऽपि, प्रायः बाहुल्येन, मलिनाः कलुषतराः, मोहाच्छन्ना इत्यर्थः, भवन्ति जायन्ते । “मलिनीभवन्ति” इति पाठान्तरम् । वृत्तमुपजातिः ।

(च) जालनिबद्धाः,—जालेन पाशेन, निबद्धाः संबद्धाः, पाशनिबन्दिताः इत्यर्थः ।

(छ) तत्र अवलम्बिताः,—तत्र भूसौ, अवलम्बिताः अवकृताः इत्यर्थः ।

(७५) नेति ।—गणस्य समूहस्य, वृद्धनामित्यर्थः, अग्रतः अग्रे, न गच्छेत् न यायात्, वृद्धिः साध्ये कार्ये न एकेन पुरः प्रवर्त्तितव्यमित्यर्थः । कुतः ? कार्ये सिद्धे सम्पन्ने सति, फलं लाभः, समं तुल्य, प्रवर्त्तयिता प्रवर्त्तिताश्च सर्वे एव समाजिन फलभागिनः भवन्तीत्यर्थः, यदि कार्यविपत्तिः कार्यध्वंसः, स्यात् भवेत्, तदा तत्र तस्मिन् विषये, तेषु मध्ये वा, [जिह्वारि सप्तमी] सुखरः अग्रयायी, अग्रे प्रवर्त्तयिता वा, हन्यते व्यापाद्यते, तिरस्कृत्यते वा इत्यर्थः ।

(७६) आपदामिति ।—इन्द्रियाणां वाञ्छनश्चक्षुरादीनां, [कर्मणि षष्ठी] असंयमः अनियमः, आपदाम् अनिष्टानां, पन्थाः मार्गः, कथितः स्मृतः, पण्डितैरिति शेषः, अजितेन्द्रिया एव विविधासु आपत्सु निमज्जन्तीत्यर्थः, तेषाम् इन्द्रियाणां, जयः दमनं, नियम इति यावत्, सम्पदां श्रेयसां, मार्गः पन्थाः, येन एवमुभयो-मार्गयोर्मध्ये येन मार्गेण गमने कृते इत्यर्थः, इष्टं शुभं, जायते इति शेषः, यथा—येन इष्टं येन पथा गमनमभिलषितं, भवतीति शेषः, तेन पथा, गम्यतां, भवन्निरिति शेषः ।

(ज) नायमस्य दोषः,—अयं जालबन्धनरूपोऽपायः, न अस्य प्रवर्त्तयितुः कपोतस्य, दोषः अपराधः, अस्य दोषेण न घटित इत्यर्थः ।

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम् ।

मातृजङ्घा हि वत्सस्य स्तम्भोभवात् बन्धने ॥ ७७ ॥

अन्यच्च,—स बन्धुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः ।

न तु भीतपरित्राणवस्तूपालम्भपण्डितः ॥ ७८ ॥

विपत्काले (भू) विस्मय एव कापुरुषलक्षणं, तदत्र धैर्यं
मवलम्ब्य प्रतीकारश्चिन्त्यताम् । यतः,—

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा

सदासि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।

(७७) नाथस्य दोष इति यदुक्तं, तत्र दोषाभावं समर्थयितुमाह, आपदमिति ।—हितोऽपि हितकरोऽपि विषयः, आपतन्तीनाम् आगच्छन्तीनाम्, अन्तर्भावितानामिति यावत्, आपदां विपदां, हेतुतां कारणत्वम्, आयाति प्राप्नोति विपत्तिरयमस्माकं नियतिनिर्दिष्टैव, कपोतस्त्वयं तत्र उपलब्धनाममेव, अतो नापदोष इति निष्कर्षः । हि तथाहि, मातृजङ्घा परमहितैषिण्याः मातुरुद्धृष्टः, विपत्तिं आश्रयणीयस्थानमिति भावः, सापि, वत्सस्य गोशावकस्य, बन्धने बन्धनार्थं, स्तम्भो भवति, [अन्तः स्तम्भो भवतीति अभूततद्भावाथे चित्] बन्धनस्तम्भान्तराभावे धैर्यं हितैषिण्या मातृजङ्घायामेव वत्सं बद्धा गां दृष्टन्तीत्यर्थः ।

(७८) स इति ।—यः विपन्नानाम् आपन्नानाम्, आपदः उद्धरणं परित्राणं तस्मिन् क्षमः विपत्प्रतीकारसमर्थः, भवति इति शेषः, स बन्धुः स्वजनः, भीतानाम् आत्मानां, परित्राणमेव रक्षणमेव, वस्तु विषयः, काव्यम् इति यावत्, तत्र उपालम्भतिरस्कारः, “अनेनैव उपायेन कथं विपदो नातिक्रान्तवान् ?” इत्येवं तिरस्कार इत्यर्थः, तस्मिन् पण्डितः कुशलः, तु पुनः, न, बन्धुरिति शेषः, प्रकृते आपदुद्धारां विमुक्तः सन् केवलं तत्प्रतीकारार्थमुपायप्रदर्शको विपदागमनजन्यतिरस्कारनामकारको वा न बन्धुरित्यर्थः ।

(भू) विस्मयः,—आश्चर्यभावः, प्रतिकारप्रयत्नमकृत्वा केवलं विस्मयविक्षुब्धभावेनावस्थानमित्यर्थः । कापुरुषलक्षणं—कुत्सितः पुरुषः कापुरुषः कुपुरुषः तस्य लक्षणं चिह्नं, पुरुषाभावसूचकमित्यर्थः ।

(७९) विपदीति ।—विपदि आपत्समये, धैर्यं स्थैर्यम्, अव्याकुलता इत्यर्थः, यथ इति वाक्यारम्भे, अभ्युदये उन्नतौ, क्षमा सहिष्णुता, अनौद्धत्यमिति यावत्, सदासि पण्डितसभायां, वाक्पटुता वाक्यनपुण्यं, वाक्मिलमिति यावत्, युधि युद्धे, विक्रमः

यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ

प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ७८ ॥

सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम् ।

तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ८० ॥

अन्वयः,—षट् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।

निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता ॥ ८१ ॥

इदानीमपि एवं क्रियताम् ;—सर्वैः (ज) एकचित्तीभूय
जालमादाय उड्डीयताम् ।

प्रतापः, साहसप्रदग्मनमिति यावत्, यशसि कीर्त्तिलाभे च, अभिरुचिः खिप्सा, श्रुतौ
शास्त्रे, व्यसनम् आसक्तिः, अत्यन्तानुरागः इति यावत्, इदम् एतत् सर्वं, हि निश्चितं,
महात्मनां महानुभावानां, प्रकृत्या सिद्धं प्रकृतिसिद्धं स्वभावसिद्धं, स्वत एव सम्पन्न-
मित्यर्थः । महात्मानो हि स्वभावत एव एवं गुणवन्तो भवन्तीति भावः । द्रुत-
विलम्बितं वृत्तम् ।

(८०) सम्पदीति ।—सम्पदि सम्पत्समये, यस्य हर्षः न, विपदि विपत्काले
च, विषादः विषण्णता, न, रणे युद्धे च, भीरुत्वं भयशीलता, न, भवेदिति सर्वत्र शेषः,
तम् एवभूतगुणसम्पन्नम्, अत एव भुवनत्रयतिलकं त्रिलोकश्रेष्ठं, सुतं पुत्रं, जननी
प्रसूः, विरलं कीर्त्तकं, कदाचित्, न तु सर्वदा इत्यर्थः, जनयति प्रसूते । आख्यां वृत्तम् ।

(८१) षडिति ।—इह जगति, भूतिं सम्पदम्, उन्नतमित्यर्थः, इच्छता अभि-
लषता, उन्नतिकामेनेत्यर्थः, पुरुषेण जनेन, षट् दोषाः हातव्याः त्यक्तव्याः । के ते दोषा
इत्याह, निद्रेति ।—निद्रा स्थापः, तन्द्रा प्रमोक्षा, निद्रार्त्तस्येव जाग्राम् इत्यर्थः,
भयं भीरुस्वभावता, क्रोधः कोपः, आलस्यम् अलसता, कर्मणि अनुत्साह इत्यर्थः,
(“समर्थस्याप्यनुत्साहः कर्मसालस्यमुच्यते” इति लक्षणात्) दीर्घेण चिरकालेन,
सूत्रम् ईप्सितकर्म यस्य, दीर्घं चिरकालं व्याप्य, सूत्रं व्यावस्था यस्य इति वा (“सूत्रं
तन्तुव्यवस्थयोः” इति विश्वः) स तस्य भावः दीर्घसूत्रता चिरक्रियता इति । [“दीर्घसूत्र-
चिरक्रियः” इत्यमरः । हाधातोः लोटः मध्यमैकवचने जहिहि जहीहि जहाहीति पठ-
न्यं भवति] । एभिर्दोषषट्कैर्दुष्टो जगः न कदापि ऐश्वर्यवान् भवितुमर्हतीति भावः ।

(ज) एकचित्तीभूय—एकम् अनन्तं, चित्तं येषां ते एकचित्ताः, न एकचित्ताः
एकचित्ताः भूलेति एकचित्तीभूय ऐकमत्यमात्रित्व, [अभूततद्भावाद्यैः चित् ततः ल्यप्] ।

यतः,—अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका ।

दृष्टौर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥ ८२ ॥

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरपि ।

तुषेणापि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः” ॥ ८३ ॥

इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादाय उत्पतिताः
अनन्तरं स व्याधः सुदूरात् (ट) जालापहारकांस्तानवलोक्य
पश्चात् धावितोऽचिन्तयत्,—

“संहतास्तु हरन्तीमे जालं मम विहङ्गमाः ।

यदा तु निपतिष्यन्ति वशमेष्यन्ति मे तदा” ॥ ८४ ॥

(८२) अल्पानामिति ।—अल्पानाम् अल्पसाराणां, चुद्राणामपोत्यर्थः, कथा मङ्गतामित्यपिशब्दायः, वस्तूनां संहतिः समूहः, मेलनम् इति यावत्, कार्यसाधिका कार्यसम्पादिका, भवतीति शेषः, चुद्रा अपि सङ्गतां समेत्य मङ्गत् कार्यसाधितुं क्षमा इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह—गुणत्वं रज्जुत्वम्, आपन्नैः प्रायः रज्जुरूपेण परिणतैरित्यर्थः, दृष्टेः कुशादिभिः, अकिञ्चित्करैः इति भावः, मत्तदन्तिनः मदस्ताविणः हस्तिनः, बध्यन्ते नियम्यन्ते, नियमनेन वशीकर्तुं शक्यन्ते इति सरलायः असाराणि अनायासच्छेद्यानि दृष्टान्तपि परस्परं संहतानि भवन्ति चेत् मङ्गवत्संज्ञानपि बहुं समर्थानि भवन्तीति निष्कर्षः ।

(८३) संहतेः गुणान्तरमाह, संहतिरिति ।—अल्पकैरपि अल्पसंख्यकैरपि [अल्पार्थे कः] का कथा बहुभिरित्यपिशब्दायः, स्वकुलैः सजातीयैः, स्ववंशीयांसह इत्यर्थः, पुंसां नराणां, संहतिर्मेलनं, परस्परं सम्भूय अवस्थानमित्यर्थः, श्रेयाप्रशंसनीया । तदेव दृष्टान्तेन द्रष्टव्यं—तुषेणापि अतितुच्छेन स्वकुलेन धावत्येषेणापि, न तु केनापि सारवत्पदार्थेनेत्यपिशब्दायः, परित्यक्ताः विहीनाः तण्डुलाः न प्ररोहन्ति नाङ्कुरिता भवन्ति, अङ्कुरान् न उत्पादयितुं समर्था भवन्तीत्यर्थः, तुषहीनात् तण्डुलान् कदाचिदङ्कुरी जायते इति लोकाप्रसिद्धमेव ।

(ट) जालापहारकान्—जालस्य अपहारकास्तान् पाशापहारिणः इत्यर्थः ।

(८४) संहता इति ।—इमे विहायसा आकाशेन गच्छन्तीति विहङ्गमाः पक्षिणस्तु, संहताः मिलिताः सन्तः, मम जालं पाशं, हरन्ति गृहीत्वा पलाययन्तु किन्तु, यदा यस्मिन् काले, निपतिष्यन्ति भूमौ अवतरिष्यन्ति, तदा मे मम

ततस्तेषु (ठ) चक्षुर्विषयमतिक्रान्तेषु पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः । अथ (ड) लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः,—

“स्वामिन् ! किमिदानीं कर्तुमुचितम् ?” चित्रग्रीव उवाच,—

“माता मित्रं पिता चेति स्वभावात् त्रितयं हितम् ।

कार्यकारणतश्चान्ये भवन्ति हितबुद्ध्यः ॥ ८५ ॥

(ढ) तन्मे मित्रं हिरण्यको नाम मूषिकराजो गण्डकीतीरे चित्रवने निवसति, सोऽस्माकं पाशांश्चेत्स्यति” । इत्यालोच्य

सर्वे हिरण्यकविवरसमीपं गताः । हिरण्यकश्च सर्वदा

(ण) अपायशङ्कया (त) शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति ।—

अनागतभयं दृष्ट्वा नीतिशास्त्रविशारदः ।

अवसन्मूषिकस्तत्र वृद्धः शतमुखे विले ॥ ८६ ॥

वशम् आयत्तताम्, एष्यन्ति प्राप्स्यन्ति, नम वशीभूता भविष्यन्ति, तदा न मया दुरासदा भविष्यन्तीत्यर्थः ।

(ठ) चक्षुर्विषयमतिक्रान्तेषु—दृष्टिपथवद्भिर्भूतेषु, अदर्शनं गतेषु इत्यर्थः ।

(ड) लुब्धकं—व्याधम् ।

(८५) भातेति ।—माता जननी, मित्रं सुहृत्, पिता जनकश्च, इति एतत्,

त्रितयं त्रयवयवं, मात्रादयस्त्रय इत्यर्थः, स्वभावात् स्वभावतः एव, कार्यकारणभाव-
मन्तरेणापि इति यावत्, हितं हितकरम् ; अन्ये एभ्यस्त्रिभ्यः इतरे च, कार्यकारणतः
केचित् कार्यात् केचित् कारणात् वा, हितबुद्ध्यः हिता हितकरी बुद्धिर्येषां ते
तथोक्ताः, हिते कल्याणसाधने, बुद्धिः मतिर्येषां ते तथोक्ता इति वा, हितैषिणः,
भवन्ति ।

(ढ) तत्—तस्मात्, मित्रस्य स्वभावत एव हितकरत्वात् इत्यर्थः ।

(ण) अपायशङ्कया—अपायो विनाशः, तस्मात् शङ्का नासः तथा, अनिष्टा-
पातभयेन इत्यर्थः ।

(त) शतद्वारं—शतं द्वाराणि यस्य तत्, समन्तात् बहुभिर्द्वारैर्गुह्यम् ।

(८६) अनागतमिति ।—नीतिः नयस्य, शास्त्रं वृद्धस्यत्वादिप्रणीतं, तस्मिन्
विशारदः विशेषेण ज्ञानवान्, वृद्धः वार्द्धक्यमापन्नः, (एतेन अस्य बहुदर्शित्वं नीति-
पाठव्यञ्च सूच्यते) मूषिकः उन्दुरुः, हिरण्यक इति यावत्, अनागतम् अनुपस्थितं,

ततो हिरण्यकः (थ) कपोतावपातभयाच्चकितः (द) तूष्णीं स्थितः । चित्रग्रीव उवाच,—“सखे हिरण्यक ! कथमस्मान् । सम्भाषसे ?” ततो हिरण्यकस्तद्वचनं (ध) प्रत्यभिज्ञाय ससम्भाषा वह्निर्निःसृत्य अब्रवीत्—“आः ! पुण्यवानस्मि, प्रियसुहृन् चित्रग्रीवः समायातः,—

यस्य मित्रेण सम्भाषो यस्य मित्रेण संस्थितिः ।

यस्य मित्रेण संलापस्ततो नास्तौह पुण्यवान्” ॥ ८७ ।

अथ (न) पाशवद्वाञ्छेतान् दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित उवाच,—“सखे ! किमेतत् ?” चित्रग्रीव उवाच,—“सखे ! अस्माकं (प) प्राक्तनजन्मकर्मणः फलम् (फ) एतत्,—

भाविष्यदित्यर्थः, भयं त्रासं, दृष्ट्वा विवेकनयनेन निरूप्य इत्यर्थः, तत्र तस्मिन् क्षणे शतं सुखानि यस्य एवम्भूते बहुदारयुक्ते, विली गते, अवसत् वसति स्म ।

(थ) कपोतावपातभयात्—कपोतानाम् अवपातः अवरोहणं, तस्मात् कपोताः भयं तस्मात्, कपोतानामवरोहणे यः पक्षशब्दी जायते तस्मादुत्पन्नेन त्रासेनेत्यर्थः चकितः,—सम्भ्रान्तः ।

(द) तूष्णीं—निःशब्दम्, [अन्यथमेतत्, स्थित इति क्रियाया विशेषणम्] ।

(ध) प्रत्यभिज्ञाय—स्वरसंयोगेन चित्रग्रीव एव नाम् आह्वयति इति विदित्वेत्यर्थः ।

(८७) मित्रप्राप्तौ आनन्दातिशयं प्रकटयति, यथेति ।—यस्य जनस्य, मित्रेण सहदा सह, सम्भाषः समालापः, यस्य जनस्य, मित्रेण सह संस्थितिः एकत्रावस्थानं सहवास इति यावत्, यस्य जनस्य, मित्रेण सहदा सह, संलापः मिथोभाषणं परस्पररहस्यकथनमिति यावत्, भवतीति शेषः, इह जगति, ततः तस्मात् जनात् तं जनमपेक्ष्येत्यर्थः, [त्यक्त्वोपि पञ्चमी । “पञ्चमी विभक्तौ” (२।३।४२ पा०) इति निर्दारे पञ्चमी वा] पुण्यवान् सुकृती, नास्ति, बहुपुण्येनैव एतत् सर्वं सहृदते इत्यर्थः ।

(न) पाशवद्वाञ्छेतान्—जालनियमितान् ।

(प) प्राक्तनजन्मकर्मणः,—प्राग्भवं प्राक्तनं, तच्च जन्म चेति तस्मिन् यत् कर्म पापपुण्यात्मकं कार्यं तस्य, पूर्वजन्मतकार्यस्य ।

(फ) एतत्—जालवन्धनरूपम् ।

यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च
तावच्च तत्र च विधादवशादुपैति ॥ ८८ ॥

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च ।

आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम् ॥ ८९ ॥

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकश्चित्रग्रीवस्य बन्धनं क्लृप्तुं सत्वरमुप-
सर्पति । तत्र चित्रग्रीव उवाच,—“मित्र ! मा मैवं कुरु,
प्रथममस्मदाश्रितानामेतेषां तावत् पाशांश्छिन्धि, मम पाशं
पश्चात् क्लृप्त्यसि” ।

हिरण्यकोऽप्याह,—“अहम् (व) अल्पशक्तिः, दन्ताश्च मे

(८८) यस्मादिति ।—यस्मात् यत्कारणाच्च, येन कारणेन च, यथा येन
प्रकारेण च, यदा यस्मिन् समये च, यत् यादृशच्च, यावत् यत्परिमाणञ्च, यत्र यस्मिन्
स्थाने च, शुभाशुभं मङ्गलामङ्गलोदकमित्यर्थः, आत्मनः स्वस्य, कर्म पुण्यपापादिकं,
संचटते इति शेषः, तस्माच्च हेतोः, तेन कारणेन च, तथा तेन प्रकारेण च, तदा
तस्मिन् समये च, तत् तादृशच्च, तावत् तत्परिमाणञ्च, तत्र तस्मिन् स्थाने
च, विधादवशात् विभिन्नियमात्, उपैति समागच्छति. फलतीत्यर्थः, कालान्तरे
कर्मफलस्य अवश्यभोग्यत्वत्वात् शुभं वा अशुभं वा तदात्मकतं कर्म फलरूपेण कर्तुः
समीपमागच्छतीत्यर्थः । अत्र प्रकाराः प्रत्येकपदस्य प्राधान्यधीतकाः । वसन्ततिलकं
वृत्तम् ।

(८९) रोगेति ।—रोगः पीडा, शोकः पुत्रादिनाशजनितं दुःखं, परीतापः
रोगशोकातिरिक्तं विविधं दुःखम्, [“उपसर्गस्य दीर्घत्वं क्षिब्धव्यादौ क्वचिद्वेत्”
इति परिदीर्घता] बन्धनं कारागारादौ संयमनं, व्यसनं विपत्, अत्र चकारः अनुक्त-
समुच्चयार्थकः, तेन एतद्व्यतिरिक्ता अन्या अपि विपत्तयः इति चकारार्थो बोध्यः ;
एतानि देहिनां शरीरेणाम्, आत्मनः स्वस्य, अपराधा एव वृक्षाक्षेपां स्वकृतदोष-
तरूणां, फलानि परिणामभूतासि, वृक्षेभ्यः फलानीव स्वकृतदोषेभ्यः रोगादय उपपद्यन्ते
इत्यर्थः ।

(व) अल्पशक्तिः,—अल्पा शक्तियस्य सः हीनबलः ।

कोमलाः, तदेतेषां पाशांश्चेत्तुं कथमहं समर्थो भवामि ? त
यावन्मे दन्ता न (भ) दृश्यन्ति, तावत् तव पाशं छिनत्ति । त
नन्तरमप्येषां बन्धनं यावत् शक्यं क्तेष्यामि” । एव,

चित्रग्रीव उवाच,—“अस्त्वेवं, तथापि यथाशक्ति बन्धनं
मेतेषां खण्डय” । हिरण्यकेन उक्तम्, (म)—“आत्मपरित्यागं
यदाश्रितानां परिरक्षणं, तन्न (य) नीतिवेदिनां सम्मतम् ।

यतः,—आपदर्थे धनं रक्षेद्द्वारान् रक्षेन्नैरपि ।

आत्मानं सततं रक्षेद् द्वारैरपि धनैरपि ॥ ८० ॥

अन्वयः—धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।

तान् निघ्नता किं न हतं ? रक्षता किं न रक्षितम् ?” ॥

(भ) दृश्यन्ति—भजन्ति, भग्ना भवन्तीत्यर्थः ।

(म) आत्मपरित्यागेन—आत्मानमुपेक्ष्य, स्वदेहत्यागेनेत्यर्थः ।

(य) नीतिवेदिनां—नीतिं विदन्ति ये तेषां नीतिशास्त्राभिज्ञानम् । [“स
तम्” इति “सतिबुद्धिपूर्वार्थेभ्यश्च” (३।२।१८८ पा०) इति वक्तृमानप्रयुक्त-क्त-योगा
“क्तस्य च वक्तृमाने” (२।३।६७ पा०) इति कर्तरि षष्ठी] ।

(८०) सर्वव्यागेनापि स्वशरीरं रक्षणीयमिति यत् नीतिवेदिमतमुक्तं तं
द्रष्टव्यं, आपदर्थे इति ।—आपदर्थे विपत्प्रतीकारार्थम्, आपदात् अर्थः निर्वा
तस्मिन्, समागतायामापदि तन्निवारणार्थेत्यर्थो वा, (“अर्थोऽभिधेयैरेवस्तुप्रयोगो
निवृत्तिषु” इत्यमरः) धनम् अर्थं, रक्षेत् पालयेत्, धनैरपि द्वारान् स्त्रियं, [द्वारं
नित्यवहुवचनान्तः “अथ पुंसि द्वाराः” इत्यमरः] रक्षेत् वायेत, द्वारैः कि
अपि, तथा धनैरपि सततं सर्वदा, आत्मानं स्वजीवनं, रक्षेत् पालयेत्, पक्षि
इति शेषः । यद्रक्षणार्थं धनानि द्वारा अपि त्यक्तुं युज्यते तस्यैव आत्मशरीर
रक्षणमपहाय त्वम् आश्रितरक्षणं कर्तुं वाञ्छसीति न युक्तमिति हिरण्यकशाशयः ।

(८१) तस्य शरीरत्वमाह, धर्मार्थेति ।—प्राणाः जीवनं, धर्मः “यतोऽमुष
निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः” इत्युक्तलक्षणः, अहिंसादिः वा, अर्थः अर्जनवर्द्धनसंरक्षण
त्यक्तं धनं, कामः विषयभोगवासना, मोक्षः अपवर्गः तेषां, चतुर्वर्गस्य इत्यं
संस्थितिहेतवः रक्षाकारणानि, भवन्तीति शेषः, तान् प्राणान्, निघ्नता विनाशय
जनेन, किं न हतं न विनाशितम् ? रक्षता तान् प्राणान् पालयता जनेन च, किं

चित्रग्रीव उवाच,—“सखे ! नीतिस्तावत् (१) ईदृशी
एव, किन्त्वहमस्मदाश्रितानां दुःखं सोढुं सर्वथाऽसमर्थस्तेनेदं

ब्रवीमि । यतः,—

धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।

सन्निमित्ते वरं त्यागो विनाशे नियते सति ॥ ८२ ॥

अयमपरश्चासाधारणो हेतुः,—

जातिद्रव्यवलानाञ्च साम्यमेषां मया सह ।

मग्नभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद्भविष्यति ? ॥ ८३ ॥

अन्यच्च,—विना वर्तनमेवैते न त्यजन्ति समान्तिकम् ।

तन्मे प्राणव्ययेनापि जीवयैतान् ममाश्रितान् ॥ ८४ ॥

रक्षितम् ? चतुर्वर्गसाधनभूतेषु प्रायेषु विनष्टेषु सर्वमेव विनष्टं, रक्षितेषु सर्वमेव रक्षितं

भवेदित्यर्थः ।

(१) ईदृशी एव—आत्मानं सततं रक्षेदेवंभूतेव ।

(८२) धनानीति ।—प्राज्ञ एव प्राज्ञः बुद्धिमान् जनः, परार्थे परनिमित्ते एव,

परिपासुपकारावैवेत्यर्थः, धनानि अर्थान्, जीवितं प्राणांश्च, उत्सृजेत् त्यजेत् । कुतः ?

इत्याह,—विनाशे खल्वस्य धनस्य व्ययादिना नाशे जीवितस्य च मरणे च, नियते

निश्चिते सति, सत् उत्तमं, निमित्तं कारणं तस्मिन् परोपकाररूपसदनुष्ठानार्थं, त्यागः

विसर्जनं, धनजीवनधोरिति भावः, वरं मनाक्प्रियः ।

(८३) जातीति ।—मया सह एषां कपोतानां, [सम्बन्धे षष्ठी] जातिः

कपोतत्वं, द्रव्यं पञ्चचक्षादिरूपा सम्पत्, उपादानसामग्री वा, बलं सामर्थ्यम्, उत्पत्तः

नादौ शक्तिरित्यर्थः, तेषां, चकारात् क्षणविध्वंसितादीनाम् इति यावत्, साम्यम्

एकरूपता, अस्तीति शेषः, तत् तर्हि, एवं सतीत्यर्थः, ब्रूहि कथय, मयि मम

वा यत् प्रभुत्वम् आधिपत्यं, तस्य फलं कदा कस्मिन् काले, नेदानौ चेदिति भावः,

किं भविष्यति ? जैवेत्यर्थः ; यद्यहमीदृशी विपत्तिसमये स्वजीवनमुपेक्ष्य एतान्

न चावे, तदा एतावन्तं कालं मय्यरिचर्यायाः किं फलमेतैर्लभ्येत ? अतः स्वामिः

धर्मपालनमेवाश्रितरक्षणमात्मकं मे गरीयः, न पुनरात्मरक्षणमिति निष्कर्षः ।

(८४) प्रभुत्वरक्षणमेव सेयः न जीवितरक्षणमिति आह, विनैति ।—एते

कपोताः, वर्तनं जीविकां, जीविकालक्षणमित्यर्थः, सत् विना, आहारानुसन्धानं

हि—४

किञ्च,—मांसमूत्रपुरीषास्थिनिर्मिते च कलेवरि ।

विनश्वरे विहायास्थां यशः पालय मित्र ! मे ॥ ८५ ॥

अपरञ्च पश्य,—यदि नित्यमनित्येन निर्मलं मलवाहिना ।

यशः कायेन लभ्येत तन्न लब्धं भवेन्न किम् ? ॥ ८६ ॥

यतः,—शरीरस्य गुणानाञ्च दूरमत्यन्तमन्तरम् ।

शरीरं क्षणविध्वंसि कल्पान्तस्थायिनो गुणाः ॥ ८७ ॥

केष्टामन्तरेणेत्यर्थः, मम अन्तिकं सन्निधिं, नैव त्यजन्ति परिहरन्ति, यथा—वृत्तं विनैव तदन्तर्भागेऽपीत्यर्थः, समान्तिकं न त्यजन्ति, परन्तु सेवन्ते इत्यर्थः, तत् तत् सदनुक्तत्वात् एव इत्यर्थः, मे मम, प्राणव्ययेनापि जीवन्वित्तिमयेनापि, मम एतान् शरणागतान्, एतान् जीवय रक्ष ।

(८५) “स जीवति यशो यस्य कौर्त्तियस्य स जीवति । अयशोऽकौर्त्तियः जीवन्नपि क्षतोपमः ॥” इति खरब्राह्म, मांसेति ।—हे मित्र ! मांसञ्च पिप्पि मूत्रञ्च पुरीषञ्च शक्तञ्च, अस्थि च तैः निर्मिते विरचिते, विनश्वरे च नित्यतविनाशं कलेवरे शरीरे, “मांसमूत्रपुरीषास्थिपूरितेऽत्र कलेवरे” इति पादान्तरम् ; यद्वं, विहाय त्यक्त्वा, मे मम, यशः कौर्त्तिं, शरणागतपालनरूपमित्यर्थः, पालय । यशः अविनश्वरं कुरु इत्यर्थः ।

(८६) यदौति ।—अनित्येन प्रशाश्वतेन, मलं पुरीषं वहति यः स तेन धारेण, कायेन शरीरेण, यदि नित्यं ध्रुवम्, अनश्वरमित्यर्थः, निर्मलं विग्रहं, कौर्त्तिः, लभ्येत प्राप्येत, जनेनेति शेषः, तत् तदा, तु वितर्के सम्बोधने वा, वि वस्तु, लब्धं प्राप्तं, न भवेत् न स्यात् ? अपि तु सर्वमेव लब्धं भवेदित्यर्थः ; स्वल्पं बहुमूल्यविनिमयो महान् लाभ इति भावः । अत्र अनित्येन नित्यस्य समन्वितं निर्मलं च वित्तिमयकथनात् अधिकपरिवृत्तिरलङ्कारः ; तदुक्तं—“परिवृत्तिर्विनिमयः स्वल्पं धिक्कैः भवेत्” इति ।

(८७) शरीरस्येति ।—शरीरस्य देहस्य, गुणानां दयादाक्षिण्यादीनाञ्च, प्रभेदः, अत्यन्तम् अतिशयेन, दूरम् अतिमहदित्यर्थः । तद्वाहि, शरीरं क्षणविध्वंसमक्षरं, गुणाः कल्पस्य प्रलयस्य, अन्तः शेषः, तं यावत्, आप्रलयमित्यर्थः, तेषां वे ते तथोक्ताः, महाप्रलयपर्यन्तं स्थितिसन्त इत्यर्थः ; अतः विनश्वरेण अविनश्वरं यशः अवश्यमेव अर्जनीयमिति भावः ।

इत्याकर्ण्य हिरण्यकः (ल) प्रहृष्टमनाः पुलकितः सन्
 अब्रवीत्—“साधु मित्र ! साधु, अनेनाश्रितवात्सल्येन त्रैलोक्य-
 स्यापि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते” एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां कपोतानां
 बन्धनानि छिन्नानि । ततो हिरण्यकः सर्वान् सादरं सम्पूज्याह,
 —“सखे चित्रग्रीव ! सर्वथा अत्र (व) जालबन्धनविधौ
 (श) दोषमाशङ्क्य आत्मनि अवज्ञा न कर्त्तव्या । यतः,—
 योऽधिकाद् योजनशतात् पश्यतीहामिषं खगः ।
 स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति ॥ ८८ ॥
 अपरध,—शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं
 गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।

(ल) प्रहृष्टमनाः,—प्रहृष्टं पुलकितं, मनो यस्य सः, सन्तुष्टचित्तः इत्यर्थः ।
 पुलकितः,—आनन्दाधिक्यात् सञ्जातरीमाद्यः ।
 (व) जालबन्धनविधौ—जाले पाशे, जालेन वा, बन्धनं संरोधः, स एव
 विधिव्यापारः तस्मिन्, पाशबन्धनव्यापारे ।
 (श) दोषम्—अपराधं, स्वस्य निर्बुद्धितारूपमित्यर्थः ।
 (८८) य इति ।—इह जगति, यः खगः पक्षी, श्येन इति भावः, तस्मैव
 दूरदृष्टिमत्त्वात् ; योजनानां शतं तस्मात् अधिकात् शताधिकयोजनमपि दूरे अवस्था-
 येत्यर्थः, [अथ लघ्वलोपे पञ्चमी । सुगन्धोपमतेन तु—“निहारोऽधिकेन” इति सूत्रेण
 अधिकशब्दयोगात् पञ्चमी । अधिकादिति दूराग्रत्वात् पञ्चमी] बहुदूरादपीति यावत्,
 आनिधं भोग्यं वस्तु मांसं वा, (“आनिधं पुंनपुंसकम् । भोग्यवस्तुनि सभोगोऽप्युत्-
 कोचे पल्लेऽपि च” इति मेदिनी) पश्यति लक्षयति, स एव तादृशः तौष्ण्यदूरदृष्टि-
 सम्पन्नः खगोऽपीत्यर्थः, प्राप्तः उपस्थितः, कालः सत्युपसर्गो यस्य स तथोक्तः, आसन्न-
 सत्युरित्यर्थः, तु पुनः, पाशबन्धं जालबन्धनं, विसीर्य जालं समीपस्थमपीति भावः,
 न पश्यति न लक्षयति । नियतिः केन बाध्यते इति भावः ।
 (८९) सान्त्वयति, शशोति ।—अहो ! खेदे, शशिदिवाकरयोः सूर्याचक्र-
 मन्त्रोः, ग्रहप्रधानयोरपीति भावः, ग्रहपीडनं ग्रहेण राहुणा, (“ग्रहः—। सूर्यादौ
 पूतनादौ च सैद्दिकेयोपरागयोः” इति मेदिनी) पीडनम् आक्रमणं, राहुणास
 इति यावत्, गजभुजङ्गमयोः इतिसर्पयोः अपि, अवलीलया बहुप्राप्ति-

मतिमताञ्च विलोक्य दरिद्रतां

विधिरहो ! बलवानिति मे मतिः ॥ ८८ ॥

अथ च,—व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं
बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलात् मत्स्याः समुद्रादपि ।

दुर्नीतं किमिहास्ति ? किं सुचरितं ? कः स्थानलाभेण
कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि ॥ ८९ ॥

इति प्रबोध्यातिथ्यं कृत्वा आलिङ्ग्य च तेन (ष) सम्प्रेषितं ।

विनाशसमर्थोरपीति भावः, बन्धनं गृह्णन्तेन मन्त्रौषधिभ्याञ्च संरोधनं, मतिः
विदुषाञ्च, दरिद्रताम् अकिञ्चनत्वं, विलोक्य दृष्ट्वा, स्थितस्य इति शेषः, मे
विधिर्देवं, बलवान् प्रबलः, सर्वनियन्ता इति यावत्, इति ईदृशी, मतिः
निश्चय इति यावत्, भवतीति शेषः । द्रुतविलम्बितं व्रतम् ।

(१००) व्योमेति ।—व्योमः आकाशस्य, एकान्ते एकदेशे, विहरति
तथोक्ताः, आकाशैकदेशचारिणः, (एतेन सर्वास्त्रेव दिक्षु अस्य निरावरणं
सूचितम्) विहगाः पक्षिणः अपि, व्योमैकान्तविहारित्वात् कस्यचिदनष्टमकुपां
अपीति भावः, आपदं बन्धनादिरूपां विपदं, सम्प्राप्नुवन्ति अधिगच्छन्ति, किमु
कुशलैः, मत्स्यबन्धनदत्तैः धीवरैरिति भावः, अगाधसलिलात् अतलस्य गङ्गायां
समुद्रादपि सागरादपि, मत्स्याः मीनाः, बध्यन्ते ध्रियन्ते, इह संसारि, किं दुः
दुश्चरितं, किं वा सुचरितं गुणः, अस्ति, स्थानलाभे निरुपद्रवस्थानप्राप्तौ वा,
गुणः ? न कोऽपीत्यर्थः, सुनयेन दुर्नयेन वा केषाञ्चिदपि इष्टानिष्टाकारिणः निरणा
स्थानविहारिणश्च खगमीनादयोऽपि यदा विपद्यन्ते, तदा सुनयस्य निरापत्त्याय
च को गुणः ? को वा दुर्नयस्य विपत्त्यङ्कुलस्थानस्य च दोषः ? यदा लोभ
नीतिसङ्गताचरणेनापि कदाचित् विपन्नः नीतिवहिर्भूताचारिणापि सम्पन्नो दृश्यते
तदा अत्र किमपि साङ्गुल्यमसाङ्गुल्यं वा नास्तीति भावः ; हि यस्मात्, व्यसने विपत्ति
प्रसारितः विस्तारितः, करः इत्सी येन स तथोक्तः, अवश्यम्भाविष्यां विपदि न
प्रसार्येत्यर्थः ; अथवा,—प्रसारितः व्यसनमेव करः यस्य स तादृशः, कालः कृतान्त
नियतिर्वा, दूरादपि विपन्नदृष्ट्यानादपि, किमुत अन्तिकात् ? गृह्णाति स्ववस्तु
प्रापयति । “देवशक्तिर्महोयसी” इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं व्रतम् ।
(ष) सम्प्रेषितः,—विसर्जितः ।

चित्रग्रीवोऽपि सपरिवारो यथेष्टदेशान् ययौ । हिरण्यकोऽपि
स्वविवरं प्रविष्टः । अतः,—

यानि कानि च मित्राणि कर्त्तव्यानि शतानि च ।

पश्य मूर्षिकमित्रेण कपोता मुक्तबन्धनाः ॥ १०१ ॥

अथ लघुपतनकनामा काकः (स) सर्ववृत्तान्तदर्शी साक्षर्यम्
इदमाह,—“अहो हिरण्यक ! स्नाध्योऽसि, अतोऽहमपि त्वया
सह मैत्रीं कर्त्तुमिच्छामि । अतो मां मैत्रेणानुग्रहीतु-
मर्हसि” । एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि विवराभ्यन्तरादाह,—
“कस्त्वम् ?” स ब्रूते,—“लघुपतनकनामा वायसोऽहम्” ।
हिरण्यको विहस्य आह,—“का त्वया सह मैत्री ? यतः,—

यद् येन युज्यते लोके बुधस्तत् तेन योजयेत् ।

अहमन्नं भवान् भोक्ता कथं प्रीतिर्भविष्यति ? ॥ १०२ ॥

अपरच,—भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेरेव कारणम् ।

शृगालात् पाशबद्धोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः” ॥ १०३ ॥

(१०१) यानौति ।—यानि कानि च यादृशानि तादृशानि, नीचान्वनीचानि
वैत्यर्थः, शतानि बहूनि च, मित्राणि सखायः, कर्त्तव्यानि कार्याणि, उत्तमाधममवि-
चाय्ये बहुभिः सह मित्रता करणीयेत्यर्थः, कपोताः पारावताः, मूर्षिकमित्रेण उन्दु-
मुह्यदा, स्वल्पकायेनातितुच्छेन च इति भावः, मुक्तम् उन्मोचितं, छिन्नमिति यावत्,
बन्धनं येषां ते तथोक्ताः छिन्नपाशबन्धनाः, बभूवुरिति शेषः, इति पश्य जानीहि ।

(स) सर्ववृत्तान्तदर्शी—सर्वं वृत्तान्तं पश्यतीति सर्ववृत्तान्तदर्शी, चित्रग्रीवा-
दीनां पाशमोचनादिकं सर्वं प्रत्यक्षीकुर्वन् इत्यर्थः ।

(१०२) यदिति ।—लोके जगति, येन वस्तुना सह, यत् वस्तु, युज्यते
सङ्गच्छते, संयोगमर्हति इत्यर्थः, बुधः पण्डितः, तत् वस्तु, तेन सह, योजयेत्
मेलयेत् ; अहं मूर्षिकः, अन्नं वायसस्य ते भक्ष्यं वस्तु, भवान् वायसः, भोक्ता
भक्षकः, ममेति शेषः, अत एव कथं केन प्रकारेण, प्रीतिः प्रणयः, आवयीरिति
शेषः, भविष्यति सम्पत्स्यते ? न कथमपीत्यर्थः, अयुक्तत्वात् । भारतशान्तिपर्वणि
आपद्धमप्रकरणे एतदनुपपन्नोऽसौ दृश्यते ।

(१०३) तत्र का हानिरित्याह, भक्ष्यभक्षकयोरीति ।—भक्ष्यः खाद्यः,

वायसोऽब्रवीत्,—“कथमेतत् ?” हिरण्यकः कथयति ।—

मृग-वायस-शृगालकथा ।—

“अस्ति मगधदेशे चम्पकावती नाम (ह) अरण्यानी
तस्यां चिरात् महता स्नेहेन मृगकाको निवसतः । स च सा
स्नेच्छया भ्राम्यन् (क) दृष्टपुष्टाङ्गः केनचित् शृगालेना
लोकितः । तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्,—“आः ! कथमेतन्नां
(ख) सुललितं भक्षयामि ? भवतु विश्वासं तावदुत्पादयामि
इत्यालाच्य उपसृत्याब्रवीत्,—“मित्र ! कुशलं ते ?” मृगो
उक्तं—“कस्त्वम् ?” जम्बुको ब्रूते—“क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुको
ऽहम्, अत्रारण्ये बन्धुहीनो मृतवत् एकाको निवसामि ; इदानीं
त्वां मित्रमासाद्य पुनः सबन्धुः (ग) जीवलोकं प्रविष्टोऽस्मि
अधुना तव (घ) अनुचरेण मया सर्वथा भवितव्यम्” इति
मृगेणोक्तम्,—“एवमस्तु” ।

भक्षकः खादकः तयोः खाद्यखादकयोः, प्रीतिः प्रणयः, विपत्तेः आपदः एव, का
हेतुः, भवतीति शेषः, “विपत्तेः कारणं मतम्” इति पाठान्तरम् ; तथाहि शृगाल
शृगालमाश्रित्य अनुसृत्य वा, [अत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी] पाशवद्वः जालनिर्मात्र
असौ अयोग्यमैव स दृष्टान्ततया स्मृतिविषयीभूतः कश्चित्, मृगः काकेन केना
बन्धुरूपेण वायसेन, रक्षितः पाशादुन्मोचितः, परिव्रात इत्यर्थः ; यदा—पाशवद्वः च
मृगः काकेन शृगालात् मांसलोलुपात् कपटमिच्छात् कक्षाञ्चित् जम्बुकात्, रक्षित
[अस्मिन् पक्षे “मीमांसानां भयहेतुः” (१।४।२५ पा०) इति पञ्चमी] ।

(ह) अरण्यानी—महाऽरण्यम् [महत्त्वार्थे ङोष् अनुक् च] ।

(क) दृष्टपुष्टाङ्गः,—दृष्टानि स्फूर्तिमापन्नानि, पुष्टानि मांसलानि ।
अन्नानि यस्य सः स्फूर्तिशुक्लस्थूलकायः ।

(ख) सुललितम्,—अतिमनोज्ञं, सुकीललं सुमधुरचेति भावः ।

(ग) जीवलोकं प्रविष्टः,—जीवानां प्राणवतां लोकं मर्त्यलोकं, प्रवि
समागतः, पुनः जीवनं प्राप्तः इत्यर्थः ।

(घ) अनुचरेण—सहचरेण इत्यर्थः ।

ततस्तावदस्तङ्गते (ङ) सवितरि भगवति (च) मरौचि-
मालिनि तौ मृगस्य वासभूमिं गतौ । तत्र चम्पकवृक्षशाखायां
सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिरमित्रं निवसति । तौ दृष्ट्वा
काकोऽवदत्,—“सखे ! कोऽयं द्वितीयः ?” मृगो ब्रूते,—
“जम्बुकोऽयम् (छ) अस्मत्सख्यम् इच्छन्नागतः” । काको ब्रूते,—
“मित्र ! अकस्मात् (ज) आगन्तुना सह मैत्री न युक्ता । तन्न
भद्रमाचरितम् ।

तथा चोक्तम्,—अज्ञातकुलशैलस्य वासो देयो न कस्यचित् ।

मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्भवः” ॥१०४॥

तावाहतुः,—“कथमेतत् ?” काकः कथयति ।—

इदं गृध्र-मार्जारकथा ।—

“अस्ति (झ) भागौरथीतीरे गृध्रकूटनान्नि पर्वते महान्

(ङ) सवितरि—सूर्ये ।

(च) मरौचिमालिनि—मरौचीनां किरणानां, (किरणोऽस्मन्मूखांशुगमस्ति-
ष्टिपृष्ठशः । भानुः करो मरौचिः स्त्रीपुंसयोर्दोषितिः स्त्रियाम् ॥” इत्यमरः) माला
विद्यतेऽस्य [इति इतिः], तस्मिन्, अंशुमालिनि ।

(छ) अस्मत्सख्यम्—अस्माकं सख्यम्, [अविशेषणत्वात् द्वित्वेऽपि बहुवचनम्] ।

(ज) आगन्तुना—नवागतम्, अज्ञातकुलशैलेनेति भावः ।

(१०४) अज्ञातेति ।—कुलं वंशः, शीलं स्वभावः, अज्ञाते अविदिते, कुल-
शीले वंशचरिते यस्य तस्य अपरिचितस्येत्यर्थः, कस्यचित् जनस्य, [सम्बन्धविवक्षायां
पठो] वासः आश्रयः, न देयः दातव्यः, हि यतः, मार्जारस्य कस्यचित् विडालस्य,
अकस्मादागन्तीरिति भावः, दोषेण अपराधेन हेतुना, जरद्भवः जरद्भवनामा, यदा—
जरन्तौ जीर्णतां गतौ, विनष्टौ इत्यर्थः, गावौ दृश्यौ यस्य सः, जरन्तः स्वजनतः,
वार्द्धकात् प्रच्यवन्तः इत्यर्थः, गावः खोनानि यस्य सः इति वा, (“गौर्नाऽऽदित्ये
बर्हीवहे” किरणक्रतुभेदयोः । स्त्री तु स्याद्विशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि ।
वृद्धयोः स्वर्गवत्प्राप्तिरुत्तराश्रयश्चोत्तमः” इति केशवः) जरद्भवः तन्नामा कश्चित् अन्यः
पतितरोमा वा, गृध्रः शकुनिः, इतः व्यापादितः, पश्चिमिरिति शेषः ।

(झ) भागौरथस्य इतिमिति भागौरथी. (पुरा कपिलशापनिर्दग्धानां स्वपूर्व-

पर्कटोवृक्षः । तस्य कोटरे (ज) दैवदुर्विपाकात् (ट) गलितनखनयनो जरद्भवनामा गृध्रः प्रतिवसति । अथ कृपया (ठ) तस्मै वनाय तद्गृध्रवासिनः पाञ्चणः स्वाहारात् किञ्चित् किञ्चिदुक्तं तस्मै ददति, तेनासौ जीवति, तेषां श्रावकरक्षाञ्च करोति । अथ कदाचिद्दीर्घकर्णनामा मार्जारः पक्षिश्रावकान् भक्षति तत्रागतः ।

ततस्तमायान्तं दृष्ट्वा पक्षिश्रावकैर्भयार्तैः (ड) कोलाहलकृतः । तच्छ्रुत्वा जरद्भवेनोक्तं,—“कोऽयमायाति ?” दीर्घकर्णगृध्रमवलोक्य सभयमाह—“हा ! हतोऽस्मि । यतोऽयं (ढ) व्यापादयिष्यति । अथवा,—

तावद्भयस्य भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।

आगतन्तु भयं वौच्य नरः कुर्याद् यथोचितम् ॥१०५॥

अधुनाऽतिसन्निधानेन पलायितुमशक्यम् । तदुद्यथा भक्ति

पितामहानां सगरसन्ततीनां षष्टिसहस्राणाम् उद्धारकामः भगीरथनामा वैद्वज्जना राजा तीव्रेण तपसा गङ्गां सुरलोकात् नृलोकमानयानासेति भगीरथानोत्तरगङ्गाया भगीरथीति संज्ञा ज्ञातव्या ।

(ज) दैवदुर्विपाकात्—दुर्दैववशात् ।

(ट) गलितनखनयनः,—नखानि च नयने च नखनयनं [प्राण्यङ्गत्वात् एकाङ्गावः] गलितं शीर्षं, विनष्टमित्यर्थः, नखनयनं यस्य सः, चयितनखः अन्यस्येत्यर्थः ।

(ठ) तज्जीवनाय—तस्य जरद्भवस्य जीवनं रक्षितुम् । उद्धृत्य—गृहीत्वेत्यर्थः ।

(ड) कोलाहलः,—कलरवः ।

(ढ) व्यापादयिष्यति—मारयिष्यति ।

(१०५) तावदिति ।—यावत् यावत्कालपर्यन्तं, भयं भयकारणम्, भयनागतम् अनुपस्थितम्, [अत्र प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञः समासः] तावत् तावत्कालं भयस्य भयहेतोः, [सत्त्वन्विवक्षया षष्ठी] भेतव्यं वसितव्यं, शङ्कितव्यमिति यावत् । न किन्तु, नरः भयम् आगतम् उपस्थितं, वौच्य दृष्ट, यथोचितम् उचितमनतिक्रम, उपयुक्तमित्यर्थः, कुर्यात् अनुतिष्ठेत् । “प्रतिकुर्याद यथोचितम्” इति पाठान्तरम् । विपदि विषयः कारुरूपलक्षणमतस्तत्परो भूत्वा यथाशक्ति प्रतिकुर्यात् इति भावः ।

तव्यं तद्वन्तु तावत्, विश्वासमुत्पाद्यास्य समीपमुपगच्छामि”
इत्यालोच्य तमुपसृत्याब्रवीत्,—(ण) “आर्य्य ! त्वाम् (त) अभि-
वन्दे” । गृध्रोऽवदत्,—“कस्त्वम् ?” सोऽवदत्,—“मार्जारो-
ऽहम्” । गृध्रो ब्रूते,—“दूरमपसर, नो चेदन्तव्योऽसि मया” ।
मार्जारोऽवदत्,—“श्रूयतां तावदस्मद्वचनं, ततो यद्यहं
(थ) बध्यस्तदा हन्तव्यः । यतः,—

जातिमात्रेण किं कश्चिद्वध्यते पूज्यते क्वचित् ।

व्यवहारं परिज्ञाय बध्यः पूज्योऽथवा भवेत्” ॥ १०६ ॥

गृध्रो ब्रूते,—“ब्रूहि किमर्थमागतोऽसि ?” सोऽवदत्—
“अहमत्र गङ्गातौरे (द) नित्यस्त्रायौ (ध) निरामिषाशी
ब्रह्मचारी (न) चान्द्रायणव्रतमाचरंस्तिष्ठामि । यूयं धर्मज्ञान-

भारतीयशान्तिपर्वणि आपद्धर्मप्रकरणे वृक्षचाणक्ये च अस्य मूलं दृश्यम् । तत्र “नरः
कुप्याद् यथोचितम्” इत्यत्र “प्रहर्तव्यमभौतवत्” “प्रहर्तव्यमशङ्क्य” इति क्रमिकः पाठः ।

(ण) आर्य्य !—पूज्यः, “कर्तव्यमाचरन् कार्यमकर्तव्यमाचरन् । तिष्ठति
प्रकृताचारं स वै आर्य्य इति स्मृतः” ॥ इति ।

(त) अभिवन्दे—प्रणमामि ।

(थ) बध्यः,—बधम् अर्हतीति बध्यः, [अर्हार्थे यत् । हन्तेर्ध्वंति च बध्यः स्यात्] ।

(१०६) जातौति ।—क्वचित् कुत्रचित् स्थाने, कश्चित् जनः, जातिमात्रेण
केवल जातेस्सारतन्मात्रानुसारेण, चण्डालजातिरयं क्रूरः अत एव बध्यः, ब्राह्मणजाति-
रयमुदारः अत एव पूज्यः इत्यादिरूपजातेरुच्चनीचताविचारणयेव इत्यर्थः, किं बध्यते,
हन्तेति, पूज्यते सम्मान्यते वा ? अथवा व्यवहारम् आचरणं, परिज्ञाय विदित्वा,
सम्यक् परीक्ष्येति यावत्, बध्यः बधार्हः, पूज्यः पूजनीयश्च, भवेत् ?

(द) नित्यस्त्रायौ—नित्यं स्नातिः, यः सः नित्यस्नानशीलः, विसम्प्रस्नाननिरत इत्यर्थः ।

(ध) निरामिषाशी—निरामिषम् अन्नातोति निरामिषाशी मत्स्यमांसाहार-
विरतः इत्यर्थः । [अन्नातेर्णिनिः] ।

(न) चान्द्रायणव्रतं—चन्द्रसायं चान्द्रः चन्द्रलोकः अथ्यते गम्यते अनेनेति
चान्द्रायणं तच्च व्रतचेति, चन्द्रलोकप्रापकम्—“एकैकं ज्ञासयेत् कथं शुक्ले च
परिवर्हयेत्” इत्युक्तलक्षणं व्रतम् । आचरन्—अनुतिष्ठन् ।

रताः (प) प्रेमविश्वासभूमयः इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा
ममाग्रे (फ) प्रस्तुवन्ति । अतो भवद्भ्यो (ब) विद्यावयोर्वृद्धेभ्यः
धर्मं श्रोतुमिहागतः, भवन्तश्चैतादृशा धर्मज्ञाः, यन्मामतिं
हन्तुमुद्यताः ? गृहस्थधर्मश्चैषः,—

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।

केतुः पार्श्वगतात् छायां नोपसंहरति द्रुमः ॥ १०७ ॥

किञ्च यदि अन्नं नास्ति, तदा (भ) सुप्रीतेनापि वचनं
तावदतिथिः पूज्यः एव । तथा चोक्तम्,—

दृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सृष्टता ।

एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ १०८ ॥

(प) प्रेमविश्वासभूमयः,—प्रणयविश्वासभाजनानि ।

(फ) प्रस्तुवन्ति—प्रणुवन्ति, अत्यर्घं प्रशंसन्तीत्यर्थः ।

(ब) विद्यावयोर्वृद्धेभ्यः,—विद्या च वयस्य विद्यावयसो ताभ्यां वृद्धाः तेभ्यः
विद्यया वयसा च मत्तः प्रवीणेभ्यः ।

(१०७) अराविति ।—गृहं भवनम्, आगते उपस्थिते, अरौ शत्रोरपि
का कथा मित्रादौ इत्यपिशब्दायः, उचितं यथोपयुक्तम्, आतिथ्यम् अतिथिसत्कारः
कार्यं करणीयं, गृहस्थेनेति शेषः । तथाहि द्रुमः वृक्षः, पार्श्वगतात् पार्श्ववर्तिनः
विशामार्धमन्तिकोपविष्टादित्यर्थः, केतुः क्षेदकात्, विश्रामानन्तरं यदि कति
केतुनिच्छेत् तस्मादपीत्यर्थः, छायां अनातपं, न उपसंहरति नाकर्षति, इत्यत्र
क्षेदकस्य इव गृहस्थाः अतिथिभावेन आगतस्य शत्रोरपि आश्रयदाने न कातरा
भवन्तीत्यर्थः । द्रुमाणामन्त्येतनावत्त्वात् केतुरीप्सिताभिज्ञानं सम्भवत्येव, तथा चोक्तं
मनुना,—“अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः” इति ।

(भ) सुप्रीतेन—प्रीतियुक्तेन, अतिमधुरेणेति यावत् ।

(१०८) दृणानौति ।—दृणानि कुशादिनिर्मितमासनं, भूमिः विश्रामलालासा
स्थानम्, उदकं पादप्रक्षालनार्थं जलं, चतुर्थी चतुर्थां पूरणी, सृष्टता प्रियसम्पत्तिः
“सृष्टं मङ्गलैः स्यात् प्रियसम्पत्तयश्च स्युः” इति मेदिनी वाक् वचनञ्च, एतानि
दृणादीनि अपि, सतां साधूनां, गेहे गृहे, कदाचिदपि न उच्छिद्यन्ते न प्रज्वाल-
दिश्वन्ते, न दूरीक्रियन्ते इत्यर्थः, सज्जनावसे दृणादीनि सदैव विद्यन्ते इति निश्चयः ।

अन्वच, —बालो वा यदि वा वृद्धो युवा वा गृहमागतः ।

तस्य पूजा विधातव्या सर्वस्याभ्यागतो गुरुः ॥ १०८ ॥

अपरच, —निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।

न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रखाण्डालवेश्मनि ॥ ११० ॥

अन्वच, —अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।

स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥ १११ ॥

अन्वच, —उत्तमस्यापि वर्णस्य नौचोऽपि गृहमागतः ।

पूजनीयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥ ११२ ॥

अन्नाभावे उपवेशनाद्यंमासनप्रदानेन, तदभावे केवलं स्थानप्रदानेन, तस्याप्यभावे प्रादादिप्रक्षालनार्थं जलदानेन, सर्वाभावे प्रियवाक्येनापि अवश्यमेव अतिथिः स्तुत्वरण्योः इति तात्पर्यम् ।

(१०८) बाल इति ।—बालः बालकः वा, यदि वा अथवा, वृद्धः अथवा युवा तरुणः, यः कोऽपीत्यर्थः, गृहम् आगतः प्राप्तः, चेत् भवेत् इति शेषः, तर्हि तस्य पूजा सत्कारः, विधातव्या अवश्यं कर्त्तव्या, सर्वस्य जज्ञस्य, अभ्यागतः अतिथिः, गुरुः गुरुवत् पूजनीय इत्यर्थः । अभ्यागतः यादृशस्तादृश एव भवतु, उत्तमाधमनिर्दिशेषेण सर्व एव तुल्यसम्मानेन अभ्यर्हणीय इति भावः ।

(११०) निर्गुणेष्विति ।—साधवः सज्जनाः, निर्गुणेषु गुणहीनेषु अपि, सत्त्वेषु प्राणिषु, दयाम् अनुकम्पां, कुर्वन्ति । तत्र दृष्टान्तः,—चन्द्रः चाण्डालवेश्मनि असूय्यचण्डालगृहे अपि, पतितामिति शेषः, ज्योत्स्नां कौमुदी, न हि संहरते न हि आकर्मति ; महात्मानः सर्वत्र समदर्शिन इति भावः ।

(१११) अतिथिरिति ।—यस्य जनस्य, गृहात् अतिथिः भग्नाशः स्नातिव्यसामे अक्षितः सन्, प्रतिनिवर्तते प्रत्यावर्तते, सः अतिथिः, तस्मै गृहस्नानेन, दुष्कृतं पापं, स्तुतं दुरितम् इत्यर्थः, दत्त्वा, पुण्यम्, अतिथिसेवाविमुखसेति शेषः, आदाय गृहीत्वा, तत्कृतपुण्यं प्रशश्य इत्यर्थः, गच्छति अन्वच याति । परार्द्धेस्तास्य “पिण्डदा-
स्तस्य हीयन्ते न स प्रीणाति वै पितरः” इति अनुशासनपर्वोक्तः पाठः ।

(११२) उत्तमस्येति ।—उत्तमस्य अतिथ्यपेक्षया उत्कृष्टस्य, वर्णस्य ब्राह्मणादेः अपि, गृहम् आगतः समायातः, नौचोऽपि हीनजातिरपि, का कथा उत्तजाते-
रित्यपिशब्दार्थः, यथाधीग्यं यथोद्भूतं, पूजनीयः आतिथ्येन सत्पावनीयः, यतः

गृप्नोऽवदत्—“मार्जारो हि (म) मांसरुचिः, पक्षिशावकाश्च
अत्र निवसन्ति, तेनैवं ब्रवीमि” । तच्छ्रुत्वा मार्जारो (य) भूमिं
स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति, ब्रूते च,—“मया (र) धर्मशास्त्रं श्रुत्वा
(ल) वीतरागेण इदं दुष्करं व्रतं चान्द्रायणम् (व) अध्य-
सितम् । यतः, परस्परं (श) विवदमानानामपि धर्मशास्त्राणां
अहिंसा परमो धर्म इत्यत्र (घ) ऐकमत्यम् ।

तथाचोक्तम्,—अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।

अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥ ११३ ॥

अन्यदपि,—अहिंसा परमो यज्ञस्त्वहिंसा परमं बलम् ।

अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं श्रुतम् ॥ ११४ ॥

अतिथिरभ्यागतः, सर्वदेवमयः सर्वदेवस्वरूपः, [तादृष्ये मयट्] भवतीति शेषः;
सर्वेषां देवानां पूजनेन यत् फलं लभ्यते, अतिथिसेवयाऽपि तदिति भावः ।

(म) मांसरुचिः,—मांसे रुचिरं सः, मांसप्रियः ।

(य) भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णौ स्पृशति—भूमिस्पर्शपूर्वकं शपथं कृत्वा पापकथायात्
भयात् कर्णौ आच्छादयतीत्यर्थः । “मांसरुचिः” इति हिंसासूचकवाक्यश्रवणेन
पापसम्पृक्तं मन्यमानो विडालः तत्परिहाराय भूमिं कर्णौ च स्पृष्टवान्, अग्निदग्धापि
दानप्रकरणे तादृशाचारस्य पापविध्वंसित्वेन निर्दिष्टत्वात् इति वा मन्तव्यम् ।

(र) धर्मशास्त्रं—मन्वादिप्रणीतं धर्मोपदेशकं शास्त्रम् ।

(ल) वीतरागेण—वीतः विगतः, रागः विषयवासना यस्य सः तेन, विष-
भोगे वीतस्त्वृष्टेः ।

(व) अध्यवसितम्—अनुष्ठितम् [अधि + अव + सी + आदिकर्त्तृणि क्तः] ।

(श) विवदमानानां—कलहायमानानां, त्वदुक्तिर्विरुद्धा, न मदुक्तिरित्यादि
वैमल्यङ्गित्वं नानाविधं भाषमाशानामित्यर्थः, “भासन—” (१।३।४७ पा०) इत्या-
त्मनेपदम् ।

(घ) ऐकमत्यम्—एकमतावलम्बित्वम् ।

(११३।११४) महाभारतानुशासनपर्वणि दानधर्मोक्तश्लोकानालम्ब्य श्लोक-
माह, अहिंसति ।—अहिंसा हिंसाराहित्यम्, (एवेत्यध्याहार्यम् ;) पर-
अनुव्यः, धर्मः, तथा अहिंसा परः श्रेष्ठः, दमः इन्द्रियकम्, अहिंसा एव परा-

यतः,—सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः सर्वसहाय ये ।

सर्वस्याश्रयभूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ११५ ॥

अन्यच्च,—एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।

शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥ ११६ ॥

किञ्च,—योऽस्ति यस्य यदा मांसमुभयोः पश्यतान्तरम् ।

एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्विमुच्यते ॥ ११७ ॥

प्रधानं, दानम्, अहिंसा एव परमं तपः तपस्त्रा, तथा अहिंसा एव परमः यज्ञः यागः, अहिंसा एव परमं प्रधानं, बलम्, अहिंसा एव परमं प्रकृष्टं, मित्रम्, अहिंसा एव परमं श्रेष्ठं श्रुतं शास्त्राध्ययनम् ; धर्मेण दमेन दानेन तपसा यज्ञेन बलेन मित्रेण श्रुतेन वा यत् फलं लभ्यते, केवलम् अहिंसया एव तत्सर्वं लभ्यते, अतोऽहिंसा-समं किमपि नास्तीति भावः ।

(११५) सर्वेति ।—ये नराः मनुष्याः, सर्वाः सर्वविधाः, हिंसाः प्राणिवधा-

दयः, सर्वेषां सर्वविधानां प्राणिनां, हिंसा इत्यर्थो वा, ताभ्यः निवृत्ताः विरताः, ये च नराः, सर्वे सहते इति सर्वसहाः सर्वमहिणवः, सर्वस्य जनस्य, शरीरस्य च इत्यर्थः आश्रयभूताः अवलम्बनस्थानानि च, यानाश्रित्य अनेके उपजीवन्तीत्यर्थः, ते नराः मनुष्याः, स्वर्गगामिनः स्वर्गं गच्छन्तीति तादृशाः, स्वर्गवासिन इत्यर्थः, भवन्तीति शेषः ।

(११६) धर्माचरणस्य प्राणस्यप्रतिपादनार्थं मानवौघसंहितायाः अष्टमाध्या-योक्तसप्तदशश्लोकं प्रमाणत्वेन उपन्यस्यति, एक इति ।—एकः केवलः, धर्मः एव सुहृत् अनन्यसाधारणं मित्रमित्यर्थः । कुतः ? इत्याह,—यः धर्मः, निधनेऽपि मरणेऽपि, अनुयाति अनुसरति, अभीष्टफलप्रदानाय हृतमप्यनुसरतीत्यर्थः, अन्यत् सर्वन्तु धर्मातिरिक्तं वस्तुजातं पुनः, शरीरेण कालेन, समं सह, नाशं गच्छति प्राप्नोति, देहेऽस्मिन् विध्वंसे पुनश्चादिति धर्मः सर्वैरपि मत्स्वन्विनाशात् इति भावः । कस्माच्चिदपि कारणात् धर्मो न परित्यज्यः इत्याशयः ।

(११७) य इति—यः प्राणी, यदा यस्मिन् काले, यस्य प्राणिनः, मांसम् अस्ति भक्षयति, तदा उभयोः खाद्यखादकयोः, अन्तरं प्रभेदं, पश्यत आलोकयत, युयमिति शेषः ; एकस्य भक्षकस्य प्राणिनः इत्यर्थः, क्षणिका क्षणस्थायिनी, प्रीतिः मत्तोपः, अन्यः भक्ष्यः, प्राणे जीवितेन, विमुच्यते त्यज्यते, एकः क्षणं दत्तमनु भवति अपरः स्त्रियते इत्यर्थः ।

हि—५

अपिच,—मर्त्तव्यमिति यदुःखं पुरुषस्योपजायते ।

शक्यस्तेनानुमानेन परोऽपि परिरक्षितुम् ॥ ११८ ॥

शृणु पुनः,—

स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते ।

अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं महत् ? ॥

एवं विश्वास्य स मार्जारः तरुकोटरे स्थितः । ततो हिं
गच्छत्सु असौ पक्षिणावकानाक्रम्य कोटरमानीय प्र
खादति । अथ येषामपत्यानि खादितानि, तैः शोका
(स) विलपद्भिः (ह) इतस्ततो जिज्ञासा समारब्धा । तत् परि

(११८) मर्त्तव्यमिति ।—पुरुषस्य पुंसः, मर्त्तव्यम् अवश्यमेव मृत्युर्भवति इत्यं चिन्तया, यत् यादृशं, दुःखं क्लेशः, उपजायते भवति, तेन पुरुषात्कामरणवदन्वेषामपि मरणं दुःसहक्लेशकरम् इति अनुमित्या, परोऽपि परोऽन्येतरः प्राणी अपीत्यर्थः, परिरक्षितुं हिंसावृत्तिभ्यस्त्रातुं, जीवितत्वेन स्थापयितुमिच्छति । शक्यः योग्यः, भवतीति शेषः ; [अत्र “प्रधानशक्त्यभिधाने गौणशक्तिरिति प्रकाशते” इति न्यायात् शक्य इति प्रधानक्रियायोगे पर इति प्रथमाविभक्तिर्विहितः मन्तव्यः] । परेषामपि मृत्युदुःखं निजमृत्युदुःखवदनुमाय पुरुषैः हिंसातो उपपन्नमिति भावः । “शक्यते नानुमानेन परेण परिवर्णितुम्” इति पाठान्तरम् ।

(११९) स्वच्छन्देति ।—स्वस्य क्लन्दोऽभिप्रायी यस्मिन् तत् यथा तथा जातेन, स्वच्छन्देन स्वेच्छया, स्वभावत एवेत्यर्थः, वनात् जातस्तेन इति वा, हवा आदिकमन्तरेण स्वत उत्पन्नेन इत्यर्थः, शाकेनापि पक्षपुष्पफलादिरूपेण अङ्गीकृता अपि, प्रपूर्यते परिपूर्णं भवति, यत् उदरमिति शेषः ; अकृष्टपक्षेण वन्तेन मृत्खादिना अपि यस्य पोषणं भवेत् इत्यर्थः, [देवादिकास्यात्मनेपदिनः पूरणकर्त्तरि प्रयोगोऽयम्] यद्वा—प्रपूर्यते पूरयितुं शक्यते, लौकैरिति शेषः ; [प्रवेष्टव्यं कर्मणि प्रयोगोऽयम्] ; अस्य दग्धोदरस्य इतजठरस्य, अर्थे निमित्ते, को जनः, को प्राणिवधरूपम् अतीव गर्हितं, पातयति यत् तत् पातकं प्रापं, कुर्यात् आपत्तौ तत्र कोऽपीत्यर्थः ।

(स) विलपद्भिः,—रुदद्भिः ।

(ह) इतस्ततो जिज्ञासा समारब्धा—समन्तात् श्रावकान्वेषणकृते प्रश्नः कृतः इत्यर्थः ।

॥ मार्जारः कोटरात् निःसृत्य वह्निः पलायितः । पश्चात् पक्षिभि-
रितस्ततो (क) निरूपयद्भिस्तत्र तरुकोटरे शावकास्थौनि
प्राप्तानि । अनन्तरम् “अनेनैव जरद्भवेन अस्माकं शावकाः
खादिताः” इति निश्चित्य मिलित्वा सर्वैः पक्षिभिः स गृध्रो
व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि,—“अज्ञातकुलशीलस्येत्यादि” ।

(ख) [इति वृद्धगृध्रनाज्जारकथा] ।

इत्याकर्ण्य स जम्बुकः सक्रोपमाह,—“सृगस्य प्रथमदर्शन-
दिने भवानपि अज्ञातकुलशील एवासीत्; तत् कथं भवता सह
एतस्य (ग) स्नेहानुवृत्तिः (घ) उत्तरोत्तरं वर्धते ?—

यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि ।

निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ॥ १२० ॥

अन्यच्च,—अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम् ।

उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ १२१ ॥

(क) निरूपयद्भिः,—सावधानं निरौचमाणैः, अनिष्टयद्भिरेत्यर्थः ।

(ख) कथंयं भारतोद्द्योगपर्वीथीलूकदूताभिगमनपर्वणि कौन्तिंतस्य विद्वान्-
तपस्विष्ठतस्मानुरूपा इत्यवगन्तव्यम् ।

(ग) स्नेहानुवृत्तिः,—प्रणयानुवर्त्तनं, प्रीतिः इति यावत् ।

(घ) उत्तरोत्तरं वर्धते—क्रमशः वृद्धिं प्राप्नोति ।

(१२०) यवेति ।—यत्र यस्मिन् देशे, विद्वज्जनः पण्डितो जनः, न अस्ति न
विद्यते, तत्र तस्मिन् देशे, अल्पा धीर्बुद्धिर्यस्य स अल्पधीः मन्दबुद्धिः, विद्याहीनो-
ऽपीत्यर्थः, श्लाघ्यः प्रशंसनीयः, सर्वेषामादरणीय इति यावत्, भवतीति शेषः ।
तथाहि निरस्तः पादपः यस्मात् तस्मिन् वृक्षहीने, देशे स्थाने, एरण्डः (“भेराण्डा”
इति वङ्गभाषा,) तन्नामा कश्चित् असारवृक्षोऽपि, द्रुमायते अद्रुमः द्रुमो भवति, [इति
वृक्षादित्वात् क्यङ्] द्रुमत्वेन परिगण्यते इत्यर्थः ।

(१२१) अयमिति ।—अयं निजः आत्मीयः, वा अथवा, परः अयम्
अनात्मीयः, भवतीति शेषः, इति एषा, लघुचेतसां नीचाशयानां, गणना विचारणा,
अनुदाराः कमपि आत्मीयं कमपि वा अनात्मीयं मन्यन्ते इत्यर्थः, तु किन्तु, उदारम्
औदाय्यगुणान्वितं, चरितं येषां तेषां, महागुणधोनां, सर्वत्र समदर्शिनमित्यर्थः,

LIBRARY

यथा च अयं सृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि ।” खादा
ऽब्रवीत्,—(ङ) “किमनेन उत्तरोत्तरेण ? सर्वे पाशा

(च) विश्वाम्नालापैः सुखमनुभवद्भिः स्थीयताम् । यतः,— पाशैव

न कश्चित् कस्यचित् मित्रं न कश्चित् कस्यचिद्रिपुः । दिव

व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा” ॥ १२२ । जम्बू

काकेन उक्तम्,—“एवमस्तु” । अथ प्रातः सर्वे (छ) (ठ)

ऽभिमतदेशं गताः । यतः

एकदा (ज) निभृतं शृगालो ब्रूते,—“सखे सृग ! एतं मया
न्नेव वनैकदेशे शस्यपूर्णं क्षेत्रमस्ति, तदहं त्वां तत्र नी
दर्शयामि” । तथा कृते सति सृगः प्रत्यहं तत्र गत्वा श

जनानामिति शेषः, वसुनि धनानि दधाति इति वसुधा सनयपृथिव्येव, वसु
पृथिवीस्यजोवनिचयः, कुटुम्बकम् आत्मीयममूहः, भवतीति शेषः, उदारर्षा
सर्वे एव वसुधावासिन आत्मीया मन्यन्ते इत्यर्थः ।

(ङ) किमनेन उत्तरोत्तरेण—अनेन ईदृशेन, उत्तरोत्तरेण उत्तरीयत
प्रपञ्चेन, किम् अलम् । ईदृशवादप्रतिवादेन किमपि प्रयोजनं न साध्यते इति
[अत्र वारणाशं ककिंशब्दयोगे करणे तृतीया] ।

(च) विश्वाम्नालापैः,—विश्वमेव विश्वासेन प्रणयेन वा, पूर्णाः आ
सम्भाषाः तैः, [मध्यपदलोपिकस्यधारयः] प्रणयगर्भैर्विश्वासपूर्णैर्वा मिथो भाषणैः ।

(१२२) काकजम्बूकयोर्विरोधप्रशमनार्थं सृगः नडाभारतशान्तिपर्वोपा
प्रकरणोक्तश्लोकानवलम्ब्य शत्रुमित्रयोः कृतकत्वमाह, नेति ।—कश्चित् जनः, कदा
जनस्य, मित्रं सृहत्, [मेवति स्निह्यति इति मित्रं] न, कश्चित् जनः, कदा
जनस्य, रिपुः शत्रुरपि, न, उभयत्रापि भवतीति शेषः । कश्चित् कस्यचित्
शत्रुर्वा भूत्वा न जायते इत्यर्थः । व्यवहारेण हिताहिताचरणेन एव, मित्राणि सृ
तथा रिपवः शत्रवश्च, जायन्ते । यो हि शत्रुवदाचरति स एव शत्रुः, यश्च
वदाचरति स एव मित्रमित्यर्थः ; “उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः” ।
भावः । कामन्दकीयाष्टमसर्गेऽपि अस्त्रानुरूपश्लोको दृश्यते ।

(छ) यथाऽभिमतदेशं—यथाऽभीष्टप्रदेशम् । [विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः] । इति

(ज) निभृतं—रहसि ।

खादति । ततो (भ) दिनकतिपयेन क्षेत्रपतिना तत् दृष्ट्वा
पाशास्तत्र योजिताः । अनन्तरं पुनरागतो मृगस्तत्र चरन्
पाशैर्वद्धोऽचिन्तयत्,—“को माम् (ज) इतः (ट) कालपाशा-
दिव व्याधपाशात् त्रातुं मित्रादन्यः समर्थः ?” अत्रान्तरे
जम्बूकस्तत्रागत्य उपस्थितोऽचिन्तयत्,—“फलितस्तावदस्माकं
(ठ) कपटप्रबन्धः, मनोरथसिद्धिरपि बाहुल्यात् मे भविष्यति ।
यतः एतस्य (ड) उत्कृष्टमानस्य (ढ) मांसासृग्लिप्तानि अस्थीनि
मया अवश्यं प्राप्तव्यानि” । स च मृगस्तं दृष्ट्वा (ण) उक्लासितो
ब्रूते,—“सखे ! छिन्धि तावत् मम बन्धनं, सत्वरं त्रायस्व माम् ।
यतः,—

आपत्सु मित्रं जानीयात्, युद्धे शूरमृगे शुचिम् ।

भार्यां क्षीणेषु वित्तेषु व्यसनेषु च बान्धवान् ॥ १२३ ॥

(भ) दिनकतिपयेन—किर्याद्दिनेषु गच्छत्सु इत्यर्थः ।

(ज) इतः,—अस्मात् । [इदमः पञ्चम्याससिक्] ।

(ट) कालपाशादिव—यमपाशादिव ।

(ठ) कपटप्रबन्धः,—चातुर्यं, छलप्रयोगः इत्यर्थः ।

(ड) उत्कृष्टमानस्य—हृद्यमानस्य, खण्डशः क्रियमाणस्येत्यर्थः ।

(ढ) मांसासृग्लिप्तानि—मांसश्च असृक् रक्तञ्च इति मांसासृक्, तेन
लिप्तानि सम्पृक्तानि, रक्तमांससंहितानि इत्यर्थः ।

(ण) उक्लासितः,—आनन्दितः । उक्लासः सञ्जातोऽस्य इति [उक्लास +
इतच्] ।

(१२३) आपत्स्थितिः ।—आपत्सु आपत्काले उपस्थिते सतीत्यर्थः, मित्रं
सुदृढं, युद्धे समरे उपस्थिते, शूरं विक्रमशालिनम्, ऋणे उद्दारे सति, पुनर्देयत्वे-
नाभ्युपगम्य उत्तमणात् धने गृहीते सतीत्यर्थः, शुचिं निर्मलचरितं, वित्तेषु धनेषु,
क्षीणेषु क्षयं प्राप्तेषु सत्सु, भार्यां, व्यसनेषु कामजकोपजदोषजनितदशाविपथ्येषु
च, उपस्थितेति शेषः, बान्धवान् जानीयात् अवगच्छेत्, परीचेत इत्यर्थः, लोका
इति शेषः । गरुडनीतिसारे नवाधिकशततमाध्याये—“भार्याश्च विभवे क्षीणे
दुर्मित्रे च प्रियातिथिम्” इत्युत्तरार्द्धस्य पाठान्तरम् ।

अपरश्च,—उत्सवे व्यसने चैव दुर्मिच्छे राष्ट्रविप्लवे ।

राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः” ॥ १२३ ॥

जम्बूकः पाशं मुहुर्मुहुर्विलोक्य अचिन्तयत्,—“दृष्ट्वा
बद्धोऽस्ति तावदयं मृगः” ब्रूते च,—“सखे ! (त) ।
निर्मिताः पाशास्तदद्य भट्टारकवारे कथमेतान् ।
सृशामि ? मित्र ! यदि चित्ते न अन्यथा मन्यसे, तदा
यत्त्वया वक्तव्यं, तत् कर्त्तव्यम्” इति ।

अनन्तरं स काकः (थ) प्रदोषकाले मृगमनागतमक
इतस्ततोऽन्विष्य तथाविधं तं दृष्ट्वा उवाच,—“सखे ! किमेत
मृगेण उक्तम्,—(द) “अवधौरितमुहृद्वाक्यस्य (ध) फलमे
तथा चोक्तम्,—सुहृदां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम्
विपत् सन्निहिता तस्य स नरः शत्रुनन्दनः” ॥ १२४ ॥

(१२४) काकस्य अकृत्रिममित्रत्वख्यापनार्थं चाणक्यवचनमाश्रित्य वक्
माह, उत्सवे इति ।—यः यो जनः, उत्सवे विवाहादौ आनन्दजनकव्यापारे,
आपदि, विपत्काले इत्यर्थः, दुर्मिच्छे दुष्प्रापा भिक्षा यस्मिन् तस्मिन् अन्नात्मा
इत्यर्थः, राष्ट्रस्य राज्यस्य, विप्लवे उपद्रवे, शृपान्तराक्तमण्ये इति यावत् ।
व्यसने प्राप्ते दुर्मिच्छे शत्रुसङ्घटे” इति चाणक्योपपाठः । राजद्वारे विपत्
वादिङ्गताभिधीगे इति भावः, श्मशाने शवदाहस्थाने च, दाहाद्यन्वेष्टि
वा, तिष्ठति अनुकूलयति, स एव बान्धवः प्रकृतवन्धुः, भवतीति शेषः ।

(त) ज्ञायुनिर्मिताः पाशाः,—ज्ञायुभिः देहान्तर्वर्त्तिसूक्ष्मनाडीविशेषैः, ति
रचिताः, पाशाः जालानि, जालरज्जवः इत्यर्थः । भट्टारकवारे—रविवाधे,
विपत्काले सूर्यस्य भट्टारकत्वमवगन्तव्यम् ।

(थ) प्रदोषकाले—निशासुखे, सायंकाले इत्यर्थः ।

(द) अवधौरितमुहृद्वाक्यस्य—अवधौरितम् अवज्ञातम्, अश्रुतमिति
यत् सुहृदः मित्रस्य, वाक्यं वचनं तस्य, बान्धववचनावहेलनस्येत्यर्थः ।

(ध) फलं—परिणामः ।

(१२५) महाभारतीयोदयोगपर्वणि उक्तस्य श्लोकस्य छायासवलम्ब्य सुहृ
वहेलनस्य दुरन्तत्वमाह, सुहृदामिति ।—यः जनः, हितं कामयते ये तेषां

काको ब्रूते,—“स (न) वक्षकः क्व आस्ते ?” मृगेण उक्तं,—
“मन्मांसार्थी तिष्ठति अत्रैव” । काको ब्रूते,—“मित्र ! उक्तमेव
मया पूर्वम्,—

अपराधो न मेऽस्तीति नैतद्विश्वासकारणम् ।

विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥ १२६ ॥

दीपनिर्वाणगन्धश्च सुहृद्वाक्यमरुन्धतोम् ।

न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः ॥ १२७ ॥

परोक्षे कार्यद्वन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।

वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्” ॥ १२८ ॥

कामानां हितैषिणां, सुहृदां मित्राणां, भाषितं वचनं, न शृणोति न आकर्णयति,
तस्य जनस्य, विपत् सन्निहिता निकटवर्तिनी, अचिरंैव आपतिष्यति इत्यर्थः, स
नरः शत्रुनन्दनः नन्दयतीति नन्दनः, शत्रूणां नन्दकरः, प्रीतिवर्द्धनः इत्यर्थः, भवतीति
शेषः । तम् आसन्नविपदं मत्वा शत्रुवो हृष्यन्ति इति भावः ।

(न) वक्षकः,—वक्षयतीति वक्षकः प्रतारकः, धूर्त इति यावत् ।

(१२६) अपराध इति ।—मे मम, अपराधः दोषः, नास्ति न विद्यते, नाह-
मेभ्यः कथमपि अपराधवान्, कथमेते ममापकारं कुर्युः इत्यर्थः, इति एतत्,
एतावच्चिन्तनमित्यर्थः, विश्वासकारणं निसर्गक्रूरे प्रत्यक्षेण, न, भवति इति शेषः ।
एवं विश्वस्य न केनापि निर्भयेण भाव्यमित्यर्थः, हि यतः, गुणवतां गुणिनामपि,
निरपराधानामपि इत्यर्थः, किमुत सदीषाणामिति भावः, नृशंसेभ्यः नृन् शंसन्ति
हंसन्ति ये तेभ्यः, गुणदीषौ अविचार्य परद्वेषिभ्यः निसर्गक्रूरेभ्यः, भयं विद्यते अस्ति ।
निसर्गक्रूरा हि गुणदीषावविचार्यैव सर्वान् हंसन्तीति भावः ।

(१२७) दीपेति ।—गतायुषः गतम् आयुर्कोवनकाखी येषां ते तथोक्ताः
आसन्नमृत्यवः जनाः, दीपस्य प्रदीपस्य, निर्वाणेन विनाशेन, यो गन्धः तं, न जिघ्रन्ति
नानुभवितुं शक्नुवन्ति इत्यर्थः, सुहृदः वाक्यं वन्धुवचनं, न शृण्वन्ति न आकर्णयन्ति,
तथा अरुन्धतो सप्तर्षिमण्डलस्य तदाख्यनक्षत्रविशेषश्च, न पश्यन्ति नावलोकयन्ति,
कालपक्षत्वात् सत्यपि इन्द्रियशामे अविक्रान्ते प्रातुं श्रितुं द्रष्टुश्च न शक्नुवन्तीत्यर्थः ।
अतस्ते सुहृदो वाक्यद्वेक्षणं मे युक्तमेवेति भावः ।

(१२८) परोक्षे इति ।—अच्योः परं परोक्षं तस्मिन् परोक्षे असमक्षे, काप्यस्य

ततः काको दीर्घं निश्चस्य उवाच,—“अरे वञ्चक ! वि-
त्ख्या (प) पापकर्मणा कृतम् ? यतः,—

संलापितानां मधुरैर्वचोभि-
र्मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम् ।

आशावतां श्रद्धघताश्च लोके

किमर्थिनां वञ्चयितव्यमस्ति ? ॥ १२८ ॥

अन्यश्च,—उपकारिणि विश्रब्धे शुद्धमती यः समाचरति पापम् ।
तं जनमसत्यसन्धं भगवति वसुधे ! कथं वृहसि ? ॥ १२९ ॥

इत्थारं व्याघातञ्च, प्रत्यक्षे समक्षे, प्रियं वदतीति तं मधुरमाख्यपन्नम्, अत एव पदं
दुग्धं, मुखे अशभागे यस्य तं पयोमुखं, विषस्य कुम्भं विषपूर्णकलसमिवेत्यर्थः, तादा-
कपटचारिणमिति भावः, मैद्यति खिन्नतीति मित्रं बन्धुं, वर्जयेत् त्यजेत्, तादृशे-
न कदापि मैत्री कर्तव्या इत्यर्थः । [अत्र नपुंसकलिङ्गमिच्छाशब्दस्य विशेषणत्वे
उपन्यस्तयोः “इत्थारं वादिनम्” इति पदयोः पुल्लिङ्गता “शब्दा गृह्णन्ति शब्दस्य लि-
मर्थस्य कुत्रचित् । देयं कलत्रं वा लोके दारान् पश्यति शोभनाः ॥” इति कातका-
नुशासनात् विशेष्यस्य पुंस्त्वार्थबोधकत्वेन न दूष्यतीति मन्तव्यम् । परन्तु “मितम्”
इत्यत्र “वन्धुम्” इति पाठे कृते सर्वे समञ्जसं स्यादिति] ।

(प) पापकर्मणा—पापं पापजनकं कर्म यस्य सः तेन, दुराचारेण ।

(१२८) संलापितानामिति ।—लोके जगति, मधुरैः प्रीतिगर्भैः, वचोभि-
वचनैः, संलापितानां प्रियं मधुरञ्च सम्भाषितानां, मिथ्योपचारैः कपटाचरणैश्च,
वशीकृतानां वशमानितानाम्, आशावताम् उपकारादिजाभाशायुक्तानां, श्रद्धघताम्
विश्वासनापन्नानाञ्च, अर्थिनां याचकानां, किं वञ्चयितव्यं प्रवञ्चनाहं किमपि कार्यम्,
अस्ति ? नैते कथमपि वञ्चनीया इत्यर्थः । सञ्ज्ञावप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ?
इति भावः । उपजातिः वृत्तम् ।

(१२९) उपकारिणीति ।—उपकारिणि उपकारशीले, तथा विश्रब्धे विश्रब्धे,
शुद्धा सरला, मतिर्यस्य तस्मिन् अकपटान्तःकरणे च, जने इति शेषः, यो जनः,
पापम् अनिष्टं, समाचरति व्यवहरति, सङ्कटयति इत्यर्थः, हे भगवति वसुधे ! शक्ति !
सत्ये सत्यपालने, सत्त्वा प्रतिज्ञा, सत्त्वा यथायां, सत्त्वा यस्य संः इति वा सत्यसन्धः
सत्यप्रतिज्ञः, स न भवतीति तम् असत्यसन्धं वञ्चनापरं, तं जनं, कथं केन प्रकारेण,

दुर्जनेन समं वैरं प्रीतिश्चापि न कारयेत् ।

उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णयते करम् ॥ १३१ ॥

अथवा (फ) स्थितिरियं दुर्जनानाम्,—

प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसं

कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम् ।

क्षिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः

सर्वं खलस्य चरितं मशकः करोति ॥ १३२ ॥

वहसि धारयसि ? तादृशदुर्जनस्य भारधारणं कथमपि न युज्यते इत्यर्थः । अत्र तु वसूनि धनानि मणीन् वा दधातीति वसुधा रत्नधारिणी । त्वं तद्विधा सती ईदृशं दुर्वृत्तं धृत्वा आत्मनाम असार्थकं करोषि इति वसुधापदेन ध्वन्यते । किञ्च भगवतीतिपदेन समर्थाऽपि ईदृशं जनं कथं नाधो नयसि ? इति च ध्वन्यते । रत्नधात्रा दुर्वृत्तधारणं कलङ्ककरमिति भावः । आर्या जातिः ।

(१३१) दुर्जनेनेति ।—दुर्जनेन दुष्टप्रकृतिकेन जनेन, समं सह, वैरं शत्रुतां, “वैरम्” इत्यत्र “सख्यम्” इति पाठान्तरं न युज्यते, “प्रीतिम्” इत्यनेनैव तदधाव-
गमात्, उष्णशीतावस्थाभेदेन अङ्गारस्य दाहकत्वकृष्णोत्करणत्वरूपदृष्टान्तासङ्गतेषु इत्यवगन्तव्यम् । प्रीतिश्चापि प्रणयश्चापि, मेलनश्चापि इत्यर्थः, न कारयेत्, किनापि प्रकारेण दुर्जनसङ्गतिं नैव कुर्वीतित्यर्थः । [स्वार्थे णिजन्तोऽयम्] । कथमित्याह,—
उष्णः प्रदीप्तः, प्रज्वलन् इत्यर्थः, अङ्गारः करं हस्तं, सम्पुष्टुरिति शेषः, दहति भस्मी-
करोति, शीतः शीतलः, निर्वाण इति यावत्, अङ्गारः कृष्णयते कृष्णं करोति, मलिनी-
करोतीति यावत् । [तत्करोतीति णिच् । केचित्तु—“कृष्णयते” इति पठन्ति,
तन्न—कृष्णशब्दस्य भृशादिषु पाठाभावात्] ।

(फ) स्थितिरियं दुर्जनानां—दुर्जनानां दुष्टप्रकृतिकानाम्, इयम् ईदृशी, वक्ष्य-
माणरूपा इत्यर्थः, स्थितिर्मर्यादा, आचरणमिति यावत् ।

(१३२) प्रागिति ।—मशकः स्वनामख्यातकौटविशेषः, खलस्य क्रूरस्य, सर्वे
चरितम् आचरणं, करोति विदधाति, अशुकरोति इत्यर्थः । किन्तदित्याह—प्राक्
प्रथमं, पादयोः जनानां चरणयोः, पतति वसतीत्यर्थः ; खलपक्षे—कपटेन प्रताप्यस्य
पदान्तो भवति, ततः पृष्ठमांसं खादति, मशकपक्षे—पृष्ठे दशति ; अन्यत्र—परोक्षे
महदनिष्टं घटयति, कर्णे कर्णान्तिके, किमपि अनिवचनीयं, विचित्रं बहुविधं, कलं

तथा च,—दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम् ।

मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम् ॥ १३३

अथ प्रभाते स क्षेत्रपतिलैर्गुडहस्तस्तं प्रदेशम् आगच्छ
काकेन अवलोकितः । तमालोक्य काकेन उक्तम्,—“स
मृग ! त्वमात्मानं (ब) मृतवत् सन्दर्श्य वातेन उदरं पूरयित्वा
पादान् (भ) स्तब्धीकृत्य तिष्ठ, अहं तव चक्षुषी चक्षुषा विलिखामि
यदा अहं शब्दं करोमि, तदा त्वमुत्थाय सत्वरं पलायिष्यसे”
मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः ।

ततः क्षेत्रपतिना (म) हर्षोत्फुल्ललोचनेन तथाविधो वा
अवलोकितः । “आः ! स्वयं मृतोऽसि ?” इत्युक्त्वा मृगं बन्धना
मोचयित्वा पाशान् (य) संवरौतुं सयत्नो बभूव । ततः कियद्

मधुरं, जनैर्मन्दं, रीति शब्दायते ; अन्यत्र—प्रताप्यमायत्तीकर्तुं मधुरमापन्नं
छिद्रम् एकत्र—दंशनावसरं, रीमकूपं वा, अन्यत्र—आपदादिरन्ध्रं, निरुप्य निर्णयं
प्राप्येत्यर्थः, अशङ्कः निर्भीकः सन्, सहसा हठात्, अतर्कितं यथा तथेत्यर्थः, प्रविष्टं
मशकपक्षे—युक्तेन त्वचं निर्मिष्य दशति, अन्यत्र—अन्तरङ्गी भूत्वा प्रतिकूलार्थं
इत्यर्थः, दुष्टाभिप्रायं साधयति इति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

(१३३) दुर्जनस्य अविश्वस्तत्वे चाणक्यनीतिं प्रमाणयति, दुर्जनः इति—
दुर्जनः खलः, प्रियवादी मधुरभाषणशीलः, एतत् दुर्जनस्य प्रियवादित्वं, न च द्वेष
विश्वासकारणं प्रत्ययहेतुः । कुतः ? इत्याह,—अस्य जिह्वाग्रे रसनायामासीत्, मुं
इति यावत्, मधु समिष्टं वचः इति यावत्, तिष्ठति, हृदि मनसि, हालाहलं विषं
सुतोच्छविषविशेषः, तिष्ठति इति पूर्वेषामन्वयः ।

(ब) मृतवत्—मृतमिव [“तेन तुल्यं क्रिया चेदितिः” (भा१।११५ पा०)
इति वतिः] ।

(भ) स्तब्धीकृत्य—स्थिरीकृत्य । विलिखामि—विकर्षामि, पाटयामीत्यर्थः ।

(म) हर्षोत्फुल्ललोचनेन—हर्षेण प्रीत्या, उत्फुल्ले विकसिते, लोचने दृष्टे
तेन ।

(य) संवरौतुं—संहरतुं, सङ्गृह्णितुमित्यर्थः । [सम् + वृ + तुमुन् + इट्, “जो
वा” (अ२।३८ पा०) इति इटो वैकल्पिकदीर्घः । “संवरितुम्” इत्यपि स्यात्] ।

(र) अन्तरिते क्षेत्रपतौ स मृगः काकस्य शब्दं श्रुत्वा सत्वर-
मुत्थाय पलायितः । तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना प्रकोपात् क्षिप्तेन
लगुडेन मृगालो व्यापादितः । तथा चोक्तम्,—

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ।

अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्रुते ॥ १३४ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि,—“भक्ष्यभक्षकयोः प्रीतिः” इत्यादि ।

[इति मृग-वायस-मृगालकथा] ।

काकः पुनराह,—

“भक्षितेनापि भवता नाहारो मम पुष्कलः ।

त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवानघ ! ॥ १३५ ॥

अन्यच्च,—तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम् ।

सतां हि साधुशीलत्वात् स्वभावो न निवर्तते ॥ १३६ ॥

(१) अन्तरिते—व्यवधानं गते अक्षचिते वा ।

(१३४) त्रिमिरिति ।—अत्युत्कटैः अत्यधिकैः, पापपुण्यैः अधर्मधर्माचरणैः
करणैः कृतं, तादृशपापपुण्यानुष्ठानजनितमित्यर्थः, फलं परिणामम्, इहैव अक्षिप्तेव
जन्मनि मृतत्वे वा, त्रिभिः वर्षैः वत्सरैः, वर्षत्रयेण इत्यर्थः, त्रिभिर्मासैः मासत्रयेण,
त्रिभिः पक्षैः पक्षत्रयत्वारिंशद्दिनैः, त्रिभिर्दिनैः दिनत्रयेण वा, अश्रुते प्राप्नोति । [वर्षैः
इत्यादिषु “अपवर्गे तृतीया” (२।३।६ पा०) इति तृतीया] । खानुष्ठितपापपरि-
णामेन सद्यो व्यापन्नः मृगालोऽव प्रमाणमिति श्लोकस्थाशयः ।

(१३५) भक्षितेनेति ।—हे अनघ निषाप ! भवता भक्षितेनापि खादिते-
नापि, भयङ्गक्षयेनापि इत्यर्थः, मम पुष्कलः प्रचुरः, आहारः न, भवतीति शेषः,
किन्तु त्वयि जीवति प्राणान् धारयति सति, चित्रग्रीव इव चित्रग्रीववत् वन्धुसङ्घवास-
सुखमनुभवन्नित्यर्थः, जीवामि प्राणिमि, अहमिति शेषः ।

(१३६) तिरश्चामिति ।—पुण्यैककर्मणां पुण्यं धर्मानुष्ठानम्, एकं मुख्यं, कर्म
येषां तेषां पुण्यानुष्ठानपराणां, तिरश्चां तिर्यग्ज्ञातीयानां पश्चादौनामपि, विश्वासः
प्रत्ययः, दृष्टः लक्षितः ; हि तथाहि, साधुशीलत्वात् सस्वभावत्वात्, सतां साधूनां,
स्वभावः प्रकृतिः, न निवर्तते न विक्रियां याति । सस्वभावास्तिर्यग्ज्ञातौऽपि विश्वास-
भाजो भवन्ति, यथा गरुडादयः इति भावः ।

किञ्च,—साधोः प्रकोपितस्यापि मनो नायाति विक्रियाम् ।

न हि तापयितुं शक्यं सागरान्भस्तृणोल्कया” ॥१३४॥

हिरण्यको ब्रूते,—(ल) “चपलस्त्वं, चपलेन सह से
सर्वथा न कर्त्तव्यः । तथा चोक्तम्,—

मार्जारो मद्दिषो मेघः काकः कापुरुषस्तथा ।

विश्वासात् प्रभवन्त्येते विश्वासस्तत्र नोचितः ॥१३५॥

किञ्च अन्यत्, (व) शत्रुपक्षो भवान् अस्माकम् । शत्रु
सन्धिर्न विधेयः । उक्तञ्चेतत्,—

शत्रुणा न हि सन्दध्यात् सुस्तिष्ठेनापि सन्धिना ।

सुतप्तमपि पानीयं शमयत्येव पावकम् ॥ १३६ ॥

(१३०) साधोरिति ।—प्रकोपितस्यापि नितरां क्रोधितस्यापि, [प्र + कृ +
षिच् + क्तः + षष्ठी १३०] । साधोः उदारचरितस्य, मनः हृदयं, समुद्रवत् तस्य
मर्त्तान्धश्चेति भावः, विक्रियां विक्रितं, न आयाति न प्राप्नोति, न विक्रितं भव
त्यर्थः । हि तथाहि, तृणोल्कया तृणजाग्रिशिखया, सागरान्भः समुद्रजलं, तापयि
त्यर्थः । न शक्यं न साध्यम् । अत्र वैधर्म्येण दृष्टान्तालङ्कारः ।

(ल) चपलः,—अव्यवस्थितचित्तः, चञ्चल इति यावत् ।

(१३५) मार्जार इति ।—मार्जारः विडालः, मद्दिषः, मेघः, काकः वास्त
तथा कापुरुषः निन्दनीयपुरुषः, लघुचित्तो जनः इति यावत् । एते अमी पक्षि
प्राणिनः, विश्वासात् प्रत्ययात्, एतेषु विश्वासातिशयप्रदर्शनादिति यावत्, प्रवर्त
कृतविश्वासास्तु एते अनर्थमुत्पादयितुं शत्रुवन्तीत्यर्थः, अतः तत्र तेषु, विश्वा
उचितः न युक्तः, एतेषु न कथमपि विश्वसितव्यमित्यर्थः ।

(व) शत्रुपक्षः,—शत्रुजातीयः, स्वभाववैरीति यावत् ।

(१३६) शत्रुणेति ।—सुस्तिष्ठेन सुघटितेन, सुहृदेनेति यावत्, सन्धिना मेघे
अपि करणेन, शत्रुणा सह न हि सन्दध्यात् नैव संमिलेत्, शत्रुणा सह सुहृदं वा
कृत्वापि नैव निहतस्तिष्ठेत् इत्यर्थः । [सम् + धा + विधिलिङ्-यात्] । कथमित्यादि-
पानीयं जलं, सुतप्तमपि अग्निसम्पर्केण उष्णत्वाद्विप्रागुणं लभमानमपि, पात
वाङ्म, उष्णगुणविशिष्टमिति भावः, शमयत्येव उभयोः संयोगकाले स्वभाववैरि
त्वात् निवांप्रयत्येव । अतः स्वभाववैरिणा त्वया सह मैत्री न युज्यते इति निष्कर्षः ।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ।

मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ? ॥१४०॥

यदशक्यं न तच्छक्यं यच्छक्यं शक्यमेव तत् ।

नोदके शकटं याति न च नौर्गच्छति स्थले ॥१४१॥

परच,—महताऽप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।

भार्यासु च विरक्तासु तदन्तं तस्य जीवनम् ॥१४२॥

लघुपतनको ब्रूते,—“श्रुतं मया सर्वं, तथाऽपि मम एतावान्

(१४०) चाणक्यवचनं प्रमाणत्वेनोपन्यस्य दुर्जनसंसर्गस्य सर्वथा परिहर्तव्यत्व-
माह, दुर्जन इति ।—दुर्जनः विद्यया शास्त्रज्ञानेन, अलङ्कृतः भूषितः, सन्नपि भयङ्गापि,
परिहर्तव्यः त्यक्तव्यः, तेन सह न सन्धातव्य इत्यर्थः, तथाहि, सर्पः मणिना शिरःस्थेन
रत्नेन, भूषितः शिरसि अलङ्कृतः, भवति इति शेषः, सर्पविशेषमन्तकी मणिः विद्यते
इत्यर्थः, तथापि असौ मया दृष्टान्तत्वेन उल्लिखितः मणिभूषितसर्प इत्यर्थः, किं भयङ्करः
भयावहः, न ? सर्वथा भयावह एवेत्यर्थः । मणिभूषितत्वात् वह्निःसुदर्शनोऽपि सर्पः
यथा स्नां खलतां कदाऽपि न विजहाति, एवं विद्यावत्त्वादिगुणसङ्गे सत्यपि दुर्जनः
नैसर्गिकदौर्जन्यं विहातुं न शक्नोति, अतः तत्सङ्गः सर्वथा परित्यज्यः इति विशदार्थः ।
दृष्टान्तालङ्कारः ।

(१४१) यदिति ।—यत् अशक्यं सर्वथा साधयितुं न पार्यं, तत् न शक्य-
मेव न केनापि साध्यमेव, यत् शक्यं साध्यं, तत् शक्यमेव सर्वैरपि साधयितुमर्हमेव ;
एवकारः उभयत्रापि अन्वयनीय इति मन्तव्यम् ; तथाहि, उदके जले, शकटं स्थल-
गानविशेषः, न याति, स्थले भूमौ च, नौर्गच्छति न चलति, यतः असम्भवं
कदापि न घटते, अतः त्वया सह मैत्र्यमशक्यमेवेति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ।

(१४२) महताऽपीति ।—यः जनः, महताऽपि गुरुणाऽपि, अर्थसारेण न्याय्य-
प्रयोजनेन हेतुना, गुरुप्रयोजनसाधनार्थमित्यर्थः, प्रभूतबहुमुख्यवस्तुदानेनापीत्यर्थो
वा, भार्यासम्पादितेन गृहसम्प्रादितेन वा महाशक्तप्रयोजनेन कारणेनापीत्यर्थो
वा ; शत्रुषु, विरक्तासु प्रतिशूलचारिणीषु, असाध्वीष्विति यावत्, भार्यासु पत्नीषु च,
विश्वसिति विश्वासं स्थापयति, तस्य जनस्य, जीवनं प्राप्ताः, तदन्तं स विश्वासः अन्तो
यस्य तत् तादृशं, तस्मिन् विश्वासे एव प्रन्तः नाशो यस्य तादृशमिति वा, तद्वत्-
विश्वासादेव तस्य जीवनशेषो भवेदित्यर्थः, शत्रुषु असाध्वीषु पत्नीषु च विश्वासः
अवश्यमेव व्यापन्नक इति फलितम् ।

हि— ६

एव (श) सङ्कल्पः, यत् त्वया सह सौहृद्यमवश्यं करणीयं
नो चेत् अनाहारेण आत्मानं तव द्वारि (ष) व्यापादयिष्या
मवाहि, —मृष्टवत् सुखमेवो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।

सुजनस्तु कनकघटवत् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः ॥१४३॥
किञ्च, —द्रवत्वात् सर्वलौहानां निमित्तात् मृगपक्षिणाम् ।

भयात्तोभाच्च मूर्खाणां सङ्गतं दर्शनात् सताम् ॥१४४॥
किञ्च, —नारिकेलसमाकारा दृश्यन्तेऽपि हि सज्जनाः ।

अन्ये बदरिकाकारा वहिरेव मनोहराः ॥१४५॥

(श) सङ्कल्पः,—निश्चयः ।

(ष) व्यापादयिष्यामि—घातयिष्यामि ।

(१४३) मृष्टवदिति ।—दुर्जनः सदा निर्मिती घटः मृष्टः तद्वत् सुखे
सुखमेवः अतायासेन भेदयितुं शक्यः, दुः दुःखसाध्यं, सन्धानं समि
दुःसन्धानश्च पुनः संयोजनायोग्यश्च, भवति, तु किन्तु, सुजनः कनकघटवत्
निर्मितकुम्भवत्, दुर्भेद्यः दुःखेन भेदयितुं शक्यः, आशु शीघ्रं, सन्धेयः सन्धातुं शक्य
शक्यश्च, भवतीति पूर्वेषामवयवः । मृष्टवत् कुम्भादिकं यथा सामान्याघातेनैव न
शक्यते, अपि तु व्यापारशतैरपि भूयो योजयितुं न शक्यते, तथा दुर्जनो
स्वल्पेनैव हेतुना विविष्टीभूयितुं शक्यते, न पुनरुपायशतैर्योजयितुम् ; किन्तु
कलसः यथा सहसा न भ्रूयितुं शक्यते अपि तु उत्तापेन द्रव्यान्तराणां
सुखेन योजयितुं शक्यते, तद्वत् महानपि, अतः सर्वथा युष्माभिः सहजिः सौ
कर्मव्यमिति भावः ।

(१४४) द्रवत्वादिति ।—सर्वलौहानां सर्वधातूनां, राजतकाश्वा
मित्यर्थः, द्रवत्वात् द्रवीभावात्, मृगपक्षिणां पशुपक्षिणां, निमित्तात् परस्परं सह
दानकारणात्, प्राक्तनसंस्कारविशिष्टात् वा, मूर्खाणां भयात् कक्षाद्विषा
वासात्, तथा तोभात् किञ्चित्प्राप्तिप्रलोभनेन च, सतां साधूनां, दर्शनात् परत
लोकनम्राणादेव, सङ्गतं मिलनं, भवतीति शेषः । साधोर्भवतः दर्शनादेव तत्ता
मैवं विधातुं सम चेत्, अतीव चत्कण्डते, अतो मां मिचत्वेन रुद्राय ।
निष्कार्षः ।

(१४५) नारिकेलीति ।—सज्जनाः हि साधवो हि, नारिकेलसमाना

अत एव सतां सङ्गतिरिच्छते । यतः,—

स्नेहच्छेदेऽपि साधूनां गुणा नायान्ति विक्रियाम् ।

भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुबध्नन्ति तन्तवः ॥१४६॥

अन्यच्च,—शुचित्वं, त्यागिता, श्रौर्यं, सामान्यं सुखदुःखयोः ।

दाक्षिण्यञ्चानुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः ॥१४७॥

एतैर्गुणैः (स) उपेतो भवदन्वो मया कः सुहृत् प्राप्तव्यः ?”

इत्यादि तद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको वह्निर्निःसृत्य आह,—

नारिकेलफलसमानाः, अन्तर्मुधुरकीमला वह्निःकठिना इत्यर्थः, दृश्यन्ते, जनैरिति शेषः ; अन्येऽपि असज्जनास्तु, बदरिकायाः कीलफलस्य, आकार इव आकारः येषां ते तथोक्ताः, अन्तःकठिना असाराय इति भावः, वह्निरेव वाह्ये आकारे एव, अनोदराः शाभनाः, दृश्यन्ते इति पूर्वेषामन्वयः । नारिकेलफलानि यथा अन्तर्द्रव-मुधुराणि वह्निःकठिनानि भवन्ति, तद्वत् सज्जना वह्निःकठिनाः किन्तु अन्तःकीमला मुधुरस्यभावाय भवन्ति ; असज्जनास्तु कीलफलवत् वह्निःसुदृशा अन्तःसारशून्या कठिनप्रकृतयश्च भवन्तीति निष्कर्षः ।

(१४६) स्नेहेति ।—स्नेहस्य प्रणयस्य, छेदेऽपि कदाचित् भङ्गेऽपि, साधूनां सज्जनानां, गुणाः दाक्षिण्यादयः, विक्रियां विक्रति, न आयान्ति न प्राप्नुवन्ति, कारणवशात् प्रणयभङ्गेऽपि साधवः नासद्व्यवहारं कुर्वन्तीत्यर्थः ; हि तथाहि, मृणालानां पद्मनालानां, तन्तवः सूत्राणि, भङ्गे मृणाले हिषा खण्डिते अपि, (“भङ्गेनापि” इति पाठेऽपि स एवार्थः) अनुबध्नन्ति परस्परसंश्लिष्टा एव तिष्ठन्ति इत्यर्थः । भग्नमृणालान्तःस्थसूत्राणि यथा तेन सर्वथा न विच्छिन्नीभवन्ति, एवं प्रणयिनं प्रति विरक्ता अपि साधवः तस्मिन् सर्वथा न विमुखीभवन्तीति निष्कर्षः ।

(१४७) शुचित्वमिति ।—शुचित्वं पवित्रता, अज्ञानमन्त्रमित्यर्थः, त्यागिता दानशोभता, श्रौर्यं साहसिकता, सुखदुःखयोः सम्पदि आपदि च, सामान्यं तुल्य-भावः, समसुखदुःखभागितेत्यर्थः, मित्रस्य सुखे सुखानुभवः दुःखे च दुःखानुभव इति यावत्, दाक्षिण्यम् अनुकूलता च, आनुरक्तिः आसङ्गश्च, सत्यता सत्यवादित्वञ्च, एते सप्तविधाः सुहृदः अज्ञानमित्रवत्स्य, गुणाः धर्माः ; ईदृग्गुणवन्त एव मित्राह्वाः भवन्तीत्यर्थः । कामन्दकनीतो एष एव श्लोकः किञ्चिदन्यथाकारतया दृश्यते ।

(स) उपेतः,—अन्वितः । भवदन्वः,—भवतः अन्यः, [पञ्चमीतत्पुरुषः] ।

(ह) “आप्यायितोऽहं भवतामनेन (क) वचनामृतेन । यतः—

चोक्तम्,—

धर्मात् न तथा सुशीतलजलैः स्नानं न मुक्तावली परस्व,

न श्रीखण्डविलेपनं सुखयति प्रत्यङ्गमप्यर्पितम् ।

प्रीत्यै सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः

सद्युक्त्या च परिष्कृतं सुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम् ॥१॥

अन्यथा,—रहस्यभेदो याज्या च नैष्ठुर्यं चलचित्तता ।

क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम् ॥१४८॥

(ख) अनेन वचनक्रमेण तत् (ग) एकदूषणमपि त्वयि न लक्ष्यते ।

(ह) आप्यायितः,—प्रीणितः इत्यर्थः, भवन्निरिति शेषः ।

(क) वचनामृतेन—अमृतवत् मधुरेण श्रोत्रतर्पणेन च वचनेन ।

(१४८) धर्मात्तमिति ।—सद्युक्त्या उत्तमदृष्टान्तेन, परिष्कृतं स्फुटाद्ये-
पूतमिति वा, च तथा, सुकृतिनां पुण्यशौलानाम्, आकृष्टिराकर्षणं, तदर्थं न-
उपमा यस्य तत् वशीकरणमन्त्रसदृशं, सज्जनभाषितं महाजनोक्तिः, यथा श-
चेतसः चित्तस्य, प्रीत्यै सन्तोषाय, प्रायः भुक्त्वा, प्रभवति समर्थो भवति, सन्तोष-
यतीत्यर्थः, धर्मात्तं योऽप्यपतापितं, जनं, सुशीतलजलैः नितरां शीतलवारिमिः, न-
अभिषेकः, न, मुक्तावली मुक्तादाम्, न, अङ्गे अङ्गे प्रत्यङ्गं [वीष्मार्थेऽन्यथोक्त-
सर्वाङ्गे, अर्पितं प्रदत्तं, श्रीखण्डविलेपनं चन्दनानुलेपनमपि, [कर्तुं] तथा तादृ-
सुखयति न शीतलयति । सद्युक्तिपूर्णे साधुवाक्यं यथा चेतसः सुखदं न-
सुशीतलजलेन स्नानं, मणिमुक्तादिधारणं चन्दनादिशीतलद्रव्यानुलेपनस्य यो-
सन्तमं तथा सुखयितुं नालमिति विशदोऽर्थः । व्यतिरेकः । शार्दूलविक्रीडितं न-
(१४९) रहस्यभेद इति ।—रहस्यस्य गुप्तमन्त्रणस्य, भेदः अन्यसन्निधौ प्र-
शनं, याज्या घनादीनां प्राथना, नैष्ठुर्यं निर्दयता, चलचित्तता अव्यवस्थितचित्त-
क्रोधः क्रोधः, निःसत्यता मिथ्यावादित्वं, द्यूतम् अचक्रोडा च, एतत् पूर्वोक्तं न-
मित्रस्य मित्रभावस्य इत्यर्थः, मित्रतास्थापनस्य इति यावत्, दूषणं दोषकरं, प्री-
त्यर्थकमित्यर्थः; एतद्दोषदूषितेन जनेन सह मित्रता न कर्तव्येति भावः ।

(ख) अनेन वचनक्रमेण—उक्तश्लोके उक्तेन ।

(ग) एकदूषणमपि—रहस्यभेदादीनां मध्ये एकोऽपि दोषः ।

यतः,—पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते ।

अस्त्यत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणावगम्यते ॥ १५० ॥

परच,—अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत् स्वच्छान्तरात्मनः ।

प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाब्दोपहतचेतसः ॥ १५१ ॥

मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम् ।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम् ॥ १५२ ॥

तद्भवतु भवतः (घ) अभिमतमेव” इत्युक्त्वा हिरण्यको

(१५०) पटुत्वमिति ।—पटुत्वं दृढता, सत्यवादित्वं सत्यपरायणता, तवेति

शेषः, कथायोगेन वाक्यप्रसङ्गात्, बुध्यते ज्ञायते, भवान् वाक्पटुः सत्यवादी च
एतत् तव वाक्यश्रवणेनैव अनुमीयते इत्यर्थः, अस्त्यत्वम् अजायम्, उत्साहित-
मित्यर्थः, अहङ्कारादित्यं वा, अचापल्यं धीरत्वं, प्रत्यक्षेण साक्षादेव, अवगम्यते
ज्ञायते, बुध्यते इत्यर्थः, नयेति शेषः । श्लोकोऽयं कामन्दकनीतेः ४४९० गुणपरीक्षा-
क्रमोक्तं “गुणद्वयं परीक्षेत प्रागल्भ्यं प्रतिभां तथा । कथायोगेन बुध्येत वाग्विलं सत्य-
वादिताम् ॥ अस्त्यत्वमचापल्यं वैराणां चापि कर्तुंताम् । प्रत्यक्षतो विजानीयात्
भद्रतां क्षुद्रतामपि ॥” इति श्लोकद्वयमवलम्ब्य रचितः ग्रन्थकथा इति ।

(१५१) अन्यथैवेति ।—स्वच्छः निर्मलः, कापट्यग्रन्थ इति यावत्, अन्तरात्मा

मनो यस्य तस्य सरलान्तःकरणस्य, सौहार्दं मित्रता, अन्यथैव अन्यप्रकारमेव, अनि-
र्वचनीयस्वरूपमेव इत्यर्थः, भवेत्, हि इति पूरणाद्यं कर्मण्यन्यम् । शाब्देन शठतया,
उपहतं दूषितं, चेतो यस्य तस्य खलस्त्वैत्यर्थः, वाणी वाक्यम्, अन्यथा अन्यप्रकारा,
असत्यत्वात् वक्तुमनसा इति भावः ; प्रवर्तते निःसरति, शठस्य तु वचसि एकं मनसि
तद्विपरीतमित्यर्थः ।

(१५२) मनसीति ।—दुरात्मनां खलानां, मनसि हृदये, अन्यत् अन्यप्रकारं,

वचसि वाक्ये, अन्यत् तदन्वया, कर्मणि कार्ये च, अन्यत् वाक्मनसयोर्विपरीतम्
इति भावः ; महात्मनान् मनसि एकम् एकविधं, न द्वेषभाव इत्यर्थः, वचसि
वाक्ये, एकं, कर्मणि कार्ये च, एकं, दुरात्मानः मनसि यच्चिन्तयन्ति, वाक्ये तस्य
वैपरीत्यं प्रकटयन्ति, कार्ये पुनस्तस्याप्यन्यथा आचरन्ति, महात्मानस्तु यथा चिन्तयन्ति,
तथा वदन्ति आचरन्ति च, वाक्मनःकर्मसु कदाऽपि न तेषां वैपरीत्यं लक्ष्यते इत्यर्थः ।

(घ) अभिमतं—मया सह मैत्रीकरणरूपम् अभिप्रेतम् ।

(ङ) मैत्रं विधाय भोजनविशेषैर्वायसं सन्तोष्य विवरं प्रति
वायसोऽपि स्वस्थानं गतः । ततः प्रभृति तयोः (च) न
न्याहारप्रदानेन कुशलप्रश्नैः (छ) विश्वभालापैश्च कियत्क
ऽतिवर्त्तते । *

एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह,—“सखे ! वाय
(ज) कष्टलभ्याहारमिदं स्थानं, तदेतत् परित्यज्य स्थान
गन्तुमिच्छामि” । हिरण्यको ब्रूते,—

“स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते दन्ताः केशाः नखा नराः ।

इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत्” ॥१॥

काको ब्रूते,—“मित्र ! (झ) कापुरुषस्य वचनमेतत् ।

(ङ) मैत्रमिति ।—मित्रस्य भावः मैत्रं—सख्यम् । “विपूर्वो धा कं
अभिपूर्वस्तु भाषणे” इत्युक्तेः विधाय—कृत्वेत्यर्थः, सग्रेससम्भाषणादिभिरिति शेषः ।

(च) अन्योऽन्याहारप्रदानेन—अन्योऽन्यस्मै आहारप्रदानं तेन, परस्पर
दानकर्मणा ।

(छ) विश्वभालापैः,—विश्वेभ्य आलापासुः विश्वम्भपूर्णा आलापा इ
तैः विश्वासपूर्णेः प्रणयगर्भैर्वा आलापैः ।

* लघुपतनकः प्रातरुत्थायैव भौषणाकृतिं व्याचं दृष्ट्वा अमङ्गलपतन
व्याकुलचित्तोऽभूत् ; इदानीन्तु हिरण्यकं मित्रं लब्ध्वा स्वस्थः सञ्जातः । त
“अनिटादपि इष्टलाभः भवति” इति न्यायः सम्यक् प्रतिपन्नः ।

(ज) कष्टलभ्याहारं—कष्टेन कष्टेण, लभ्यः प्राप्तुं शक्यः, आहारो ह
तत्, दुष्प्राप्याहारम् ।

(१५३) शुक्रनीत्युक्तवचनमवलम्ब्य वायसस्य स्थानत्यागसङ्कल्पे स्वसत्त
स्थानभ्रष्टा इति ।—दन्ताः दशनानि, केशाः कचाः, नखाः कररुहाः, नरा मनु
स्थानभ्रष्टाः स्थानविच्युताः, परित्यक्तस्वस्मोचितनिवेशा इत्यर्थः, सन्तः, न प्रो
न संराजन्ते, स्वस्थानच्युताः न स्वकार्यसाधनेऽलं भवन्ति इत्यर्थः, मतिमान् बुद्धि
जनः, इति एतत्, विज्ञाय विविच्य, स्वस्थानं स्वकीयं वासस्थानं, न परित्यजेत् इति
अन्यत्र न गच्छेत् ।

(झ) कापुरुषस्य—पौरुषहीनस्य, अचमस्येत्यर्थः ।

यतः,—स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः सत्पुरुषा गजाः ।

तत्रैव निधनं यान्ति काकाः कापुरुषा मृगाः ॥ १५४ ॥

अन्यच्च,—को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः को वा विदेशः स्मृतः ?

यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापार्जितम् ।

यद्दंष्ट्रानखलाङ्गुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते

तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैः दृष्ट्वां छिनत्त्यात्मनः” ॥ १५५ ॥

हिरण्यको ब्रूते,—“मित्र ! क्व गन्तव्यम् ? तथा चोक्तम्,—

चलत्येकेन पादेन तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान् ।

नासमोक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्” ॥ १५६ ॥

(१५४) स्थानमिति ।—सिंहाः मृगेन्द्राः, सत्पुरुषाः सुजनाः, महान्तः इत्यर्थः, तथा गजाः करिणः, स्थानम् उत्सृज्य त्यक्त्वा, गच्छन्ति अन्यत्र यान्ति, स्थानान्तरं गत्वेव ते जीविकामर्जयन्ति इत्यर्थः, किन्तु काकाः वायसाः, कापुरुषाः पौरुषहीना जनाः, मृगाः शशकादयश्च, तत्रैव स्वस्ववासभूमावेव, निधनं विनाशं, यान्ति गच्छन्ति, जीविकोपायाभावेऽपि न तु स्थानान्तरं गच्छन्ति तत्रैव म्रियन्ते इति निष्कर्षः ।

(१५५) क इति ।—मनस्विनः प्रशस्तचेतसः, वीरस्य शूरस्य, स्वविषयः स्वदेशः, कः ? विदेशो वा कः ? स्मृतः कथितः, स्वदेशविदेशभेदभावोऽस्य नास्त्वित्यर्थः, स हि वीरः यं देशं श्रयते आलम्बते, तमेव देशं, बाहुप्रतापार्जितं भुजबलीन स्वाधिकृतं, कुरुते ; दंष्ट्राः दन्ताः, नखाः लाङ्गुलं बालधिः, [अत्र दीर्घोकारवतः लाङ्गूलशब्दस्य “लाङ्गुल” इति ऋसत्वेन प्रयोगः शिष्टप्रयोगानुरोधात् कन्दोऽनुरोधाद्वा समर्थनीयः] तान्येव प्रहरणानि प्रहारसाधनानि अस्त्रभूतानि यस्य सः ; सिंहः यदेव वनं गाहते प्रविशति, तस्मिन्नेव वने, हताः व्यापादिताः, ये द्विपेन्द्रा इक्षिनः, तेषां रुधिरैः शोणितैः, आत्मनः दृष्ट्वां पिपासां, छिनत्ति निवारयति ; विक्रान्तः स्वदेशे विदेशे च सममेव शोभते इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

(१५६) स्थानान्तरगमनविषये ब्रह्मचाणक्यमतमाह, चलतीति ।—बुद्धिमान् जनः, एकेन पादेन चलति गच्छति, तथा एकेन अन्येनैकेनेत्यर्थः, पादेन तिष्ठति गमनात् विरतो भवति, एकदा पदद्वयमुत्थाप्य न चलतीत्यर्थः, न सर्वथा स्वस्थानं विहाय गच्छतीति भावः ; परं स्थानम् अपरं देशम्, असमोक्ष्य सविशेषमदृश, तत्सोत्कर्षापकर्षम् अनिश्चित्य इत्यर्थः, पूर्वं प्रागधिष्ठितम्, आयतनं स्थानं, न

वायसो ब्रूते,—“मित्र ! अस्ति (ज) सुनिरूपितं स्थानम्”
 हिरण्यकोऽवदत्—(ट) “किं तत् ?” वायसः कथयति,—“अपि
 (ठ) दण्डकारण्ये कर्पूरगौराभिधानं सरः, तत्र (ड) चिरकालो
 पार्जितः प्रियसुहृन्ने (ढ) मन्यराभिधानः कूर्मः (ण) सहज
 धार्मिकः प्रतिवसति । पश्य मित्र !—

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।

धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः ॥१५७॥

स च भोजनविशेषैर्मां (त) संवर्द्धयिष्यति” । हिरण्यको
 ऽप्याह,—“तत् किमत्रावस्थाय मया कर्तव्यम् ?

त्यजेत् न परिहरेत् । गन्तव्यं स्थानं सर्वथा सुखकरं भविष्यति न वा इति स्या
 चनालोच्य न पूर्वस्थानं प्राप्तेन परित्यक्तव्यमिति फलितम् ।

(ज) सुनिरूपितं—विशेषेण निश्चितम् ।

(ट) किं तत् ?—तत् स्थानं, किं कीदृशं किमाख्यं वा ।

(ठ) दण्डकारण्ये—जनस्थानः पराख्ये दाक्षिणात्यस्थे वने । पुरा दक्षीण
 ऐस्लाको राजा दैत्यगुरोः शुक्राचार्यस्य कन्यां बलात्कारेण अधर्षयत्, ततः कुपित
 वशिष्ठश्रापेन समुत्पन्नबलवाहनः स विनष्टोऽभूत् रान्यच्च तस्य अरण्यत्वेन पर्यवर्तते
 इत्यतस्तत् दण्डकारण्यमित्यभिधीयते इति रामायणी वार्त्ता ।

(ड) चिरकालोपार्जितः,—बहुकाललब्धः, चिरपरिचित इत्यर्थः ।

(ढ) मन्यराभिधानः,—मन्यरनामा ।

(ण) सहजधार्मिकः,—प्रकृत्या धर्मपरायणः ।

(१५७) ब्रह्मचार्यकवचनं प्रमाणीकृत्य अकपटधार्मिकस्य विरलत्वमा
 परेति ।—परोपदेशे परस्मै परस्य वा उपदेशदाने, सर्वेषां निखिलानामेव, न
 मराणां, पाण्डित्यं विदग्धता, सुकरं सुलभं, भवतीति शेषः, तु किन्तु, न
 धर्मविषये, स्वीयं स्वीयम्, अनुष्ठानम् आचरणम्, अकपटतया धर्माचरणमित्यर्थः
 कस्यचित् बहुषु एकस्यैव, महात्मनः, दृश्यते इति शेषः । धर्मोपदेशारः बहवः सन्ति
 परन्तु धर्मानुष्ठानपरायणा विरला एव, कूर्मोऽयमानुष्ठानिको धार्मिक इति
 दात्यर्थम् ।

(त) संवर्द्धयिष्यति—आप्यावयिष्यते ।

यतः,—यस्मिन् देशे न सम्मानो न वृत्तिर्न च बान्धवः ।

न च विद्याऽऽगमः कश्चित् तं देशं परिवर्जयेत् ॥ १५८ ॥

अपरञ्च,—धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पञ्चमः ।

पञ्च यत्र न विद्यन्ते तत्र वासं न कारयेत् ॥ १५९ ॥

अपरञ्च,—लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।

पञ्च यत्र न विद्यन्ते न कुर्यात् तत्र संस्थितिम् ॥ १६० ॥

अन्यञ्च,—तत्र मित्र ! न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम् ।

ऋणदाता च वैद्यश्च श्रोत्रियः सजला नदी ॥ १६१ ॥

अतो मामपि तत्र नय" । वायसोऽवदत्—“एवमस्तु” ।

(१५८) द्विरण्यकः स्वस्यापि स्थानपरित्यागं समर्थयितुं हृद्वाचक्यमतमुपन्यस्य श्लोकचतुष्टयेन अवसात्यदेशमाह, यस्मिन्निति ।—यस्मिन् देशे सम्मानः समादरः, न, विद्यते इति शेषः, वृत्तिः जीविका, जीवनीपायः, इत्यर्थः, (“आजीवो जीविका वाचां हृत्तिर्वर्त्तनजीवने” इत्यमरः) न, अस्ति इति शेषः, बान्धवः आत्मीयः, न नास्ति, कश्चित् कोऽपि, विद्याऽऽगमश्च विद्याऽर्जनोपायश्च, न, विद्यते इति शेषः, तं देशं परिवर्जयेत् परित्यजेत्, अतो बान्धवशून्येऽस्मिन् मयाऽपि न स्थातव्यमित्याशयः ।

(१५९) धनिक इति ।—धनिकः धनवान्, श्रोत्रियः [छन्दस् + चः]—“एकांशाखां सकलां वा षड्भिरङ्गैरधीत्य च । षट्कम्यनिरतो विप्रः श्रोत्रियो नाम धर्मवित् ॥” इत्युक्तलक्षणः वेदज्ञः, राजा सूपतिः, नदी, पञ्चमः वैद्यः चिकित्सकश्च ; एते पञ्च यत्र देशे, न विद्यन्ते तत्र देशे, वासं संस्थितिं, न कारयेत् न कुर्यात् । [स्वार्थे णिच्] कस्याचित् आपदि समुपस्थितायां तत्प्रतीकारासामर्थ्यादिति भावः ।

(१६०) लोकेति ।—लोकयात्रा जीविकानिर्वाहीपायः, भयं शासनभीतिः, लज्जा तपा, अकार्यं कृत्वाऽपीति भावः, दाक्षिण्यम् उदारता, अनुकूलकारिता इत्यर्थः, त्यागशीलता दाढत्वञ्च, एते पञ्च यत्र देशे, न विद्यन्ते तत्र देशे, संस्थितिम् अवस्थानं, न कुर्यात् ।

(१६१) तथेति ।—हे मित्र ! यत्र चतुष्टयं [चत्वारः अवयवा इति तद्यत्] एते चत्वारः, नास्ति न विद्यते, तत्र न वस्तव्यं न अवस्थातव्यम् । किं तत् चतुष्टयम् ? तदाह,—ऋणदाता उत्तमार्थः, वैद्यः चिकित्सकश्च, श्रोत्रियः वेदज्ञः, सजला नदी च इति ।

अथ वायसस्तेन मित्रेण सह (थ) विचित्रालापैः सुखेन तत्
सरसः समौषं ययौ । ततो मन्थरो दूरादेव लघुपतनक
अवलोक्य उत्थाय यथोचितम् (द) आतिथ्यं विधाय मूर्ध्नि
स्याप्यतिथिसत्कारं चकार । यतः,—

गुरुरग्निर्द्विजातीनां वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।

पतिरेको गुरुः स्त्रीणां सर्वत्राभ्यागतो गुरुः ॥ १६२ ॥

अपरश्च,—उत्तमस्यापि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।

पूजनौयो यथायोग्यं सर्वदेवमयोऽतिथिः ॥ १६३ ॥

वायसोऽवदत्,—“सखे मन्थर ! (ध) सविशेषपूजाम्
(न) विधेहि, यतोऽयं पुण्यकर्मणां (प) धुरीणः (फ) कारुण्य

(ध) विचित्रालापैः,—विचित्राः बहुविधाः, आलापाः भाषणानि तैः ।

(द) आतिथ्यम्—अतिथिसत्कारम् ।

(१६२) अभ्यागतत्वात् सुद्रमूषिकस्यापि अतिथिसपर्याप्तत्वे वृद्धचाणक्य
मुपन्यसति, गुरुरिति ।—अग्निः बह्विः, द्विजातीनां ब्राह्मणचन्द्रियवैश्यानां सर्वेषां,
पूजनौयः, ब्राह्मणः वर्णानां ब्राह्मणचन्द्रियवैश्यानां चतुर्णां, गुरुः पूजनीयः,
स्त्रीणां नारीणां, पतिर्भर्ता, एकः मुख्यः अद्वितीयः वा, गुरुः पुण्यः, सेवनीयः इति
सर्वत्र सर्वान् स्थाने, आश्रमचतुष्टये एवेत्यर्थः, (“सर्वस्य” इति पाठान्तरम्); स
गतः अतिथिः, गुरुः सर्वेषामेव गुरुवत् सेव्यः, सत्कारार्ह इति यावत्, भवतीति श्रेयः

(१६३) उत्तमस्येति ।—उत्तमस्य सर्वश्रेष्ठस्यापि, वर्णस्य ब्राह्मणादीनां च
मेकतमस्येत्यर्थः, गृहम् आगतः अतिथिभावेन गृहे उपस्थितः, नीचः हीन
चण्डालोऽपि, का कथा उत्तमानामित्यपेक्षः, यथायोग्यं यथोचितं, पूजनीयं
सत्कर्तव्यं, यतः अतिथिः सर्वदेवमयः सर्वदेवस्वरूपः, सर्वेषां देवानां पूजनेन
फलं लभ्यते अतिथिसत्कारेणापि तदेव लभ्यते इति भावः ।

(ध) सविशेषपूजा—विशेषेण सह वर्त्तमाना सविशेषा तथाविधा
अर्चना तां सम्यक् समादरमित्यर्थः, अनन्यसाधारणसत्कारम् इति यावत् ।

(न) विधेहि—कुरु [वि + धा + लोट्-हि] ।

(प) धुरीणः,—अग्रगण्यः । [धुरं वहतीति धुरः] ।

(फ) कारुण्यरत्नाकरः,—करुणैव कारुण्यं [साधे च्यञ्] तस्य रत्ना
समुद्रः दयासागरः, प्रभूतस्य कारुण्यसाधार इत्यर्थः ।

रत्नाकरो हिरण्यकनामा मूर्षिकराजः । एतस्य (ब) गुणस्तुतिं
(भ) जिह्वासहस्रद्वयेनापि यदि (म) सर्पराजः कदाचित् कर्तुं
समर्थः स्यात्” इत्युक्त्वा चित्रग्रीवोपाख्यानं वर्णितवान् । ततो
अन्यरः सादरं हिरण्यकं सम्पूज्याऽऽह,—“भद्र ! आत्मनो
(य) निर्जनवनागमनकारणम् (र) आख्यातुमर्हसि ।”
हिरण्यकोऽवदत्—“कथयामि श्रूयताम् ।—

चूडाकर्ण-वीणाकर्षणनामक-परिव्राजककथा ।—

“अस्ति चम्पकाभिधानायां नगर्यां (ल) परिव्राजकावसथः ।
तत्र चूडाकर्णो नाम परिव्राजकः प्रतिवसति । स च
(व) भोजनावशिष्टमिच्छान्नसहितं (श) मिच्छापात्रं (घ) नाग-
दन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति, अहञ्च तदन्नम् (स) उत्प्लुत्य उत्प्लुत्य
प्रत्यहं भक्षयामि ।

(ब) गुणस्तुतिं—गुणव्याख्यानम् ।

(भ) जिह्वासहस्रद्वयेनापि—द्विसहस्ररसनाभिरपि ; सर्पराजो यदि कदा-
चित् द्विसहस्ररसना लभेत, तदा अस्य गुणान् वर्णयितुं शक्नोति इति सम्भावयामि,
न तु सहस्ररसनाभिरिति भावः । “जिह्वासहस्रेण” इति पाठान्तरम् ।

(म) सर्पराजः,—अनन्तः, वासुकिर्वा ।

(य) निर्जनवनागमनकारणं—निर्नांश्च क्वानो यस्मिन् तच्च वनञ्चेति तस्मिन्
आगमनं तस्य कारणं हेतुम् ।

(र) आख्यातुम्—अभिधातुं, वर्णयितुमिति यावत् ।

(ल) परिव्राजकावसथः,—परिव्राजकानां पथ्याटकानां, मिच्छामिषां
अव्यासिनामित्यर्थः, आवासथः आवासः ।

(व) भोजनावशिष्टमिच्छान्नसहितं—भोजनेभ्यः अवशिष्टम् उद्धृतं, मिच्छया
लब्धं यत् अन्नं तण्डुलादिभक्ष्यद्रव्यं, तेन सहितम् ।

(श) मिच्छापात्रं—मिच्छार्थं पात्रं मिच्छाकरङ्गमित्यर्थः ।

(घ) नागदन्तके—मृहमिश्रौ प्रायिते राजदन्ताकारदारुसम्यदखविशेषे ।

(“नागदन्तो द्विपरदे मृहाद्विर्गतदारुणि” इति मेदिनी) ।

(स) उत्प्लुत्य—चप्लुत्य, उपप्लुक्तेन कर्षमुल्याय इत्यर्थः । [अत्र वीणार्थे द्वित्वम्] ।

अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद् वीणाकर्णो नाम परिव्राजकः
समायातः । तेन सह (ह) नानाकथाप्रसङ्गावस्थितो मम वाक्पा-
जर्जरवंशखण्डेन चूडाकर्णो भूमिमताडयत् । तं तथापि
दृष्ट्वा वीणाकर्ण उवाच,—“सखे ! (क) किमिति म-
कथाविरक्तः (ख) अन्यासक्तो भवान् ? यतः,—

मुखं प्रसन्नं विमला च दृष्टिः

कथाऽनुरागो मधुरा च वाणी ।

स्नेहोऽधकः सम्भ्रमदर्शनञ्च

सदाऽनुरक्तस्य जनस्य लक्ष्म ॥१६४॥

अदृष्टिदानं कृतपूर्वनाशनम्

अमाननं दुश्चरितानुकीर्तनम् ।

(ह) नानाकथाप्रसङ्गावस्थितः,—नाना बहुविधाः, कथाः आख्यायाः, त-
प्रसङ्गः अवतारणं, तस्मिन् अवस्थितः आसक्तः, अपीत शेषः ।

(क) किमिति—प्रश्नाद्यर्थकमित्यर्थः, कथमित्यर्थः ।

(ख) अन्यासक्तः,—अन्यस्मिन् विषये आसक्तः अनुरक्तः, निविष्टचित्तः ।
यावत् ।

(१६४) मुखमिति ।—मुखं वदनं, मुखकान्तिः इत्यर्थः, प्रसन्नं प्रफुल्लं, हर्ष-
मित्यर्थः, दृष्टिः दर्शनं, विमला प्रसन्ना, प्रीतिव्यञ्जिका इत्यर्थः, कथायां वाक्पा-
जर्जरवंशः आग्रहः, औत्सुक्यप्रदर्शनमित्यर्थः, वाणी वाक् च, मधुरा मनोहरा, यति-
महान्, स्नेहः प्रणयः, सम्भ्रमदर्शनं पुनः पुनः सादरावलोकनञ्च ; एतत् सर्वं सदा-
रक्तस्य अतीवप्रणयासक्तस्य, जनस्य, लक्ष्म चिह्नं, भवतीति शेषः । (“लक्ष्म” इ-
कचित् “चिह्नम्” इति क्वचित् “लक्ष्यम्” इति पाठान्तरं दृश्यते । तत्र ह-
लक्षयितव्यं, मुखस्य प्रसन्नतादिकमिति शेषः) । उपजातिः वृत्तम् ।

(१६५) अदृष्टिदानमिति ।—अदृष्टिदानं दृष्टिपाताभावः, (“अदृष्टिदा-
इति पाठे—असन्तोषप्रदानं, विरक्तिः इत्यर्थः, अतुष्ट्या असन्तोषेण सह, दानं वि-
दपणमिति वा,) पूर्वं कृतं कृतपूर्वं तस्य नाशनं विलोपः, पूर्वकृतस्य उपकार-
प्रसूतीकरणम्, अमाननम् अवमाननं, दुश्चरितस्य असदाचरणस्य, अनुकीर्तनं वर्णनं

कथाप्रसङ्गेन च नामविष्मृति-

विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम् ॥ १६५ ॥

चूडाकर्णेन उक्तं,—“मित्र ! नाहं विरक्तः, किन्तु पश्य, अयं मूषिको ममापकारी सदा पात्रस्थं भिक्षान्नमुत्प्लुत्य भक्षयति ।”

वीणाकर्णो नामदन्तमवलोक्याऽऽह,—“कथम् अयं मूषिकः स्वल्पबलोऽप्येतावद्दूरमुत्पतति ? तदत्र केनापि कारणेन भवितव्यम् । तथा चोक्तम्,—*

अकस्मात् युवती वृद्धं केशेष्वाल्प्य चुम्बति ।

पतिं निर्दयमालिङ्ग्य हेतुरत्र भविष्यति” ॥ १६६ ॥

चूडाकर्णः पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । वीणाकर्णः कथयति ।—

वृद्धवर्णिन्दप्यतीकथा ।—

“अस्ति (ग) गौडीये कौशाब्धौ नाम नगरी । तस्यां चन्दन-
दासी नाम वणिक् महाधनो निवसति । तेन च (घ) पश्चिमे
वयसि वर्त्तमानेन (ङ) कामाधिष्ठितचेतसा (च) धनद्वर्पात्

अन्यसन्निधौ केवलं दोषख्यापनमिति यावत्, कथाप्रसङ्गेन प्रसङ्गागतकथायां, विषयान्तरालोचनायां तद्विषयकोत्तौ इत्यर्थः, नामविष्मृतिः नासविचारणश्च, एतत् सर्वं विरक्तभावस्य अनुरक्तस्य, जनस्य लक्षणं चित्रं, जानीयादिति शेषः । वंशस्थविषं वृत्तम् ।

* वक्ष्यमाणात् “अकस्मात्” इत्यादि श्लोकादारभ्य सम्पूर्णा वृद्धवर्णिन्दप्यतीकथा अश्लीलतया सुकुमारमतीनां छात्राणां पठनार्हा ।

(१६६) अकस्मादिति ।—युवती काचित् तरुणी, अकस्मात् स्वतर्कितं यथा तथा, वृद्धं पतिं भर्तारं, केशेषु आलप्य आलिङ्ग्य, भ्रूत्वा इत्यर्थः, निर्दयं गादन्न, आलिङ्ग्य आलिङ्ग्य, चुम्बति, अथ अस्मिन् चुम्बने, हेतुः किमपि कारणं, भविष्यति ।

(ग) गौडीये—गौडदेशे, वङ्गे इति यावत् ।

(घ) पश्चिमे—चरमे, वाङ्के इत्यर्थः ।

(ङ) कामाधिष्ठितचेतसा—कामेन अधिष्ठितम् आक्रान्तं, चेतो यस्य तेन अद्वयपरतन्त्रेण ।

(च) धनद्वर्पात्—व्ययगवां, प्रदत्ताभिमाणा इति यावत् ।

हि—७

लोलावतो नाम बणिकपुत्री परिणीता । सा च (छ) मकरकेतो
विजयवैजयन्तीव यौवनवतो बभूव, स च वृद्धपतिस्तस्य
सन्तोषाय नाभवत् । यतः,—

शशिनौव हिमार्त्तानां घर्मात्तानां रवाविव ।

मनो न रमते स्त्रीणां जराजीर्णेन्द्रिये पतौ ॥ १६७ ॥

अन्यच्च,—पलितेष्वपि दृष्टेषु पुंसः का नाम कामिता ? ।

भैषज्यमिव मन्यन्ते यदन्यमनसः स्त्रियः ॥ १६८ ॥

स च वृद्धपतिस्तस्याम् अतीवानुरागवान् । यतः,—

धनाशा जीविताशा च गुर्वी प्राणभृतां सदा ।

वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ १६९ ॥

(छ) मकरकेतोर्विजयवैजयन्तीव—मकरकेतोः कन्दर्पस्य, विजयवैजयन्तीव—विजयपताकेव ; अनया हि कन्दर्पः कामिषु विजयं सूचयन्नास्ते इति भावः ।

(१६७) शशिनौति ।—हिमार्त्तानां शीतपीडितानां, शशनि चन्द्रे ॥ घर्मात्तानां यौषत्पापितानां, रवौ सूर्ये इव, स्त्रीणां नारीणां, जरया वार्षकं विशेषेण, जीर्णेन्द्रिये शिथिलितेन्द्रिये, पतौ भर्त्तरि, मनश्चेतः, न रमते न हर्षा नानुरक्तं भवतीत्यर्थः, स्त्रियो हि यूनि एव मन्यन्ते इति निष्कर्षः ।

(१६८) पलितेष्विति ।—पलितेषु वार्षकसुलभश्लेष्षु केशेषु, दृष्टेषु अवलीकितं सत्स्वपि, पलितदर्शनमात्रमेवेत्यर्थः, पुंसः पुरुषस्य, कामिता कामुकत्वं, कामिं सहवासदिद्रुपविषयभोगवासना इति यावत्, का नाम ? वार्षके रमणीयणी मिलाषो न सम्भावनीय एव इत्यर्थः, यत् यस्मात्, अन्यस्मिन् पुरुषे मनी वासां तथोक्ताः, तरुणपुरुषासक्तचित्ताः इति भावः, स्त्रियः, वृद्धपतिमिति शेषः, भैषज्यदुःखसेव्यम् औषधमिव, मन्यन्ते जानन्ति, न तस्मिन्ननुरागवत्यो भवन्तीत्यर्थः ।

(१६९) धनाशेति ।—प्राणभृतां प्राणिनां, धनाशा अर्थाभिलाषः, जीविता प्राणधारणवासना च, सदा सर्वदा, गुर्वी महती, भवति इति शेषः, किन्तु वृद्धजरायुस्तस्य पुरुषस्य, तरुणी युवती, भार्या पत्नी, प्राणेभ्यः जीवितादापि, ("पुंसि सुखं सदा प्राणस्यैवम्" इत्यमरवचनात् प्राणशब्दो नित्यवहुवचनान्तो मन्तव्यः) गरीयसी प्रशस्यतरा, प्राणेभ्योऽप्यधिकेत्यर्थः, भवतीति शेषः । धनवाहुल्यं मेऽस्तु दीर्घजीवनं सदा इत्येवं लोकाः काङ्क्षन्ति, वृद्धास्तु तरुणो पत्नीं ताभ्यामप्याधिक मन्यन्ते इति निष्कर्षः ।

अपि च,—नोपभोक्तुं न च त्यक्तुं शक्नोति विषयान् जरी ।

अस्थि निर्दशनः श्वैव जिह्वया लेदि केवलम् ॥ १७० ॥

अथ सा लीलावतौ यौवनदर्पात् (ज) अतिक्रान्तकुलमर्यादा
केनापि वणिक्पुत्रेण सह अनुरागवती बभूव । यतः,—

स्नातन्त्रा पितृमन्दिरे निवसतिर्यात्रोत्सवे सङ्गतिः

गोष्ठौ पूरुषसन्निधावनियमो वासो विदेशे तथा ।

संसर्गः सह पुंश्चलीभिरसक्तद्वन्द्वतेर्निजायाः क्षतिः

पत्युर्वार्द्धकमौर्ध्वितं प्रवसनं नाशस्य हेतुः स्त्रियाः ॥ १७१ ॥

(१७०) नेति ।—जरा विद्यतेऽस्येति जरी जरानीर्णः जनः, विषयान् कामान्, उपभोक्तुं सेवितुं न, त्यक्तुं विहातुश्च, न शक्नोति, भोगवासना प्रवृत्त्या विद्यते, परन्तु जीर्णत्वेन सामर्थ्याभावात् भोक्तुं न शक्नोतीत्यर्थः ; अत्र दृष्टान्तमाह,— निर्दशनः दन्तशून्यः, श्वो कुक्कुरः, जिह्वया रसनया, अस्थि केवलं लेदि आस्वादयति एव ; दन्तहीनत्वेन चर्वणसामर्थ्याभावादिति भावः । (“श्वेव” इत्यत्र “श्वेव” इति पाठान्तरम्) । उपभोगेऽसमर्थोऽपि भोगवासनां न जहातीति तात्पर्यम् ।

(ज) अतिक्रान्तकुलमर्यादा—अतिक्रान्ता लङ्घिता, कुलमर्यादा वंशगौरवं कुलाचारः वा यथा सा, स्वेच्छाचारिणी इत्यर्थः । “केनापि वणिक्पुत्रेण सह” इत्यत्र “क्वक्षिंयित् वणिक्पुत्रे” इति पाठः समीचीनः ।

(१७१) स्नातन्त्रामिति ।—स्नातन्त्रायाः भावः स्नातन्त्रा स्वेच्छाचरणं, स्वाधीनतेत्यर्थः, पितृमन्दिरे पित्रालये, निवसतिः बहुकालमवस्थानं, यात्रोत्सवे यात्रायां तीर्थयात्रादौ, देवाचने वा, देवपूजास्थले इत्यर्थः, (“यात्रा तु यापनोपाये गतौ देवाचनोत्सवे” इति विश्वः) तथा उत्सवे उत्सवकर्मणि च, समवेतबहुजने आनन्दजनके व्यापारे इत्यर्थः, सङ्गतिः समागमः, पूरुषसन्निधौ अन्यपुरुषसमीपे, [“पुरः अगमने” इत्यस्मात् घातोः “पुरः कुषन्” (४।७४ उ०) इति कुषनि कृते “पृषोदरादीनि” (६।३।१०८ पा०) इति उकारस्य दीर्घत्वम् । दीर्घतमते तु “अन्वेषा-मपि दृश्यते” (६।३।१३७ पा०) इति दीर्घत्वम् । “पुरी आप्यायने” इत्यस्मात् बाहुलकात् कुषनि कृते पूरुष इति वा । “स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा-नराः” इत्यमरः] । गोष्ठौ सभा, बहुभिः मेलनमित्यर्थः, अन्यपुरुषैरालापौ वा, अनियतः स्त्रीजनोचितनियमाभावः, लज्जादिविसर्जनमित्यर्थः, तथा विदेशे पति-

अपरच,—पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम् ।

स्वप्नश्चान्यगृहे वासो नारीणां दूषणानि षट् ॥ १७२ ॥

किञ्च,—स्थानं नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति प्रार्थयिता नरः ।

तेन नारद ! नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥ १७३ ॥

अन्यच्च,—न स्त्रीणामप्रियः कश्चित् प्रियो वाऽपि न विद्यते ।

गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम् ॥ १७४ ॥

देशातिरिक्ते देशे, वासः अवस्थितिः, यद्वा—विदेशे अनियमः नियमपरिहारः इत्यर्थः, वासः, असक्तत् बहुशः, पुंसलोभिः नष्टचरित्राभिः, सह संसर्गः सहस्र एकवावस्थानमित्यर्थः, निजायाः स्वकीयायाः, वृत्तेः जीविकायाः, क्षतिः क्षयासाक्षादननिर्वाहीपायाभाव इत्यर्थः, पत्युः भर्तुः, वाहकं वहावस्था, ईर्ष्या ईर्ष्यापरतन्त्रता, सपत्नीनां भर्तृवाङ्मनसासहिष्णुत्वम् इति यावत्, प्रवसनं प्रवस्य पत्युरिति भावः, एतत् सर्वं स्त्रियाः नार्याः, नाशस्य हेतुः कारणम् ; एतेषां स्त्रियः पातिव्रत्यात् भक्ष्यन्ति इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

(१७२) पानमिति ।—पानं मद्यादीनां पानं, दुर्जनसंसर्गः असज्जनसहस्र पत्या भर्ता च, विरहः विधोः, अटनं परगृहे बहुशः क्षमणं, स्वप्नः निद्रावस्थ इत्यर्थः, अन्यगृहे असम्पृक्तस्थालये, वासः स्थितिः, एतानि षट् नारीणां क्षीय दूषणानि पातिव्रतनाशकारणभूतानि, भवन्तीति शेषः । (“स्वप्नोऽन्यगृहेवासश्च नारी सन्दूषणानि षट्” इति उत्तरार्द्धस्य मनुक्तपाठान्तरम्) ।

(१७३) स्थानमिति ।—यत्रेति अध्याहार्यम् । हे नारद ! यत्र स्थानं नारी पुरुषसङ्गमोचितस्थानं न विद्यते, क्षणः समयः, सङ्गभावकाश इति यावत्, नास्ति प्रार्थयिता प्रणयाकाङ्क्षी, नरः पुरुषश्च, नास्ति, तेन स्थानाद्यलक्षणेन हेतुना, न नारीणां सतीत्वं साध्वीत्वम्, उपजायते रक्षितं भवति ।

(१७४) भारतानुशासनपर्वोक्तं श्लोकमवलम्ब्य स्त्रीणां बहुपुरुषवर्चितामिति ।—स्त्रीणां कश्चित् पुरुषः, अप्रियः हेतुः, अप्रीतिकारः इत्यर्थः, न नास्ति, अथवा, प्रियोऽपि प्रीत्यास्पदोऽपि, न विद्यते । अरण्ये वने, गावः दूषणमिव, नवं नवं प्रत्यहं नूतनम्, एकस्मादन्यं पुरुषमित्यर्थः, प्रार्थयन्ति काङ्क्षन्ति । [प्रार्थयन्ति इति परस्मैपदप्रयोगः महाकविप्रयुक्ततया सिध्यति । अथवा प्रार्थयन्ति इति प्रायः घञ्, ततः तत्करोति इत्यर्थे णिचि साधनीयम्] । गावो वन

अपरश्च,—घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान् ।

तस्मात् घृतञ्च वज्रिञ्च नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥ १७५ ॥

मात्रा खस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत् ।

बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥ १७६ ॥

न लज्जा न विनीतत्वं न दाक्षिण्यं न भौरुता ।

प्रार्थनाभाव एवैकं सतीत्वे कारणं स्त्रियाः ॥ १७७ ॥

अपि च,—पिता रक्षति कौमारं भर्ता रक्षति यौवने ।

पुत्रश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १७८ ॥

प्रियमप्रियश्चाविविच्य केवलं न वदन्मेव गृह्णन्ति तदत् स्त्रियोऽपि नवं नवमेव पुरुषं कामयन्ते, न तु सगुणं सदोषं वा आलोचयन्ति इति फलितार्थः ।

(१७५) स्त्रीपुंसोरेकत्वावस्थापनस्य अनौचित्ये चाणक्यमतमाह, घृतेति ।—नारी घृतस्य कुम्भः घृतकुम्भः तेन समा तुल्या, घृतपूरितकलसतुल्या, पुमान् पुरुषः, तप्तः उत्तप्तः, योऽङ्गारस्तेन समः ज्वलदित्यनसदृशः, तस्मात् हेतोः, बुधः पण्डितः, घृतं हविष, वज्रिम् अग्निञ्च, एकत्र एकस्मिन् स्थाने, न स्थापयेत् न रक्षेत्, वज्रिसान्निध्ये घृतमिव पुरुषसन्निधौ नारोणां मनः अवश्यमेव विगलतीत्यर्थः ।

(१७६) शुक्लनीत्युक्तवचनमवलम्ब्य स्त्रीसन्निधौ एकाकितया अवस्थानस्य दोषमाह, मावेति ।—मात्रा जनन्या, मातृस्थानीयथा वा, खस्रा भगिन्या, दुहित्रा कन्यया वा सह, विविक्ते विजने, आसनम् उपवेशनं यस्य स तथोक्तः निजं न देशस्यः, न भवेत्, यतः बलवान् प्रबलः, दुर्दम इति भावः, इन्द्रियग्रामः इन्द्रियसमूहः, विद्वांसं पण्डितं, जितेन्द्रियमिति भावः, अपि अन्येषाम्ना का कथेत्यर्थः, कर्षन्ति आकर्षयन्ति, स्वायत्तीकरोतीत्यर्थः, विदुषामपि स्त्रीसन्निधौ चित्तचाञ्चल्यं जायते इति भावः । “मात्रा खस्रा दुहित्रा वा नात्यन्तैकान्तिकं वसेत् । यथासम्बन्ध-आह्वयादाभाष्याश्चास्य वै स्त्रियम् ॥” इति शुक्लनीती पाठान्तरम् ।

(१७७) नेति ।—स्त्रियाः नार्याः, सतीत्वे साध्वीतरक्षणे, लज्जा शालीनता, न, सर्वत्र कारणमित्यनेनान्वयः, विनीतत्वं नयता, न, दाक्षिण्यं पतिच्छन्दानुवर्तन-त्वञ्च, न, भौरुता गुरुजनेभ्यः भयशीलता च, न, एषां सङ्गावेऽपि सतीत्वञ्चश्रद्दर्शनात् इति भावः ; किन्तु प्रार्थनाऽभावः पुरुषस्य प्रार्थनाऽभाव एव, अथवा नार्याः पुरुषा-न्तरसन्निधौ अनिच्छन्ति, एकं प्रधानं, कारणं हेतुः ।

(१७८) पितेति ।—कौमारं अपरिणीतावस्थायां, पिता रक्षति, यौवने

स्त्रियो हि चपला नित्यं देवानामपि विश्रुतम् ।

ताश्चापि रक्षिता येषां ते नराः सुखभागिनः ॥१७५॥

एकदा सा लौलावती (भ) रत्नावलीकिरणकर्बुरे पथे
तेन बणिक्पुत्रेण सह (ज) विश्रम्भालापैः सुखासीनाः
(ट) अलक्षितोपस्थितं पतिमवलोक्य सहसोत्थाय (ठ) केके
कथ्य (ड) निर्भरमालिङ्ग्य चुम्बितवती । तेनावसरेण जारयोत
पलायितः । उक्तञ्च,—

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च वेद बृहस्पतिः ।

स्वभावेनैव तच्छास्त्रं स्त्रीबुद्धौ सुप्रतिष्ठितम् ॥१८०॥

यौवनदशायां, भर्ता पतिः, रक्षति, स्थाविरे भावे बाह्वर्कं, पुत्रः रक्षति; (संहितायां २मीऽध्याये “रक्षन्ति स्थाविरे पुत्राः” इति पाठान्तरम्) इत्थं स्त्री ब्रह्मचन्दानुवर्तनं, स्वेच्छाचारित्वम् इत्यर्थः, न अहंति न युज्यते, स्वाधीनं अवस्थातुं न योग्या भवतीत्यर्थः, नाथ्यः सर्वावस्थायामेव पिवाद्यन्यतमेन एव इति निष्कर्षः । (मनुपञ्चमाध्याये तु “बाल्ये पितृव्ये तिष्ठेत् पाणिग्राहक्ये पुत्राणां भर्तारि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥” इति पाठः) ।

(१७६) स्त्रिय इति ।—स्त्रियः नाथ्यः, नित्यं हि सदैव, चपलाः प्रकृतयः, भवन्तीति शेषः, एतत् देवानामपि विश्रुतं विदितं, येषां पुरुषाणां पुनः, ताः अपि तादृश्यचपलाः नाथ्योऽपि, प्रकृतिचपला अपोति रक्षिताः चापत्येन पुरुषान्तरसंयोगात् निवारिताः, ते नराः पुमांसः, सुखं सुखभाजनानि, भवन्तीति शेषः ।

(भ) रत्नावलीकिरणकर्बुरे—रत्नावलीनाम् अङ्गाभरणगतमणिमुक्ताणां पथ्यङ्गनिबद्धमणिमुक्तादीनां वा, किरणैरंशभिः, कर्बुरे विचित्रिते ।

(ज) विश्रम्भालापैः,—मिथः प्रणयगर्भैरालापैः इत्यर्थः । आसीना परस्परि [आस + शानच्, आकारस्त्वम् ; ततः टाप्] ।

(ट) अलक्षितोपस्थितम्—अलक्षितम् अतर्कितं यथा तथा, उपस्थितं समागतः तं, सहसा समागतम् ।

(ठ) केषु इत्यत्र [अवच्छेदे सप्तमी] ।

(ड) निर्भरं—गाढम् ।

(१८०) उशना इति ।—यत् शास्त्रं कूटनीतिशास्त्रम्, उशना देवगुह्यं

तदालिङ्गनमवलोक्य समीपवर्तिनी कुट्टिनी अचिन्तयत्,—
 “अकस्मादियमेनम् (ठ) उपगूढवती !!” इति । ततस्तया कुट्टिन्या
 तत्कारणं जारं परिज्ञाय सा लीलावती गुप्तेन दण्डेन दण्डिता ।
 अतोऽहं ब्रवीमि,—“अकस्माद् युवती वृद्धम्” इत्यादि ।
 [इति वृद्धवर्णिन्दन्तौकथा] ।

(ण) मूषिकबलोपष्टम्भेन च केनापि कारणेनात्र भवि-
 तव्यम् ।” क्षणं विचिन्त्य परिव्राजकेनोक्तं,—“कारणञ्चात्र
 (त) धनबाहुल्यमेव प्रतिभाति । यतः,—

धनवान् बलवान् लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।

प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते” ॥ १८१ ॥

ततः (थ) खनित्रमादाय तेन परिव्राजकेन विवरं खनित्वा

चायं; वेद जानाति, [वेत्तीति रूपान्तरम्], यच्च कूटनीतिशास्त्रं, वृद्धतां पतिः
 [पारस्करादित्वात् निपातः] । वृद्धस्यति; वेद जानाति, तत् शास्त्रं चातुरीविद्या
 इत्यर्थः, स्त्रीबुद्धौ नारीबुद्धौ, स्वभावेनैव प्रकृत्यैव, शिक्षामन्तरैरेवेति भावः, सुप्रतिष्ठितं
 सम्यक् स्थितं, सम्यक्तया विद्यमानमित्यर्थः, स्त्रीयामशिक्षितपटुत्वं सर्वत्र दृश्यते
 इत्याशयः । (अश्वोत्तरार्द्धे—“स्त्रीबुद्ध्या न विशिष्येते तास्तु रक्ष्याः कथं नरैः ॥”
 इति भारतानुशासनपर्वोऽध्यायः पाठः) । [उशनःशब्दस्य सम्बुद्धौ रूपवयम्—यथा हे
 उशनन्, हे उशन, हे उशनः इति] ।

(ठ) उपगूढवती—आलिङ्गितवती [उप + गूढ + क्तवतुः + स्त्रियामौप्] ।

(ण) मूषिकबलोपष्टम्भेन—उन्दुरीः सामर्थ्यप्रारम्भेण, बलवत्त्वासूचककार्योप-
 ऋत्तेणेत्यर्थः, बलदर्पणेत्यर्थो वा ।

(त) धनबाहुल्यं—धनाधिक्यम् ।

(१८१) धनवानिति ।—लौकिके जगति, सर्वत्र सर्वस्मिन् देशे, सर्वदा सर्वस्मिन्
 समये, सर्वः धनवान् धनशाली जनः, बलवान् बलशाली, भवेदिति शेषः, हि
 तथाहि, राज्ञां नरपतीनाम् अपि, प्रभुत्वम् आधिपत्यं, प्रभावः इत्यर्थः, धनमेव मूलं
 कारणं यस्य तत्, धनहेतुकमित्यर्थः, उपजायते भवति, धनाभावे राज्ञामपि
 प्रभुत्वं न सम्भवेदेवेत्यर्थः ।

(थ) खनित्रं—खननसाधनमस्त्रविशेषम् ।

चिरसञ्चितं मम धनं गृह्येतम् । ततः प्रभृति निजशक्तिपरच,
 (द) सत्त्वोत्साहरहितः स्वाहारमपि (ध) उत्पादयितुम्
 सत्तासं मन्दं मन्दम् (न) उपसर्पन् चूडाकर्णेनावलोकितम्,
 ततस्तेनोक्तम्,—

“धनेन बलवान् लोको धनाद्भवति पण्डितः । पिच,—

पश्यैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम् ॥१८२॥

किञ्च,—अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।

क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति शीघ्रे कुसरितो यथा ॥१८३॥

(द) सत्त्वोत्साहरहितः,—सत्त्वं द्रव्यं, धनबाहुल्यमित्यर्थः, तेन यः श
 उद्योगः, तेन रहितः हीनः, धनबाहुल्यजनितोद्योगमपरिश्रम्य इत्यर्थः, यद्य-
 मनः, तस्य उत्साहः तेन रहितः, सत्त्वेन धैर्यादिरूपमनोबलेन उत्साहेन वा
 इति वा ।

(ध) उत्पादयितुम्—उपार्जयितुम् ।

(न) उपसर्पन्—गच्छन् ।

(१८२) धनेनेति ।—लोकः जनः, धनेन हेतुना बलवान् बलशाली,
 तीति श्रेष्ठः, तस्मान्नललाभाशया सर्वे मल्लासत्सहायौभवन्ति, तेन च धनवान् न
 भवतीति भावः, धनाहेतोः पण्डितः भवति ; धनो मूर्खोऽपि सुपण्डित इति पु
 सावकैः कीर्तितो भवतीत्यर्थः, एनं पापं पापिष्ठं, मूषिकम् उन्दुरं, स्वजाति
 मूषिकजातेस्तुल्यबलत्वं, गतं प्राप्तं, पश्य अवलोकय, पूर्वम् अयं भिक्षापात्र
 मपहृत्य सञ्चित्य च स्वजात्यपेक्षया अधिकबलः आसीत्, इदानीन्तु तद्गृहणेन
 संवृत्त इत्यर्थः । (“अल्पेष्ट घटः पश्य” इतिवत् “पश्यायं मूषिकः पापः सर्वार्जिता
 समतां गतः” इति पाठः समीचीनतया प्रतिभाति) ।

(१८३) बहुचाणक्यमतमुपन्यस्य धनहीनतायाः दोषमाह, अर्थेनेति ।—अल्प
 धनेन, विहीनस्य रहितस्य, अत एव अल्पा मेधा धारणावती बुद्धिर्यस्य [वरुणेश्वर
 असिच्] तस्य मन्दधियः, पुरुषस्य सर्वास्तु सकलाः एव, क्रियाः कर्माणि, (
 शीघ्रर्त्तौ, कुसरितः यथा कुनद्य इव, खलपतोया नद्य इव इत्यर्थः, विनश्यन्ता
 विनष्टा भवन्ति, अल्पजला नद्यो शीघ्रे शुष्काः सत्यो यथा विफला जायन्ते
 दरिद्राणां क्रिया अपि विफलीभवन्ति इति निष्कर्षः । (“अर्थेन तु” इत्यत्र “अर्थेन”

परच,—यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः ।

यस्यार्थाः स पुमान् लोके यस्यार्थाः स तु पण्डितः ॥ १८४ ॥

अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च ।

मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वशून्या दरिद्रता ॥ १८५ ॥

पिच,—दारिद्र्यान्मरणाद्वाऽपि दारिद्र्यमवरं स्मृतम् ।

अल्पक्लेशेन मरणं दारिद्र्यमतिदुःसहम् ॥ १८६ ॥

क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति” इत्यत्र “विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वाः” इति भारतशान्तिपर्वणि
जघनसंख्याख्यानप्रकरणोक्तपाठान्तरम्) ।

(१८४) भारतशान्तिपर्वण्यराजघनसंख्याख्यानप्रकरणोक्तवचनमुद्धृत्य घनवत्त्वायाः
लमाह, यस्येति ।—यस्य जनस्य, अर्थाः घनानि, सन्तीति शेषः, तस्य जनस्य,
मित्राणि सर्वे एव सृष्टव्यः, भवन्ति इति शेषः, यस्य अर्थाः तस्य बान्धवाः ज्ञातयः,
व्यादिज्ञातिवर्गाः सदाऽऽनुगत्यादिना बन्धुकार्ये सम्पाद्य मनो रक्षयन्ति, निर्धनस्य
वार्त्तामपि ते न पृच्छन्तीति भावः ; यस्य अर्थाः स लोके जगति, पुमान् पुरुष-
दवाच्यः, यस्य अर्थाः स तु पण्डितः विद्वान्, पण्डितशब्दप्रतिपाद्यः इत्यर्थः,
“पण्डितः” इत्यत्र “जीवति” इति वृद्धचाणक्योक्तपाठान्तरम्) । अथयुक्तः मूर्खोऽपि
पण्डितवत् लोके पूज्यो भवतीति फलितार्थः ।

(१८५) अपुत्रस्येति ।—अपुत्रस्य अपनपत्यस्य, सत् अज्ञातमि, मित्रं सन्मित्रं,
न रहितस्य अज्ञातमिसृष्टवर्जितस्य च जनस्य, गृहं शून्यं निष्फलं, सर्वसम्पत्सत्त्वे-
पि पुत्रमित्रविहीनत्वात् शून्यमिव अकिञ्चित्करं प्रतिभातीति भावः ; मूर्खस्य
अद्विष्टः, दिशः शून्याः सर्वास्यपि दिक्षु सहायहीनतेत्यर्थः, मूर्खस्तु यत्र यत्रालम्बन-
प्राप्त्यर्थं प्रयति, तत्र तत्रैव तन्नाभाभावात् हताशः प्रतिनिवर्तते अतः सर्वा एव
दिशस्तस्य शून्यवत् प्रतिभातीति भावः ; दरिद्रता अकिञ्चनत्वं, सर्वशून्या सर्वसुख-
वर्जिता, दरिद्रस्य न क्वचिदपि सुखलेशोऽस्तीत्यर्थः । (“शून्यमपुत्रस्य गृहं चिरशून्यं
राशि यस्य सन्मित्रम् । मूर्खस्य च दिशः शून्याः सर्वे शून्यं दरिद्रस्य ॥” इति
“विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वाः” पाठान्तरम् । लघुचाणक्ये वृद्धचाणक्ये चास्य विविधपाठान्तरं
प्राप्तम्) ।

(१८६) दारिद्र्यादिति ।—दारिद्र्यात् दरिद्रतायाः, अपि वा अथवा,
मरणात् सत्योः, एतयोः मध्ये इत्यर्थः, [“पञ्चमी विमक्ते” (२।१।४२ पा०) इति
ते विमक्ते] । दारिद्र्यं घनहीनत्वम्, अवरं हीनं, अतः कथितम् । कुतः ? इत्याह,—

अन्यच्च,—तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम

सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव ।

अर्थोभ्रमा विरहितः पुरुषः स एव

अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥१८७॥

एतत् सर्वमाकर्ण्य मया आलोचितं,—“ममात्राण्य

अयुक्तम् इदानीम् । तथा चोक्तम्,—

अत्यन्तविमुखे दैवे व्यर्थे यत्ने च पौरुषे ।

मनस्विनो दरिद्रस्य वनादन्यत् कुतः सुखम् ? ॥१८८॥

भरणं सत्युः, अत्यक्षेत्रेण किञ्चित्कालक्षेत्रभीगेन, भवति इति शेषः, किन्तु
अतिदुःसहं सोदुमशक्यं, यावज्जीवं क्षेत्रावहमित्यर्थः, अतः दारिद्र्यान्तरा
भावः । (“दारिद्र्यान्तराद्वा भरणं समं रोचते न दारिद्र्यम् । अतः
दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम् ॥” इति मृच्छकटिकोक्तपाठान्तरम्) ।

(१८७) तानीति ।—अर्थहीनस्य पुरुषस्येति सर्वत्राध्याहृत्यावय-
तानि इन्द्रियाणि आध्यावस्थायां यानीन्द्रियाणि आसन् तान्येव चक्षुरादीनि
कलानि दारिद्र्यावस्थायामपि अविकलानि, सन्तीति शेषः, तदेव नाम
वस्थायां यन्नाम आसीत्, यन्नामापि, अस्ति इति शेषः, सा धनवदवस्था
आसीत् तादृशमेवेत्यर्थः, अप्रतिहता तौक्षा, बुद्धिः, अप्रयत्नीति शेषः, तदे-
मेव, पूर्ववदेवेत्यर्थः, वचनं, किन्तु स एव पुरुषः धनिदशायामिव अविकलीति
एव नरः, अर्थोभ्रमा धनगर्वेण, विरहितः विवर्जितः, धनहीनः सन्नित्यं
सुहृत्तादेव, अन्यः अन्यविधः, विकलेन्द्रियादियुक्तवदित्यर्थः, भवतीति एतत्
आयर्थं, विस्मयकरमित्यर्थः, धनाभावे पुरुषस्य इन्द्रियादीनामपि वि-
रहितेति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

(१८८) अत्यन्तेति ।—दैवे भाग्ये, नियतौ इत्यर्थः, अत्यन्तविमुखे
प्रतिकूलै, दुर्दैवे सतीत्यर्थः, पौरुषे पुरुषसम्बन्धिनि, यत्ने चेष्टायां, पुरुषका-
व्यर्थे प्रतिहते च सति, (“व्यर्थं यत्ने” प्रति पाठान्तरम्) मनस्विनः प्रम-
थमिमानधनस्य इति यावत्, दरिद्रस्य धनहीनस्य जनस्य, वनात्
गमनादपरं, कुतः कुवेत्यर्थः, सुखं ? चित्तनिवृत्तिः ? भवतीति शेषः, ईदृश-
लोकसंसर्गपरिहारपूर्वकं निर्जनारण्याश्रयणमेव श्रेय इति भावः ।

अथ,—मनस्वी स्त्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति ।

अपि निर्वाणमायाति नानलो याति शीतताम् ॥१८८॥

अथ,—कुसुमस्तवकस्येव हे वृत्ती तु मनस्विनः ।

सर्वेषां मूर्द्धि वा तिष्ठेद्विशौर्येण वनेऽथवा ॥१८९॥

यच्चान्यस्मै एतद्वृत्तान्तकथनं तदपि अनुचितम् । यतः,—

अर्थनाशं मनस्तापं गृहे दुश्चरितानि च ।

वचनञ्चापमानञ्च मतिमान् न प्रकाशयेत् ॥१९०॥

(१८८) मनस्वीति ।—मनस्वी महामनाः, अभिमानीति भावः, जन इति शेषः, मनस्वी स्त्रियते कामं, काममिति अकामानुमतौ, अनिष्टं दृष्टुमपि अगत्या स्त्रीकरीः इत्यर्थः, तु किन्तु, कार्पण्यं कृपणतां, लघुत्वमिति यावत्, न गच्छति न स्त्रीकरी-
त्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह,—अनलः वज्रिः, निर्वाणं विनाशम् अपि, आयाति
च्छति, तथाऽपि शीततां ग्रैव्य, निस्तेजस्कत्वमिति भावः, न याति न प्राप्नोति ।

(१८९) कुसुमेति ।—मनस्विनः उन्नतचेतसः, मानिन इति भावः, कुसुम-
स्तवकस्य पुष्पगुच्छस्य इव, हे तु द्विविधे एव, वृत्ती स्थितौ, मनोवृत्तौत्यर्थः, व्यापारा-
ति यावत्, एका—सर्वेषां जनानां, मूर्द्धि मस्तके, सर्वोपरि इत्यर्थः, तिष्ठेत् वा वर्त्तेत
अथवा वने अरण्ये, विशौर्येण चयं गच्छेत्, स्त्रियतेत्यर्थः, वने उषित्वा शरीरं
सृजेदिति यावत् । कुसुमानां स्थितिर्महतां देवादीनां शिरसि, अन्यथा वने एव
शीर्षानां पतनं, विदुषां स्थितिरपि तद्वत् सर्वप्रधानतया वर्त्तनं तदन्वयात्वे लोका-
नुषासनन्तराले एव देहविसर्जनम् इति भावः ।

(१९०) लघुचापक्यवचनमुद्धृत्य अन्यसन्निधौ अर्थनाशस्य अप्रकाशतामाह,
अर्थनाशमिति ।—प्रशस्ता मतिः अस्तेति मतिमान् बुद्धिमान् जनः, अर्थनाशं
नश्यं, मनस्तापम् आधि, गृहे निजाख्ये, “न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते”
श्रुत्या गृहिणीविषये, भाव्यायाः इत्यर्थो वा ; दुश्चरितानि च निन्दनीयव्यापाराश्च,
गृहच्छिद्राणि इत्यर्थः, वचनञ्च परकृतप्रतारणञ्च, अपमानञ्च अन्यकृतमवज्ञाञ्च, न
प्रकाशयेत् अन्यसन्निधौ न कथयेत् ; तत्प्रकाशनेन कोऽपि लाभो न जायते, प्रत्युत
महती गौरवहानिः भवतीति भावः । (वृद्धचापक्ये तु “गृहं दुश्चरितानि” इत्यत्र
गृहिणीचरितानि ” वचनञ्चापमानञ्च ” इत्यत्र “नीचचापक्यचापमानम्” इति
दर्शयन्) ।

अपिच, —आयुर्वित्तं गृहच्छिद्रं मन्त्रमैथुनभेषजम् ।

तपोदानापमानञ्च नव गोप्यानि यत्नतः ॥१८२॥

यच्चात्रैव याज्या जीवन्, तदप्यतौव गर्हितम् । यत्,

वरं विभवहीनेन प्राणैः सन्तर्पितोऽनलः ।

नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थ्यते जनः ॥१८३॥

अथच, —दारिद्र्यात् क्रियमेति क्रीपरिगतः प्रभ्रश्यते तेजः

निस्तेजाः परिभूयते परिभवान्निर्वेदमापद्यते ।

निर्विस्त्रः शुचमेति शोकपिहितो बुद्ध्या परित्यज्यो

निर्वुद्धिः क्षयमेत्यहो ! निधनता सर्वापदामास्यदम् ।

(१८२) धनविषयकस्यापारस्व सर्वथा गोप्यत्वे गृहचाणक्यमतानु-
सरित् ।—आयुः जीवनकालः, वित्तं धनं, गृहच्छिद्रं खगृहदूषणं, मन्त्र-
मैथुनं सुरतं, भेषजम् औषधम् ; [मन्त्रश्च मैथुनश्च भेषजञ्च एतेषां
कृत] ; तपः तपस्याऽनुष्ठानं, दानं सत्यान्ने विनियोगः, अपमानञ्च ।
[पूर्ववत् समाहारः] ; नव एतानि नवसङ्ख्यानि, यत्नतः यत्नेन, गोप्यानि च
प्रकाश्यानि इत्यर्थः । शुक्लगीतेऽस्वतीयाध्याये श्रीकोऽयं किञ्चित्परिवर्ति-
त इत्युक्ते ।

(१८३) वरमिति ।—विभवहीनेन दारिद्रेण, प्राणैर्जीवनेन, अन्तः-
सन्तर्पितः दक्षिणापादितः, स्त्रादिति शेषः, इत्यपि वरं श्रेयस्करं, वरं क-
दित्यर्थः । (सन्तर्प्यते इति पाठः सम्यक्) । तेन किं भवेत् ? इत्यत आ-
चारैत्यादि ।—उपचारपरिभ्रष्टः उपचारात् यं प्रति यादृशः आचारः यत्न-
तादृशात् शिष्टाचारात् इत्यर्थः, परिभ्रष्टः विरहितः, सौजन्यविमुखः इत्यर्थः,
खड्गचेताः, जनः न प्रार्थ्यते न याच्यते ; दारिद्र्यक्लेशनिवारणाय बुद्धेः प्राण-
प्रवेशः सर्वथा श्रेयानिति भावः ।

(१८४) दारिद्र्यादिति ।—दारिद्र्यात् धनहीनत्वात् हेतोः, प्रियं ।
एति प्राप्नोति, जन इति शेषः, गण्डनतया सर्वत्रैव उपपन्नमभवतीत्यर्थः, श्री-
म्रीडामुपगतो जनः, (“तत्परिगतः” इति पाठान्तरम्) तेजसः पराक्रम-
हीयते, [कर्मकर्तारि लट्] निस्तेजाः तेजीहीनः, (“प्रभ्रश्यते तेजसः”
इत्यत्र “सत्त्वात् परिभ्रश्यते, निःसत्त्वः” इति पाठान्तरम्) परिसूयते अ-

क्षिप्त, — वरं मौनं कार्यं न च वचनमुक्तं यदनृतं
 वरं क्लैवं पुंसां न च परकलत्राभिगमनम् ।
 वरं प्राणत्यागो न च पिशुनवाक्येष्वभिरुचि-
 र्वरं भिक्षाशित्वं न च परधनास्वादनसुखम् ॥ १८५ ॥
 वरं शून्या शाला न च खलु वरो दुष्टवृषभः
 वरं वेश्या पत्नी न पुनरविनीता कुलबधूः ।
 वरं वासोऽरण्ये न पुनरविवेकाधिपपुरे
 वरं प्राणत्यागो न पुनरधमानासुपगमः ॥ १८६ ॥

श्लोकैरिति शेषः, परिभवात् अपमानात्, निर्वेदम् अवज्ञानजितां स्वावमानना,
 “जीवितं मे धिक्” इत्येवम् आत्मनि अवज्ञाम् इत्यर्थः, आपद्यते प्राप्नोति, निर्द्वेषः
 प्राप्तनिर्वेदः, शुचं शोकं, मनसापमित्यर्थः, एति प्राप्नोति, शोकैः मनःक्लेशेन,
 पिहितः अभिमूतः, [अपि + धा + क्तः “वष्टिभागुरिरक्षोपमवाय्योरुपसर्गयोः” (का०)
 इत्यपेक्षारत्नोपः] (“विहितः” इति पाठान्तरम्) बुद्ध्या प्रज्ञया, परित्यज्यते
 विमुच्यते, भट्टबुद्धिः भवति इत्यर्थः, निर्द्विष्टः बुद्धिविहीनः, स्वयं नाशम्, एति
 प्राप्नोति, अहो ! खेदे, निधनता दारिद्र्यं, सर्वापदां सकलविपत्तीनाम्, आस्यदं
 स्थानम् । श्लोकोऽयं मृच्छकटिकस्य प्रथमाङ्केऽपि दृश्यते । आर्तूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

(१८५) वरमिति । — मौनं मौनावलम्बनं, कार्यं कर्तव्यम्, इत्यपि वरं मनाक्
 प्रियं, मौनितयाऽवस्थानमपि श्रेय इत्यर्थः, तथाऽपि यत् वचनम् अनृतम् असत्यं,
 तादृशस्य उक्तम् उक्तिरित्यर्थः, न च नैव, वरम् इति शेषः, पुंसां पुरुषाणां, क्लैवं
 क्लोवता, अपीति शेषः, वरं, न च नैव, परकलत्राभिगमनं परदारसम्भोगः, वरमित्य-
 न्वयः ; प्राणत्यागः मरणमपि, वरं, तथाऽपि पिशुनवाक्येषु खलोक्तिषु, श्राव्यपूर्णवच-
 नेषु इत्यर्थः, अभिरुचिः अभिलाषः, न च वरम् ; मरणमपि स्त्रीकार्यं किन्तु
 खलत्वे प्रवृत्तिर्न विधीयते भावः ; भिक्षाशित्वं भिक्षाभोजित्वं, भिक्षया लब्धेनाग्नेन
 वर्सनशीलत्वमित्यर्थः, वरं, किन्तु परधनास्वादनसुखं परधनस्य अन्यस्वामिकस्य
 अश्रेयस्य, आस्वादेनैव उपभोगेन, यत् सुखं चित्तनिर्भूतिरूपं सत्, न च वरम् ।
 मिश्ररिणो वृत्तम् ।

(१८६) वरमिति । — शून्या गवादिरहिता, शाला गृहम्, अपीति शेषः, वरं,
 तथाऽपि दुष्टो वृषभः वृषः, खलु न च वरः ; वेश्या गणिका, पत्नी भार्यात्वेन
 स्त्रीकायां, इत्यपि वरं, न पुनः अविनीता विनयहीना, प्रतिकूलाचारिणी इत्यर्थः,

अपिच,—सेवेव मानमखिलं ज्योत्स्नेव तमो जरिव लावण्यम् ।

हरिहरकथेव दुरितं गुणशतमप्यर्थिता हरति ॥१८६॥

तत् किमहं (प) परपिण्डेन (फ) आत्मानं पोषयामि
कष्टं भोः ! तदपि द्वितीयं (ब) मृत्युद्वारम् । यतः,—

पल्लवग्राहि पाण्डित्यं क्रयक्रीतञ्च मैथुनम् ।

भोजनञ्च पराधीनं तिस्रः पुंसां विडम्बनाः ॥१८८॥

कुलवधूः कुलाङ्गना, (“नवोदयोपिति वधूः सुषामायांङ्गनासु च” इति शास्त्र-
वरम् । अखिलं बने, वासोऽवस्थितिः, वरं, पुनः किन्तु, अविवेकः विवेचनाशक्तिरपि-
योऽपिचः राजा, तस्य पुरे नगरे, स्नेच्छाचारिणो राज्ञः राज्ये इत्यर्थः, न, वासो ।
मिति शेषः । प्राणत्यागः मृत्युरपि, वरं, न पुनः अधमानां नौचाशयानाम्, उक्त-
लाभाशया समीपगमनं, वरम् । [सर्व्वेच विधेयप्राधान्यात् नपुंसकत्वम्] । पि-
रिणो वृत्तम् ।

(१८७) सेवेति ।—सेवा परोपासना, अखिलं सर्व्वं, मानं सम्पत्तिम्
गौरवमिवेत्यर्थः, ज्योत्स्ना कौमुदी, तमः अन्यकारमिव, जरा वाङ्मयं, ला-
मौन्दर्यमिव, हरिहरकथा विष्णुमहेश्वरनामकीर्तनं, दुरितं पापमिव, अर्थिता क-
कता, गुणशतं गुणराशिम् अपि, हरति नाशयति । दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाश-
भावः । मालोपमा । आर्या वृत्तम् ।

(प) परपिण्डेन—परिणामं अन्येषां, पिण्डेन कवलेन, अन्यदत्तेन पल्लवं
नेत्यर्थः, कमपि दातारं याचित्वा तत्प्राप्तेनाग्नेनेति यावत् । (“पिण्डी वृन्दे कव-
गोले वीलीङ्गसिद्धयोः । कवले पिण्डन्तु वेश्मैकदेशे जीवनायसोः ॥” इति हैमः ।)

(फ) आत्मानं पोषयामि—शरीरपोषणं करोमि, जीविकां निर्वाहयामि
इत्यर्थः ।

(ब) मृत्युद्वारं—मृत्युवत् क्लेशावहम् इत्यर्थः ।

(१८८) पल्लवेति ।—पुंसां नराणां, तिस्रः त्रिविधाः, विडम्बनाः तिरस्का-
पसुखावहत्वात् दुर्भाग्यपरिचायिका इत्यर्थः ; काक्ताः ? इत्याह,—पल्लवं प्राक्त-
अंशमात्रम् इत्यर्थः, न तु सम्पूर्णमिति भावः, गृह्णाति यत् तत् तथोक्तं, प्रतियोग-
किञ्चित्किञ्चिन्मात्रमप्यङ्गशीलमित्यर्थः, पाण्डित्यं विद्यावत्ता, क्रयक्रीतम् पदं क्री-
धनलब्धमिति यावत्, मैथुनं स्त्रीसम्भोगः, तथा पराधीनम् अन्यायत्वं, परावृत्त-
त्वमित्यर्थः, भोजनम् आहारश्च इति ।

अन्यच्च,—रोगी चिरप्रवासौ परान्नभोजी परावसथशायी ।

यज्जीवति तन्नरणं यन्नरणं सोऽस्य विश्रामः ॥ १८८ ॥

इत्यालोच्यापि लोभात् पुनरपि तदीयान्नं ग्रहीतुं (भ) ग्रह-

मकरवम् । तथा चोक्तम्,—

लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम् ।

तृषार्त्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः ॥ २०० ॥

ततोऽहं मन्दं मन्दमुपसर्पस्त्रेण वीणाकर्णेन (म) जर्जर-
वंशखण्डेन ताडितश्चाचिन्तयम्,—लुब्धो ह्यसन्तुष्टो (य) नियतम्

(र) आत्मद्रोही भवति । तथाच,—

धनलुब्धो ह्यसन्तुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः ।

सर्वा एवापदस्तस्य यस्य तुष्टं न मानसम् ॥ २०१ ॥

(१८८) रोगीति ।—रोगी नित्यमासयवान्, चिरकरणः इत्यर्थः, चिरप्रवासौ प्रेषितः, चिरकालं विदेशवाचशील इत्यर्थः, परान्नभोजी परपिण्डादः, परस्य आवसथः आसथः, तस्मिन् शिथे यः सः परगृहं शयनशीलः, परगृहवासीति यावत् ; एवंविधः पुरुषः यत् जीवति प्राणिति, तत् जीवनं, मरणं मृत्युः, मृत्युतुल्यः क्लेशावह इत्यर्थः, यत् मरणं मृत्युः, सः अस्य ईदृशस्य पुरुषस्य, विश्रामः शान्तिः । [विधेय-
प्राधान्यात् स इत्यत्र पुंस्त्वम्] । आर्या उक्तम् ।

(भ) यद्वम्—आयद्वम्, उद्यममित्यर्थः ।

(२००) लोभेनेति ।—लोभेन लिप्सया, धनपिपासयेत्यर्थः, बुद्धिश्चलति विच-
लिता भवति । लोभः तृषाम् अत्युत्कटामिच्छां, जनयते उत्पादयति । तृषार्त्तः
तृषया उत्कटेच्छया, आर्त्तः अभिभूतः, अत्यन्तलोभीत्यर्थः, मानवः परत्र परस्मिन्
काले, परजन्मनीत्यर्थः, परलोकं वा, इह च अस्मिन् जन्मनि च, दुःखम् आप्नोति
प्राप्नोति ।

(म) जर्जरवंशखण्डेन—विशीर्णवेणुदण्डेन ।

(य) नियतं—निश्चितम् ।

(र) आत्मद्रोही—आत्मने दुःखतीति आत्मद्रोही आत्मविरोधी, आत्म-
हिंसाकारीत्यर्थः ।

(२०१) धनलुब्ध इति ।—यस्य मानसं मनः, न तुष्टं न सन्तोषपूर्णं, भवतीति

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् ।

उपानद्गुणपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः ॥२०२॥

अपरव, — सन्तोषाभ्युत्पत्त्यानां यत् सुखं शान्तचेतसाम् ।

कुतस्तद्वनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ? ॥२०३॥

किञ्च, — तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।

येनाशाः पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम् ॥२०४॥

शेषः, हि यतः, स धनलुब्धः अथोलुपः, असन्तुष्टः अप्रसन्नचित्तः, अनिश्चितचित्तः, असंयतचित्तभावः, चञ्चलप्रवृत्तिरित्यर्थः, अस्थिरबुद्धिर्वा (“आत्मा पुंसि स्वभावः प्रयत्नमनसोरपि । धृतावपि मनोषायां शरीररत्नप्रणीरपि ॥” इति मेदिनी) अनितानि अनिष्टहीतानि, इन्द्रियाणि येन सः तादृशः इन्द्रियासक्तः, भवतीति शेषः । अत एव तस्य सर्वा एव आपदः विपदः, स हि सर्वापदामास्यदमित्यर्थः, लुब्धत्वात् न हि शीघ्रं विपन्नी भवतीति निष्कर्षः । यद्वा — हि यतः, धनलुब्धः, जन इति शेषः असन्तुष्टः अनियतात्मा अजितेन्द्रियः, भवतीति शेषः, अत एव तस्य सर्वा आपदः, यस्य च मानसं न तुष्टं, तस्यापि सर्वा एवापदः इत्यन्वयः ।

(२०२) सर्वा इति । — यस्य मानसं मनः, सन्तुष्टं प्रीतिपूर्णं, तस्य निखिला एव, सम्पत्तयः ऐश्वर्याणि, स सर्वसम्पदामास्यदं भवतीत्यर्थः, तस्य उपानद्गां चर्मपादुकाभ्यां, गूढौ आच्छादितौ, पादौ यस्य तस्य चर्मपादुकाभ्यां चरणस्य, भूः पृथ्वी, ननु निश्चितं, चर्मावृतेव चर्मणा आच्छादितेव, प्रतिभाति शेषः, सन्तुष्टचित्तस्याप्रीतिकरमपि प्रीतिकरमिव प्रतिभातीति भावः । (“य इत्यत्र “सर्वा” इति पाठे — सर्वा भूः निखिला भूमिरित्यर्थः) ।

(२०३) सन्तोषाभ्युत्पत्तेरिति । — सन्तोषः चित्तप्रसादः, अभ्युत्पत्तिरिति सन्तोषात् तेन दत्ताः प्रीताः तेषाम् अभावबोधाभावात् प्रसन्नचित्तानाम्, अत एव शान्तम् अश्रुतं चेतः चित्तं तेषां तेषां स्थिरधियां, यत् सुखं निर्वृतिः, भवतीति शेषः, धनलुब्धत्वात् धनाकाङ्क्षिणाम्, अत एव इतश्चेतश्च समन्तात्, धावतां परिभ्रमतां, जनानामिति शेषः, तत् तादृशं सुखं, कुतः ? न कुतोऽपि सम्भवेदित्यर्थः । (“शान्तचेतसाम्” इत्यत्र “शान्तिरेव च” “कुतः” इत्यत्र “न च” इति वृद्धचाणक्ये पाठान्तरम्)

(२०४) तेनेति । — येन जनेन, आशाः दृष्ट्याः, विषयवासनाः इत्यर्थः, यद्वा पश्चात्, कृत्वा विधाय, आशाः परिहायेत्यर्थः, नैराश्यं वीतसुदृढम्, अवलम्बितं आश्रितं, तेन जनेन, अधीतं सर्वमेव शास्त्रं पठितं, तेन श्रुतं नीतिशास्त्रादि

वपिच,—असेवितेश्वरद्वारमदृष्टविरहव्यथम् ।

अनुक्तकौववचनं धन्यं कस्यापि जीवनम् ॥२०५॥

अतः,—न योजनशतं दूरं वाह्यमानस्य दृष्टया ।

सन्तुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थं भवति नादरः ॥२०६॥

तदत्र (ल) अवस्थोचितकार्यपरिच्छेदः श्रेयान् । उक्तञ्च,—

को धर्मो ? भूतदया किं सौख्यम् ? अरोगिता जगति जन्तोः ।

कः स्नेहः ? सद्भावः किं पाण्डित्यं ? परिच्छेदः ॥२०७॥

आकर्षितं, किं बहुना ? तेन सर्वम् अनुष्ठितं तपस्यादिकं कृतम् ; स एव हि प्रकृतो विद्वान् नोतिष्ठः आनुष्ठानिकश्चेति भावः ।

(२०५) असेवितेति ।—असेवितम् अनुपासितम् ; धनदृष्टयेति भावः, ईश्वरस्य धनशालिनः, द्वारं येन यस्मिन् वा तत्, अदृष्टा अप्राप्ता इत्यर्थः, विरहस्य पुत्रादि-वियोगस्य, व्यथा क्लेशः येन यस्मिन् वा तत्, अनुक्तम् अकथितं, कौवं व्यर्थं, वचनं, यदा—अनुक्तं कौवस्य पौरुषहीनस्य, वचनम् अशक्तीऽहं यासाच्छादनाहरणे, दीनं मां किञ्चिद्देहीत्वेवं भिक्षुवाक्यं येन यस्मिन् वा तत्, एवम्भूतं कस्यापि जनस्य जीवनं, यदि वर्तते इति शेषः, तर्हि तदेव जीवनं धन्यं सफलं, आध्यत्मिकार्थः ; यदा—एवम्भूतं कस्यापि, सुकृतिनः इति शेषः, जीवनं धन्यं प्रशस्तं, भवतीति शेषः ; ईदृग्जीवनवन्त एव पुरुषाः सफलजन्मान इति भावः ।

(२०६) नेति ।—दृष्टया प्रबलधनलक्ष्म्या, वाह्यमानस्य नीयमानस्य, जनस्य इति शेषः, योजनानां शतं योजनशतं बहुदूरमपीत्यर्थः, दूरं दूरत्वेन परिगणितं, न, भवतीति शेषः, इयद्दूरं गत्वा अनेन एतावद्धनं लब्धम्, अहमपि गन्तुं शक्नुयाच्चेदवश्य-मेव तत् लभेयमित्याशया लुब्धः बहुदूरमपि दूरं न गणयति इत्यर्थः, परन्तु सन्तुष्टस्य वीतसृङ्गस्य, करप्राप्ते हसगतेऽपि, का कथा दूरस्थे प्रयत्नलभ्ये च इत्यपिशब्दाद्यर्थः, अर्थे धने, आदरः यत्र, न भवति ।

(ल) अवस्थोचितकार्यपरिच्छेदः,—अवस्थायाः उचितं युक्तं, यत् कार्यं तस्य परिच्छेदः निर्णयः, अवस्थानुरूपकर्तव्यावधारणम् ।

(२०७) क इति ।—जगति भूतले, जन्तोः मानवस्य इत्यर्थः, धर्मः कः कोदृशः ? मृतेषु दया मृतदया प्राणिषु अनुकम्पा एव धर्मः । सौख्यं सुखिता, किम् ? अरोगिता नारीगतम् एव सौख्यं सुखसाधनम् । (“अरोगिता जगति जन्तोः” इत्यत्र “मित्यमरोगिता जगति” इति पाठान्तरम्) स्नेहः प्रणयः कः ?

तथा च,—परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदापन्ना विपत्तयः ।

अपरिच्छेदकर्तृणां विपदः स्युः पदे पदे ॥२०८॥

तथाहि,—त्यजेदेकं कुलस्यार्थं ग्रामस्यार्थं कुलं त्यजेत् ।

ग्रामं जनपदस्यार्थं आत्मायार्थं पृथिवीं त्यजेत् ॥२०९॥

अपरञ्च,—पानीयं वा निरायासं स्वादन्नं वा भयोत्तरम् ।

विचार्य खलु पश्यामि तत् सुखं यत्र निर्वृतिः ॥२१०॥

सद्भावः साधुभावः, उपचिकीर्षादिरित्यर्थः । पाण्डित्यं ज्ञानवत्त्वं किम् ? कर्तव्याकर्तव्यावधारणम् । आर्यां वृत्तम् ।

(२०८) परिच्छेद इति ।—परिच्छेदः हि कर्तव्यावधारणम् एव, तद्विद्यावत्ता, विपत्तयः आपदः, यत् यतः परिच्छेदात्, आपन्नाः आपत्त्याः इत्यर्थः । भवन्तीति शेषः । अपरिच्छेदकर्तृणां कार्यनिर्णायकबुद्धिरहितता वैकानामित्यर्थः, पदे पदे प्रतिपदम्, अनुचयमिति यावत्, विपदः स्युः अविवेकिनः सदा विपन्ना भवन्ति इत्यर्थः । उक्तञ्च भारविणा—“अविवेकः पदां पदम्” ।

(२०९) येन केनापि उपायेन रिपुभ्यः आत्मा रक्षणीय इति वक्तुं चाप्यत्र माह, त्यजेदिति ।—कुलस्यार्थं कुलमर्थ्यादारक्षार्थम्, एकं कसपि पुत्रं आत्मीयं, त्यजेत् परिहरेत, कस्याप्येकस्य आत्मीयस्य परित्यागेन यदि वंशं सुरक्षितो भवति, समूलविनाशश्च वंशः परिमुक्तो भवति, तदा तमेकं पतिं देवेत्यर्थः, (त्यजेत् कुलार्थं पुरुषम् ” इति भारतीद्वयौगपर्वोपपाठान्तरम्) ग्रामं स्वग्रामवासिनाम् उपकारार्थं, कुलं ज्ञातिकुटुम्बादिकं सर्व्वमेव, त्यजेत्, जनपदस्य, अर्थे निमित्तं, देशरक्षार्थमित्यर्थः, ग्रामं त्यजेत्, ग्रामत्यागेनापि देशं विधेया इत्यर्थः, आत्मायार्थं आत्माहितार्थम्, आत्मोन्नतिसाधनायेत्यर्थः, कामादित्येकानामाक्रमणात् आत्मानं परित्रातुमिति भावः ; पृथिवीं जगत्, अपरीतिं सर्व्वस्वमपीति यावत्, किं पुनः ग्रामनगरादिकमिति भावः ; त्यजेत् परित्यजेत् इत्यर्थः । लोभरिपुतः आत्मपरिरक्षणमेव न प्रलोभनपूर्णग्रामादित्यागेन तदा तदपि कर्तव्यमेवेत्यर्थः । गुरुतरवस्तूनां रक्षार्थं लघुतरत्यागस्य समीचीन इति भावः । लोभरिपुतः आत्मपरिरक्षणमेव न प्रलोभनपूर्णग्रामादित्यागेन तदा तदपि कर्तव्यमेवेत्यर्थः ।

(२१०) पानीयमिति ।—निरायासं निः शक्ति, आयासः क्लेशो यत्र तादृश

इत्यालोच्याहं (व) निर्जनवनमागतः । यतः,—

वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं

द्रुमालयः पत्रफलाम्बुभक्षणम् ।

दृष्टानि शय्या वसनञ्च वल्कलं

न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम् ॥ २११ ॥

ततः (श) अस्मत्पुण्योदयात् (ष) अनेन मित्रेणाहं

अनायासलभ्यं, सार्वत्रिकत्वात् प्रयत्नं विनैव लभ्यमित्यर्थः, पानीयं जलं वा, भयोत्तरं भयं भौतिः, उत्तरं श्रेष्ठं, प्रबलमित्यर्थः, (“उदीच्यश्रेष्ठयोर्हं वाग्भेदं विदुस्तरम्” इति श्राव्यतः) यच्च तादृशं, भयप्रधानमित्यर्थः, दारुणभयं स्त्रीकृत्यापि बह्वायासेन सङ्गृहीतमिति यावत्, खादु सुरसम्, अन्नं भक्ष्यं वस्तु वा, सुखमिति शेषः, इति विचार्य एतदुभयोः किमधिकं सुखकरमिति मनसि वितर्कं इत्यर्थः, पश्यामि खलु आलोकयामि तावत्, एवं हि निश्चिनीनीत्यर्थः, यत्र उक्तविधानपानयोर्मध्ये यस्मिन् वस्तुनि, निर्वृतिः चित्तस्य शान्तिः, तत् सुखं सुखकरं, क्लेशवद्दुःखपरोपासनालभ्यात् खादुनोऽन्नात् स्वेच्छालभ्यं पानीयमात्रमपि सुखाय भवतीत्यर्थः ।

(व) निर्जनवनं—मानवसमागमरहितमरण्यम् ।

(२११) वरमिति ।—अत्र “यत्र” इति पदमध्याहार्यम् ; यत्र द्रुमालयः द्रुमः इव एव, आलयः आवासः, गृहस्वरूप इत्यर्थः, पत्रफलाम्बुनि एव भक्षणं भोज्यं, दृष्टानि शय्या शयनीयं, वल्कलञ्च इच्छलवत्, वसनं परिधेयं, तादृशं व्याघ्राय गजेन्द्राय तैः सेवितम् अधिष्ठतं, हिंस्रप्राणिसङ्कुलं, वनम् अरण्यमपि, वरं श्रेष्ठं, वासाय इति भावः ; यद्वा—व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं वनम्, अपीति शेषः, वरं प्रियं, तथा द्रुमाणां वृक्षाणाम् आलयः वृक्षपूर्णो निवासः इच्छतलवासी वा इत्यर्थः, पत्राणि फलानि अम्बु च तेषां भक्षणं (पत्रफलाम्बुभक्षणमिति वा पाठः) तथा दृष्टानि घासाः, शय्या शयनं, वल्कलं इच्छलवत्, च, वसनं यत्र, (परिधानवल्कलमित्यपि पाठः) एतत् सर्वमपि वरमिति मन्ये, तथाऽपि बन्धुमध्ये बान्धववैष्टिते नगरे, धनहीनजीवनं सम्पत्तिहीनमवस्थानं, न, वरमिति शेषः । वंशस्थविलं वृत्तम् ।

(श) अस्मत्पुण्योदयात्—मम पुण्यप्रकाशात्, पापक्षयानन्तरं प्राक्तनसुकृतफल-भोगसमयाविर्भावदित्यर्थः ।

(ष) अनेन—पार्श्वस्थेन लघुपवनकेन ।

(स) स्नेहानुवृत्त्याऽनुगृहीतः । अधुना च (ह) पुण्यपरम्परा
भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः । यतः,—

संसारविषवृक्षस्य हे एव मधुरे फले ।

काव्यामृतरसास्वादः सङ्गमः सज्जनैः सह ॥२१२॥

अपरच,—सत्सङ्गः केशवे भक्तिर्गङ्गाश्रसि निमज्जनम् ।

असारे खलु संसारे त्रीणि साराणि भावयेत् ॥२१३॥ अन्यच्च,—

[इति चूडाकर्ण-वीणाकर्णनामकपरित्राजककथा] ।

मथ्यर उवाच,—

“अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनं
मानुष्यं जलविन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवनम् ।

(स) स्नेहानुवृत्त्या—स्नेहेन अनुवृत्तिः प्रवाहरूपेण अनुसरणं तथा ।
प्रदर्श्य सततं मदलग्नमनेनेत्यर्थः ; स्नेहस्य अनुवृत्तिः अनुबन्धः, सातत्येनावस्थानं च
निरन्तरस्नेहप्रदर्शनद्वारा इत्यर्थो वा, सस्नेहानुकूल्येन इत्यर्थो वा ।

(ह) पुण्यपरम्परा—अविच्छिन्नसुकृतधारया ।

(२१२) संसारेति ।—संसारः एव विषवृक्षः तस्य क्लेशबहुलस्य संसारक्षेत्रे
हे एव फले मधुरे स्वादुनी, न सर्वाणीति भावः ; भवत इति शेषः, (“रसवत्
इति पाठान्तरम्) के ते ? इत्याह,—काव्यमेवामृतं तस्य रसः माधुर्यरूपः,
आस्वादः अनुभूतिः, तथा सज्जनैः साधुभिः, सह सङ्गमः संसर्गः, मेलनम् इति
(“संसारकूटवृक्षस्य हे फले अमृतोपमे । सुभाषितरसास्वादः सङ्गतिः सज्जनैः सह
इति वृक्षचाणक्ये पाठान्तरम्)

(२१३) सत्सङ्ग इति ।—असारे तुच्छे, चणभङ्गुरे इति भावः, संसारो
जगति, सत्सङ्गः साधुसंसर्गः, केशवे नारायणे, भक्तिः अनुरागः, गङ्गाश्रसि गङ्गा
निमज्जनं स्नानम्, इति एतानि त्रीणि खलु निश्चितं, साराणि स्थिराणि, महदा
इति यावत्, भावयेत् चिन्तयेत् ।

(२१४) अर्था इति ।—अर्थाः धनानि, पादरजोपमाः पादस्य रजः पूति
चपमा वैयां ते तथोक्ताः, पादधूलिसदृशा अतितुच्छा इत्यर्थः, [रज्जयतेः कप्रत्यये
शब्दोऽयं अदन्तः पुंलिङ्गश्च । “पुण्ये वेशे गुण्ये चैव रजोऽयं रजसा सह” इति सत्यवती
“रजोऽयं रजसा साहं स्त्रीपुष्पगुणधूलिषु” इत्यमरश्च] । यौवनं यौवनावस्था, ति

धर्मं यो न करोति निश्चलमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापहतो जरापरिणतः शोकाग्निना दह्यते ॥२१४॥

युष्माभिरतिसञ्चयः कृतः, तस्यायं दोषः । शृणु,—

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।

तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाभ्यसाम् ॥२१५॥

अन्यच्च,—यदधोऽधः क्षितौ वित्तं निचखान मितम्पचः ।

तदधोनिलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः ॥ २१६ ॥

नद्याः [अत्र णत्वविधेर्भेदकल्पकत्वात् गिरिणदौ इत्येवं पदमपि भवति] निर्भरिण्याः,
पार्वत्यनद्याः इत्यर्थः, वेगः स्त्रोतः, स उपमा यस्य तत् चणस्याधि, गिरिणदौप्रवाहो
यथा अकक्षात् सनागत्य शीघ्रमेव शीघ्रं याति, यौवनमपि तथेत्यर्थः, मानुष्यं मनुष्यता,
शूरत्वविद्वत्त्वादिकमिति यावत्, जलबिन्दुवत् वारिविन्दुवत्, लोलचपलम् अतिशय-
चञ्चलमित्यर्थः, विनश्यरमिति यावत्, जीवनम् आयुः, फेनोपमं फेनसदृशम्, उल्याय
विलयनशोचमित्यर्थः, अतः यो जनः निश्चलमतिः स्थिरबुद्धिः सन्, दृढसङ्कल्पः सन्नि-
त्यर्थः, स्वर्गार्गलोद्घाटनं स्वर्गद्वारमोचकं, धर्मं न करोति नाचरति, जराऽऽगमनात्
प्रागेवेति भावः, जरापरिणतः कौर्णः, जरया शिथिलीकृताङ्गः इत्यर्थः, स जनः
इति शेषः, पश्चात्तापहतः अनुतापाक्रान्तचित्तः सन्, शोकाग्निना शोकदहनेन,
दह्यते अन्तर्भक्षोक्तिर्यते, एवमचिरस्थायिधनादिषु यत्नं विहाय चिरस्थायिनि धर्म-
मतिः कर्तव्या इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

(२१५) उपार्जितानामिति ।—तडागोदरसंस्थानां सरोवरमध्यस्थितानाम्,
अभ्यसां जलानां, प्रवृद्धानामिति भावः, परीवाहः जलोच्छ्वास इव, किञ्चिन्निःसारण-
मिवेत्यर्थः, (“परीवाहः” इत्यत्र “परिस्त्रवः” इति वृद्धचाणक्योक्तपाठः) उपार्जितानां
सङ्गृहीतानां, ज्ञानानाम् इत्यर्थः, वित्तानां धनानां, त्यागः सत्पात्रे विनियोगः एव,
रक्षणं सञ्चयः हि, न तु पेटकादिषु रक्षणं रक्षणमिति भावः, यथा गभीरतडागस्य
मध्ये प्रभूतजले सञ्चिते सति तस्मात् किञ्चिज्जलनिःसारणेनैव सर्वस्य जलराशिः
रक्षणं भवति, तथा उपार्जितस्य धनस्य योग्यपात्रे वितरणमेव ज्ञानान्तरालभ्यत्वात्
प्रकृतरक्षणं, न तु भृगुर्मादौ स्थापनं तस्य रक्षणमिति भावः ।

(२१६) यदिति ।—मितं परिमितं पचतीति [खच्] मितम्पचः अल्प-
मानपाचकः, आत्मभरिः कृपण इत्यर्थः, क्षितौ मृतले, अधोऽधः सर्वाधस्तात्, सुगभीर-

यतः,—निजसौख्यं निरुन्वानो यो धनार्जनमिच्छति ।

परार्थभारवाहीव स क्लेशस्थैव भाजनम् ॥२१७॥

तथा चीत्तम्,—दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि ।

भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम् ? ॥

दानोपभोगहीनाश्च दिवसा यान्ति यस्य वै ।

स कर्मकारभस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति ॥२१८॥

नर्तै क्लेशस्थः, यत् वित्तं धनं, निचखान धातूनामनेकाग्रत्वात् निश्चितम् ।

(“वित्तम्” इत्यत्र “गर्तम्” इति पाठकल्पना साध्वी) तत् धनम्, अयतः प्र

स्थापयितुः जीवनावस्थायामेव इत्यर्थः, अधोनिष्ठं पातालं, गन्तुं पन्थ

शक्ते, तदेव खनकस्य पातालप्रवेशाय मार्गद्वारेण परिणतं भवतीत्यर्थः ।

क्षपणः न कदापि सङ्गतिं लभते, तस्याधोगतिरेव इत्याशयः ।

(२१७) निजिति ।—यो जनः, निजस्य सौख्यं निजसौख्यं स्वकीयं न
निरुन्वानः निरुन्वान्, आत्मानं क्लेशयित्वेत्यर्थः, धनार्जनं धनसञ्चयम्, इच्छति
लभति, स आत्मपोषक इत्यर्थः, परार्थं परनिमित्तं, भारवाही भारोक्त
इव, गर्ह्यः इव इत्यर्थः, क्लेशस्थैव केवलं दुःखस्थैव, न तु उपभोगसेति ।
भाजनम् आस्पदं, भवतीति शेषः ।

(२१८) दानेति ।—यदि, नराः इति कर्तृपदमूहनीयम् ; दानोपभोग
दानश्च उपभोगश्च ताभ्यां हीनं तेन त्यागभोगरहितेन, अदत्तेन अभुङ्क्तेन
धनेन अर्थेन, धनिनः आत्माः, भवन्ति इति शेषः, तदा तेन एव धनेन
रसशीलस्य तस्य धनिनो मणिरत्नादिना, वयं धनिनः ऋद्धिमन्तः, किं
भवामः ? यदि लोका धनमर्जयित्वा स्वयं न भुङ्क्ते, दरिद्रेभ्यश्च न
केवलं सञ्चिन्वन्ति, अथच आत्मानं धनिनं मन्यन्ते, तदा भूगर्भस्थितेन तै
वयमपि आत्मानं धनिनं मन्यामहे, तव धनिनः निर्जनस्यापि तुल्यत्वात् इति
(“भवामः किं न तेनैव” इत्यत्र “पृथ्वीखातनिखातेन” इति वा पाठः)

(२१९) दानेति ।—यस्य च जनस्य, दिवसाः दानेन वितरणेन, उपभोगे
हीनाः वर्जिताः, दानोपभोगौ विनेत्यर्थः, यान्ति अतिवर्तन्ते, वै इति पूरणात्
सः नराः, कर्मकारस्य भस्त्रा चर्मप्रसेविका, (हापर) अग्निप्रधमनचर्मप्रसेविका
इव इत्यर्थः, श्वसन् निश्वासन् अपि, न जीवति ; स जीवन्मृत इवेत्यर्थः ;
कर्मकारभस्त्राया जीवितलक्षणं निश्वासरूपो वायुर्निःसरति, अपि तु सा चर्म

धनेन किं ? यो न ददाति नाश्रुते
बलेन किं ? यश्च रिपून् न बाधते ।
श्रुतेन किं ? यो न च धर्ममाचरेत्
किमात्मना ? यो न जितेन्द्रियो भवेत् ॥२२०॥

अथ,—असम्भोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः ।

अस्येदमिति सम्बन्धो हानौ दुःखेन गम्यते ॥२२१॥

अथ,—न देवाय न विप्राय न बन्धुभ्यो न चात्मने ।

कृपणस्य धनं याति वङ्कितस्कारपार्थिवैः ॥ २२२॥

या किमपि प्राणिकाय्ये न कर्तुमर्हति, तद्वद् दानीपभोगहीनः पुरुषोऽपि कर्त्तव्य-
कर्माकरणात् जीवनलक्षणं आसं त्यजन्नपि मृतवदेव तिष्ठति इति भावः ।

(२२०) धनेनेति ।—यः धनी, न ददाति सत्पात्रे न प्रतिपादयति, न च
श्रुते धातूनामनेकार्थत्वात् न उपभुङ्क्ते, (“यो न ददाति याचके” इति वा पाठः)
स तादृशेन धनेन किम् ? किं कार्यम् ? सम्पद्यते इति सर्व्वप्रोक्षम् । यश्च बल-
वान्, रिपून् शत्रून्, न बाधते न पराजयते, तस्य बलेन शक्त्या किम् ? यश्च विद्वान्,
नेन आचरेत् न कुर्व्यात्, तस्य श्रुतेन शास्त्राध्ययनेन, किम् ? यः जीवः, न
जितेन्द्रियः संयमी, भवेत्, तस्य आत्मना जीवनेन, किम् ? न किमपि प्रयोजन-
वत्यर्थः । (“यः” “यश्च रिपून्” “यो न च” “भवेत्” इत्येतेषु भारतशान्तिपर्व्वो-
पनिषद्धर्मव्याख्यानप्रकरणे “यत्” “येन रिपु” “येन न” “वशी” इत्येतानि पाठान्त-
र्याणि) । वंशस्थविलं वृत्तम् ।

(२२१) असम्भोगेनेति ।—कृपणस्य व्ययकुण्डस्य, धनम् असम्भोगेन उप-
भोगविरहेण, अनुपभुक्तत्वादित्यर्थः, परैः अन्यस्त्वानिर्धनैरित्यर्थः, सामान्यं तुल्यम्,
अथोरपि धनयोरुपभोगाक्षमत्वादिति भावः । अथोरपि सामान्ये कस्यसाधि-
कारिविज्ञानीपायः ? इत्याह, अस्येति ।—हानौ चौरादिभिरपहरणेन धननाशे
इति, दुःखेन कृपणस्य धनस्त्वामिनः मनःपीडया, अस्य कृपणस्य, इदं धनं, कृपण-
त्वानिर्धनमिदं धनमिति, सम्बन्धः सम्पर्कः, गम्यते जायते, नान्यथेत्यर्थः ।

(२२२) नेति ।—कृपणस्य उचितव्ययकुण्डस्य, धनं देवाय देवप्रोत्यर्थे
भोगाद्यनुष्ठानाय, न, विप्राय ब्राह्मणाय, न, बन्धुभ्यो बन्धूनामुपकारार्थं, न,
आत्मने आत्मनः भोगार्थं, न याति न व्ययितं भवति इत्यर्थः, अपि तु वङ्कितस्कार-
पार्थिवैः अग्निचौरदूषैः, यच्छते इति शेषः ।

अथ च,—दानं भोगो नाशस्त्रियो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥

तथा चोक्तम्,—

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमाऽन्वितं शौर्यम् ।
त्यागसहितञ्च वित्तं दुर्लभमेतच्चतुर्भद्रम् ॥२२४॥

अथ,—कर्त्तव्यः सच्चयो नित्यं कर्त्तव्यो नातिसच्चयः ।

पश्य सच्चयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः ॥ २२५ ॥

तवाहतुः,—“कथमेतत् ?” । मन्थरः कथयति ।—

आध-सृग-शूकर-सर्प-जम्बुककथा ।—

“आसीत् (क) कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम ॥

(२२३) दानमिति ।—वित्तस्य धनस्य. दानं सत्पात्रे वितरणं, भोगः, नाशः क्षयः, चौरादिभिरपहरणमिति यावत्, तिस्रः एताः त्रिविधाः प्रवस्थाः भवन्ति ; यः न ददाति न वितरति, न च भुङ्क्ते न च धनं तस्य जनस्य, धनस्य इति शेषः, तृतीया नाशरूपा, अप्रितस्कारादिभिर्गणितं गतिर्दशा, भवति । आर्यां वृत्तम् ।

(२२४) दानमिति ।—दानं वितरणं, प्रियवाक्सहितं मधुरवाक्पुत्रं शोभते इत्युद्गनीयम् ; ज्ञानं शास्त्रबोधः, पाण्डित्यम् इत्यर्थः, अगर्वम् अहंता शौर्यं शूरता, क्षमाऽन्वितं तितिक्षासहितं, वित्तं धनञ्च, त्यागसहितं सत्पात्रं युक्तम् ; एतत् पूर्वोक्तं, चतुर्णां भद्राणां मङ्गलानां समाहारः चतुर्भद्रं कल्याणं चतुर्विधं सदावहारमित्यर्थः, दुः दुःखेन लभ्यते यत् तत् दुर्लभं दुष्प्रापं, कुत्रचित् दृश्यते इति भावः । आर्यां वृत्तम् ।

(२२५) कर्त्तव्य इति ।—नित्यं प्रत्यहं, सच्चयः धनसङ्ग्रहः, व्ययसक्तो किञ्चित् किञ्चित् रक्षणमित्यर्थः, कर्त्तव्यः विधेयः, किन्तु अतिसच्चयः आत्मानं ते अधिकसङ्ग्रहः, न कर्त्तव्यः ; पश्य जानीहीत्यर्थः, असौ वक्ष्यमाणकथायाः इत्यर्थः, सच्चयशीलः अतिसच्चयी, जम्बुकः शृगालः, धनुषा कान्तुकेण, इतः ॥

(क) कल्याणकटकवास्तव्यः,—कल्याणकटक् तदाख्यं स्थानं, तत्र वासकक्षां, कल्याणकटकं शास्त्रज्ञं प्रसूतिस्थानं यस्य इति वा, कल्याणकटकवास्तव्यः । वसुतेः तव्यत् ।

ख चैकदा (ख) मांसलुब्धः धनुरादाय मृगमन्विष्यन् विन्ध्याटवी-
मध्यं गतः । तत्र तेन मृग एको व्यापादितः । ततो मृगमादाय
गच्छता तेन (ग) घोराऽऽकृतिः शूकरो दृष्टः । ततस्तेन मृगं
भूमौ निधाय शूकरः शरेण हतः । शूकरेणाप्यागत्य (घ) प्रलय-
घनघोरगर्जनं कुर्वाणेन स व्याधो (ङ) सुष्कदेशे हतः
(च) छिन्नद्रुम इव पपात । तथा चोक्तम्,—

जलमग्निर्विषं शस्त्रं क्षुद्रं व्याधिः पतनं गिरेः ।

निमित्तं किञ्चिदासाद्य देही प्राणैर्विसुच्यते ॥ २२६ ॥

अथ तयोः पादाऽऽस्फालनेन एकः सर्पोऽपि मृतः । अत्रान्तरे

(छ) दीर्घरावो नाम जम्बुकः परिभ्रमन्नाहारार्थी तान् मृतान्
मृगव्याधसर्पशूकरान् अपश्यत्, आलोक्याचिन्तयच्च,—“अहो
भाग्यम् ! अद्य (ज) महद्भोज्यं मे समुपस्थितम् । अथवा,—

अचिन्तितानि दुःखानि यथैवाऽऽयान्ति देहिनाम् ।

सुखान्यपि तथा मन्ये दैवमत्रातिरिच्यते ॥ २२७ ॥

(ख) मांसलुब्धः,—मांसाय पल्लवाय लुब्धः, आभिषलीलुपः ।

(ग) घोराऽऽकृतिः,—घोरा भीषणा, आकृतिराकारो यस्य सः भयानकरूपः ।

(घ) प्रलयघनघोरगर्जनं—प्रलये कल्पान्ते, यो घनः मेघः, तस्यैव घोरं
मघद्वरं, गर्जनं नादम् ।

(ङ) सुष्कदेशे हतः,—अशुकोपे आक्रान्तः । [अपच्छेदे ७मी०] ।

(च) छिन्नद्रुम इव—उन्मूलितवृक्ष इवेत्यर्थः ।

(२२६) जलमिति ।—जलम् अग्निः विषं शस्त्रं क्षुद्रं क्षुधा, व्याधिः रोगः,
गिरेः पर्वतात् ; अत्र “गिरेः” इति उन्नतस्थानमात्रस्योपलक्ष्यं, तेन गिरितुल्योच्च-
स्थानादित्यर्थः, पतनं विद्युतिः, भ्रमपतनम् इत्यर्थः, एतेषां किञ्चित् किमपि,
निमित्तं कारणम्, आसाद्य प्राप्य, देही शरीरी, प्राणैर्विसुच्यते विद्युन्यते, क्षियते
इत्यर्थः, मृत्यो एतेषामेकतमं हेतुर्भवतीति निष्कर्षः ।

(छ) दीर्घरावः,—दीर्घः उच्चैः, रावः शब्दः यस्य सः ।

(ज) महत् भोज्यं—प्रचुरं खाद्यम् ।

(२२७) अचिन्तितानीति ।—देहिनां शरीरिणां, दुःखाणि यथा यद्वत्,

हि—८

भवतु, एषां मांसैः (भ) मासत्रयं समधिकं भोज्यं भविष्यति,—

मासमेकं नरो याति द्वौ मासौ सृगशूकरौ ।

अहिरेकं दिनं याति अथ भक्ष्यो धनुर्गुणः ॥ २२८ ॥ तथाच,—

ततः (ज) प्रथमबुधुच्चायामिदं (ट) निःस्त्रादु (ठ) कोट
टनीलग्नं (ड) स्नायुबन्धनं खादामि ।” इत्युक्त्वा (ड) किञ्च,—
अकरोत् । ततश्चिन्ने स्नायुबन्धने द्रुतम् उत्पतितेन

अचिन्तितानि एव अनालोचितानि एव, अतर्कितान्येत्यर्थः, आयाति सर्पः
सुखानि अपि तथा अपिन्तितान्येव आयानीत्यर्थः, अत्र अस्मिन् सुखदुःख
विषये, द्वैवं विधिः, भाग्यमित्यर्थः, (“दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिं
इत्यमरः) अतिरिच्यते अतिशय्यते, सर्वं प्रतिबन्धनमभिभूय स्वयमेव प्रवर्त
इत्यर्थः, [अति + रिच + कर्म्मकर्त्तरि लट्] इति मन्त्रे विचारयामि, अहमिति
देवप्रातिकूल्यं दुःखस्य देवानुकूल्यञ्च सुखस्य कारणमिति भावः ।

(भ) मासत्रयं—त्रिमासं व्याप्य, [“कान्ताध्वगौरत्यन्तसंयोगे” (राशः) मुङ्क्ते,
इति द्वितीया] । मासत्रयमित्यतः परं “मे सुखेन गमिष्यति” इति पाठान्तरं
असधिकं—प्रचुरम् । यथा—असधिकं मासत्रयं—मासत्रयाधिकमित्यर्थः ।

(२२८) मासमिति ।—नरः व्याधः इति यावत्, एकं मासं व्याप्य, याति
गच्छति, सृगशूकरौ द्वौ मासौ, यात इति शेषः, अहिः सर्पः, एकं दिनं व्याप्य,
भक्ष्यत्वं प्राप्नोति, अथ अस्मिन्नहनि, धनुर्गुणः धनुषो मौर्वी, भक्ष्यः भक्षणीयः,
धनुर्गुणं भक्षयित्वैव दिक्षमतिवाहयामनीत्यर्थः ।

(ज) प्रथमबुधुच्चायां—प्रथमचुचायां, अतिप्रबलचुचाकाले इत्यर्थः ।

(ट) निःस्त्रादु—विरसन् ।

(ठ) कोट्ठाटनीलग्नं—धनुःकोटिस्थिते, धनुषः अग्रभागस्थमित्यर्थः ।

(ड) स्नायुबन्धनं—स्नायवः अङ्गप्रत्यङ्गसन्धिवन्धनमूतदेहान्तर्वर्तिरूप
विशेषाः, ताभिः बन्धनं तत्कृतमित्यर्थः, कोटिदेशे गुणस्य दृढतया संयमनाच्च
तन्नुविशेषमित्यर्थः ; प्रपल्लुधोद्रेके त्रिस्त्रादु अपि स्त्रादुवत् रोचते, अत एव त्रि
स्त्रादु स्नायुः कोटिलग्नः सवीवचुचायां मन्त्रमिदानीं खदते एव इति भावः ।

(ड) तथा—स्नायुबन्धनभक्षणमित्यर्थः, स्नायुबन्धनभक्षणाय दन्तैर्दन्तैर्
भावः । (“तथा अकरोत्” इत्यत्र “तथा कृते सति” इति पाठान्तरम्) ।

हृदि (ण) निर्भिन्नः स दीर्घरावः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं
ब्रवीमि,—“कर्त्तव्यः सञ्चयो नित्यम्” इत्यादि ।

[इति व्याघ्र-मृग-शुकर-सर्प-जन्तुककथा] ।

तथाच,—यद्ददाति यदश्नाति तदेव धनिनो धनम् ।

अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति दारैरपि धनैरपि ॥ २२६ ॥

किञ्च,—यद्ददासि विशिष्टेभ्यो यच्चाश्नासि दिने दिने ।

तत्ते वित्तमहं मन्ये सेव्यं कस्यापि रक्षसि ॥ २३० ॥

यातु, किम् इदानीम् (त) अतिक्रान्तोपवर्णनेन ? यतः,—

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम् ।

आपत्स्वपि न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २३१ ॥

(ण) निर्भिन्नः,—विदारितः ।

(२२६) यदिति ।—यत् धनं, ददाति वितरति, यच्च अश्नाति स्वयम् उप-
भुङ्क्ते, धनिनः धनस्वामिनः, तदेव दत्तं शुक्लञ्च धनमेव, धनं वित्तं, सार्थकं धन-
मित्यर्थः, भवतीति शेषः, न तु सञ्चितं धनं धनपदवाच्यमित्येवकारार्थः ; यतः अन्ये
जनाः, मृतस्य धनिनः, दारैरपि कलत्रैरपि, धनैर्वित्तैरपि, क्रीडन्ति रमन्ते, कृपणा
धनिनः धनं सञ्चित्य अदत्त्वा अनुपभुज्य च सिध्यन्ते, अपरे तद्धनदारान् उपभुञ्जते
इत्यर्थः ।

(२३०) यदिति ।—दिने दिने प्रतिदिनं, विशिष्टेभ्यः सत्पात्रेभ्यः इति यावत्,
यत् धनं, ददासि यच्छसि, यच्च अश्नासि उपभोगादिना चयं नयसि, तत् एव
वित्तं ते तव, इति अहं मन्ये जानामि, रक्षसि सञ्चिनीषि, यदिति शेषः, तत्
कस्यापि त्वदन्ते अन्यस्य कस्यापि, सेव्यं भीम्यं, भविष्यतीति शेषः । “सेव्यम्” इत्यत्र
“शेषम्” इत्यपि पाठः,—तत्र दानाश्रनातिरिक्तमित्यर्थः ।

(त) अतिक्रान्तोपवर्णनेन—अतिक्रान्तस्य अतीतस्य, उपवर्णनं प्रस्तावक्रमेण
कथनम्, आलोचनमित्यर्थः, तेन, विगतविषयाऽऽलोचनया इत्यर्थः ।

(२३१) अतिक्रान्तोपवर्णनं निष्पृथीजनमिति स्ववचनं समर्थयितुं महा-
भारतीयोद्द्योगपर्ववचनं प्रमाणयति, नेति ।—पण्डितबुद्धयः धीरमतयः, विवेक-
धीसम्पन्ना इत्यर्थः, नराः मनुष्याः, अप्राप्यं दुर्लभं वस्तु, प्राप्तिसम्भावनाविरहितं
वस्तु इत्यर्थः, न अभिवाञ्छन्ति न प्राप्यन्ते, नष्टं लुप्तं, मृतमपहृतं विध्वस्तश्चेत्यर्थः,

तत् सखे ! सर्वदा त्वया (य) सोत्साहेन भवितव्यम् ।

शास्त्राख्यधौत्यापि भवन्ति मूर्खा

यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।

सुचिन्तितञ्चौषधमातुराणां

न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥ २३२ ॥

अन्यच्च,—न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः

करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि ।

अन्यस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि

प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः ? ॥ २३३ ॥

शोचितं तदर्थं शोकं कर्तुं, न इच्छन्ति न अभिलषन्ति, तथा च विपत्कालेषु अपि, न मुह्यन्ति न मोहमाप्नुवन्ति ; ये एवभूता ते एव इत्यर्थः ; अत एव अतिक्रान्तीपवर्णनेनालमिति भावः ।

(य) सोत्साहेन—उत्साहः अध्यवसायः, तेन सह वर्तमानः तेन अद्यत इत्यर्थः ।

(२३२) भारतीयवनपर्वोक्तश्रीकमवलम्ब्य सोत्साहं क्रियावन्तं कौति, शीति ।—श्लोकाः शास्त्राणि वेदादीनि, अधौत्यापि पठित्वाऽपि, श्रुतशीला अपि मूर्खाः अविद्वांसः, शास्त्रविहितस्य अनुष्ठानादिति भावः, भवन्ति, यस्तु क्रियावान् शास्त्राणि अनुसृत्य यागश्चाद्याद्यनुष्ठानवान्, स एव विद्वान् प्रकृत्य अनुष्ठानं विना धर्मशास्त्रपाठमात्रं न मूर्खत्वपरिहारहेतुरित्यर्थः । तथापि भेषजं, सुचिन्तितञ्च सम्यक् विचारितम् अपि, यथाव्याधि निर्णीतमनीत्यर्थः । मात्रेण केवलनामोल्लेखेन, यथाविधि सेवनं विनैति भावः ; आतुराणां रोगा अरोगं रोगाभावं, रोगशान्तिमित्यर्थः, न करोति ; आचारपरायण एव आचारविहीनः शास्त्रज्ञोऽपि मूर्ख इति निष्कर्षः । (अस्वानुरूपश्रीको वनावनपर्वणि—“पठकाः पाठकायैव ये चान्ये शास्त्रचिन्तकाः । सर्वे व्यसनीति यः क्रियावान् स धार्मिकः” ॥ इति) । उपजातिः वृत्तम् ।

(२३३) नेति ।—विज्ञानविधिः विज्ञानशास्त्रोक्तक्रमः, शिल्पविषयकं विषयकं वा ज्ञानमित्यर्थः, अध्यवसायात् अनुष्ठानात्, भीरोः पराङ्मुखः, योगस्य इत्यर्थः, स्वल्पमपि श्लोकमपि, गुणम् उपकारं, न हि करोति, कार्यं

तदत्र सखे ! (द) दशाऽतिशेषेण शान्तिः करणीया ।

एतदप्यतिकष्टं त्वया न मन्तव्यम्,—

सुखमापतितं सेव्यं दुःखमापतितं तथा ।

चक्रवत् परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ २३४ ॥

अपरञ्च,—निपानमिव मण्डूकाः सरः पूर्णमिवाण्डजाः ।

सोदयोगं नरमायान्ति विवशाः सर्वसम्पदः ॥ २३५ ॥

योगाभावात् स विज्ञानविधिः न उपकाराय प्रभवतीति भावः ; तथाहि इह भूतलैः, अन्यस्य दृष्टिहीनस्य जनस्य, हस्ततलस्थितोऽपि करतलगतोऽपि, अतिसन्निकटोऽपीत्यर्थः, किं पुनर्दूरस्थ इत्यपिशब्दार्थः, प्रदीपः वर्तिका, अर्थं वस्तु, प्रकाशयति प्रकटयति किम् ? करतलस्थेनापि दीपेनाग्नौ वस्तुजातं द्रष्टुं शक्नोति किम् ? नैवेत्यर्थः ; अन्यस्य प्रदीप इव अनध्यवसायस्य विज्ञानविधिः निरर्थक एवेति भावः । उपजातिः वृत्तम् ।

(द) दशाऽतिशेषेण—दशायाः अवस्थायाः, अतिशेषः अतिक्रमणं तेन, अवस्थायाः परिवर्तनशीलतां विविचेत्यर्थः ; यद्वा—अतिशयेन शेषः अतिशेषः चरमविषय इत्यर्थः, दशाया अतिशेषेण चरमविषयेण, अतिदुःखऽवच्छेददश्याऽपीत्यर्थः । (“दशाविशेषे” इति पाठान्तरम्) । करणीया—विधेया, अवलम्बनीयेत्यर्थः ।

(२३४) भारतशान्तिपर्वीयमोक्षधर्मोक्तश्लोकस्य छायामुपजीव्य सुखदुःखयोरनि-
यतवृत्तिलमाह, सुखमिति ।—आपतितम् उपस्थितं, सुखं, तथा आपतितम् उप-
स्थितं, दुःखञ्च सेव्यम् उपभोग्यं, यथाऽऽगतं सुखं दुःखञ्चानुभवेदित्यर्थः, दुःखानि च
सुखानि च चक्रवत् रथचक्राण्येव, परिवर्तन्ते अविरतं भ्राम्यन्ति, दिवाराविशुक्लकण-
पचादिवत् आयान्ति च यान्ति चेत्यर्थः ; कदाचित् एकः सुखम् अन्यो दुःखमनुभवति,
पुनः कदाचित् स सुखी दुःखं दुःखी च सुखमनुभवति, इत्येव संसाररौतिः, अतः
यथाऽऽगतं सुखं दुःखमनुभवमपि सेव्यमिति भावः । भारते वनपर्वणि शान्तिपर्वणि
च अस्य बहवः पाठभेदाः दृश्यन्ते ।

(२३५) निपानमिति ।—मण्डूकाः भेकाः, निपानं गवादिपशूनां पानार्थं कृतं
कूपसमीपवर्तिचुद्रजलाशयम् इव, (“आद्यावस्तु निपानं स्यादुपकूपजलाशये”
इत्यमरः) अण्डजाः पक्षिणः, हंसकारण्डवादय इति यावत्, पूर्णं प्रभूतजलं, सर
इव, सर्वसम्पदः सर्वाः सम्पत्तयः, विवशाः गुणानुरागेण वशीभूताः सत्तः, सोदयोगम्
उदयोगिनं, नरं पुरुषम्, आयान्ति आश्रयन्ति । उक्तञ्च “उदयोगिनं पुरुषसिंहमुपैति
वज्रोः” इति ।

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY.

अपि च,—उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं

क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ।

शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदञ्च

लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ॥ २३६ ॥

विशेषतश्च,—

विनाऽप्यर्थैर्धीरः स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं

समायुक्तोऽप्यर्थैः परिभवपदं याति क्लृप्तः ।

स्वभावादुद्भूतां गुणसमुदयावाप्तिविषयां

द्युतिं सैहो किं श्ला धृतकनकमालोऽपि लभते ? ॥१॥

(२३६) उत्साहेति ।—लक्ष्मीः सम्पदधिष्ठात्री देवी, निवासहेतोः नार्थं, स्वयम् आत्मनेव, उत्साहसम्पन्नम् उद्योगिनम्, अदीर्घसूत्रं चिरक्रियया कार्यसम्पादने अनलसमिति यावत्, क्रियाविधिज्ञम् अनुष्ठाननियमविदं, कदा प्रारब्धे कृते निष्पादनीयं कर्म सुखसम्पाद्यं भवेत् तदभिज्ञमित्यर्थः, व्यसने मग्नत्वादिषु, असक्तम् अनासक्तं, शूरं साहसिकं, कृतज्ञं कृतवेदिनं, पूर्णतः प्रति उपकुर्वन्तमिति यावत्, दृढसौहृदं सर्वप्राणिषु मित्रेषु वा अविचलप्रणयशीलं जनमिति शेषः, याति गच्छति, आश्रयति इत्यर्थः ; एवंविधलक्षणाक्रान्तः पुत्रानान्विष्यति, परन्तु लक्ष्मीः स्वयमेव तमन्विष्य आश्रयतीति भावः ; उत्साहस्तत्कदाऽपि हतश्रीः न भवतीति निष्कर्षः । उपजातिः वृत्तम् ।

(२३७) विनेति ।—धीरः पण्डितो जनः, अर्थैर्विनाऽपि धनानि गृह्य बहुमानोन्नतिपदं बहुमानः लोकादरः, उन्नतिरभ्युदयस्तयोः पदं स्थानं, स्पृशति गुणवान् धनहीनोऽपि माननीयः उन्नतश्च भवतीत्यर्थः, क्लृप्तः लघुचेताः, अर्थैः समायुक्तः सम्पन्नोऽपि, धनवानपि इत्यर्थः, परिभवपदम् अनादराऽऽत्यदत्वं, तितमित्यर्थः, याति प्राप्नोति । तथा हि आ कुकुरः, धृतकनकमालः सुवर्णं विमूर्षितोऽपि, स्वभावात् निसर्गतः, उद्भूतां प्रकाशमापन्नम्, आजन्मसिद्धाति गुणसमुदयस्य श्रौर्व्यगाभ्योर्वादिगुणराशिः, अवाप्तिः प्राप्तिः, तस्याः विषयां स्वान्न समयगुणप्राप्तिस्त्विकां, सैहो सिंहसम्बन्धिनीं, द्युतिं कान्तिं, लभते अकिञ्च किम् ? नैवेत्यर्थः । शिखरिणी वृत्तम् ।

किञ्च,—

धनवानिति हि मदस्ते किं गतविभवो विषादमुपयासि ?

करनिहितकन्दुकसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम् ॥२३८॥

अपरञ्च,—अम्बच्छाया खलप्रीतिर्नवशस्यानि योषितः ।

किञ्चित्कालोपभोग्यानि यौवनानि धनानि च ॥२३९॥

अन्यञ्च,—वृत्त्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता ।

गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवतः स्तनौ ॥२४०॥

अपि च, सखे ! शृणु,—

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितौकृताः ।

मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति ॥२४१॥

(२३८) धनवानिति ।—धनवान् धनशाली, इति हेतोः, ते तव, मदः गर्वः,

किं कथम् ? गतविभवः निर्धनः सन्, किं कथं वा, विषादं दुःखम्, उपयासि प्राप्नोषि ? यतः, मनुष्याणां पातोत्पाताः पतनोत्थानानि, अवनत्युन्नतयः इत्यर्थः, करनिहितकन्दुकसमाः हस्तस्थितक्रीडनकसदृशाः, भवन्तीति शेषः ; यथा करस्थितकन्दुकः कदाचित् ऊर्ध्वमुत्पतति कदाचिच्च अधः पतति, तथा नरा अपि उन्नतिमवनतिश्च लभन्ते इत्यर्थः, अतो दुःखं ना कार्षीरिति भावः । आप्यां वृत्तम् ।

(२३९) अन्धेति ।—अम्बच्छाया मेघच्छाया, खलप्रीतिः खलेन सह प्रणयः, नवशस्यानि नवोत्पन्नानि मापमुद्गकलायादीनि, योषितः स्त्रियः, स्त्रीणां रूपमित्यर्थः, यौवनानि आत्मनस्कारुण्यानि, धनानि च किञ्चित्कालोपभोग्यानि अल्पकालमुपभोक्तुं योग्यानि, शीघ्रापगमशीलत्वात् न केऽपि सुधिरमेतान् भोक्तुं समर्था इत्यर्थः ।

(२४०) वृत्त्यर्थमिति ।—वृत्त्यर्थं जीविकानिर्वाहार्थं, न अतिचेष्टेत अत्यर्थं यत्नं न कुर्वीत, हि यतः, सा वृत्तिः, धात्रैव सदैव, निर्मिता निर्धारिता ; तथाहि, जन्तौ जीवे, गर्भात् जठरात्, उत्पतिते उत्पन्ने, निःसृते सति इत्यर्थः, मातुः जनन्याः, स्तनौ प्रस्रवतः चरतः, तज्जीवनार्थं विधातुरिच्छयेव इति भावः ।

(२४१) येनेति ।—येन विधात्रा, हंसाः शुक्लीकृताः शुभवर्णाः कृताः, [अभूत-तद्भावे चिः] शुकाः कौराश्च, हरितौकृताः हरिद्वर्णाः कृताः, (“पालाशो हरितो हरित्” इत्यमरोक्तेः हरितशब्दात् चिः) येन च विधात्रा, मयराः शिखण्डिनः,

अपरच्च (ध) सतां रहस्यं शृणु, मित !—

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु ।

मोहयन्ति च सम्पत्तौ कथमर्थाः सुखाऽऽवहाः ?

अपरच्च,—धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता ।

प्रक्षालनादि पङ्क्तस्य दूरादस्यर्जनं वरम् ॥ २४३ ॥

चित्रिताः विचित्रवर्णाः कृताः, [चौरादिकस्य चित्रधातीर्निष्ठा] स ईदृशः च
चटनपट्टीयान् विधाता, ते तव, वृत्तिं जीविकां, विधास्यति सम्पादयिष्यति,
विषये त्वया नैव चिन्ता करणीया इति भावः ।

(ध) सतां रहस्यं—सतां साधूनां, रहस्यं निगूढवचनम्, अर्धविषये ।
दृढतमं मिश्रायम् इत्यर्थः ।

(२४२) भारतीयवनपर्वोक्तश्लोकमुपजीव्य सर्वास्त्रेवावस्थासु अर्धं
वह्ममाह, जनयन्तीति ।—अर्थाः अर्जने उपार्जने, दुःखं क्लेशं, जनयन्ति उपा
विपत्तिषु नाशेषु, चौरादिभिरपहृतेषु इति यावत्, तापयन्ति क्लेशयन्ति, सम्पत्तौ
च, आधिक्ये इत्यर्थः, मोहयन्ति चित्तविभ्रमं जनयन्ति, उपार्जनं मादयन्तीति ।
अतः कथं सुखाऽऽवहाः सुखकराः ? ये ईदृशाः अनर्थाऽऽवहाः ते सर्वथा दुःख
एवेत्यर्थः । (क्वचित् पुस्तके एतस्य श्लोकस्य स्थाने श्लोकान्तरं दृश्यते ; तद्
“अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे । नाशे दुःखं व्यये दुःखं धिक्
भाजनम् ॥ ”) इति ।

(२४३) धनस्युद्वायाः त्यज्यत्वे भारतीयवनपर्वोक्तिं प्रमाणयति, धर्मा
—धर्मार्थं धर्माचरणार्थं, केवलं यागादिधर्मक्रियाऽनुष्ठानार्थमेवेत्यर्थः, यस्य
वित्तेहा धनार्जनचेष्टा, तस्य जनस्य, निरीहता निर्नास्ति ईदृहा चेष्टा य
भावस्तथा निश्चेष्टता, अर्जनविमुखतेत्यर्थः, अपौति शेषः, वरं श्रेयसी, हि यत्
कर्मस्य, प्रक्षालनात् गात्रे विलिप्य धौतकरणात्, प्रक्षालनमपेक्ष्येत्यर्थः, [
लोपे प्रसी०] दूरात् दूरे स्थित्वा, अस्यर्जनं स्पर्शाकरणमेव, वरं श्रेयः ; यत्
पायाः सर्वतैव किञ्चिन्मात्रेणापि अधर्मेणानुविद्धा भवन्ति, यदि कश्चित् धर्मा
अर्जनप्रवृत्त एवं मन्यते यत् अहं यदा धर्माचरणार्थमस्मिन् प्रवृत्तः, तदा एतेन
दधर्मसंचारे सत्यपि धर्माचरणेन तनधर्मो परिहरामि, ईदृश्या बुद्ध्या धर्म
धर्मानुष्ठानमपेक्ष्य अर्जनाप्रवृत्तिः धर्मानुष्ठानञ्च वरमित्यर्थः, प्रागधर्मो क्लेश
धर्माचरणेन तदधर्मपरिहारापेक्षया अधर्मानाचरणमेव श्रेयः इति भावः ।

यतः,—यथा ह्यामिषमाकाशे पक्षिभिः श्वापदैर्भुवि ।

भक्ष्यते सलिले मत्स्यैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ २४४ ॥

अन्यच्च,—राजतः सलिलादग्नेश्चौरतः स्वजनादपि ।

भयमर्थवतां नित्यं मृत्योः प्राणमृतामिव ॥ २४५ ॥

तथाहि,—जन्मनि क्लेशबहुले किन्तु दुःखमतः परम् ।

इच्छासम्पदु यतो नास्ति यच्चेच्छा न निवर्तते ॥ २४६ ॥

(२४४) ऐश्वर्यवन्तः सदैव विपन्ना इति वक्तुं भारतीयवनपर्वोक्तश्लोकद्वयं प्रमाणयति, यथेति ।—आमिषं मांसं, भोग्यं वस्तु वा, (“आमिषं पुं नपुंसकम् । भोग्यवस्तुनि सन्धोगेऽप्युक्तोचे पल्लेऽपि च” इति मेदिनी) यथा आकाशे गगने, स्थितश्चेत् इति शेषः, पक्षिभिः खगैः, भुवि मृतले, स्थितश्चेत्, श्वापदैः व्याघ्रादिभिः हिंस्रैः, तथा सलिले जले, स्थितश्चेत् इति शेषः, मत्स्यैर्मर्नैः, (“मत्स्यैः” इत्यत्र “नम्रैः” इति पाठान्तरम्) भक्ष्यते अन्विष्य खाद्यते, तथा वित्तवान् धनवान् जनोऽपि, सर्वत्र सर्वस्मिन् स्थाने, आकाशादिषु यत्र कुत्रापि तिष्ठतु इत्यर्थः, भक्ष्यते प्रतारकैरिति शेषः ; धनवान् सर्वत्र सर्वेषामेव दस्युतस्करादीनामभिषत्वं यातीति भावः ।

(२४५) राजत इति ।—प्राणान् विभति ये तेषां प्राणमृतां प्राणिनां, मृत्योः मरणादिव, अर्थवतां धनशालिनां जनानां, राजतः नृपतेः, सलिलात् जलात्, अग्नेः वह्नेः, चौरतः तस्करात्, स्वजनात् आत्मीयादपि, (“स्वजनात्” इत्यत्र “कुजनात्” इति पाठान्तरम्) नित्यं भयं, विद्यते इति शेषः ; जगत्स्मिन् धनवतां न कुत्राप्यभयं विद्यते, नापि च ते धनस्य निरापत्तरक्षणचिन्तया कदाऽपि सुखमवस्थानुं शक्नुवन्ति, अतः सर्वथा क्लेशावह एव धनसञ्चय इति भावः ।

(२४६) जन्मनीति ।—यतः यस्मात्, क्लेशबहुले नियतक्लेशावहे, जन्मनि शरीरग्रहणे, बहुदुःखावहे अस्मिन् संसारे इत्यर्थः, इच्छासम्पत् इच्छाऽनुरूपा सम्पत्तिः, आशाऽनुरूपमैश्वर्यमित्यर्थः, नास्ति न भवति, न लभ्यते इति यावत्, इच्छा च कामना च, आशा चेति यावत्, यत् यतः, न निवर्तते न विरमति, परन्तु उत्तरोत्तरं वर्धते एव इति भावः, अतः अतः परम् एतच्चादधिकां, दुःखं क्लेशः, किं नु ? किं भवेत् ? आदौ तावत् जन्म एव दुःखं, ततः आशाऽनुरूपसम्यक्तलामः दुःखप्रदः, नियतदुःखदायिनी आशासन्ततिश्च इति एतेषां सर्वेषामेव दुःखप्रदत्वान् दुःखबहुलया मनाऽऽशया दुःखमयस्यास्य जीवनस्य भारवद्भिर्नैव कर्तव्या इति भावः ।

अन्यच्च, आतः ! शृणु,—

धनं तावदसुखं लब्धं कच्छ्रेण पाल्यते ।

लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ २४० (न) नी

सा दृष्ट्वा चेत् परित्यक्ता को दरिद्रः ? क ईश्वरः !

तस्याश्चेत् प्रसरो दत्तो दास्यच्च शिरसि स्थितम् ॥ २४१

अपरच,—यद् यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्तते ।

प्राप्त एवार्थतः सोऽर्थो यतो वाञ्छा निवर्तते ॥ २४२ सर्वथा

(२४०) धनमिति ।—धनं तावत् असुखं दुर्लभं, प्रथमतस्तत्त्वत् मर्जनमेव बहुक्लेशेन भवतीत्यर्थः, लब्धं उपार्जितञ्च तत् कच्छ्रेण । आयासेनेति यावत्, अर्जनक्लेशादपि अधिकेन क्लेशेनेति भावः ; पाल्यते चौरच्यते, लोकोरिति शेषः, लब्धस्य अर्थस्य नाशः अपचयः, यथा मृत्युः तद्वत् यातनाप्रदः इत्यर्थः, तस्मात् अतिकष्टप्रदत्वात्, एतत् धनं, न चिन्तयेत्, तदर्थं न क्लिश्येदित्यर्थः । भारतीयशान्तिपर्वणि मोक्षधर्मप्रकरणे श्लोके षष्ठितो दृश्यते, यथा—“ईहा धनस्य न सुखा लब्धे चिन्ता च भूयसी । यथा मृत्युर्लब्धं भवति वा न वा ॥” इति ।

(२४८) सेति ।—सा दृष्ट्वा धनलालसा, चेत् यदि, परित्यक्ता भवेदिति शेषः, धनदृष्ट्वां परित्यक्तुं समर्थो भवेत् यदीत्यर्थः, (“दृष्ट्वाचेह परित्यजति, इति पाठान्तरम्) तदा दरिद्रः अकिञ्चनः, कः ? ईश्वरः प्रभुश्च सन्नातवैराग्यस्य दारिद्र्यमैश्वर्यमुभयमपि सममित्यर्थः, धनदृष्ट्वाव्यपगमे भावात् धनिदरिद्रयोः कोऽपि भेदो न विद्यते इति भावः ; चेत् यदि, तदा प्रसरः उद्भवकाशः, दत्तः, तदा दास्यच्च दासत्वं खलु, शिरसि मण्डितं अवस्थितं, भवेदिति शेषः, लुब्धस्य दासत्वं नियतमेवेत्यर्थः ; अत्रायं भावः,—“दत्तं दृष्ट्वा जगत्” इत्युक्त्या वीतस्पृहस्य जगन्त्यपि दृष्ट्वा मन्वमानस्य अपेक्षावत्तु किञ्च—“सर्वं वस्तु मयान्वितं भुवि दृष्ट्वा वैराग्यमेवाभयम्” इत्युक्त्या निश्चितं अमयत्वात् आसन्नद्रव्यतोः समाह्वयि स्वतन्त्रतायामवरो भवति, आश्रयतो हि परोतमेव भवतीति ।

(२४९) यदिति ।—यद् यदेव यद् यद् वस्तु एव इत्यर्थः, वाञ्छेत [यत् विवर्चितम्] अभिलषेत्, ततः तत्तद्वस्तुवाञ्छाया एवेत्यर्थः, वाञ्छा प्रवर्तते भूयः प्रसरति, हि निश्चये ; यद्वा—यद् यत् यथा यथेत्यर्थः, वाञ्छेत

किं बहुना ? विश्रम्भालापैः मयैव सह अत्र कालो
(न) नीयताम् । यतः,—

आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभङ्गुराः ।

परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम् ॥२५०॥

इति श्रुत्वा लघुपतनको ब्रूते,—(प) “धन्योऽसि मन्यर !

सर्वथा (फ) आश्रयणीयोऽसि । यतः,—

सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।

गजानां पङ्कभग्नानां गजा एव धुरन्धराः ॥ २५१ ॥

एव तथा तथैव इत्यर्थः, वाङ्मा प्रवर्तते, यतः यस्य अर्थस्य प्राप्तेः प्राप्तौ वा, वाङ्मा
सीमाभिलाषः, निवर्तते विरमति, अर्थतः निवृत्तेः, निवृत्तिहेतुत्वादित्यर्थः, (“अर्थोऽभि-
धेयरेवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु” इत्यमरः) अर्थतः तत्त्वत इत्यर्थो वा, प्राप्तः लब्धः, स एव
स अर्थ एव, अर्थः अर्थपदवाच्यः, यद्वा—यतः यस्मिन् वस्तुनि प्राप्ते लब्धे, वाङ्मा
निवर्तते, अर्थतः स एव अर्थः परमार्थः, निस्पृहत्वमेव सुखकरमिति भावः ।
वाङ्माया उत्तरोत्तरं वाङ्मावर्द्धकत्वात् अनर्थोत्पादकत्वमेव, यतश्च अनर्थजननी
सा निवर्तते, स एको धर्म एव अर्थपदवाच्यः, प्राप्ते च तस्मिन् सर्वा एव दृष्ट्या
निवर्तते, सुखञ्च विमलमुपभुनक्ति इति तात्पर्यम् ।

(न) नीयताम्—अतिवाञ्छताम् ।

(२५०) आमरणेति ।—महात्मनाम् उदारचेतसां, प्रणयाः सौहार्दाणि, आमर-
णान्ताः आ मरणान्ता इति आमरणं मरणकालपर्यन्तम्, अन्तः अवधिर्येषां ते ; यद्वा—
आमरणम् अन्तः स्वरूपम्, अविकृतभावेनावस्थानमित्यर्थः, येषां ते, (“स्वरूपप्रान्तयो-
रन्तः” इति आश्रयतः) सत्युपर्यन्तस्थाग्निः, किन्तु कोपाः क्रोधाः, तत्क्षणभङ्गुराः
उत्पत्त्यनन्तरमेव भ्रंशिनः, उत्पद्य एव विलीयन्ते इत्यर्थः, (“कोपास्तु क्षणभङ्गुराः”
इति पाठान्तरम्) परित्यागाश्च विद्विगाश्च, निःसङ्गाः सङ्गरहिताः, अनुरागमात्रवर्जिताः,
तु अनिष्टाचरणहेतुभूता इति भावः, यद्वा—परित्यागाः दानानि च, निःसङ्गाः
आसक्तिविवर्जिताः, कामनाविरहिता इत्यर्थः, भवन्ति यस्मिन्, हि निश्चये ।

(प) धन्यः,—श्लाघ्यः, प्रशंसनीयः इत्यर्थः ।

(फ) आश्रयणीयः,—शरच्छः ।

(२५१) सन्त इति ।—सन्तः साधवः एव, नित्यं भुवन्, अनुदिनं वा, न तु

तथा च,—

गुणिनि गुणज्ञो रमते नागुणशीलस्य गुणिनि परितो निवसन्निवसन्ति
अलिरेति वनात् कमलं न हि भेकस्त्वेकवासोऽपि ॥ २५३ ॥

अपरच,—श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां

स उत्तमः सत्पुरुषः स धन्यः ।

यस्यार्थिनो वा शरणागता वा

नाशाविभङ्गा विसुखाः प्रयान्ति ॥ २५३ ॥

कदाचिदित्यर्थः, सतां साधूनाम्, आपदुद्धरणक्षमाः विपत्तौ काले अनमित्त
तथाहि, पङ्कजघ्नानां कदम्बपतितानां, गजानां करिणां, गजा ए (ल)
केऽपीत्येवशब्दाद्यर्थः, धुरं भारं धरन्तीति धुरन्तराः भारवहनशक्ताः, कदम्बान् भवद्भिः
समर्थाः इति भावः, भवन्तीति शेषः । मैत्रेय

(२५२) गुणिनीति ।—गुणज्ञः गुणयाही जनः, गुणिनि गुणवति वा
अर्थ्यति इत्यर्थः, तेन सह आत्मापादिना परितुष्यति इति यावत्, अगुण
निर्गुणस्य, गुणिनि गुणवत्संगे इत्यर्थः, न परितोषः प्रीतिर्न, भवतीति
अत्रोदाहरणमाह,—अलिभ्रंशः, मधुररसाभिज्ञ इति भावः ; वनात्
कमलवासपेक्षया बहुदूरावस्थितादपीति भावः ; कमलं पद्मं, मधुरं
भावः ; इति अभियाति, मधुपानाशया इति भावः ; तु किन्तु, भेकः मखूकः,
नभिज्ञः इति भावः ; एकः एकस्थानं, वासो यस्य सः, एकस्मिन् जलाशये स्थितं
एकत्रैव वासं कृत्वाऽपीत्यर्थः, न हि नैव, कमलमेति इति अन्यथः, पङ्कजघ्ना
भिज्ञत्वात् पङ्कजसंप्रियत्वाच्चेति भावः । आर्या उत्तम । सुखादि

(२५३) श्लाघ्य इति ।—यस्य पुरुषस्य सकाशात्, अर्थिनः वाचका
शरणागताः आश्रयकाङ्क्षिणो वा, आशाविभङ्गाः आशायाः वि विभ्रंशः
अपगमः येषां ते तादृशाः, इताशाः इति यावत्, (“आशाविभङ्गाः” इति
आशायाः विभिन्नाः विच्छिन्नाः, खण्डिताशा इत्यर्थः, “आशाविभङ्गात्”
—आशाविलोपादित्यर्थः) अत एव विसुखाः परासुखाः सन्तः, न
गच्छन्ति, भुवि भूतखे, मानवानां मनुष्याणां मध्ये, स तादृशः, एकः
पुरुष एव, श्लाघ्यः प्रशंसाऽऽस्यदं, स उत्तमः श्रेष्ठः, सत्पुरुषः स एव प्रशंस्य
धन्यः प्रशंस्यमान् । उपपत्तिः इति ।

तदेवं ते (व) स्वेच्छाऽऽहारविहारं कुर्वाणाः सन्तुष्टाः सुखं निवसन्ति स्म । अथ कदाचित् चित्राङ्गनामा मृगः केनापि त्रासितस्तत्राऽऽगत्य मिलितः । ततः (भ) पश्चादायान्तं भयहेतुं सम्भाव्य मन्यरो जलं प्रविष्टः, मूषिकश्च विवरं गतः, काकोऽपि उड्डीय वृक्षाग्रमारूढः । ततो लघुपतनकेन सुदूरं (म) निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यवलोकितः, पश्चात् तद्वचनादागत्य पुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः । मन्यरेणोक्तम्,—“भद्र मृग ! कुशलं ते ? स्वेच्छया (य) उदकाद्याहारोऽनुभूयताम् । अत्रावस्थानेन वनमिदं (र) सनाथोक्रियताम्” । चित्राङ्गो ब्रूते,— (ल) “लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां (व) शरणमागतः । ततश्च भवद्भिः सह मित्रत्वमिच्छामि, भवन्तश्च (श) अनुकम्पयन्तु मैत्रेयम् । यतः,—

(व) स्वेच्छाऽऽहारविहारम्—आहारश्च विहारश्च आहारविहारम् [अथ केचित् हन्यैकवद्भावस्य परिपन्थितां कुर्वन्ति ; तन्मते आहारेण सहितः आहारात् परो वा विहारः, एवं व्यासवाक्यं करणीयम्] स्वेच्छया आहारविहारं स्वेच्छाऽऽहारविहारम् ।

(भ) पश्चादायान्तं—मृगस्य पृष्ठतः समागच्छन्तम् । भयहेतुं—मृगस्य भयकारणम् ।

(म) निरूप्य—विशेषेण निरीक्ष्येत्यर्थः ।

(य) उदकाद्याहारः,—उदकम् आदिर्यस्य सः तादृशः आहारः, आदौ सुखादिकं प्रचाख्य पश्चात् आहारः क्रियतामित्यर्थः । यद्वा—पानीयादिकमन्नश्च ; तस्यः पिपासुर्भवतीत्यनुमाय अत्रादौ उदकशब्दप्रयोगः मन्तव्यः ।

(र) सनाथोक्रियतां—नाग्निं स्वामिना सहितं सनाथम्, असनाथं सनाथं क्रियताम्, अचोपित्वा वनमिदम् अलङ्घियतामित्यर्थः ।

(ल) लुब्धकत्रासितः,—लुब्धकेन व्याधेन, त्रासितः भीतिमापादितः ।

(व) शरणं—गृहम्, आवासभूमिमित्यर्थः । यद्वा—शरणं—रक्षणं, रक्षणाः शोचनमित्यर्थः । (“शरणं गृहपरिचर्योः वधरक्षणयोरपि” इति मेदिनी) ।

(श) अनुकम्पयन्तु—अनुगृह्यन्तु ।

लोभाद्वाऽथ भयाद्वाऽपि यस्य जेच्छरणागतम् ।

ब्रह्महत्यासमं तस्य पापमाहुर्मनीषिणः ॥ २५४ ॥

हिरण्यकोऽवदत्,—“मित्रत्वं तावदस्माभिः सह (ष) निष्पन्नमेव भवतः । यतः,—

औरसं कृतसम्बन्धं तथा वंशक्रमाऽऽगतम् ।

रक्तकं व्यसनेभ्यश्च मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ २५५ ॥

तदत्र भवता (स) स्वगृहनिर्विशेषेण स्वीयताम् । तृ
मृगः सानन्दः भूत्वा कृतस्वेच्छाऽऽहारः पानीयं
(ह) जलाऽऽसन्नवटतर्कच्छायायामुपविष्टः । यतः,—

(२५४) शरणागतपरित्यागस्य दोषमाह, लोभादिति ।—यः लोभात् धनादीनां प्रलोभनेन वा, अथ पक्षान्तरं, भयात् अन्येभ्यस्त्रासादपि वा, शरणं आश्रितं, त्यजेत् जह्यात्, मनीषिणः धीराः, पण्डिता इत्यर्थः, (“धीरो नो प्राज्ञः सङ्ग्रावान् पण्डितः कविः” इत्यमरः) तस्य जनस्य, ब्रह्महत्यासमं ब्रह्मतत्त्वब्रह्मवधे कृते यादृशं पापं भवति तादृशमित्यर्थः, पापं दुरितं, भवतीति शेषः पापः कथयन्ति ।

(ष) अयत्नेन निष्पन्नमेव—प्रयासं विनैव जातम् ।

(२५५) मृगस्य अयत्नसाध्यमित्रभृतत्वे कामन्दकीयचतुर्थसर्गोक्तप्रमाणायति, औरसमिति ।—औरसम् उरसः जातम्, आजन्मसिद्धं पुत्रादिकर्णकृतः सम्पादितः, सम्बन्धो येन तत्, कृतः संस्थापितः, सम्बन्धः सम्पर्कः शक्तिः इति वा कृतसम्बन्धं विवाहादिसम्बन्धेन उत्पन्नं, तथा वंशक्रमाऽऽगतं कुलक्रमाऽऽगतं एककुलजातत्वेन पुरुषानुक्रमेण वा निष्पन्नमित्यर्थः, तथा व्यसनेभ्यः विपन्नः परिव्राजकश्च, (“रचकम्” इत्यत्र “रचितम्” इति पाठे—रचितं परिव्राजकः रक्षितत्वात् येन सह मैत्रं सञ्जातमित्यर्थः) इति चतुर्विधं मित्रं ज्ञेयं स्मृतम् ।

(स) स्वगृहनिर्विशेषेण—स्वस्य गृहात् निर्नास्ति विशेषो यस्मिन् तत्र यथा स्वच्छन्दं स्वीयते, तद्वदपि परगृहमित्यविविच्य लज्जासङ्कोचादिविषयः । (“स्वगृहनिर्विशेषम्” इति पाठान्तरम्) ।

(ह) जलाऽऽसन्नवटतर्कच्छायायां—जलस्य आसन्नः सङ्निहितः, तर्कश्च छाया तस्याम् ।

कूपोदकं वटच्छाया श्यामा स्त्री इष्टकागृहम् ।

शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम् ॥ २५६ ॥

अथ मन्यरो ब्रूते,—“सखे मृग ! केन त्रासितोऽसि ?
अस्मिन् निर्जने वने कदाचित् किं व्याधाः सञ्चरन्ति ?”
मृगेणोक्तम्,—“अस्ति (क) कलिङ्गविषये रुक्माङ्गदो नाम
नृपतिः । स च (ख) दिग्विजयव्यापारक्रमेण आगत्य चन्द्र-
भागानदीतीरे समावेशितकटकौ वर्तते । प्रातश्च तेनात्राऽऽगत्य
कर्पूरसरःसमीपे भवितव्यम्, इति व्याधानां सुखात् (ग) किं-
वदन्ती श्रूयते । तदत्रापि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य
यथा कार्यं तथा आरभ्यताम् ।” तच्छ्रुत्वा कूर्मः सभयमाह,—
“मित्र ! जलाशयान्तरं गच्छामि ।” काकमृगावपि उक्तवन्तौ,
—“मित्र ! एवमस्तु ।” हिरण्यको (घ) विमृश्याब्रवीत्,—
“पुनर्जलाशये प्राप्ते मन्यरस्य कुशलम् ; स्थले गच्छतोऽस्य

(२५६) शीपर्त्तौ वटच्छायायामुपवेशनस्य सुखकारत्वेन युक्तत्वं वक्तुं चाणक्य-
वचनमुपन्यस्यति, कूपोदकमिति ।—कूपोदकं कूपस्थं जलं, वटच्छाया वटवृक्षस्य
छाया, श्यामा—“शीते सुखोष्णसर्वाङ्गौ शीपे च सुखशीतला । तप्तकाचनवर्णाभा सा
स्त्री श्यामेति कथ्यते ॥” इति लक्षणेपेता स्त्री, इष्टकागृहम् इष्टकनिर्मितं गृहम्,
एतत् चतुष्टयं शीतकाले उष्णं तप्तम्, उष्णकाले शीपकाले च, शीतलं शैत्यगुणान्वितं,
भवेत् ।

(क) कलिङ्गविषये—कलिङ्गाख्यजनपदे, कलिङ्गदेशे इत्यर्थः, (“विषयो
वस्य यो ज्ञातस्तत्र गोचरदेशयोः । शब्दादौ जनपदे च” इति हैमः) ।

(ख) दिग्विजयव्यापारक्रमेण—दिशां चतुर्दिक्स्थवृषाणामित्यर्थः, विजय एव
व्यापारः कार्यं, तत्क्रमेण तदनुसारेण । समावेशितकटकः,—समावेशितः सन्नि-
वेशितः, संस्थापित इत्यर्थः, (“समावासित” इति पाठेऽपि स एवार्थः) कटकः
सेना, वस्त्रनिर्मितराजधानी वा, (“कटकस्त्रनिमित्तस्य बाहुभूषणे सेनायां
राजधान्याश्च” इति हैमः) येन सः कृतसैन्यसमावेशः कृतशिविरसन्निवेशो वा ।

(ग) किंवदन्ती—जनश्रुतिः ।

(घ) विमृश—विविध । (“विमृश” इति पाठान्तरम्) ।

(ङ) का विधा ? यतः,—

अभ्यांसि जलजन्तूनां दुर्गे दुर्गनिवासिनाम् ।

स्रभूमिः श्वापदादीनां राज्ञां सैन्यं परं बलम् ॥२॥

सखे लघुपतनक ! (च) अनेनोपदेशेन तथा भवितव्यम् ।

स्वयं वीक्ष्य यथा बध्वाः पीडितं स्तनकुड्मलम् ।

बणिकपुत्रोऽभवद् दुःखी त्वं तथैव भविष्यसि ॥३॥

तेजुचुः,—“कथमेतत् ?” । हिरण्यकः कथयति,—

राजपुत्र-बणिकपुत्रवधूकथा ।—

“अस्ति कान्यकुब्जविषये राजा वीरसेनो नाम । तेन

पुरनाम्नि नगरे तुङ्गबलो नाम राजपुत्रो युवराजः कृतः ।

(ङ) का विधा ?—कः प्रकारः ? उपाय इति यावत्, जलचरोपायेन खले यास्यति ? इति भावः ।

(२५७) अभ्यांसीति ।—जलजन्तूनां मत्स्यादीनाम्, अभ्यांसि जलानि, पाण्डास—द्वलं जलचराणां जले एव विक्रमाधिक्यसम्भवात् बलहेतुरित्यर्थः, दुर्गनिवासिनां, दुर्गे पर्वतादिभिर्दुर्गसं पुरमित्यर्थः, श्वापदादीनां शुनः पादादौ येषां तेषां व्याघ्रादीनां, [“शुनी दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्घाः (वा०) इति शब्द इत्यस्य दीर्घत्वम्] स्रभूमिः निजवासस्थानम्, अरण्या राज्ञां सैन्यं परं बलं, भवतीति सर्वत्र शेषः । (“सैन्यम्” इत्यत्र “सैन्योपाठान्तरम्) जलजन्तुप्रभृतयः स्वस्थाने स्थिता एव विक्रमं समर्था भवन्ति, राजानः पुनः सैन्यद्वारेण विक्रमं प्रदर्शयन्तीति निष्कर्षः ।

(च) अनेनोपदेशेन—मन्यरस्य स्थानान्तरगमनोपदेशेन ।

* “स्वयं वीक्ष्य” इति श्लोकमारभ्य वक्ष्यमाणा राजपुत्र-बणिकपुत्रवधूकथा सुकीलमतोनां छात्राणाम् अपाठ्या ।

(२५८) स्वयमिति ।—बणिकपुत्रः कश्चित् श्रेष्ठितनयः, स्वयम् स्वचक्षुषा इत्यर्थः, यथा यदत्, बध्वाः स्वभाष्यायाः, स्तनः कुड्मलं कीरकमुकुलवत् परिदृश्यमानम् उन्नतं स्तनमित्यर्थः, पीडितं सम्मर्दितं, राजपुत्रेण वीक्ष्य दृष्ट्वा, दुःखी अभवत् विषादं प्राप, त्वं तथैव भविष्यसि भविष्यसीत्यर्थः ।

य (छ) महाधनः (ज) तरुणः एकदा स्वनगरे भ्राम्यन्
(झ) अतिप्रौढयौवनां लावण्यवतीं नाम वणिक्पुत्रवधूम् आलो-
कयामास । ततः स्नहस्यं गत्वा (ञ) स्मराऽऽकुलितमतिस्तस्याः
(ट) कृते दूतीं प्रेषितवान् । यतः,—

सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां
लज्जां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव ।
भ्रूचापाऽऽकृष्टमुक्ताः श्रवणपथगता नीलपद्माण एते
यावत्सीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिवाणाः पतन्ति ॥२५८॥

(छ) महाधनः,—महत् प्रभुत्वं, धनं यस्य सः अतुल्यैश्वर्यसम्पन्नः ।

(ज) तरुणः,—युवा ।

(झ) अतिप्रौढयौवनाम्—अतिप्रौढम् अतिशयेन प्रवृद्धं, परिपूर्णमित्यर्थः,
(“प्रवृद्धं प्रौढमेधितम्” इत्यमरः) यौवनं यस्यास्त्वाम् अत्युत्कटयौवनाम् । आलोकया-
मास—ददर्श । [आ + लोक् + स्मार्थे णिच् + लिट्-णञ्] ।

(ज) स्मराऽऽकुलितमतिः,—स्मरेण कामेन, आकुलिता कलुषिता, मतिर्यस्य
सः, कामरिपीवशं गतः ।

(ट) कृते—निमित्तम् ।

(२५८) सन्मार्गे इति ।—यावत् तत्कालपर्यन्तं, सीलावतीनां विलासिनीनां,
ध्रुवौ चापाविव धनुषीव, ताभ्याम् आकृष्टमुक्ताः पूर्वम् आकृष्टाः पश्चात् मुक्ताः
विष्टाः, निश्चिता इति यावत्, नेत्रपद्मे—आकुलिताः निपातिताश्च, श्रवणपथगताः
आकर्णाऽऽकृष्टाः, अन्यत्र—आकर्णाऽऽश्रिताः, नीलपद्माः सूत्रादीनां सूत्रांशसदृशनील-
वर्णकण्डपदसदृशताः, अन्यत्र—कण्ठवर्णाक्षिलीमयुक्ताः, धृतिं धैर्यं, मुष्णन्ति अपहरन्ति
ये ते तथोक्ताः, धैर्यप्रच्युतिकराः ; उभयत्रापि समम् ; एते प्रसूयमाना इत्यर्थः,
दृष्टयः वाणा इव दृष्टिवाणाः दृष्टिपातशराः, तीक्ष्णकटाक्षपाता इत्यर्थः, हृदि
वचसि, न पतन्ति, पुरुषस्येति शेषः, तावत् तत्कालपर्यन्तं, पुरुषः सन्मार्गे सत्ये,
आस्ते वर्तन्ते, तावदेव तत्कालपर्यन्तमेव, इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां पद्मानां,
[विवचया वष्टौ] प्रभवति प्रभुवर्तन्ते, इन्द्रियाणि स्ववशे स्थापयितुं शक्नोतीत्यर्थः,
जितेन्द्रियो भवतीति यावत्, तावत् लज्जां प्रौढां, विधत्ते विदधाति, तावदेव
तावत्कालमेव, विनयं नम्रताम् अपि, समालम्बते धारयति, विनीतो भवतीत्यर्थः ;

साऽपि लावण्यवती (ठ) तदवलोकनक्षणात् प्रभृ-
(ड) स्मरशरप्रहारजर्जरितहृदया (ढ) तदेकचित्ता अभवत्
तथा चीत्तम्,—

असत्यं साहसं माया मात्सर्यञ्चातिलुब्धता ।

निर्गुणत्वमशौचत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः ॥ २६० ॥

अथ दूतौवचनं श्रुत्वा लावण्यवती उवाच,—
पतिव्रता परपुरुषस्पर्शमात्रमपि न करोमि, तत् क-
एतस्मिन् अधर्मे (ण) पतिलङ्घने (त) प्रवर्त्ते ? यतः,—

सा भार्या या गृहे दत्ता सा भार्या या प्रजावती ।

सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥ २६१ ॥

पञ्चशरप्रहारजर्जरितचित्ताः न कश्चिन्नपि अकार्यं पराङ्मुखीभवन्तीति भावः । स्व-
हृत्तम् ।

(ठ) तदवलोकनक्षणात् प्रभृति—तस्य राजपुत्रस्य, अवलोकनं स-
तस्य क्षणात् समयात्, प्रभृति तद्दर्शनसमयमारभ्य, तं दृष्ट्वेत्यर्थः ।

(ड) स्मरशरप्रहारजर्जरितहृदया—स्मरस्य कन्दपंस्य, शराः बाणाः,
प्रहारः आघातः, तेन जर्जरितं भग्नं, हृदयं यस्याः सा, अतीव मदनपीडितेत्यर्थः ।

(ढ) तदेकचित्ता—स राजपुत्र एव, एकः चित्ते यस्याः ; तस्मिन् राम-
एव, एकं केवलं, चित्तं यस्या इति वा, सा ।

(२६०) असत्यमिति ।—असत्यं मिथ्याऽऽचरणं, साहसं हठकारित्वं, मा-
नालोच्य सहसा कार्यारम्भः इत्यर्थः, असमीक्ष्यकारिता इति यावत्, माया प्रस-
कापक्यं वा, मात्सर्यं परीक्षणांसङ्गिष्णुता, अतिलुब्धता अतिशयलोभपरवत्,
निर्गुणत्वं गुणहीनता, च किञ्च, अशौचत्वम् अपवित्रता, अन्तर्मांलिङ्गमिति वा-
एते षट्पदा स्त्रीणां स्वभावजाः साहजिकाः, दोषाः । एतच्च अशिक्षिताः आका-
निरताः भोगप्रमत्ताः स्वतन्त्रा नारीः उद्दिश्य कविना लिखितम् इति मन्यम् ।

(ण) पतिलङ्घने—पत्युर्लङ्घनम् अतिक्रमणम्, अवहेलनमित्यर्थः, यस्मिन् वा
भर्तुरवज्ञारूपे, पातिव्रत्यसमुल्लङ्घनरूपे इत्यर्थः ।

(त) प्रवर्त्ते—प्रवृत्ता भवामि ।

(२६१) पतिव्रताया एव भार्यापदवाच्यत्वमिति वक्तुं भारतीयादिपर्वणां कर्मवत्

कोकिलानां खरो रूपं नारीरूपं पतिव्रतम् ।

विद्या रूपं कुरुपाणां चमा रूपं तपस्विनाम् ॥२६२॥

अथ च,—न सा भार्येति ख्यातव्या यस्यां भर्ता न तुष्यति ।

तुष्टे भर्तारि नारीणां सन्तुष्टाः सर्वदेवताः ॥ २६३ ॥

ततो यद्यदादिशति मे प्राणेश्वरस्तदेवाहम्

यदौक्त्योक्तं प्रदर्शयति, सेति ।—या स्त्री, गृहे गृहकर्मणि, सुश्रद्धया संसारपरि-
चालने इति यावत्, दद्यात् निपुणा, सा भार्या भार्यापदवाच्या, प्रशस्ता पदोत्थः,
या प्रजावती पुत्रवती. सा भार्या, या पतिप्राणा पतिरेव प्राणाः जीवनं यस्याः सा,
पतिगतजीवना, पत्न्यौ जीवति जीवति, मृते च स्मियते इत्यर्थः, सा भार्या, या च
पतिव्रता पतिः व्रतमिव उपास्यः, पतिः पतिसेवनं, व्रतं नियमः अस्या इति वा,
साध्वी, सा भार्या भार्यापदवाच्या । (“सा भार्या या शुचिर्दद्यात् सा भार्या या
पतिव्रता । सा भार्या या पतिप्रीता सा भार्या या प्रियंवदा ॥” इति
वृद्धचाणक्योक्तपाठः) ।

(२६२) किन्तावत् नारीणां रूपमिति वक्तुं चाणक्यवचनं प्रदर्शयति,
कोकिलानामिति ।—कोकिलानां पिकानां, कृष्णवर्णानामिति भावः, खरः सुमधुरः
कण्ठरव एव, रूपं सौन्दर्यं, पतिव्रतं पत्न्यौ पतिसेवायां, व्रतं नियमः, पतिरेव पति-
सेवैव, व्रतं नियमः इति वा, भर्तृपरिचर्या, सतीत्वमेव इत्यर्थः, नारीरूपं स्त्रीणां
सौन्दर्यं, कुरुपाणां कुल्लितानां, विद्या शास्त्रज्ञानमेव, रूपं, तपस्विनां तापसानां,
सांसारिकेषु भोगेषु वीतस्तृष्णामिति यावत्, चमा तितिक्षा एव, रूपं, कोकिलादयः
एतैरेव गुणैः गोभन्ते इत्यर्थः ।

(२६३) भारतशान्तिपर्वान्तर्गताऽऽपञ्चम्यप्रकरणोक्तं श्रीकमवलम्ब्य भर्तृप्रियाया
एव भार्यात्वं तथा भर्तृप्रीतेषु फलमाह, नेति ।—यस्यां भार्यायां, भर्ता पतिः, न
तुष्यति न प्रीणाति, सा भार्येति पदोपदवाच्या इति, न ख्यातव्या न वक्तव्या, न
भार्यात्वेन प्रकटनीया इत्यर्थः, नारीणां भर्तारि तुष्टे सति सर्वा एव देवताः सन्तुष्टाः,
भवन्तीति शेषः । (कश्चित् पुस्तके एतदुक्तं श्लोकस्थाने—“अप्रिसाच्चिकनय्यांदो भर्ता हि
शरणं स्त्रियाः” इति पाठान्तरं दृश्यते । तत्रेयं व्याख्या,—अग्निः साध्वी साचात् द्रष्टा
यस्याः तादृशी मर्यादा परिणयवचनं यस्य तादृशः प्रजापतिनिवहः, भर्ता पतिः,
स्त्रियाः भार्याः, शरणं रक्षिता) ।

(थ) अविचारितं करोमि ।” दूत्या उक्तम्,—“सत्यमेतत् ?” लावण्यवत्युवाच,—“सत्यमेवैतत्” । * ततः सर्वमेव लावण्यवत्या यथाऽभिहितं, दूत्या गत्वा तुङ्गबलस्य (द) अग्रे तस्य निवेदितम् । तच्छ्रुत्वा तुङ्गबलोऽवदत्,—(घ) “विषमेषु ब्रणितहृदयस्तां विना कथमहं जीविष्यामि ?” । कुट्टिन्याह,—(न) “स्वामिना आनौय समर्पयितव्या” इति । स प्राह,—“कथमेतत् (प) शक्यम् ?” । कुट्टिन्याह,—(फ) “उपायः क्रियताम् । तथा चोक्तम्,— †

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।

शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना” ॥२६४॥

(थ) अविचारितम्—अवितर्कितम्, असन्दिग्धमित्यर्थः ।

* कुलटा हि आत्मनः चरित्रदोषगोपनाय अनुरक्तस्य चानुरागवद्गन्धस्य च चास्वैदग्धं प्रकटयन्ति इति प्रसिद्धमेवैतत् ।

(द) अग्रे—पुरतः, समीपे इति यावत् ।

(घ) विषमेषुणा ब्रणितहृदयः,—विषमाः अयुष्माः, पक्ष इत्यर्थः, इषवः वा यस्य तेन, कामेन, (“कामः पञ्चशरः स्वरः” इत्यमरोक्तेः) ब्रणितं सञ्जातब्रणं विह्वलमिति यावत्, हृदयं यस्य सः ।

(न) स्वामिना—भर्ता, लावण्यवत्या एवेति शेषः ।

(प) शक्यं—साधयितुं योग्यं, कर्तुं शक्यते इत्यर्थः, त्वयेति शेषः ।

(फ) उपायः क्रियतां—प्रयत्नः विधीयतां, मयेति शेषः, एतत्कार्यं साधयथाकालं मया उपायः करिष्यते इत्यर्थः । [प्राप्तकाले लोट्] ।

† “उपायेन” इत्यादिश्लोकमारभ्य गज-शृगालकथा राजपुत्र-वर्णिकपुत्रा कथाऽन्तर्गता सर्वेषामेव पाठ्या ।

(२६४) दण्डोपायात् उपायान्तरस्य उत्कर्षमाह, उपायेनेति ।—उक्तं “साम दानञ्च भेदश्च दण्डश्चेति चतुष्टयम् । मायोपेक्षेन्द्रजालञ्च समीपतः प्रकीर्त्तिताः ॥” इत्युक्तञ्चणान्तर्गतमायारूपोपायप्रयोगेण, परस्पररोपकाररूपेण गुणाख्यान-सम्बन्धोत्कीर्त्तनाऽऽयतिप्रकाशन-प्रेषणवाचा आत्मसमर्पणरूपपक्षेण सामान्तर्गतसामविशेषप्रयोगेण वा ; यत् शक्यम् अनुष्ठातुं साध्यं, †

राजपुत्रः पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । सा कथयति,—

गज-शृगालकथा ।—

“अस्ति ब्रह्मारण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती । तमवलोक्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म,—“यद्ययं केनाप्युपायेन म्रियते, तदा अस्माकम् (ब) एतद्देहेन मासचतुष्टयस्य (भ) स्वेच्छा-भोजनं भवेत् ।” ततस्तन्मध्यादेकेन वृद्धशृगालेन प्रतिज्ञा कृता,—“मया बुद्धिप्रभावादस्य मरणं (म) साधयितव्यम् ।”

अनन्तरं स वृद्धकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा (य) साष्टाङ्ग-पातं प्रणम्योवाच,—“देव ! (र) दृष्टिप्रसादं कुरु” । हस्ती ब्रूते,—“कस्त्वम् ? कुतः समायातः ?” । सोऽवदत्,—जम्बुको-ऽहं, सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं (ल) प्रस्थापितः, यद्दिना राज्ञा स्थातुं न युक्तं, तदत्राटवीराज्ये-ऽभिषेक्तुं भवान् (व) सर्वस्वामिगुणोपेतो (श) निरूपितः । यतः,—

पराक्रमैः शौर्यप्रदर्शनैः, न हि शक्यं नैव साधयितुं पात्रम् । एतत् समर्थयितुं दृष्टान्तमाह, शृगालेनेति ।—पञ्चवर्त्मना कर्दमबहुलमार्गेण, गच्छता पथप्रदर्शनकरूपे-णाग्रे चलता, शृगालेन जम्बुकेन, हस्ती गजः, इतः विनाशितः, उपायेनेति शेषः ।

(ब) एतद्देहेन—एतस्य हस्तिनः कायेन, अस्य मांसेनेत्यर्थः ।

(भ) स्वेच्छाभोजनम्—अभिलाषानुरूपः आहारः, पथ्यांताऽऽहार इति यावत् ।

(म) साधयितव्यं—सम्पादयितव्यम् ।

(य) साष्टाङ्गपातम्—अष्टाभिरङ्गैः,—“जानुभ्याश्च तथा पद्भ्यां पाणिभ्या-सुरसा धिया । शिरसा वचसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥” इत्युक्तलक्षणैरवयवैः सह, पातः आत्मनः पातनं यस्मिन् कर्मणि तद् यथा तथा [क्रियाविशेषणम्] ।

(र) दृष्टिप्रसादं कुरु—दृष्ट्वा दृष्टिदानेन, प्रसादम् अनुग्रहं, कुरु विधेहि, दृष्टिपातेन मामनुग्रहाय ।

(ल) प्रस्थापितः,—प्रेरितः ।

(व) सर्वस्वामिगुणोपेतः,—सर्वे स्वामिनः गुणाः प्रभूचिताः शौर्य-गाम्भीर्य-दया-दाक्षिण्यादयः धर्माः, तैरुपेतः युक्तः ।

(श) निरूपितः,—निर्धारितः, स्थिरीकृतः इत्यर्थः ।

कुलाऽऽचारजनाऽऽचारैरतिशुद्धः प्रतापवान् ।

धार्मिको नीतिकुशलः स स्वामी युज्यते भुवि ॥२६५॥

अपरञ्च पश्य,—

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम् ।

राजन्यसति लोकेऽस्मिन् कुतो भार्या कुतो धनम् ? ॥२६६॥

अन्यच्च,—पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः ।

विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते न तु भूपतौ ॥२६७॥

(२६५) कुलेति ।—भुवि भूतले, यः कुलाऽऽचारजनाऽऽचारैः कुलाऽऽचारकृत्तमाऽऽगतरौतयः, जनाऽऽचाराः लोकाऽऽचाराः, समाजप्रचलितौ इत्यर्थः, तैः, आचाराणां प्रकारवाहुल्यादत्र बहुले प्रयोगः सन्तव्यः ; यदि भूतिपूतः, कौलिकं लौकिकञ्च व्यवहारं पालयन् इत्यर्थः, (“यः कुलजनाऽऽचारैः” इति पाठे—कुलं वंशः, अभिजनः ख्यातिः जन्मभूमिर्वा, (“भूते जनः ख्यातौ जन्मभूम्यां कुलध्वजे । कुलेऽपि च पुमान्” इति मेदिनी) या व्यवहारः चरितं वा ते तैः, विशुद्धवंशसम्भूतः, विशुद्धयशः आर्यभूमिजालो सदावहारसम्पन्नः सुचरितो वा इत्यर्थः) प्रतापवान् प्रभावशाली, धार्मिकः धर्मो नीतिकुशलः नीतिशास्त्रनिपुणश्च, भवतीति शेषः, स स्वामी प्रभुः, युज्यते कृत्यं भवति, य एतादृशगुणसम्पन्नः, स एव राजन्यस्याहं इत्यर्थः ।

(२६६) राजानमिति ।—प्रथमं सर्वादौ, राजानं भूपं, विन्देत् तं आश्रयेदित्यर्थः ; “विन्देत्” इति क्रियापदं “भार्यां” “धनम्” इति पदार्थौ अर्थभेदेनान्वेतव्यम् ; ततः भार्यां स्त्रियं, विन्देत् लभेत, गृह्णीयादित्यर्थः ; तदनन्तरं, धनं वित्तं, विन्देत् उपार्जयेदित्यर्थः, अस्मिन् लोके भुवने, (सारस्वतः पर्वोऽयं राजधर्मप्रकरणे “लोकेऽस्मिन्” इत्यत्र “लोकस्य” इति पाठान्तरम्) राजसति अविद्यमाने सति, राज्ये अराजके सतीत्यर्थः, कुतः कुत्र वा, भार्या ? कुत्र वा, धनम् ? तिष्ठतीति शेषः ; अराजके देशे न कोऽपि धनं कलत्रञ्च रक्षितुं वादिति राजनिर्हणं प्रथमं कर्तव्यमिति भावः ।

(२६७) पर्जन्य इति ।—पृथिव्याः पतिः पृथिवीपतिः राजा, पर्जन्यः भूतानां प्राणिनाम्, आधारः आश्रयः, पर्जन्यो यथा कदाचित् जलदानेन कृता छायादानेन लोकानां सन्नापहरो भवति, तथा राजाऽपि विपदि भवत्येव

किञ्च,—नियतविषयवर्त्ती प्रायशो दण्डयोगात्

जगति परवशेऽस्मिन् दुर्लभः साधुवृत्तः ।

कृशमपि विकलं वा व्याधितं वाऽधनं वा

पतिमपि कुलनारी दण्डभीत्याऽभ्युपैति ॥२६८॥

तद् यथा (घ) लग्नवेला (स) न चलति, तथा कृत्वा सत्वर-

दुर्मिच्छादौ अन्नादिदानेन च लोकाणां सत्तापहरो भवति, किञ्च यथा पर्जन्ये वर्षति सति शस्त्रमुत्पद्यते तेन च लोको जीवति, तद्वत् राजानि रक्षितारि प्रजाः सुखेन तिष्ठन्तीति भावः ; पर्जन्ये मेघे, विकलेऽपि विनष्टेऽपि, अनुदिते चावर्षत्यपि सति इत्यर्थः, जीव्यते प्राण्यते, जीवनेन स्थीयते इत्यर्थः, लोकोरिति शेषः, तु किन्तु, भूतौ राजानि, विकले विनष्टे सतीति पूर्वेष्वन्यथः, न हि नैव, जीव्यते इति शेषः, इत्यभावेऽपि प्रजा यदि कथञ्चिज्जीवितुं शक्नुयुः, अराजके तु राज्ये न कथमपीत्यर्थः । (महाभारतस्य कामन्दकनीतेश्च बहुषु स्थानेषु श्लोकोऽयं विविधाऽऽत्मना सन्निवेशितो दृश्यते । शान्तिपर्वणि राजधर्मप्रकरणे—“पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव दिवाः । मरुतमुपजीवन्ति नृपं सर्वायंसाधकम् ॥” इत्याकारतया पठितो दृश्यते) ।

(२६८) कामन्दकनीतः द्वितीयसर्गात्तत्तल्लोकमुपन्यस्य राजशासनस्य आवश्यकतामाह, नियतेति ।—परवशे पराधीने, राजशासिते इति भावः, अस्मिन् जगति प्रथिव्याम्, अत्र “लोकः” इति कर्तृपदमूह्यम् ; प्रायशः प्रायेण, दण्डयोगात् शासनभयात्, नियतविषयवर्त्ती नियते नियमिते, विषये व्यापारे, वर्त्तते यः स तथाभूतः, शास्त्रनिर्दिष्टमार्गानुसारो, सत्यप्रवृत्त इत्यर्थः, भवतीति शेषः, साधु दीपलेशशून्यं, वृत्तं चरित्रं यस्य सः, प्रकृत्या सदाचारनिरतः, दुर्लभः दुष्प्रापः, किं बहुना, कुलनारी कुलवधूः अपि, दण्डभीत्या इह च स्वामिशसनभयेन परत्र च यमदण्डभीत्या एव इत्यर्थः, कृशं क्षीणं, विकलं विकलाङ्गं वा, व्याधितं पीडितं वा, अधनं निर्धनमपि वा, (“अपि” इत्यत्र “इव” इति कामन्दकीयः पाठः) पतिं स्वभर्तारम्, अभ्युपैति अभिगच्छति, अन्यथा नैवेत्यर्थः । (अनुसंहिताया-स्तस्यानुरूपः श्लोको यथा—“सर्वे दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः । दण्डस्य हि भयात् सर्वे जगत् भोगाय कल्पते ॥” इति) । साखिनी वृत्तम् ।

(घ) लग्नवेला—शमराश्रुदयसमयः, अभिषेकार्थं निरूपितः शममुद्भूत इत्यर्थः ।

(स) न चलति—नातिवर्त्तते ।

मागस्यतां देवेन" इत्युक्त्वा उत्थाय चलितः । ततोऽसौ राक्ष-
 सोभाऽऽकृष्टः कर्पूरतिलकः शृगालदर्शितवर्त्मना धावन् महापद्मे
 निमग्नः । हस्तिनोक्तम्,—“सखे शृगाल ! किमधुना विधेयम्
 महापद्मे पतितोऽहं स्त्रिये, (ह) परावृत्य पश्य ।” शृगाले
 विहस्योक्तम्,—“देव ! मम (क) पुच्छाग्रे हस्तं दत्त्वोत्तिष्ठ
 यस्मात् (ख) मद्विधस्य वचसि त्वया विश्वासः कृतस्तथा
 (ग) फलमेतत् । तदनुभूयताम् (घ) अशरणं दुःखम् । त-
 नोक्तम्,—

यदाऽसत्सङ्गरहितो भविष्यसि भविष्यसि ।

यदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि” ॥२६८॥

ततो महापद्मे निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः । अतो
 ब्रवीमि,—“उपायेन हि यच्छक्यम्” इत्यादि ।

[इति गज-शृगालकथा ।]

(ह) परावृत्य—प्रत्यावृत्य, गमनात् विरम्य मदभिमुखीभूयेत्यर्थः ।

(क) पुच्छाग्रे हस्तं दत्त्वा—लाङ्गूलायभागं धृत्वेत्यर्थः ।

(ख) मद्विधस्य—मादृशस्य धूर्त्तस्येत्यर्थः ।

(ग) फलमेतत्—परिणतिरियम् ।

(घ) अशरणं दुःखं—नास्ति शरणं रक्षिता, उद्धारकर्ता इत्यर्थः, त-
 तादृशं, नास्ति शरणं रक्षणं, रक्षोपाय इत्यर्थः, यस्मिन् तादृशमिति वा, (५)
 गृहहरक्षिवोः शरणं रक्षणे वधे” इति शाश्वतः) दुःखं क्लेशः ।

(२६८) यदेति ।—यदा यस्मिन् समये, असताम् अज्ञातानां, मादृशानां
 नामिति भावः, सङ्गरहितः संसर्गहीनः, भविष्यसि, भविष्यसि तदा स्वास्त्विति
 जीवनं धारयिष्यसि इति भावः ; यदा च असज्जनगोष्ठीषु असतां जनानां
 समास, संसर्गेषु इत्यर्थः, पतिष्यसि, पतिष्यसि तदा अधःपतितो भविष्यसि, नि-
 मास्यसीत्यर्थः । (“यदा सत्सङ्गरहितो भविष्यसि भविष्यसि । तदाऽसज्जन-
 गोष्ठीषु पतिष्यसि पतिष्यसि ॥” इति पाठे—यदा सज्जनसंसर्गविहीनो भविष्यसि तदा
 असज्जनसमाजेषु पतिष्यसि अर्थात् निश्चितं निरयगामी भविष्यसि । “पति-
 ष्यसि” इत्यत्र निश्चये द्विक्रियाः) ।

ततः कुट्टिन्युपदेशेन तं चारुदत्तनामानं बणिकपुत्रं स राजपुत्रः सेवकं चकार । ततः (ङ) असौ (च) तेन सर्व-विश्वासकार्येषु नियोजितः ।

एकदा कुट्टिन्युपदेशेन तेन राजपुत्रेण (छ) स्नातानुलिप्तेन (ज) कनकालङ्कारधारिणोक्तम्,—“चारुदत्त ! मया मासमेकं यावद् (झ) गौरीव्रतं कर्त्तव्यम् । तदद्याऽऽरभ्य प्रतिरात्रमेकां (ञ) कुलीनां युवतीमानोय समर्पय । सा मया (ट) यथोचितेन विधिना पूजयितव्या” । ततः स चारुदत्तस्तथाविधां (ठ) तरुणीमानोय समर्पयति । पश्चात् (ड) प्रच्छन्नः सन् किमयं करोतीति (ढ) निरूपयति । स च तुङ्गबलस्तां युवतीमसृग्नेव दूराद्वस्त्रालङ्कारगन्धचन्दनैः सम्पूज्य रत्नकं दत्त्वा तत्क्षणमेव प्रस्थापयति ।

अथ तेन बणिकपुत्रेण तदृष्ट्वा (ण) उपजातविश्वासेन लोभा-

(ङ) असौ—चारुदत्तः ।

(च) तेन—राजपुत्रतुङ्गवलेन ।

(छ) स्नातानुलिप्तेन—पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्तः चन्दनादिदिग्धदेहः तेन ।

(ज) कनकालङ्कारधारिणा—परिहितसुवर्णविभूषणेन ।

(झ) गौरीव्रतं—द्वतोयाकल्पोक्तविधौ शक्तिसाधकानां कर्त्तव्यो व्रतविशेषः । महानिशयां कामपि सुरुपां युवतीमानोय तां देवीभावेन वस्त्रालङ्कारादिकं दत्त्वा साधकाः पूजयन्ति । तत्र साधकस्य चित्तविकादे सञ्जाते व्रतविनाशो भवति, साधकस्य चाधःपातो भवतीति तन्मशास्त्रम् ।

(ञ) कुलीनां—सत्कुलसम्भूताम् ।

(ट) यथोचितेन विधिना—यथाशास्त्रेण अनुष्ठानेन ।

(ठ) तरुणी—युवतीम् ।

(ड) प्रच्छन्नः,—निहृतः, अन्तराले भ्रष्टस्थित इत्यर्थः ।

(ढ) निरूपयति—निर्णयति, निरोचते इत्यर्थः ।

(ण) उपजातविश्वासेन—उपजातः उत्पन्नः, विश्वासः रात्रौ विश्वद्वचरिते

ऽऽकृष्टमनसा स्वबधूः समानीय समर्पिता । स च तुल्यवक्त्रं
हृदयप्रियां लावण्यवतीं विज्ञाय (त) ससम्भ्रममुत्थाय नि-
मालिङ्ग्य (थ) आनन्दनिमोलितलोचनः प्रहृष्टमना बहुवि-
अनङ्गक्रीडां विधाय पर्यङ्के तथा सह (द) सुप्ताप । तदव-
वणिकपुत्रः (ध) चित्रलिखित इव (न) इतिकर्तव्यतामूढः ।
विषादमुपागतः । अतोऽहं ब्रवीमि,—“स्वयं वीक्ष्य” इत्यादि
तथा त्वयाऽपि भवितव्यम्” इति ।

[इति राजपुत्र-वणिकपुत्रवधूकथा]

ततस्तद्वितवचनम् (प) अवधौर्ध्वं महता भयेन विमुग्धः
मन्यरस्तं जलाशयमुत्सृज्य प्रचलितः । तेऽपि हिरण्यकार-
स्नेहादनिष्टं शङ्कमानास्तमनुजग्मुः । ततः स्थले ग-
कंतापि व्याधेन वनं पर्यटता स मन्यरः (फ) प्राप्तः । स
गृहीत्वा उत्थाप्य धनुषि बद्ध्वा “धन्योऽस्मि” इत्यभिधाय स-
क्लेशात् क्षुत्पिपासाऽऽकुलः स्वगृहाभिमुखं प्रयातः । य-
सृग-वायस-सूषिकाः परं विषादमुपागतास्तमनुगच्छन्ति ।
ततो हिरण्यको विलपति,—

प्रत्ययः यस्य तेन, राजपुत्रवचसि कृतप्रत्ययेन, राजपुत्रोऽयं जितेन्द्रियः, न-
कामभावेन पश्यति इत्येवं विश्वस्येत्यर्थः । लोभाऽऽकृष्टमनसा—वस्त्रालङ्कारादि-
लुब्धचित्तेन ।

(त) ससम्भ्रमं—सम्भ्रमः त्वरा, तेन सह वर्त्तमानं यथा स्यात् तथा, [वि-
विशेषणम्] । (“सम्भ्रमस्तरा” इत्यमरः) । निर्दयं—निष्करुणं, प्रगाढ-
यावत् । (“निर्भरम्” इति पाठान्तरम्) ।

(थ) आनन्दनिमोलितलोचनः,—इर्धसस्यकुलितनयनः ।

(द) सुप्ताप—निद्रौ । [स्वप + लिट्-णल्] ।

(ध) चित्रलिखितः,—पालेप्याङ्कितः इव, निप्यन्द इत्यर्थः ।

(न) इतिकर्तव्यतामूढः,—कर्तव्यावधारणाक्षमः ।

(प) अवधौर्ध्वं—अवज्ञाय ।

(फ) प्राप्तः,—गृहीतः ।

“एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥२७०॥

स्वभावजन्तु यन्मित्रं भाग्येनैवाभिजायते ।

तदक्लृप्तमसौहार्दमापत्स्वपि न मुञ्चति ॥२७१॥

अपि च,—न मातरि न दारेषु न सोदर्ये न चाऽऽत्मजे ।

विश्वासस्तादृशः पुंसां यादृक्मित्रे स्वभावजे” ॥२७२॥

इति (व) मुहुर्विचिन्त्य,—“अहो ! मे(भ) दुर्दैवम् ; यतः,—

(२७०) एकस्येति ।—अहम् अर्णवस्य समुद्रस्य, पारम् अपरतीरनिव, यावत् एकस्य दुःखस्य निजधनविनाशजनितस्य चित्रशोवधन्वनपीडाजनितस्य वा क्षेशस्य, अन्तम् अवसानं, न गच्छामि यावत् एकस्या विपदः न परिव्रातोऽस्मीत्यर्थः, अहम् अनन्तसमुद्रस्य पारनिव अनन्तदुःखस्य पारं यावत् द्रष्टुं न शक्नोमीति भावः ; तावत् मे मम, द्वितीयं मन्थरस्य व्याधकराधिगमनरूपम् अन्यत्, दुःखमिति शेषः, समुपस्थितं समापतितम् ; तथाहि छिद्रेषु रन्ध्रेषु, प्रवेशावकाशे-
द्वित्वर्थः, सरसु, अनर्थाः अमङ्गलानि, अवहुलाः बहुलाः भवन्ति बहुलीभवन्ति प्रचुरी-
भवन्ति, विस्मृतिनापद्यन्ते इत्यर्थः, विपत् विपदमनुगच्छतीति भावः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

(२७१) स्वभावेति ।—यत् स्वभावजं प्रकृत्या निष्पन्नम्, अक्लृप्तम् इति यावत्, मित्रं मुञ्चत्, भाग्येन बहुपण्यफलेन, अभिजायते निष्पद्यते, अक्लृप्तम् अकपटं, सौहार्दं यस्य तत् तादृशं, तत् मित्रम्, आपत्स्वपि विपत्तौ अपि, न मुञ्चति न त्यजति, तादृशो हि वन्तुः सुखे सुखी दुःखे च दुःखी भवतीत्यर्थः । यद्वा—यत् मित्रं मुञ्चत्, आपत्स्वपि न मुञ्चति, तत् तदेव, स्वभावजं सहजम्, अत एव अक्लृप्तमसौहार्दम् अक्लृप्तं सौहार्दं यस्य तथाविधं, भवतीति शेषः, ईदृशं मित्रं भाग्येनैव शुभादृष्टवशेनैव, अभिजायते, अयन्तु तादृशं मित्रं, तदेनं विहाय कथं गच्छामि तिष्ठामि वेति हृदयम् ।

(२७२) नेति ।—पुंसां पुरुषाणां, स्वभावजे स्वाभाविके, अक्लृप्ते इति यावत्, मित्रे मुञ्चति, यादृक् यादृशः, विश्वासः प्रत्ययः, भवति इति शेषः, तादृशः तादृक् विश्वासः, मातरि जनन्यां, न, दारेषु स्त्रियां, न, सोदर्ये सङ्गोदरे धातरि, न, आत्मनः नायते यः सः तस्मिन् आत्मजे च निगांशे पुत्रेऽपि, न, भवतीति शेषः ।

(व) मुहुः,—वारंवारम् ।

(भ) दुर्दैवं—दुरदृष्टं, भाग्यविपर्ययाः इति यावत् ।

स्वकर्मसन्तानविचेष्टितानि

कालान्तराऽऽवृत्तिशुभाशुभानि ।

इहैव दृष्टानि मयैव तानि

जन्मान्तराणीव दशाऽन्तराणि ॥२७३॥

अथवा (म) इत्यमेवैतत्,—

कायः सन्निहितापायः सम्पदः पदमापदाम् ।

समागमाः सापगमाः सर्वमुत्पादि भङ्गुरम् ॥२७४॥

पुनर्विमृश्याऽऽह,—

(२७३) स्वेति ।—स्वस्य कर्मसन्तानः पापपुण्यजनकक्रियासमूहः, विचेष्टितानि विलसितानि, नियतविक्षसनशीलनिजकृतकर्मसमूहाः, अन्यः कालान्तरं, तस्य आहत्या आवर्त्तनेन, जन्मान्तरत्वाभिनेत्यर्थः, शुभाशुभे शुभाशुभ इत्यर्थः, येषां तानि तादृशानि, भवन्तीति शेषः, इह जन्मानि शुभाशुभकर्मणः फलानि परजन्मानि लोका उत्पद्यन्ते इति हि नैसर्गिक इति भावः; मयैव मया खलु, न तु अन्येन केनापि इत्येवकारार्थः, जन्मान्तरं परजन्मभोग्यानीत्यर्थः, दशान्तराणीव अवस्थान्तराणीव, यानि दशान्तरं जन्मान्तरपभोग्यानि तानीवेत्यर्थः, तानि कालान्तराऽऽवृत्तिशुभाशुभानि स्वसन्तानविचेष्टितरूपाणि दशान्तराणीत्यर्थः, इहास्मिन् जन्मानि एव, न तु जन्मान्तर इत्येवकारार्थः, दृष्टानि अनुभूतानि; अहो मे भाग्यवैचित्र्यं, यत् लोकाविवर्तनं सर्वमेव मयि सम्भाव्यते इति भावः । उपजातिः वृत्तम् ।

(म) इत्यमेवैतत्—संसारस्य परिवर्त्तनशीलता ईदृश्येव ।

(२७४) काय इति ।—कायः शरीरं, सन्निहितः निकटवर्त्ती, आसन्नः इति भावः; अपायः नाशः यस्य सः आसन्नघ्नं सः, भवतीति शेषः, “जातस्य हि भ्रुवो वदन्ते” इति भावः; सम्पदः सम्पत्तयः, आपदां विपदां, पदं स्थानम्, आश्रय इति भावः; भवन्तीति शेषः, सम्पदेवानिष्टमूलं यतः सम्पन्नस्यैव चौर्याद्युपद्रवो जायते इति भावः; समागमाः वात्सवैः सह संयोगाः, सापगमाः सविधोगाः, अवश्यं विच्छेदाऽऽयतिका इत्यर्थः, मेलनं कस्यापि नियतकालवृत्ति भवतीति भावः; तथाहि उत्पद्यते जायते यत् उत्पादि उत्पत्तिशीलं, सर्वं सकलमेव वस्तु, भङ्गुरं विकृतं

“श्रीकारातिभयत्राणं प्रीतिविश्वम्भाजनम् ।

केन रत्नमिदं सृष्टं मित्रमित्यक्षरद्वयम् ? ॥२७५॥

किञ्च,—

मित्रं प्रीतिरसायनं नयनयोरानन्दनं चेतसः

पात्रं यत् सुखदुःखयोः सह भवेन्मित्रेण तदुर्लभम् ।

ये चान्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याभिलाषाऽऽकुलाः

ते सर्वत्र मिलन्ति तत्त्वनिष्पन्ना वा तु तेषां विपत् ॥२७६॥

भवतीति शेषः ; जन्यवस्तुभावमेव ध्वसते, अतो मिलनानन्तरमस्मिन्नविरहः स्वाभाविक एवेति भावः । (भारतशान्तिपर्वीधराजधर्मवर्णने अस्यानुरूपश्लोको दृश्यते, यथा—“सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः । संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥” इति) ।

(२७५) श्रीकेति ।—श्रीकः पुत्रादीष्टविधोगजनितं दुःखम्, अरातिः शत्रुः, भयं भीतिः, तैभ्यस्त्राणम् उच्चारः यस्मात् तादृशं, प्रीतिः मनःप्रसादः, विश्वम्भः विश्वासः, तयोर्भाजनं पात्रं, मित्रमिति अक्षरद्वयं वर्णद्वयात्मकम्, इदं रत्नं पृथिव्याः सारभूतम् अमूल्यं वस्तु, केन विधाया, सृष्टम् उत्पादितम् ? येनेदमक्षरद्वयं सृष्टं स महापुरुष इत्यत्र नास्ति सन्देहावकाश इत्यभिप्रायः । यद्वा—मित्रमित्यक्षरद्वयं श्रीकारातिभयत्राणं तथा प्रीतिविश्वम्भजनं, भवतीति शेषः, रत्नं रत्नस्वरूपम् इदं केन सृष्टम् ? इति ।

(२७६) मित्रमिति ।—यत् मित्रं सुहृत्, नयनयोः चक्षुषीः, प्रीतिरसायनं प्रीति-कर औषधविशेषः, रसायनतुल्यमित्यर्थः, रसायनाख्यौषधविशेषो यथा देहस्य ईर्ष्यादुत्पादको भवति, मित्रमपि नयनयोक्तथेति भावः ; यद्वा—प्रीतिरसयोः खेदानुरागयोः, अयनं स्थानम्, आधार इति यावत्, (“स्निग्धरसाञ्जनम्” इति पाठे,—रसाञ्जनाख्यः नेत्रतर्पकौषधविशेषतुल्य इत्यर्थः) चेतसः हृदयस्य, आनन्दनम् आनन्दजनकं, तथा मित्रेण मित्रपदवाच्येन, सह साहचै, सुखदुःखयोः हर्षविषादयोः, पात्रं भाजनं, भवेत्, अर्थात् मित्रपदवाच्यस्य सुखे सुखितं दुःखे च दुःखितं भवेत्, तत् तादृशं मित्रं, दुर्लभं विरलम् ; यद्वा—यत् सुखदुःखयोः पात्रं, मित्रेण तादृशेन सुहृदा सह, भवेत् तिष्ठेदित्यर्थः, परन्तु तत् दुर्लभम् ; (“सममिदं पुण्यात्मना लभ्यते” इत्यपि पाठान्तरं दृश्यते, तत्र—यत् सुखदुःखयोः समं तुल्यं, पात्रम्, इदम् ईदृशं

इति बहु विलप्य हिरण्यकश्चिन्नाङ्गलघुपतनकावाह,
 “यावदयं व्याधो वनान्न (य) निःसरति, तावन्मन्यरं मोचयि-
 यन्नः क्रियताम् ।” तौ ऊचतुः,—“सत्वरं (र) यथा का-
 मुपदिश ।” हिरण्यको ब्रूते,—“चित्राङ्गो जलसमीपं ग-
 म्यतमिव आत्मानं (ल) निश्चेष्टं दर्शयतु, काकश्च तस्यो-
 स्थित्वा चञ्चा (व) किमपि (श) विलिखतु । नूनमनेन लुब्ध-
 मृगमांसार्थिना तत्र कच्छपं परित्यज्य सत्वरं गन्तव्यं
 ततोऽहं मन्यरस्य बन्धनं क्लेश्यामि, सन्निहिते लुब्धके भक्ष-
 पलायितव्यम्” । ततश्चित्राङ्गलघुपतनकाभ्यां शीघ्रं ग-
 तथाऽनुष्ठिते सति स व्याधः परिश्रान्तः पानौयं पी-
 तरोरधस्तादुपविष्टः सन् (ष) तथाविधं मृगम् अपश्यत् । त-

मित्रं, पुण्यात्मना सुकृतिमता जनेन, लभ्यते प्राप्यते) समृद्धिसमये सप्त
 द्रव्याभिलाषाऽऽकुलाः धनलोलुपाः, ये च अन्ये अपरे, सुदृढः बान्धवाः, दृग्भवे-
 शेषः, ते तादृशाः बान्धवाः, सर्व्वय सर्व्वस्मिन् स्थाने सर्व्वस्मिन् काले च, नि-
 सुप्राप्याणि भवन्तीत्यर्थः, तिष्ठन्ति इति यावत्, तादृशानि मित्राणि न दुर्लभा
 भावः ; त्वं किन्तु, विपत् विपत्तिकाल एव, तेषां तादृशानां, तत्त्वविव-
 स्वरूपनिर्णायकप्रसारः, कृदिमाकृविमनिर्द्धारणे निकषोपल इव
 निकषपाषाणे यथा सुवर्ण्यं विग्रहिः परिलक्ष्यते, तथा विपत्काले न
 मिति भावः । तथाचोक्तम्,—“मित्रस्वजनबन्धूनां बुद्धेर्धैर्यस्य चाप-
 आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम् ॥” इति । शार्दूलविर-
 हतम् ।

- (य) निःसरति—निर्गच्छति, [निःसरतीति यावद् योगे भविष्यदर्थः]
 (र) यथा—यादृशः यन्न इत्यर्थः । कार्य्ये—कर्त्तव्यम् ।
 (ल) निश्चेष्टं—चेष्टाविरहितं, निस्पन्दमित्यर्थः ।
 (व) किमपि—किञ्चिदङ्गमित्यर्थः ।
 (श) विलिखतु—विदारयतु ।
 (ष) तथाविधं—इतवत् निश्चेष्टम् ।

कच्छपं जलसमीपे निधाय (स) कर्त्तरिकाम् आदाय प्रहृष्टमना
मृगान्तिकं चलितः । अत्रान्तरे हिरण्यकेन आगत्य मन्यरस्य
बन्धनं छिन्नम् ; (ह) छिन्नबन्धनः स क्रूर्मः सत्वरं जलाशयं
प्रविष्टः, स च मृगः आसन्नं तं व्याधं विलोक्य उत्थाय द्रुतं
पलायितः । (क) प्रत्यावृत्य लुब्धको यावत् तरुतलम् आयाति,
तावत् क्रूर्ममपश्यन् अचिन्तयत्,—“उचितमेवैतत् मम
(ख) असमौह्यकारिणः । यतः,—

यो भ्रुवाणि परित्यज्य अभ्रुवाणि निषेवते ।

भ्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अभ्रुवं नष्टमेव हि” ॥ २७७ ॥

ततोऽसौ (ग) स्वकर्मवशान्निराशः (घ) कटकं प्रविष्टः ।
मन्यरादयश्च सर्वे (ङ) मुक्ताऽऽपदः स्वस्थानं गत्वा (च) यथा-
सुखम् आस्थिताः ।

[इति काक-क्रूर्म-मृग-मूषिककथा ।]

(स) कर्त्तरिका—कुरिकाम् ।

(ह) छिन्नबन्धनः,—छिन्नं बन्धनं यस्य सः ।

(क) प्रत्यावृत्य—प्रत्यागत्य ।

(ख) असमौह्यकारिणः,—हठकारिणः, अविवेचकस्त्वर्थः ।

(२७७) चाणक्यवचनेन अविमृष्टकारिणः फलमाह, य इति ।—यः जनः,
भ्रुवाणि निश्चितानि, हस्तस्थितानीति यावत्, वस्तुनीति शेषः, परित्यज्य विहाय,
अभ्रुवाणि अनिश्चितानि, निषेवते आश्रयति अवलम्बते वा, अलम्बविषयप्राप्त्यर्थं
यतते इत्यर्थः, तस्य भ्रुवाणि निश्चितानि, नश्यन्ति अपगच्छन्ति, अभ्रुवम् अनिश्चितम्,
नष्टमेव लुप्तमेव, अनधिगतत्वादिति भावः, हि निश्चये ।

(ग) स्वकर्मवशात्—निजासमौह्यकारितादोषादित्यर्थः, स्वकीयदुर्भाग्य-
वशातः इति भावः । निराशः,—हताशः ।

(घ) कटकं—शिविरमित्यर्थः, कलिङ्गदेशाधिपतेः वस्त्रराजधानी वा ।

(ङ) मुक्ताऽऽपदः,—मुक्ता अतिक्रान्ता, आपत् येस्ते, मुक्ता आपद्वाः ये ते
इति वा, अतिक्रान्तविपत्तयः ।

(च) यथासुखं—सुखमनतिक्रम्य, यादृक्तया अवस्थानेन सुखं भवति वथेत्यर्थः,

अथ राजपुत्रैः सानन्दमुक्तम्,—“सर्वे श्रुतवन्तः सुखित्वं
वयम् । (क) सिद्धं नः (ज) समीहितम् ।” विष्णुशर्मोवाच,—
“एतावद्भवतः अभिलषितं (झ) सम्पन्नम् । अपरमपि इदमस्तु,—
मित्रं प्राप्नुत सज्जना जनपदैः लक्ष्मीः समालभ्यतां
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत् स्वधर्मं स्थिताः ।
आस्तां मानसतुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोदेव वः
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवांश्चन्द्रार्द्धचूडामणिः ॥२७८॥

इति श्रीविष्णुशर्म-सङ्गृहीते हितोपदेशे मित्रलाभो

नाम प्रथमः कथासङ्ग्रहः ॥ १ ॥

सुखेनेति यावत् ।

(क) सिद्धं—निष्पन्नं, सफलं जातमित्यर्थः ।

(ज) समीहितं—मनोरथः ।

(झ) सम्पन्नं—सिद्धम् ।

(२७८) मित्रमिति ।—हे सज्जनाः ! साधवः !, यूयं मित्रं सुखदं, प्राप्तुं
लभध्वम् । [केचित्तु पुनः पुनर्लभन्तामिति व्याचक्षते । तत्र “क्षिप्यासन्निधौ
लोटे—” (३।४।२ पा०) इति सूत्रेण मध्यमपुरुषं व्याख्यानयन्ति । तत्र
“मित्रं यान्तु च सज्जनाः” इति पाठान्तरम्] । जनपदैः जनैः, जनपदवासिभिरित्यर्थः
(“भवञ्जनपदो जानपदोऽपि जनदेशयोः” इति मेदिनी) लक्ष्मीः ऐश्वर्यं, स्व-
लभ्यतां प्राप्यतां, [सर्वत्र आशंसायां लोट्] भूपालाः राजानः, स्वधर्मं प्रचारयन्त-
रूपे राजधर्मं, स्थिताः अनुरक्ताः सन्तः, शश्वत् मित्यकालं, वसुधां पृथ्वीं, परिपालय-
न्तु, वः युष्माकं, नीतिः नयज्ञानं, नवोदेव नवपरिणीता वधूरिव, सुकृति-
विदुषां, मानसतुष्टये मनःप्रोत्थयम्, आस्तां भूयात् ; यद्वा—नीतिः नयज्ञता, नवोदे-
सुकृतिनां धन्यानां, भाग्यवतामित्यर्थः, वः मानसतुष्टये आस्ताम् । (“नीतिः प्रदी-
मया” इति पाठे—मया विष्णुशर्मणा, प्रणीता नीतिः, सुकृतिनां मानसतुष्टये
आस्ताम्) भगवान् षडैश्वर्यसम्पन्नः, चन्द्रार्द्धचूडामणिः अर्द्धचन्द्रमौलिः मि-
त्रजनस्य कल्याणं मङ्गलं, कुरुतां वितरतु । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।
इति श्रीमज्जीवानन्द-विद्यासागर-भट्टाचार्यकृता मित्रलाभव्याख्या ॥ १ ॥

अथ सुहृद्भेदः ।

अथ राजपुत्रा ऊचुः,—(क) “आर्य्य ! मित्रन्नामः श्रुतस्त्वाव-
दस्माभिः । इदानीं (ख) सुहृद्भेदं श्रोतुमिच्छामो वयम् ।”

विष्णुशर्मावाच,—“सुहृद्भेदं शृणुत, यस्यायमाद्यः श्लोकः,—

वर्द्धमानो महान् स्नेहो सृगेन्द्रवृषयोर्वने ।

पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः” ॥ १ ॥

राजपुत्रैरुक्तम्,—“कथमेतत् ?” । विष्णुशर्मा कथयति,—

वणिग्-वृषभ-सिंह-शृगालव्यकथा ।—

“अस्ति (ग) दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी । तत्र
वर्द्धमानो नाम वणिक् (घ) महाधनः प्रतिवसति स्म । तस्य

(क) आर्य्य !—पूज्य ! ; अथवा —“कर्त्तव्यमाचरन् कार्यमकर्त्तव्यमनाचरन् ।
वर्त्तते समुदाचारे सर्वे आर्य्य इति श्रुतः ॥” इत्युक्तावयवः तत्सम्बन्धो ।

(ख) सुहृद्भेदं—सुहृदां बन्धूनां, भेदः विच्छेदः यस्मिन् अभ्याये तं सुहृद्भेद-
विषयकं, “मित्रन्नामः सुहृद्भेदो विग्रहः सन्निधय” इति द्वितीयेऽध्यायेऽपि भागचतुष्टय-
संकेतमभागम् ।

(१) वर्द्धमान इति ।—वने वक्ष्यमाणदुर्गमारण्ये, सृगेषु इन्द्रः सृगेन्द्रः
पशुराजः सिंहः, स च वृषयः तयोः, [अत्र वृषपदस्य अल्पस्वरत्वेऽपि अभ्यर्हितत्वात्
सृगेन्द्रस्य पूर्वनिपातः] वर्द्धमानः प्रतिदिवसं वर्द्धं गच्छन्, महान् स्नेहः गाढप्रणयः,
अतिलुब्धेन अतीवलोभपरायणेन, पिशुनेन खलेन, जम्बुकेन शृगालेन, विनाशितः
भेदं प्रापितः ।

(ग) दक्षिणापथे—ऋचवदवन्तीनगरीमतिक्रम्य दक्षिणदिग्वर्त्तिदेशे ।

(घ) महाधनः,—धनवान् ।

(ङ) प्रभूतेऽपि वित्तेऽपरान् बन्धून् (च) अतिसमृद्धान् विलो
पुनरर्थवृद्धिः करणीयेति मतिर्विभूव । यतः,—

अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचौयते ।

उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति ॥ २ ॥

अपरश्च,—ब्रह्महाऽपि नरः पूज्यो यस्यास्ति विपुलं धनम् ।

शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते ॥ ३ ॥

अन्यश्च,—अव्यवसायिनमलसं देवपरं साहसाच्च परिहीणम् ।

प्रमदेव हि वृद्धपतिं नेच्छत्युपगूहितुं लक्ष्मीः ॥ ४ ॥

(ङ) प्रभूतेऽपि—प्रचुरेऽपि, असङ्ख्येऽपीति यावत् । वित्ते—धने । [पातोः क्तः] ।

(च) अतिसमृद्धान्—प्रचुरैश्वर्यान्, स्त्रापेक्षया अधिकधनशालिनः इत्यर्थः ।

(२) अधः इति ।—अधः अधः नीचेर्नीचेः, आत्मापेक्षया हीनं वर्णं यावत्, [“उपर्येध्यधसः सामीप्ये” (८।१।७ पा०) इति सामीप्यार्थे] तितं पश्यतः अवलोकयतः, हीनतरेण सह आत्मतुलनां कुर्वन् इत्यर्थः, कस्य महिमा गौरवं, प्राधान्याभिमानः इति यावत्, न उपचौयते ? न त्व अपि तु सर्वस्वैवेत्यर्थः, [कर्मकर्तरि लट्] उपरि उपरि उच्चैरुच्चैः, [तत् पूर्ववत् द्विवचनम्] पश्यन्तः अवलोकयन्तः, सहतरेण सह आत्मतुलनां इत्यर्थः, सर्व एव लोकाः, दरिद्रति दुर्गता भवन्ति, आत्मानं दरिद्रं इत्यर्थः ।

(३) चाणक्योक्तिमुपन्यस्य सधननिर्धनयोरन्तरं प्रदर्शयति, ब्रह्महाऽपीति यस्य नरस्य, विपुलं प्रचुरं, धनम् अर्थः, अस्ति विद्यते, सः नरः, ब्रह्माणं इत्यर्थः ब्रह्महा ब्रह्मघ्नोऽपि, पूज्यः पूजार्हः, भवति इति शेषः, महापापकृदपि प्रसक्तं वाञ्छेत् सर्वेषां सम्मानार्हं इत्यर्थः, निर्धनः धनहीनः, शशिनस्तुल्यः । [तुल्यार्थे वैकल्पिकी षष्ठी] वंशो यस्य सः, विश्वतुल्यवंशजातोऽपि, परिसूयते परस्मै लोकेरिति शेषः, वंशमर्यादायाः धनमर्यादा गरीयसी इति भावः ।

(४) अव्यवसायिनमिति ।—अव्यवसायिनं निरुद्यमम्, अव्यवसायि मित्यर्थः, अलसं निशेष्टं, देवपरं देवमावावलम्बिनं, भाग्ये यदस्ति तदेव सविधिं यदन् निशेष्टतया अवस्थितमित्यर्थः, साहसाच्च परिहीणं साहसात्

किञ्च,—आलस्यं स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमिवात्सल्यम् ।

सन्तोषी भौरुत्वं षड् व्याघाता महत्त्वस्य ॥ ५ ॥

यतः,—सम्पदा सुस्थितमन्यो भवति स्वल्पयाऽपि यः ।

कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्द्धयति तस्य ताम् ॥ ६ ॥

अपरञ्च,—निरुत्साहं निरानन्दं निर्वीर्यमरिनन्दनम् ।

मास्त्र सौमन्तिनी काचित् जनयेत् पुत्रमीदृशम् ॥ ७ ॥

तथाह्युक्तम्,—

जनमिति शेषः, प्रमदा युवतौ, वृद्धपतिमिव स्थविरभक्तारमिव, लक्ष्योः सम्पदधिष्ठात्री
देवी, उपगृहीतुमाणिङ्गितुम्, आश्रयितुमित्यर्थः, न हि नैव, इच्छति कामयते,
एतादृशः पुरुषः सम्पदं नाधिगच्छतीत्यर्थः । आर्या वृत्तम् ।

(५) आलस्यमिति ।—आलस्यं निरुत्साहत्वं, स्त्रीसेवा स्त्रीवशीभूतता,
स्त्रीसन्धोगपरायणता वा, सरोगता चिररोगिता, जन्मभूमिवात्सल्यं स्वदेशप्रीतिः,
तेन च विदेशगमनविमुखता इति भावः, सन्तोषः अनुन्नतावस्थायामपि चित्तप्रसादः,
आकाङ्क्षाराहित्यमिति भावः, भौरुत्वं कार्यसम्पादनादौ संशयाऽऽकुलचित्तता, एतानि
षट् महत्त्वस्य उन्नतेः, धनवत्ताया इति यावत्, व्याघाताः अन्तरायाः, प्रतिरोधका
इत्यर्थः । आर्या वृत्तम् ।

(६) सम्पदेति ।—यो जनः, स्वल्पयाऽपि अल्पल्पयाऽपि, सम्पदा ऐश्वर्येण,
सुस्थितमन्यः आत्मानं सुस्थितं मन्यते इति तथोक्तः, सुखी इत्यर्थः, (“सुस्थिरमन्यः”
इति पाठान्तरम्) भवति, मन्ये उत्प्रेक्षे, विधिर्विधाता, कृतकृत्यः कृतार्थः,
स्वल्पेनैव धनेन सुस्थितमन्यत्वात् अल्पदानेनैव सम्प्रादितस्वकर्तव्यः सन्, तस्य
स्वल्पमुत्पन्न जनस्य, तां स्वल्पां सम्पदं, न वर्द्धयति वृद्धिं न गमयति, उन्नतिसमाधेय-
मानस्य न स्यादेव उन्नतेः सम्भावनेति भावः । श्लोकोऽयं शिशुपालवधस्य द्वितीयसर्गेऽपि
दृश्यते ।

(७) निरुत्साहमिति ।—काचित् काऽपि, सौमन्तिनी नारी, निरुत्साहम्
उदयोगशून्यं, निरानन्दं हर्षपरिशून्यं, (“निरानन्दं निरुत्साहम्” इति महाभारतो-
दयोगपर्वोपाठान्तरम्) । निर्वीर्यं प्रराक्तमशून्यम्, अत एव अरिनन्दनं शत्रूणां
आनन्दवर्द्धनम्, उत्साहादिपरिशून्यत्वेन परिभवात्सदत्वादिति भावः, ईदृशं पुत्रं
ज्ञास्य जनयेत् नैव उत्पादयेत्, गर्भे न धारयेदित्यर्थः । [इच्छार्थे लिङ्] ।

अलब्धञ्चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेदपक्षयात् ।

रक्षितं वर्द्धयेत् सम्यक् वृद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत् ॥ ८ ॥

(क) अवर्द्धमानश्चार्थः कालेन स्वल्पव्ययेऽपि (ज) अक्षयमेति । (झ) अनुपभुज्यमानश्च निष्प्रयोजन एव सः ।

तथाह्युक्तम्,—

अक्षयस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्लीकस्य च सञ्चयम् ।

अबन्धं दिवसं कुर्यात् दानाध्ययनकर्मभिः ॥ ९ ॥

(८) मनुसंहितायाः समनाध्यायोक्तं विधिमनुसृत्य धनविषयकमिति निदिशति, अलब्धमिति ।—अलब्धमेव अनधिगतमेव, धनमिति शेषः, लिप्सेत इच्छेत्, लब्धञ्च प्राप्तञ्च, धनमिति शेषः, अपक्षयात् नाशान्, चौध्यांदेरिति (“अपक्षयात्” इत्यत्र “अवेक्षया” इति पाठे—सम्यग्दर्शनादिना) रक्षेत् सन् पालयेत्, रक्षितं सञ्चितं, धनमिति शेषः, सम्यक् अतिशयेन, स बाणिज्यादौ नियोगादिना वृद्धिं गमयेत्, वृद्धं वृद्धिं प्रापितं, धनमिति तीर्थेषु दानयोग्येषु पात्रेषु, निक्षिपेत् दद्यात् ।

(क) अवर्द्धमानः,—वृद्धिगतावृत्तम् । (“अवर्द्धमानः” इत्यादिः “यतोऽलब्धमिच्छतोऽर्थयोगात् अर्थस्य प्राप्तिरेव । लब्धस्याप्यरक्षितस्य स्वरूपं विनाशः” इत्यधिकाः पाठः कश्चित्) ।

(ज) अक्षयवत्—कञ्जलवत्, परिचीणरेखं चक्षुरक्षयं यथा मार्जवापि क्रमशः क्षयमेव अनुपलक्षितमेव क्षयमेति तद्वदिति भावः ।

(झ) अनुपभुज्यमानः,—तीर्थनिक्षेपादिना अक्रियमाणभोगः ।

(९) अक्षयस्येति ।—अक्षयस्य कञ्जलस्य, सूक्ष्मरेखस्येति यावत्, सख्यस्यापि अवर्द्धमानस्येति भावः, क्षयं क्रमशः नाशं, वल्लीकस्य कौटविशेषकृतस्य कौटसूपस्य, प्रतिदिनं किञ्चित् किञ्चित् वर्द्धमानस्य अतितुच्छस्यापीति भावः, सख्यं दृष्ट्वा अवलोक्य, उभाभ्याम् उभयविधं क्षयसञ्चयोपदेशं लब्ध्वा इत्यर्थः, (“क्षयं तदर्थेन तदर्थोच्चारणे च” इति वृद्धचाणक्योक्तः पाठः) दानं प्रतिपादनम्, अध्ययनं श्रुतिपाठः, कर्म श्रुतिस्मृतिविहितं कार्यं तैः, दिवसं श्रवणं सफलं, कुर्यात्, चक्षुरक्षयसन्निकर्षे विगृष्टप्रयत्नेन संस्थापितमपि क्रियाऽभावात् अक्षयं क्रमशो विलीयते, वल्लीकं पुनरतितुच्छं यत्र तत्रापि

यतः,—जलविन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।

स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ॥ १० ॥

इति सञ्चिन्त्य वर्द्धमानः नन्दकसञ्जीवकनामानौ द्वौ वृषभौ
(ज) धुरि नियोज्य शकटं (ट) नानाविधद्रव्यपूर्णं कृत्वा बाणि-
ज्येन काश्मीरं प्रति चलितः । यतः,—

कोऽतिभारः समर्थानां ? किं दूरं व्यवसायिनाम् ? ।

को विदेशः सविद्यानां ? कः परः प्रियवादिनाम् ? ॥ ११ ॥

अथ गच्छतस्तस्य दुर्गमनाम्नि महाऽरण्ये (ठ) भग्नजानुः

लोकलौचनान्तरालावस्थितमपि प्रतिदिनं सञ्चोद्यमानत्वात् क्रमशो वर्द्धते, एवञ्च
अत्याहतस्यापि क्षयिष्णुत्वात् प्रतिदिनं किञ्चित् किञ्चित् दानादिकम्पणा पारलौकिक
पुण्यसञ्चयं कुर्यादिति निष्कर्षः ।

(१०) धनसञ्चये वृद्धचाणक्यमतं प्रदर्शयति, जलेति ।—क्रमशः क्रमेण,
जलविन्दुनिपातेन वारिविन्दुपातनेन, प्रतिदिनं विन्दुशो जलनिक्षेपेणेत्यर्थः, घटः पूर्यते
पूरितो भवति, सः जलविन्दूनां क्रमनिपातवत् क्रमनिपात इत्यर्थः, प्रतिदिनमल्पशः
सञ्चय इति यावत्, सर्वविद्यानां श्रुत्यादिसर्वशास्त्राणां, धर्मस्य च धनस्य च हेतुः
पूरणे कारणमित्यर्थः, विद्याधर्मधनानां वर्द्धनं क्रमसाध्यमित्यर्थः ।

(ज) धुरि—शानमुखे, शकटाग्रे इत्यर्थः, (“धुः श्री क्रीवे यानमुखम्”
इत्यमरः) ।

(ट) नानाविधद्रव्यपूर्णं—बहुविधबाणिज्यद्रव्यपूरितम् ।

(११) वर्द्धमानस्य दूरदेशगमनं समर्थयितुं वृद्धचाणक्यं प्रमाणयति, क
इति ।—समर्थानां भारवहनशक्तानां, बलवतामित्यर्थः, अतिभारः कः ? किं वस्तु
दुर्बलं भवति ? न कोऽप्यतिभारक्षेपामिति भावः ; व्यवसायिनाम् उद्यमिनां,
धनमुपार्जयितुं कामानां वा, किं दूरं विप्रकटम् ? उद्यमिनां जीविकाधिनां वा
देशोऽयं दूरवर्ती समासन्नो वा इति विचारो नास्ति इति भावः ; सविद्यानां विदुषां,
विदेशः कः ? पाण्डित्यवलेन सर्वत्रैव प्रभावस्थापनात् सर्व एव जनपदस्तस्य
निजाधिष्ठानवदिति भावः ; प्रियवादिनां मधुरभाषिणां, परः शत्रुः, कः ? न कोऽपि
इत्यर्थः ।

(ठ) भग्नजानुः,—भग्नो जानुनो युस्य स्रः, भग्नप्रादः इत्यर्थः ।

हि—१२

सञ्जीवको निपतितः । एतदालोक्य वर्द्धमानोऽचिन्तयत्—

“करोतु नाम नौतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः ।

फलं पुनस्तदेव स्याद् यदिधर्मनसि स्थितम् ॥ १२ ॥

किन्तु,—विस्मयः सर्वथा हेयः प्रत्यूहः सर्वकर्मणाम् ।

तस्माद्विस्मयमुत्सृज्य साध्यसिद्धिर्विधीयते” ॥ १३ ॥

इति साञ्चन्त्य सञ्जीवकं तत्र परित्यज्य वर्द्धमानः पुनः
धर्मपुरं नाम नगरं गत्वा (ङ) महाकायमन्यं वृषभमेकं
नीय धुरि नियोज्य चलितः । ततः सञ्जीवकोऽपि (ठ)
कथमपि (ण) खुरत्रयेण भरं कुर्वंस्तत्रैव वने स्थितः । यतः

निमग्नस्य पयोराशौ पर्वतात् पतितस्य च ।

तच्चकेणापि दष्टस्य आयुर्मर्माणि रक्षन्ति ॥ १४ ॥

(१२) करोति ।—नौतिज्ञः नयवित् जनः, इतस्ततः समन्तात्, वित्तं
इति भावः, व्यवसायम् उद्यमं, विविधकार्यसाधनार्थं प्रयत्नमिति यावत्,
विदधातु, [करोतु इति कामचारानुज्ञायां लोट्] नाम इति स्त्रीकाराद्यं कथं
पुनः किन्तु, फलं व्यवसायस्य परिणामः, तदेव तथैव, स्यात् भवेत्, यत्
विधेः विधातुः, मनसि चेतसि, स्थितं विद्यते; फलन्तु देवाऽऽयत्नं, न
दैवमतिक्रमितुं समर्थ इति भावः ।

(१३) विस्मय इति ।—सर्वकर्मणां सर्वकार्याणां, प्रत्यूहः अन्तराहः,
स्वरूपः इत्यर्थः, विस्मयः आश्चर्यभावः, विमुग्धता इत्यर्थः, किंकर्तव्यविमूढता
सर्वथा सर्वात्मना, सर्वतोभावेन इत्यर्थः, हेयः त्याज्यः, तस्मात् सर्वथा
विस्मयम् उत्सृज्य त्यक्त्वा, साध्यसिद्धिः साध्यस्य कर्तव्यकर्मणः, सिद्धिः हि
अमोष्टसाधनमित्यर्थः, (“साध्ये सिद्धिः” इति वृद्धचाणक्योक्तः पाठः) किं
क्रियते, जनेनेति शेषः, विपदि अस्यां विमुग्धभावं विहाय अधुनेव उद्देश्यं
प्रयत्नः करणीय इति भावः ।

(ङ) महाकायं—विपुलदेहम् ।

(ठ) कथंकथमपि—अतिक्लेशेण ।

(ण) खुरत्रयेण—पादत्रयेणेत्यर्थः ।

(१४) निमग्नसेति ।—पयोराशौ समुद्रे, निमग्नस्य अनःप्रविष्टस्य,

अपरच, — नाकाले म्रियते जन्तुर्विद्धः शरशतैरपि ।

कुशाग्रेणैव संस्पृष्टः प्राप्तकालो न जीवति ॥ १५ ॥

यतः, — अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं

सुरक्षितं दैवदत्तं विनश्यति ।

जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः

कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति ॥ १६ ॥

ततो दिनेषु गच्छत्सु सञ्जीवकः (त) स्वेच्छाहारादिलाभेन

निपतितस्य इत्यर्थः, पर्वतात् गिरिशृङ्गात्, चञ्चल्यानादिति यावत्, पतितस्य अटस्य, तच्छकेण तीव्रविषेण संपविशेषेण, दटस्य कृतदंशनस्य अपि, आयुः विधिनियमितो जीवनकालः, समाप्तिं जीवस्थानानि, जीवनानि इत्यर्थः, रक्षति पालयति, आयु-
शेदंते, तदा विपदराशिनिपतितोऽपि न म्रियते इति निष्कर्षः; नाकाले म्रियते कथित इति भावः ।

(१५) नेति । — जन्तुः प्राणी, शरशतैः बहुसङ्ख्याकैः बाणैः, विद्धः ताडितः सन्नपि, अकाले अनियमितकाले, न म्रियते प्राणैः न विमुच्यते, किन्तु प्राप्तकालः आसन्नमृत्यु-
समयः, विधिनियमितकालः यदा समुपस्थितो भवेत् तदा इत्यर्थः, कुशाग्रेण अतिसूक्ष्मेण दंशयभागेण, संस्पृष्टः एव परास्पृष्ट एव, स्पृशन्मात्रमेव न तु विद्ध इति भावः, न जीवति चेष्टातिशयेनापि न प्राप्नोति । (“नाकाले म्रियते जन्तुः” इत्यत्र “नाप्राप्तकालो म्रियते” तथा “कुशाग्रेणैव” इत्यत्र “दृष्टाग्रेणापि” इति भारतानु-
शासनपर्वीयदानधर्मप्रकरणोक्तपाठवचनम्) ।

(१६) अरक्षितमिति । — अरक्षितम् अप्रतिपालितम्, अकृतयत्नमित्यर्थः, प्राणिजातमिति शेषः, दैवरक्षितं दैवेन विधिना, रक्षितं दातं, चेदिति शेषः, तिष्ठति निर्विघ्नं वर्त्तते, न नश्यति इत्यर्थः, सुरक्षितं सम्यक् प्रतिपालितमपि, रक्षणार्थं सम्यक्कृतप्रयत्नमप्येत्यर्थः, दैवदत्तं विधिना विनाशितश्चेत्, विनश्यति अयं गच्छति । तथाहि, वने अरख्ये, विसर्जितः परित्यक्तः, अनाथः अशरणोऽपि, हिंसेभ्यः अरक्षितो-
ऽपि इति भावः, जीवति प्राप्नोति, परन्तु गृहे भवने, कृतप्रयत्नोऽपि रक्षणार्थं विहित-
विधिपोषाथोऽपि, बन्धुसाहाय्यं लभमानोऽपि इत्यर्थः, न जीवति न प्राप्नोति, म्रियते एव इत्यर्थः, अतो विधिरेव बलवानिति भावः । वंशस्थमिहं वृत्तम् ।

(१७) स्वेच्छाहारादिलाभेन — स्वाभिमतं शय्यादिकमुपभुज्य ।

ताम् (थ) अरण्यानीं परिभ्रमन् (द) दृष्टपुष्टाङ्गो (घ) बलवत्
नाद । तस्मिन् वने पिङ्गलकनामा सिंहः (न) स्वभुजोपाजितं
राज्यसुखमनुभवन्नास्ते । यथोक्तम्,—

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः ।

विक्रमार्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥ १७ ॥

स चैकदा (प) पिपासाऽऽकुलितः पानीयं पातुं (फ) यमुना
कच्छमगच्छत् । तेन च तत्र सिंहेन (ब) अननुभूतपूर्व
(भ) प्रलयघनगर्जितमिव (म) सञ्जीवकनर्दितमश्रावि । तच्छु

(घ) अरण्यानीं—महारण्यं, ("महारण्यमरण्यानी" इत्यमरः) ।

(द) दृष्टपुष्टाङ्गः,—दृष्टं स्फूर्तिमापन्नं, पुष्टं मांसलञ्च, अङ्गं यस्य सः, प्रफुल्ल
कलेवरः ।

(घ) बलवत्—अत्युच्चैः । ननाद—जगर्ज ।

(न) स्वभुजोपाजितराज्यसुखं—स्वकीयबाहुबलेन स्वयंराज्यस्वीपभोगं
मानन्दम् ।

(१७) नाभिषेक इति ।—मृगैः पशुभिः, सिंहस्य पशुराजस्य, पशु
राज्याधिकारप्राप्त्यर्थं तीर्थोदकेन स्नपनं, न क्रियते न विधीयते, तथा स्न
यथाविधि राज्याभिषेचनेन पवित्रतासम्पादनञ्च, न क्रियते न सम्पा
तर्हि कथमस्य राजत्वम् ? इत्याह, विक्रमार्जितराज्यस्य स्वभुजबलीपाजित
तस्य सिंहस्येति शेषः, मृगेन्द्रता पश्याधिपत्यं, पशुराज इति संज्ञा इति यावत्, स
अत्यसाहाय्यमनपेक्ष्यैव, निजपराक्रमेणैव सिंहेन मृगेन्द्र इति संज्ञा लभ्यते भार

(प) पिपासाऽऽकुलितः,—पिपासया जलं पातुमिच्छया, आकुलितः का

(फ) यमुनाकच्छं—यमुनातटं ("कच्छो दुभेदे नौकाङ्गेऽनूपप्राये तटो
इति हेमः) ।

(ब) अननुभूतपूर्वकं—पूर्वमनुभूतं तत्र भवतीत्यननुभूतपूर्व, [तत्र
कम्] असुतपूर्वमित्यर्थः ।

(म) प्रलयघनगर्जितमिव—प्रलये कल्पान्तकाले, ये घनाः मेघाः
गर्जितं ध्वनिरिव, कल्पान्तकालिकमेघगर्जनमिव अतिभीषणमित्यर्थः ।

(म) सञ्जीवकनर्दितं—सञ्जीवकस्य नर्दितं गर्जितं, रवमित्यर्थः ।

ऽसौ पानीयमपीत्वा (य) सचकितं (र) परिवृत्य स्वस्थानमागत्य
किमिदमित्यालोचयन् तूष्णीं स्थितः । स च तथाविधः करटक-
दमनकाभ्यां तन्मन्त्रिपुत्राभ्यां शृगालाभ्यां दृष्टः । तं तथाविधं
दृष्ट्वा दमनकः करटकमाह,—“सखे करटक ! (ल) किमित्ययम्
(व) उदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा सचकितो मन्दं मन्दमव-
तिष्ठते ?” । करटको ब्रूते,—“मित्र दमनक ! अस्मन्मतेनास्य
सेवैव न क्रियते, तत् किमस्य (श) चेष्टानिरूपणेन ? यतश्चानेन
राज्ञा विनाऽपराधेन चिरदिवसम् (ष) अवधौरिताभ्यामावाभ्यां
दुःखमनुभूतम्,—

सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत् कृतम् ।

स्नातन्त्रयं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥ १८ ॥

अपरच,—शीतवाताऽऽतपक्लेशान् सहन्ते यान् पराऽऽश्रिताः ।

तदर्हनापि मेधावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत् ॥ १९ ॥

(य) सचकितं—सभयसम्भ्रमं, सभयत्वरितं यथा तथैत्यर्थः । (“चकितं
भयसम्भ्रमे” इत्यनरः)

(र) परिवृत्य—परासुखीभूयेत्यर्थः ।

(ल) किमिति—कथम् ।

(व) उदकार्थी—उदकं जलम्, अर्थयते पातुनमित्यपति यः सः ।

(श) चेष्टानिरूपणेन—तूष्णीमवस्थानादिरूपव्यापारस्य कारणावधारणेन ।

(ष) अवधौरिताभ्याम्—अवज्ञाताभ्याम् (अवधोर + क्तः) ।

(१८) सेवयेति ।—सेवया प्रभुशुश्रूषया, धनम् अर्थम्, इच्छद्भिः अभिलषद्भिः,
सेवकैः भृत्यैः, यत् कृतं यदनुष्ठितं, पश्य अवलोकय, तदिति शेषः ; किं तत् ?—
शरीरस्य कायनावस्य, यत् स्नातन्त्रयं स्नाच्छन्द्यं, स्नाधौनता वा, मूढैः मूर्खैः सेवकैः,
तदपि स्नातन्त्रयापि, हारितं विलोपितं, धनाशया विक्रीतमिति भावः ।

(१९) शीतेति ।—पराश्रिताः पराधोनाः, जनाः इति शेषः, यान् यादृशान्,
शीतवातातपक्लेशान् शीतं हिमं, वातो वायुः, आतपः द्यौः, रौद्रसन्ताप इत्यर्थः, तैः
क्लेशान् दुःखानि, सहन्ते मुञ्चते, मेधावी बुद्धिमान् जनः, तेषां क्लेशानाम्, अर्हनापि

अन्यत्र,—एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता ।

ये पराधीनतां यातास्ते चेज्जीवन्ति के मृताः ? ॥ २० ॥

अपरत्र,—एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर ।

एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥ २१ ॥

किञ्च,—अबुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।

आत्मा संस्कृत्य संस्कृत्य परोपकरणीकृतः ॥ २२ ॥

अन्यत्र,—या प्रकृत्यैव चपला निपतत्यशुचावपि ।

स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः ॥ २३ ॥

अहंपरिमितेनापि, क्षेत्रेनेति शेषः, ("तदंशेनापि" इति पाठान्तरम्) तपः कृत्वा
ऽऽराधनरूपतपस्यां कृत्वा, सुखी इह परत्र च सुखभाक् भवेत् ।

(२०) एतावादेति ।—अनायत्तवृत्तिता अनायत्ता अनधीना, स्वाधीना वृत्तिः जीविका येषां ते तेषां भावः, स्वाधीनजीविता इत्यर्थः, इति यत् एतदेव, जन्मसाफल्यं जन्मनः सार्थकता, स्वाधीन एव सार्थकजन्मा इत्यर्थः, ते ये जनाः, पराधीनतां परतन्त्रतां, जीविकार्थमिति शेषः, याताः प्राप्ताः, ते जना जीवन्ति जीवितत्वेन गण्यन्ते, तर्हि के जनाः, मृताः ? मृतत्वेन गणनीयाः ?, परं जीवन्तोऽपि मृतीपमा इति भावः ।

(२१) एहीति ।—एहि आगच्छ, गच्छ याहि, पत शेष, अथवा विलस इत्यर्थः, भूमौ आत्मानं दण्डवत् निक्षिप इत्यर्थो वा, उत्तिष्ठ उत्थितो भव, रर मौनं समाचर तूष्णीं भव, एवम् इत्यं, धनिनी धनशालिनो जनाः, आशाग्रह एव, ग्रहः राहुः पूतनादिवा, ("ग्रहः—सूच्यादौ पूतनादौ च सैद्धिकेयोपपन्न इति विश्वः) तेन यस्यैः आकान्तैः, अर्थिभिः याचकैः करणैः, क्रीडन्ति क्रोषणं स्वेच्छया व्यवहरन्ति, तान् आश्रयन्तीत्यर्थः ।

(२२) अबुधैरिति ।—अबुधैः मूढैः, सेवकैरित्यर्थः, अर्थलाभाय अर्थसंग्रहार्थं पण्यस्त्रीभिः वाराङ्गनाभिरिव, आत्मा देहः, स्वयम् आत्मनैव, संस्कृत्य संस्कृत्य—वैश्वभूषणैर्गन्धादिविलिपनैश्च भूषितं कृत्वा, अन्यत्र—विशोध्य विशोध्य, विविध यत्नेन आत्मनः गुणवत्तां सम्पाद्य इत्यर्थः, परोपकरणीकृतः परेषां सेवकाणां, प्रमित्यर्थः, उपकरणीकृतः कार्यसाधनार्थं सहायकतया सम्पादितः, दासीकृत इत्यर्थः ।
(२३) येति ।—स्वामिनः प्रभोः, प्रकृत्या स्वभावतः, चपला चञ्चला, या

विशेषतश्च,—प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।

दुःखीयति सुखहेतोः को मूढः सेवकादन्यः ? ॥२४॥

अपरश्च,—मौनान्मूर्खः प्रवचनपटुर्वातुलो जल्पको वा

क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः ।

ष्टुष्टः पार्श्वं वसति नियतं दूरतश्चाप्रगल्भः

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः” ॥ २५ ॥

नेत्रम्, अश्रुचो अपवित्रेऽपि वस्तुनि अप्रियेऽपि वा, निपतति निक्षिप्ता भवति ;
धनिनां प्रायशः चारित्र्यहीनत्वादिति भावः ; सेवकाः अधीनाः पुरुषाः, तां तादृशीं
कुपयगामपि, दृष्टिम् अवलोकनं, बहु मन्यन्ते समाद्रियन्ते, तादृशदृष्टिपातेन आत्मानं
कृतार्थं मन्यन्ते इत्यर्थः ।

(२४) प्रणमतीति ।—उन्नतिहेतोः उन्नतिनिमित्तम्, ऐश्वर्यलाभायमित्यर्थः,
प्रणमति आत्मानं नतं करोति, जीवितहेतोः जीवनरक्षार्थं, वत्तनादिना जीविका-
निर्वाहार्थमिति यावत्, प्राणान् जीवनं, विमुञ्चति त्यजति, प्राणसङ्कटव्यापारेऽपि
आत्मानं निक्षिप्य जीविकां निर्वहति इत्यर्थः, सुखहेतोः सुखनिमित्तं, सुखी-
भवितुमित्यर्थः, दुःखीयति दुःखमाचरति, क्लेशं सहते इत्यर्थः, एवं स्थिते सेवकात्
परिचारकात्, अन्यः अपरः, मूढः मूर्खः, कः ? न कोऽपि इत्यर्थः । आर्या
वचनम् ।

(२५) मौनादिति ।—मौनात् तूष्णीमवस्थानात्, वाङ्मयमने कृते सति
इत्यर्थः, मूर्खः मूढः, प्रवचनपटुः वाग्मी चेत्, वातुलः उन्मत्तः, जल्पकः बहुभाषी
वा, क्षान्त्या क्षमया, तिरस्कारसहनेनेत्यर्थः, भीरुः भयशीलः, यदि न सहते न
सहिष्णुर्भवति, अधिचेपमिति शेषः, तदा प्रायशः भ्रुत्वा, नाभिजातः न सहंश्चाज्ञातः,
जीवस्वभाव इत्यर्थः, अविज्ञोत इति भावः, नियतं सततं, पार्श्वं सन्निधाने, वसति
तिष्ठति चेत्, ष्टुष्टः निर्लज्जः, सङ्गतः इत्यर्थः, दूरतः दूरे स्थितश्च, अप्रगल्भः
प्रतिभाविहीनः, अचतुर इत्यर्थः, कन्यापटुरिति यावत्, प्रभुभिर्मन्यते इति शेषः,
अत एव सेवाधर्मः मूल्यभावः, परमगहनः अत्यन्तजटिलः, सर्वविधस्वैवाचरणस्य
दोषावहत्वात् तथा केन वा प्रकारेण प्रभुः सन्नुप्यति, तस्यापि दुर्ज्ञेयत्वादिति भावः ;
योगिनामपि वीतरागाणां सर्वज्ञानाम् ईश्वरसेवकानामपीति भावः, अगम्यः दुर्गोचः,
ईश्वरसेवाया अपि प्रभुसेवा मुकटिनेति भावः । मन्दाक्रान्ता वचनम् ।

दमनकोऽब्रवीत्,—“मित्र ! सर्वथा मनसाऽपि
(स) एतत् कर्तव्यम् । यतः,—

कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः ? ।

अचिरैरेव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान् ॥ २६ ॥

अथ च,—कुतः सेवाविहीनानां चामरोद्धृतसम्पदः ।

उद्दण्डधवलच्छत्रवाजिवारणवाहिनी” ॥ २७ ॥

करटको ब्रूते,—“तथाऽपि किमनेन (ह) अव्यापा-
णास्माकम् ? अव्यापारेषु व्यापारः सर्वथा (क) परिहरणीयः
पश्य,—

अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।

स भूमौ निहतः श्येते कौलोत्पाटीव वानरः” ॥ २८ ॥

(स) एतत्—इदं चिन्तनं, प्रभुसेवोपेक्षणम् इति यावत् ।

(२६) कथमिति ।—ये परमेश्वराः प्रभवः, तुष्टाः सेवया प्रीताः न
अचिरैरेव अनतिविलम्बेनैव, मनोरथान् अभिलाषान्, पूरयन्ति सफलौकुर्वन्ति ।
परमेश्वराः देवोपमाः स्वामिनः, कथं नाम यत्नतः यत्नेन, न सेव्यन्ते न चाराधये-
प्रत्युत सर्वथा सेवनीया एवेत्यर्थः । [नाम इति स्त्रीकारार्थकमव्ययम्] ।

(२७) कुत इति ।—सेवाविहीनानां प्रभुसेवापराङ्मुखाणां, चामरोद्धृतसम्पद-
चामरेण राजचिह्नेन बालव्यजनेन, उद्धृताः उत्तिष्ठन्ता उत्कम्पिता वा, रुद्र-
वस्त्रालङ्कारादिरूपाणि ऐश्वर्याणि, कुतः ? सम्भवेदिति शेषः, राजसेवया हि
नैव स्यादित्यर्थः, तथा उद्दण्डम् ऊर्ध्वमुत्थापितः दण्डो यस्य तत् ताडनं, य-
शम्, छत्रं, वाजिनः अश्वाः, वारणाः गजाश्च यस्यां तथोक्ता वाहिनी सेना च, कुत-
यथा—उद्दण्डं विशालदण्डयुक्तं, धवलं छत्रम्, वाजिनश्च वारणाश्च वाहिनी
उद्दण्डधवलच्छत्रवाजिवारणवाहिनी [“इन्द्रश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्” (सा-
पा०) इति इन्द्रैकवक्तावः] राजसेवामन्तरेण न कथमपीदृशी सम्पत् लभ्येतीति भावः ।

(ह) अव्यापारेण—अधिकारवर्हिर्भूतेन, पराधिकारचञ्चया इति यावत् ।

.. (क) परिहरणीयः,—त्यक्तव्यः ।

(२८) अव्यापारेणिति ।—यो नरः, अव्यापारेषु स्वकर्तव्यातिरिक्तकार्येषु

दमनकः पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । करटकः कथयति,—
कीलोत्पाटि-वानरकथा ।—

“मगधदेशे (ख) धर्मारण्यसन्निहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना
कायस्थेन (ग) विहारः कारयितुमारब्धः । तत्र (घ) करपत्र-
विदार्यमाणकाष्ठस्तम्भस्य (ङ) कियदूरविदीर्णखण्डद्वयस्य मध्ये
कीलकः सूत्रधारेण (च) निहितः । तत्र च वनवासी
(छ) महान् (ज) वानरयूथः क्रौडनार्थमायातः । तेषु एको
वानरः (झ) कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः ।
ततस्तस्य (ञ) मुष्कद्वयं लम्बमानं काष्ठखण्डद्वयाभ्यन्तरे

व्यापारं क्रियां, कर्तुम् इच्छति अभिलषति, स जनः, कीलोत्पाटी कीलं शङ्कं,
विदार्यमाणकाष्ठस्य अन्तरावकाशरचार्थं प्रदत्तकाष्ठखण्डम् इति यावत्, उत्पाटयति
उत्तोलयतीति तथोक्तः, वानर इव कपिरिव, निहितः विनष्टः सन्, भूमौ गते
निपतति इत्यर्थः, भूमौ निपत्य प्राणान् त्यजति इति यावत् ।

(ख) धर्मारण्यसन्निहितवसुधायां—धर्मारण्यस्य तदाप्यारण्यविशेषस्य, सन्निहिते
समीपे, या वसुधा भूमिः तस्यां, धर्मारण्याप्यारण्यनिकटवर्तिनि स्थाने ।

(ग) विहारः,—सुगतालयः, वृद्धमन्दिर इत्यर्थः, (“विहारो समर्थे
स्त्वन्वे लौलायां सुगतालये” इति मेदिनी) ।

(घ) करपत्रविदार्यमाणकाष्ठस्तम्भस्य—करपत्रेण क्रकचेन, काष्ठविदारकास्त्र-
विशेषेण इत्यर्थः । (“करात” इति वङ्गभाषा) विदार्यमाणः पाट्यमानः, यः
काष्ठस्तम्भः स्तम्भाकारकाष्ठखण्डः, छिन्नशाखामूलवृक्षप्रकाष्ठ इत्यर्थः, तस्य ।

(ङ) कियदूरविदीर्णखण्डद्वयस्य—कियदूरं किञ्चिदूरपर्यन्तं, विदीर्णस्य
पाटितस्य, द्विधा भिन्नस्येत्यर्थः, खण्डद्वयस्य अंशद्वयस्य ।

(च) निहितः,—प्रोथितः, अभ्यन्तरावकाशरचार्थे स्थापितः इत्यर्थः,
विदीर्णशङ्खद्वयस्य पुनः संयोगनिवारणार्थं संस्थापित इति यावत् ।

(छ) महान्—बृहत्कायः महाबली वा ।

(ज) वानरयूथः,—वानरसमूहः ।

(झ) कालप्रेरितः,—कालेन सत्युना, प्रेरितः चालितः ।

(ञ) मुष्कद्वयम्—अण्डकोषयुगलम् ।

प्रविष्टम् । अनन्तरं स (ठ) सहजचपलतया सहता प्रयत्ने
तं कीलकमाकृष्टवान् । आकृष्टे च कीलके काष्ठाय
चूर्णिताखण्डद्वयः (ठ) पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि,—
व्यापारेषु व्यापारमित्यादि” ।

[इति कीलोत्पाटि-वानरकथा] ।

दमनको ब्रूते,—“तथाऽपि स्वामिचेष्टानिरूपणं सेवके
कर्त्तव्यम्” । करटको ब्रूते,—“यः (ड) सर्वाधिकारे निबुद्धः
प्रधानमन्त्री स करोतु । यतः (ढ) अनुजीविना (ण) पराधि-
कारचर्चा न कर्त्तव्या । पश्य,—

पराधिकारचर्चां यः कुर्यात् स्वामिहितेच्छया ।

स विषीदति चौल्कारात् ताडितो गर्दभो यथा” ॥ २५

दमनकः पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । करटकः कथयति,—

रजक-चौर-गर्दभ-कुक्कुरकथा ।—

“आसीत् वाराणस्यां कर्पूरपटो नाम रजकः । स चैक-
(त) अभिनववयस्कया भार्यया सह चिरं (थ) केलिं कृत-

(ठ) सहजचपलतया—सहजवचाचल्येन ।

(ठ) पञ्चत्वं गतः,—मृतः ।

(ड) सर्वाधिकारे—सर्वकार्येपथ्येवेक्षणे ।

(ढ) अनुजीविना—सेवकेन ।

(ण) पराधिकारचर्चा—अन्येषां कर्त्तव्यकमानुशीलनम्, अन्येषां ह-
कर्मणि हस्तनिक्षेप इत्यर्थः ।

(२५) परेति,—यः स्वामिहितेच्छया प्रभोरिष्टसाधनाभिलाषेण, पराधिकारस-
कर्त्तव्यकर्मणः, चर्चाम् आलोचनामित्यर्थः, परकर्त्तव्यं सम्पादयितुमिच्छामिति या-
कुर्यात् विदध्यात्, स जनः, चौल्कारात् उच्चैः शब्दकरणात् हेतोः, ताडितः शार-
रजकेन इति शेषः, गर्दभो यथा रासभ इव, विषीदति विषादमाप्नोति, म्रियते इत्यर्थः ।

(त) अभिनववयस्कया—तरुणवयस्कया, युवत्या इत्यर्थः ।

(थ) केलिं—क्रीडां विहारं वा ।

(द) निर्भरं प्रसुप्तः । तदनन्तरं द्रव्याणि (घ) हर्त्तुं तद्गृहे
चौरः प्रविष्टः । तस्य (न) प्राङ्गणे गर्दभो (प) बद्धस्तिष्ठति,
कुक्कुरस्योपविष्टः अस्ति । तं चौरमवलोक्य गर्दभः (फ) श्वान-
माह,—“सखे ! भवतस्त्वावदयं (ब) व्यापारः, तत्
(भ) किमिति त्वमुच्चैःशब्दं कृत्वा स्वामिनं (म) न जागरयसि ?” ।
कुक्कुरो ब्रूते,—“भद्र ! मम (य) नियोगस्यास्य (र) चर्चा त्वया
न कार्य्या । त्वमेव किं न जानासि (ल) यथाऽहमस्य अहर्निशं
गृहरक्षां करोमि । (व) यतोऽयं चिरात् (श) निर्वृतो मम
(ष) उपयोगं न जानाति, तेनाधुना ममाऽऽहारदानेऽपि
मन्दादरः । विना (स) विधुरदर्शनं स्वामिनोऽनुजीविषु

(द) निर्भरं—गाढम् ।

(घ) हर्त्तुम्—अपहर्त्तुम् ।

(न) प्राङ्गणे—चत्तरे, गृहसमुखस्यभूमौ इत्यर्थः, (“उठान” “आङ्गिना”
इति भाषा) ।

(प) बद्धः,—रज्ज्वा बद्धः ।

(फ) श्वानं—कुक्कुरम् ।

(ब) व्यापारः,—अधिकारः, चौरात् द्रव्याणि रक्षयितुं स्वामिन उद्दीघनरूपं
कार्यमित्यर्थः ।

(भ) किमिति—कथम् ।

(म) न जागरयसि ?—प्रबुद्धं न करोषि ?

(य) अस्य नियोगस्य—एतस्य कार्य्यस्य, ममाधिकृतस्य कार्य्यस्य इत्यर्थः ।

(र) चर्चा—विचारः, औचित्यानीचित्यचिन्तनमित्यर्थः ।

(ल) यथा—येन प्रकारेण ।

(व) यतः,—यस्मात् रक्षणार्हेतोः ।

(श) निवृत्तः,—सुखी, चौक्याद्युपद्रवराहित्यात् निरुद्धिम् इति यावत् ।

(ष) उपयोगम्—उपयोगितां, प्रयोजनमित्यर्थः ।

(स) विधुरदर्शनं—वैकल्यदर्शनं, विपत्त्यभावनाऽवेक्षणमिति यावत् । (वैकल्ये-
ऽपि च विज्ञेये विधुरं विफली विधुः इति त्रिकाण्डशेषः) ।

(ह) मन्दाऽऽदरा भवन्ति । गर्दभो ब्रूते,—“मृष

(क) वर्वर !—

“याचते कार्यकाले यः स किंभृत्यः स किंसुहृत् ।”

कुक्कुरो ब्रूते,—

“यो न सम्भावयेद् भृत्यान् कार्यकाले स किंप्रभुः” ॥

किच,—आश्रितानां भृतौ स्वामिसेवायां धर्मसेवने ।

पुनस्त्योत्पादने चैव न सन्ति प्रतिहस्तकाः” ॥ ३१ ॥

ततो गर्दभः सकोपमाह,—“अरे दुष्टमं

(ख) पापीयांस्त्वं, यद् विपत्तौ स्वामिकार्योपेक्षां करोति

(ह) मन्दाऽऽदराः,—गिथिलप्रयत्नाः ।

(क) वर्वर !—पामर !

(३०) याचते इति ।—यो भृत्यः, कार्यकाले कार्यसमये, सङ्कटम् ज्ञात्वा इत्यर्थः, याचते स्वामिनम् अर्थादिकं प्रार्थयते, स्वायंमन्विष्यते इति वाच्यः किंभृत्यः निन्दनीयसेवकः, [निन्दार्थककिंशब्देन कर्मधारयः । “किंभृत्यः (५।४।७० पा०) इति समासान्तप्रत्ययनिषेधः] स किंसुहृत् निन्दनीयप्रभुः, कार्यकाले भृत्यान् सेवकान्, न सम्भावयेत् न धनमानाभ्यामादित्येव किंप्रभुः निन्दनीयस्वामी, प्रभुभृत्ययोः परस्परं सार्वकालिकसमसुखदुःखसंश्लेषयोर्मूलमिति भावः । “किंभृत्यः किंसुहृत् किंप्रभुः” इत्यत्र किंशब्दस्य असमस्तत्वं भृत्यः किम् ? सुहृत् किम् ? प्रभुः किम् ? नैवेत्यर्थः । (“भृत्यान् सम्भावयेत् कार्यकाले स किंप्रभुः” इति पाठे—यः कार्यकाले एव भृत्यान् सम्भावयेत् कार्यसमाप्ते न सम्भावयेत्, स किंप्रभुः इत्यर्थः ।

(३१) आश्रितानामिति ।—आश्रितानां सेवकादीनामधीनानां शरणमात्रेण वा, भृतौ भरणे, स्वामिसेवायां प्रभुसेवायां, धर्मसेवने धर्मकर्मालुष्ठाने, पुत्रसहजने च विषये, प्रतिहस्तकाः अनुरूपहस्ताः, प्रतिनिधयः इति यावत्, नैव वा विद्यन्ते ; एतानि स्वयमेव सम्पादनीयानि नैव प्रतिनिधिभिरिति भावः ।

(ख) पापीयान्—कर्मव्यालुष्ठाने विमुखत्वात् पापकर्मरतः, प्रभुसेवायां पापाचार इति वा । [पापं विद्यते अस्य इति पापवान्, अतिशयेन पापवान् इति द्वैधेन, ततः दृष्टवद्भावात् गतुपी लुक्] ।

भवतु, यथा स्वामी जागर्ति, तथा मया कर्तव्यम् । यतः,—

पृष्ठतः सेवयेदकं जठरेण हुताशनम् ।

स्वामिनं सर्वभावेण परलोकममायया” ॥ ३२ ॥

इत्युक्त्वा सः अतोव चीत्कारं कृतवान् । ततः स रजकस्तेन चीत्कारेण (ग) प्रबुद्धो निद्राविमर्दकोपादुत्थाय गर्दभं लगुडेन ताडयामास । ततस्तेन ताडनेन गर्दभः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि,—“पराधिकारचर्चाम्” इत्यादि ।”

[इति रजक-चीर-गर्दभ-कुक्षुरकथा] ।

पश्य, पशूनामन्वेषणमेवास्माकं नियोगः । अतः स्वनियोग-स्वैव चर्चा क्रियताम्” । पुनर्विमृश्य आह,—“किन्त्वद्य तथाऽपि चर्चया न प्रयोजनं, यतः आवयोः (घ) भक्षित-शेषाहारः प्रचुरः अस्ति” । दमनकः सरोषमाह,—“कथम् (ङ) आहारमात्रार्थी भवान् नृपं सेवते ? एतदयुक्तमुक्तं त्वया । यतः,—

सुहृदामुपकारकारणात् द्विषतामप्यपकारकारणात् ।

नृपसंश्रय इष्यते बुधैर्जठरं को न बिभर्ति केवलम् ? ॥ ३३ ॥

(३२) पृष्ठत इति ।—अकं सूर्ये, सूर्यकिरणमित्यर्थः, पृष्ठतः पृष्ठेन, [“आद्यादिभ्यः उपसङ्गानम्” (वा०) इति ढतीयायाः तसिच्] सेवयेत् सेवेत, उपमुञ्जीतेत्यर्थः, कवीनां निरङ्कुशत्वात् अत्र णिजन्तप्रयोगः सोढव्यः ; हुताशनं वक्त्रं, जठरेण उदरेण, स्वामिनं प्रभुं, सर्वभावेण सर्वप्रयत्नेन, मनीषाकायेनैव यावत्, सेवयेत् परिचरेत्, परलोकं पारलौकिकं घमांनुष्ठानम् इत्यर्थः, अमायया अकापव्येन, आस्त्रयेत्यर्थः, हृदयेन सहितं यावत्, सेवयेत् आश्रयेदित्यर्थः ।

(ग) प्रबुद्धः,—जागरितः । निद्राविमर्दकोपात्—निद्राया विमर्दः व्याघातः, तेन कोपकृत्वात् ।

(घ) भक्षितशेषाहारः,—भुक्तावशिष्टं खाद्यम् । प्रचुरः,—भूयान् ।

(ङ) आहारमात्रार्थी—आहारमात्रम् अर्थयते यः सः, केवलभोजनप्राप्तौ ।

(३३) सुहृदामिति ।—सुहृदां मित्राणाम्, उपकारकारणात्, उपकारार्थं,

हि—१३

जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा मित्राणि बान्धवाः ।

सफलं जीवितं तस्य आत्मार्यं को न जीवति ? ॥ ३४ ॥

अपिच,—यस्मिन् जीवति जीवन्ति बहवः स तु जीवतु ।

काकाऽपि किं न कुरुते चञ्चु स्त्रोदरपूरणम् ? ॥ ३५ ॥

पश्य,—

पञ्चभिर्याति दासत्वं पुराणैः कोऽपि मानवः ।

कोऽपि लक्षैः कृतः कोऽपि लक्षैरपि न लभ्यते ॥ ३६ ॥

हितं कर्तुमित्यर्थः, द्विषतामपि शत्रूणाञ्च, अपकारकारणात् अपकारार्थं, निष्यांतनाथं इत्यर्थः, दुधैः पण्डितैः, नृपसंशयः राजाश्रयः, इष्यते वाञ्छते, जनः, केवलं जठरं स्त्रोदरमात्रं, न विभक्तिं ? न पूरयति ? अपि तु सर्वं अनायासलक्ष्येन शाकेनापि स्त्रोदरपूरणसम्भवात् तदर्थं श्रद्धाः सेवा न दुष्प्रभिमता, परन्तु सुहृदः पालयितुं द्विषतश्च दमयितुमेव राजसेवा कार्या तेषामभिमतमिति भावः । सुन्दरो वृत्तम् ।

(३४) जीवितं इति ।—यस्य जनस्य, जीविते जीवने, प्राणेषु विद्यमानं इत्यर्थः, विप्राः ब्राह्मणाः, मित्राणि सुहृदः, बान्धवाः ज्ञातयः, जीवन्ति प्राणं परार्थमेव यस्य जीवनम् इत्यर्थः, तस्य जीवितं जीवनं, सफलं सार्थकं, स एव सदा जन्मा इत्यर्थः, आत्मार्यं स्वायंसाधनार्थं, को जनः, न जीवति ? न प्राणान् पालयति स्वायंसाधनार्थं सर्वे एव जीवन्ति, परन्तु कस्यापि अपकाराभावात् तेषां सर्वेषां विफलमेव इति भावः ।

(३५) यस्मिन्निति ।—यस्मिन् जने, जीवति विद्यमाने सति, बहवः, इति शेषः, जीवन्ति जीवितास्तिष्ठन्ति, यस्मात्तस्य अनेके जीविका निवाहयन्ति इति स तु स एव, जीवतु प्राणितु, तस्य जीवनं प्राथनीयमेवेत्यर्थः, काकोऽपि बायसी किं चञ्चु चञ्चुसाहाय्येन, हस्ताद्यभावेऽपि इति भावः ; स्त्रोदरपूरणं निजजठरपूरणं न कुरुते ? स्त्रोदरमात्रपूरणं तु तिर्यग्जातिभिरपि क्रियमाणत्वेन वैशिष्ट्यात् कलात् नितरां हेयमेव इति भावः ।

(३६) पञ्चभिरिति ।—कोऽपि मानवः नरः, पञ्चभिः पञ्चसङ्घातैः, पणैः, वराटानां चतुःशतेनेत्यर्थः, (“पुराणं पञ्चलक्षणे । पणो पुंसि द्विषु प्रदे” इति हिनि । “वराटकाणां दशकद्वयं यत् सा दाक्षिणी ताश्च पणसतस्रः”)

अन्यच्च,—मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम् ।

प्रथमो यो न तत्रापि स किं जीवन्तु गच्छते ? ॥ ३७ ॥

तथा चोक्तम्,—

वाजिवारणलोहानां काष्ठपाषाणवाससाम् ।

नारोपुरुषतोयानामन्तरं महदन्तरम् ॥ ३८ ॥

तथाहि,—अल्पस्त्रायुवसाऽवशेषमखिनं निर्मांसमप्यस्थिकं

श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न च तत्तस्य क्षुधाशान्तये ।

लोहावती च) दासत्वं भृत्यभावं, याति प्राप्नोति, स्वीकरोतीत्यर्थः, कोऽपि मानवः, लघ्वैः लघुसङ्ग्रहकैः, पुराणैरिति शेषः, कृतः दासः कृतः, धनवह्निरिति शेषः ; कोऽपि लघ्वैरपि, पुराणैरिति शेषः, न लभ्यते न प्राप्यते, दासीकर्तुं न शक्यते इत्यर्थः, धनिभिरिति शेषः । (“कृतः” इत्यत्र “कृती” इति पाठे—“कोऽपि” इत्यादिचतुर्थचरणे अथम् अन्वैतव्यः, तथा च, कोऽपि लघ्वैः पुराणैः दासत्वं याति, कोऽपि कृती योग्यः, कर्मपटुरित्यर्थः, (“कृती स्यात् पण्डिते योग्ये” इति मेदिनी) लघ्वैरपि न लभ्यते) ।

(३७) मनुष्यजाताविति ।—मनुष्यजातौ मनुष्यत्वे इत्यर्थः, मानवाकारत्वे इति यावत्, तुल्यायां समायां सत्यामपि, प्रभोः भृत्यस्य च मनुष्याकारत्वाविशेषेऽपि इत्यर्थः, मानवत्वसामान्येन सर्वेषामेव समानत्वेऽपि इति यावत्, भृत्यत्वं भृत्यभावः, दासत्वमित्यर्थः, अतिगर्हितम् अतिनिन्दनीयम्, अतीवावमाननाजनकमिति यावत्, तत्रापि अतिगर्हिते भृत्यत्वेऽपि, यः भृत्यः, प्रथमः सर्वश्रेष्ठः, प्रधानत्वेन परिगणित इत्यर्थः, न, भवतीति शेषः, यस्य किमपि प्राधान्यं नास्तीत्यर्थः, सः जीवन्तु जीवन्नरेषु मध्ये, गच्छते ? सङ्ग्रायते किम् ? परिगणितो भवति किम् ? इत्यर्थः, स मृत एव इति भावः ।

(३८) वाजीति ।—वाजिनः अश्वाः, वारणाः इक्षिनः, लोहं सर्वतैजसं, खर्षादिधातुरित्यर्थः, (“लोहोऽस्त्री शस्त्रके लोहं जीङ्गके सर्वतैजसे” इति मेदिनी) तेषां, काष्ठानि दारुणि, पाषाणाः प्रक्षराः, वासांसि वस्त्राणि तेषां, नाय्यः स्त्रियः, पुरुषाः जराः, तोयानि जलानि च, एतेषाम्, अन्तरं परस्परपाथंक्वं, प्रत्येकेषामेषां सजातीयेषु परस्परगुणतारतम्यमित्यर्थः, महदन्तरम् अतीव भेदयुक्तम्, अत्यन्तं विसदृशमित्यर्थः ।

(३९) अल्पेति ।—श्वा कुकुरः, अल्पस्त्रायुवसाऽवशेषमखिनम् अल्पाः खल्यपरि-

सिंहो जम्बुकमङ्गमागतमपि त्यक्त्वा निहन्ति द्विपं
सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम् ॥

अपरञ्च, पश्य (च) सेव्यसेवकयोः अन्तरम्,—

लाङ्गूलचालनमधश्चरणवपातं

भूमौ निपत्य तदनादरदर्शनञ्च ।

श्वा पिण्डदस्य कुरुते गजपुङ्गवस्तु

धीरं विलोकयति चाटुशतैश्च भुङ्क्ते ॥ ४० ॥

मिताः, स्नायवः देहान्तर्वर्ति-अङ्गप्रत्यङ्गसन्धिवन्धनरूपसूक्ष्मशिराविशेषाः, वसाः सेव्य-
च, ताभ्यः अवशेषः अवशिष्टं, विरहितमित्यर्थः, अत एव, यद्वा—तासाम् अवशेष-
अवशिष्टत्वेन, क्लिष्टित् संलग्नत्वेन इत्यर्थः, मलिनं मलयुक्तं, निर्मांसं मांसहीनम् च,
अस्थिकं चूद्राश्लिखण्डम्, [अल्पार्थे कल्पप्रत्ययः] लब्ध्वा आसाद्य, परितोषं दातुं,
एति गच्छति, तच्च तत्तु अस्थि, तस्य कुक्कुरस्य, चूषाशान्तये बुभुक्षानिहन्तये,
प्रभवति इति शेषः, सिंहः अङ्गं क्रीडन्, अन्तिकम् इत्यर्थः, आगतं प्राप्तम् च,
कम्बुकं शृगालं, त्यक्त्वा विहाय, चूद्रत्वात् दुर्बलत्वाच्चेति भावः, द्विपं हस्तिनं, कम्बु-
रूपप्रतिहन्दिनमिति भावः, निहन्ति विनाशयति ; तथाहि, सर्वो जनः कृच्छ्रगते-
क्रीडं प्रातोऽपि, धनाद्यभावजनितदुःखमनुभवन्नपीत्यर्थः, सत्त्वानुरूपं स्ववीर्यो-
चितवृत्तिसदृशं वा. फलं लाभं, वाञ्छति प्राप्यते । शार्दूलविक्रीडितं वनम् ।

(च) सेव्यसेवकयोः,—स्नामिभृत्ययोः, सेव्यो सेवां कर्तुमर्हो सेवाहर्षि-
यो सेवकौ भृत्यौ, प्रधानाप्रधानपरिचारकौ इत्यर्थः, तयोः इति वा, ("सेव्यसेवकयोः"
इति पाठः न मनोरमः, प्रसङ्गविरोधात्) अन्तरं—प्रभेदम्, उभौ प्रति तारक-
इत्यर्थः, स्नामिनः उत्तनाधमकिङ्करभेदेन मानापमानयोगम् इत्याशयः ।

(४०) लाङ्गूलेति ।—श्वा कुक्कुरः, हीनप्रकृतिरिति भावः, पिण्डदस्य चव-
पुत इति शेषः, लाङ्गूलस्य पुच्छस्य, चालनं विलोचनम्, अधश्चरणयोः पादयोः वि-
अवपातं पतनं, लुठनमित्यर्थः, भूमौ भूतले, निपत्य पतित्वा, तदनादरदर्शनञ्च
प्रभोः, प्रमुक्त इत्यर्थः, यः अनादरः तिरस्क्रिया, तस्य दर्शनञ्च पादपतनादति-
तदुत्प्रेषणादितिरस्कारसङ्गनश्चेत्यर्थः, कुरुते । ("वदनीदरदर्शनञ्च" इति पाठे—
प्रबलबुभुक्षापानार्थं वश्यत्वज्ञापनार्थं वा कदाचित् मुखव्यादानं कृत्वा कदाचिन्ना-
उत्तानं निपत्य वदनप्रदर्शनमुदरप्रदर्शनञ्च कारयतीत्यर्थः । अधमसेवकयोः

किञ्च,—यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-

र्विज्ञानविक्रमयशोभिरभज्यमानम् ।

तन्नाम जीवनमिह प्रवदन्ति तज्ज्ञाः

काकोऽपि जीवति चिराय बलिञ्च भुङ्क्ते ॥ ४१ ॥

यो नाऽऽत्मजे न च गुरौ न च भृत्यवर्गे

दीने दयां न कुरुते न च बन्धुवर्गे ।

दर्शयित्वा उत्तमसेवकचेष्टितं प्रदर्शयति, गजपुङ्गव इति ।—गजपुङ्गवः गजिन्द्रसु-
धीरं प्रशान्तं यथा तथा, भोजनार्थं किञ्चिदपि व्ययताप्रदर्शनमकृत्येत्यर्थः, स्नानुरूपं
सम्मानं संरक्ष्येति भावः, विलोकयति पश्यति, पिण्डमिति शेषः, चाटुशतैः बहुविधैः
प्रियवचनैश्च, पिण्डदस्य इति शेषः, भुङ्क्ते खादति, भोग्यवस्तूनि इति शेषः,
हीनोत्तमयोः सेवकयोरित्येवान्तरमिति भावः । वसन्ततिलकं हत्तम् ।

(४१) यदिति ।—विज्ञानविक्रमयशोभिः विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोरभिज्ञता,
(“विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः” इत्यमरः) विज्ञानं विशेषज्ञानं, लोकहितकरं कर्म वा,
(“विज्ञानं ज्ञानकर्मणोः” इति मेदिनी) विक्रमः पराक्रमः, यशः कीर्तिश्च, तैः
अभज्यमानम् अभिज्यमानं, तैराज्जातम् इत्यर्थः, अविरहितमिति यावत्, सुप्रतिष्ठितमिति
भावः, अत एव प्रथितं विख्यातं यथा तथा, क्षणं मुहूर्तमपि मनुष्येयत्वं जीव्यते,
इह जगति, तज्ज्ञाः जीवनरहस्यविदः पण्डिताः, तत् तादृशमेव जीवनं, जीवनं
प्रशस्तजीवनं, प्रवदन्ति कथयन्ति, नाम इति स्त्रीकारार्थकमव्ययम्; तथाहि,
काकोऽपि चिराय दीर्घकालं, जीवति प्राणिति, बलिं खाद्यञ्च, भुङ्क्ते खादति,
आहारमात्रं न जीवनफलं, परन्तु विज्ञानादिभिः प्रथितत्वमेवेति भावः । वसन्त-
तिलकं हत्तम् ।

(४२) यो नाऽऽत्मजे इति ।—यो जनः, आत्मजे स्वतनये, न, गुरौ गुरुजने च,
जनकादिषु चेत्यर्थः, न, भृत्यवर्गे अनुजीविनिचये च, न, दीने दरिद्रे, अकिञ्चने इत्यर्थः,
न, तथा, बन्धुवर्गे च स्वजनसमूहे च, भ्रात्रादौ परिजने मित्रादौ वा इत्यर्थः, न
दयाम् अनुग्रहं, कुरुते आचरति, एषां पुत्रादीनां दुःखं दृष्ट्वाऽपि तदपनेतुं न यतते
इत्यर्थः, मनुष्यलोके मर्त्यभूमौ, तस्य दयाहीनस्य जनस्य, जीवितफलेन जीवितं
जीवनम् एव फलं तेन, प्राणधारणेन, किम्? किं प्रयोजनम्? न किमपि,
तस्य जीवनधारणं निष्प्रयोजनमेवेत्यर्थः, [वारणाशंकिकंशब्दयोगात् “फलेन” इत्यत्र
द्वितीया] मरणमेव तस्य श्रेयः इति भावः; तथाहि, काकोऽपि वायसोऽपि, अनपेक्षित-

किं तस्य जीवितफलेन मनुष्यलोके ?

काकोऽपि जीवति चिराय बलिञ्च भुङ्क्ते ॥ ४२ ॥

अपरञ्च,—अहितहितविचारशून्यबुद्धेः

श्रुतिविषयैर्बहुभिर्वह्निष्कृतस्य ।

उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः

पुरुषपशोश्च पशोश्च को विशेषः ? ॥ ४३ ॥

करटको ब्रूते,—“आवां तावत् अप्रधानौ, आवयोः किम् (छ) अनया विचारणया ?” । एतद्वत् दमनकः पुनराह,—“भ्रातः ! (ज) कियता कालेन अ

बन्धुबान्धवोऽपि इति भावः, चिराय चिरं, दीर्घकालमित्यर्थः, जीवति प्राप्तिः, उपहारश्च, भोज्यत्वेत्यर्थः, (“करोपहारयोः पुंसि बलिः प्राण्यङ्गत्वे हि इत्यमरः) भुङ्क्ते खादति, यदि केवलं पानभोजनादिकं प्राणधारणश्च प्रयोजनं तदा काकादिभ्यः तिथ्यङ्गजातिभ्यः मनुष्यस्य को भेदः ? इति निश्चयः ।

(४३) अहितेति ।—अहितश्च हितश्च अहितहितौ अनिष्टेष्टौ, [यस्य परनिपातः] तयोः विचारे विवेके, शून्या हीना, बुद्धिः सतिर्यस्य तस्य, विवेकशून्यस्य, बहुभिः बहुविधैः, श्रुतिविषयैः शास्त्रगोचरैः, शास्त्रज्ञैर्वह्निष्कृतस्य रहितस्य, यदा—श्रुतिः शास्त्रमेव, विषयः गोचरः, उपलब्धमित्यर्थः, येषां तैः, विद्वद्भिरित्यर्थः, वह्निष्कृतस्य निराकृतस्य, अवज्ञाते (“श्रुतिसमये बहुभित्तिरुक्तस्य” इति पाठे—तन्नामश्रवणसमकालमेव बहु अनादृतस्य इत्यर्थः) उदरभरणमात्रकेवलेच्छोः उदरभरणमात्रे कठरपोषणं (“मात्रं कार्त्तव्योऽवधारणे” इत्यमरः) नान्यस्मिन् विषये इति मात्रशब्दार्थः, एकम्, इच्छा वाञ्छा यस्य तस्य केवलम् उदरपूरणपरायणस्य, पुरुषपशोश्च मनुष्यस्य च, पशोश्च छागादेय, विशेषः प्रभेदः, कः ? शास्त्रज्ञानविहीनः स्वमात्रार्थं पुरुषः पशुरेवेत्यर्थः । पुष्पिताया वृक्षम् ।

(छ) अनया विचारणया—अनेन स्वानिचेष्टानिरूपणानिर्णयकार्त्तव्याकर्त्तव्यरूपेण वितर्केण ।

(ज) कियता कालेन—किञ्चिदेव कालेन, कियत्कालमध्ये एव अमात्यः,—यः किञ्चिदेको मन्त्रित्वार्थः ।

(भ) प्रधानतामप्रधानतां वा लभेत । यतः,—

न कस्यचित् कश्चिदिह स्वभावात्

भवत्युदारोऽभिमतः खलो वा ।

लोके गुरुत्वं विपरीततां वा

स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति ॥ ४४ ॥

किञ्च,—आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा ।

निपात्यते क्षणेनाधस्तथाऽऽत्मा गुणदोषयोः ॥ ४५ ॥

तद्भद्र ! (ज) स्वयन्नायत्तो हि आत्मा सर्वस्य,—

(भ) प्रधानतामप्रधानतां वा लभेत—कार्यनैपुण्येन प्राधान्यं कार्यान्वयतया च अप्राधान्यं लब्धुमर्हति इत्यर्थः, अप्रधानानामात्मोऽपि कार्यकुशलितया प्रधानानामात्मपदं प्रधानानामात्मोऽपि कार्यापाटवेन अप्रधानतां यातुं सन्भावित इति भावः ।

(४४) नेति ।—इह जगति, कश्चित् जनः, कस्यचित् जनस्य, स्वभावात् निरुगादेव, अकारणमेवेत्यर्थः, जन्मन एव इति वा, न उदारः औदार्यगुणयुक्तः, महिमान्वितः इत्यर्थः, अत एव अभिमतः प्रियः, यद्वा—अभिमतः प्रियः, अत एव उदारः महान्, सम्मानभाजनमित्यर्थः, वा अथवा, खलः नीचः, अधम इत्यर्थः, अत एव अनभिमतत्वात् असम्मानभाजनमिति भावः ; (“खलो भूस्थानकल्केषु नीचक्रूरावमे निषु” इति मेदिनी) भवति जायते, लोके जगति, स्वचेष्टितानि स्वव्यापारा एव, निजकर्मण्येवेत्यर्थः, नरं गुरुत्वं श्रेष्ठत्वं, सम्मानभाजनमित्यर्थः, वा अथवा, विपरीततां लघुत्वम्, असम्मानास्पदत्वमित्यर्थः, नयन्ति प्रापयन्ति, स्वकार्यानुसारेणैव नराः प्राधान्यम् अप्राधान्यं वा लभन्ते इति निष्कर्षः । उपनातिः वृत्तम् ।

(४५) आरोप्यते इति ।—महता यत्नेन ब्रह्मायासेन, यथा यदत्, शिला प्रसारः, शैले पर्वतोपरि, आरोप्यते उल्याप्यते, क्षणेन अल्पकालेन, अनायासेनेत्यर्थः, यथा च अधः निम्ने, मुनाविति यावत्, निपात्यते निचिप्यते, लोकोरिति शेषः, तथा आत्मा स्वं, स्वभावो वा, चित्तं वा (“आत्मा क्लीबरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि । चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि च” इति धरणिः) गुणदोषयोः, आरोप्यते निपात्यते चेति पूर्वेष्वान्वयः, जनैरिति शेषः, महता प्रयत्नेन गुणे आरोप्यते उन्नोयते, क्षणेन च दीवे निपात्यते अधःपात्यते इत्यर्थः ; आत्मनः उन्नतिरायाससाध्या भवन्ति च अनायासेनैव भवतीति भावः ।

(ज) स्वयन्नायत्तः,—स्वस्य यत्रः चेष्टा, तस्य आयत्तः अधीनः, स्वचेष्टानुसारेणैव

यात्यधोऽधो व्रजत्युच्चैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः ।

कूपस्य खनिता यद्वत् प्राकारस्येव कारकः ॥ ४६ ॥

करटको वदति,—(ट) “अथ भवान् किं ब्रवीति ?” । दमनकः

आह,—“अयं तावत् स्वामौ पिङ्गलकः पानीयमपीत्या

(ठ) कुतोऽपि भयात् सचकितं परिहृत्योपविष्टः” । करटको

ब्रूते,—“किं तत् त्वं जानासि ?” । दमनको वदति,—“वि

(ड) प्रज्ञावताम् (ढ) अविदितमस्ति ? उक्तञ्च,—

न यत्रास्ति गतिर्वायोः रश्मीनाञ्च विवस्वतः ।

तत्रापि प्रविशत्याशु बुद्धिर्बुद्धिमतां सदा ॥ ४७ ॥

आत्मनः उन्नतिरवगतिर्वा भवति इत्यर्थः ।

(४६) यातीति ।—नरः मनुष्यः, कूपस्य खनिता विदारकः, कूपखननकारकः इत्यर्थः, यद्वत् यथा, प्राकारस्य प्राचीरस्य, कारकः मिमांसा इव च, स्वैः स्वयैरेव, आत्मकतैरेवेत्यर्थः, कर्मभिः दीपगुणवत्क्रियाभिः, अधोऽधः अधोऽधः, सर्वा इत्यर्थः, [“उपर्यध्यधः समीप्ये” (८।१।७ पा०) इति द्विरुक्तिः] याति गच्छति, एवं उन्नतिञ्च, व्रजति लभते, कूपखननकारकः स्वकामानुरोधेन क्रमशः अथ एव प्राकारनिर्माता च तथैव क्रमशः ऊर्ध्वमेव गच्छति, एवं लोकोऽपि स्वकामवशादेव वा उच्चैः वा गच्छति इति निष्कर्षः ।

(ट) अथ—प्रश्ने ।

(ठ) कुतोऽपि भयात्—कस्मादपि जन्तोर्भयेन, कस्माच्चिदविज्ञातात् भयादिति वा

(ड) प्रज्ञावतां—बुद्धिमताम् । [“क्तस्य च वर्त्तमाने” (२।३।६७ पा०) इति कर्त्तरि ङ्ङी] ।

(ढ) अविदितम्—अपरिज्ञातम् । [“मतिबुद्धिपूर्जार्येभ्यश्च” (३।२।१८ पा०) इति वर्त्तमाने क्तः] ।

(४७) न यत्रेति ।—यत्र यस्मिन् स्थाने, वायोः पवनस्य, गतिः सञ्चारः तथा विवस्वतः सूर्यस्य, रश्मीनाञ्च किरणानाञ्च, गतिः प्रवेशः, सञ्चारावगता इत्यर्थः, न अस्ति न विद्यते, तत्रापि वातातपदुष्प्वेगैः अपि स्थाने, बुद्धिमतां पश्चिदाशु बुद्धिः मतिः, सदा नियतकालम्, आशु चिप्रं, प्रविशति गन्तुमर्हति, प्रज्ञावर्त्तमाना पण्डिताः सर्वमवगच्छन्ति इति भावः ।

अपरच, —उदीरितोऽर्थः पशुनाऽपि गृह्यते

हयाश्च नागाश्च वहन्ति देशिताः ।

अनुक्तमप्युहति पण्डितो जनः

परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥ ४८ ॥

अपिच, —आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।

नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ ४९ ॥

तदत्र (ण) भयप्रस्तावेऽहमेनं (त) प्रज्ञावलेन (थ) आत्मीयं
करिष्यामि । यतः,—

(४८) उदीरित इति ।—उदीरितः कथितः, सम्यक् बोधितः इत्यर्थः, अर्थः
वस्तु अभिधेयं वा, पशुना चतुष्पदेनापि, अज्ञानेन जन्तुनाऽपि इति यावत्, गृह्यते
सौमित्रियते, बुध्यते इत्यर्थः, यतः हयाश्च अश्वाश्च, नागाश्च हस्तिनश्च, देशिताः आदेशिताः
सन्तः, चालकेन चालिताः सन्तः इति यावत्, वहन्ति नयन्ति, बोधव्यमिति शेषः,
पण्डितो जनः विद्वान् पुरुषः, अनुक्तम् अकथितम् अपि, हृदयतमपि भावमित्यर्थः,
उहति वितर्केण जानाति, हि तथाहि, बुद्धयः सत्यः, प्रज्ञा इत्यर्थः, परेषाम्
अन्वेषाम्, इङ्गितम् अभिप्रायानुरूपचेष्टाविशेषः, चेष्टाविशेषद्वारा हृदयतो भावः इति
यावत्, तस्य ज्ञानम् अवबोधः, तदेव फलं परिणामः यासां ताः ; सैव बुद्धिः
प्रज्ञा, यथा अन्येषां मनीषां परिज्ञातुं शक्यते, स्पष्टतया उक्तस्य पशुनामपि
सुबोध्यत्वात् इति भावः । वंशस्थविलं हत्तम् ।

(४९) चित्तपरीक्षणीपाये पौराणिकश्लोकं प्रदर्शयति, आकारैरिति ।—
आकारैः मुखरागादिभिः वहिर्भावेः, इङ्गितैः हृदयस्थितभावावेदकचेष्टाविशेषैः,
गत्या गमनेन, गमनभङ्गा इत्यर्थः, चेष्टया कायिकव्यापारविशेषेण, भाषणेन
च कथनेन च, नेत्रश्च वक्त्रश्च तयोः नयनाननयोः, विकारः विकृतिः, अन्यथाभावः
इत्यर्थः, तेन, दृष्टिपातप्रकारेण मुखभङ्गा च, अन्तर्गतं मनः अन्येषां हृदयस्थितः
भावः, लक्ष्यते जायते, प्रज्ञावहिरिति शेषः । (मात्स्यचतुर्नवत्यधिकशततमाध्याये
“नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यते” इत्यत्र “नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यते” इति पाठान्तरम्) ।

(ण) भयप्रस्तावे—भौतिप्रसङ्गे, उपस्थितभयविषये इत्यर्थः ।

(त) प्रज्ञावलेन—बुद्धिप्रभावेण ।

(थ) आत्मीयं—स्वायत्तं, मद्भक्ष्यताऽऽपन्नम् इत्यर्थः ।

प्रस्तावसदृशं वाक्यं सद्भावसदृशं प्रियम् ।

आत्मशक्तिसमं कोपं यो जानाति स पण्डितः ॥ ५० ॥

करटको वदति,—“सखे ! त्वं (द) सेवाऽनभिन्नः । पण्डितः ।

अनाहृतो विशेद् यस्तु अपृष्टो बहु भाषते ।

आत्मना मन्यते प्रीतो भूपालो वै स दुर्मतिः ॥ ५१ ॥

दमनको ब्रूते,—“भद्र ! कथमहं सेवाऽनभिन्नः ? पण्डितः ।

किमप्यस्ति स्वभावेन सुन्दरं वाऽप्यसुन्दरम् ? ।

यदेव रोचते यस्मै भवेत् तत्तस्य सुन्दरम् ॥ ५२ ॥

(५०) इङ्गितज्ञस्य प्रशंसाप्रस्तावे वृद्धचाणक्योक्तं पण्डितलक्षणमाह, प्रसं-
—यो जनः, प्रस्तावसदृशं प्रसङ्गानुरूपं, प्रस्तुतविषयसम्बन्धमित्यर्थः, अवसरोचितं
यावत्, वाक्यं वचनं, जानाति अवगच्छति, वक्तुमिति शेषः, सद्भावसदृशं प्रसङ्ग-
प्रियं हृद्यं, जानाति, आचरितुमिति शेषः, येन यादृशः प्रणयः तं प्रति र-
व्यवहारं कर्तुं जानाति, न तस्मादधिकं न्यूनं वेत्यर्थः, आत्मनः स्वस्य, शक्त्या सम-
समं सदृशं, कोपं क्रोधश्च, जानाति अवगच्छति, प्रकाशयितुमिति शेषः, को-
दृष्टयितुं शक्तिरस्ति न वा, कौटुशी वा अस्ति इति विचार्य स्व-
प्रवर्तते इत्यर्थः, सः तादृशो जन एव, पण्डितः विद्वान्, प्राज्ञ इति यावत् ।

(५१) सेवाऽनभिन्नः,—स्वामिसेवां कर्तुं न जानातीत्यर्थः ।

(५२) अनाहृत इति ।—यः सेवकजनः, अनाहृतः अनाकारितः सन्,
प्रविशेत्, गच्छेदित्यर्थः, भूपालस्य समीपमिति शेषः, अपृष्टः अनिज्ञावि-
भूपालेनेति शेषः, बहु अनेकं, भाषते ब्रवीति, तथा भूपालः नरपतिः, आत्म-
मां प्रति इत्यर्थः, प्रीतः प्रसन्नतामापन्नः, इत्येवं मन्यते बुध्यते, स सेवकजन-
दुबुद्धिः, वैकल्य । (“अनाहृतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते । अविशसे ति-
मूढचेता नराधमः ॥” इति भारतीद्वयोपपञ्चीयपाठभेदः) ।

(५२) किमिति ।—स्वभावेन प्रकृत्या, किमपि किञ्चिदपि वक्ष्य-
मनोरमं, वा अथवा, असुन्दरम् अप्रीतिकरम्, अस्ति अपि ? विद्यते कि-
नैव इत्यर्थः, अपि इति प्रश्ने, (“अपि सम्भावनाप्रशङ्कागर्हासमृशये” इति श्रुति-
यत् वस्तु, यस्मै रोचते रुचिजनकं भवति, यत् यं प्रीणयति इत्यर्थः, [“द-
प्रीयमाणः” (१।४।३३ पा०) इति सम्प्रदानात् चतुर्थी] तदेव वस्तु, तस्य

वतः,—यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।

अनुप्रविश्य मेधावौ क्षिप्रमात्मवशं नयेत् ॥ ५३ ॥

अथ,—कोऽत्रेत्यहमिति ब्रूयात् सम्यगादेशयेति च ।

आज्ञामवितथां कुर्यात् यथाशक्ति महीपतेः ॥ ५४ ॥

किञ्च,—अल्पेच्छुर्धृतिमान् प्राज्ञश्छायेवानुगतः सदा ।

आदिष्टो न विकल्पेत स राजवसतिं वसेत् ॥ ५५ ॥

करटको ब्रूते,—“कदाचित् त्वाम् (ध) अनवसरप्रवेशात्
(न) अवसन्यते स्वामी” । दमनक आह,—“अस्त्वेवम् ;

सुन्दरं कुक्षितनपि मनीहरं, भवेत् स्यात्, मनःप्रवृत्तिरेव सुन्दरकुक्षितदर्शने
हेतुरिति भावः, “दृष्टत्त्वमिष्टत्वमपव्यवस्थम्” इति तात्पर्यम् ।

(५३) यस्येति ।—मेधावौ बुद्धिमान् जनः, यस्य यस्य जनस्य, यो हि यादृशः
एव, भावः अभिप्रायः, तेन तेन हि तेन तेनैव भावेन, तं नरं मनुष्यम्, अनुप्रविश्य
अनुगम्येत्यर्थः, तस्य च्छन्दोऽनुवर्त्तनं कृत्वेति यावत्, क्षिप्रं शीघ्रम्, आत्मवशं
स्वायत्ततां, नयेत् प्रापयेत्, चित्तानुरूपकार्यकरणेन वशं कुर्यादित्यर्थः ।

(५४) कामन्दकनीतेः भूमसर्गोक्तश्लोकानुसृत्य सेवकधर्मनाह, कः इति ।—
एव स्थाने, कः ? तिष्ठतीति शेषः, इति स्वामिना एवं पृष्ठः सान्निध्यार्थः, अहमिति
अहमस्मीति, तथा सम्यक् सनीचीनं, यथेष्टमित्यर्थः, आदेशय आदेशं कुरु, इति
च, ब्रूयात् कथयेत्, सेवक इति शेषः, तथा यथाशक्ति शक्तिमनतिक्रम्य, साध्यानुसारे-
णेत्यर्थः, [अव्ययीभावः] महीपतेः राज्ञः, आज्ञां निवीगम्, आदेशमित्यर्थः,
अवितथाम् अनीचां, सफलामित्यर्थः, प्रतिपालनमिति यावत्, कुर्यात्, एष एव
सेवकधर्मः यत् आदेशान्तरमेव कार्यं साधयेत् इति भावः ।

(५५) अस्येति ।—यः अल्पेच्छुः अलुब्धः, स्वल्पसन्तुष्ट इत्यर्थः, धृतिमान्
वेद्येशोक्तः, प्राज्ञः बुद्धिमान्, सदा नित्यं, छाया इव स्तप्रतिबिम्बमिव, अनुगतः प्रभोः
अनुगामी, तथा आदिष्टः किमपि कार्यं साधयितुमाज्ञप्तः सन्, न विकल्पेत न
वितर्कयेत्, अविचार्यैव आदेशं प्रतिपालयेत् इत्यर्थः, स तादृशः सेवकः, राजवसतिं
राजभवनं, वसेत् तिष्ठेत्, ईदृश एव श्रुत्यः राजसेवां कर्तुमर्हेत् इत्यर्थः ।

(ध) अनवसरप्रवेशात्—असमये समीपगमनात् ।

(न) अवसन्यते—अनाद्रियते, तिरस्करोति इत्यर्थः ।

(प) तथाऽप्यनुजीविना (फ) सान्निध्यमवश्यं करणीयम् । यत्-

दोषभीतेरनारम्भः तत् कापुरुषलक्षणम् ।

कैरजीर्णभयाद् भ्रातः ! भोजनं परिहीयते ? ॥ ५१ ॥

पश्य—

आसन्नमेव नृपतिर्भजते मनुष्यं

विद्याविहीनमकुलीनमसङ्गतं वा ।

प्रायेण भूमिपतयः प्रमदा लताश्च

यः पार्श्वतो वसति तं परिवेष्टयन्ति ॥ ५७ ॥

करटको ब्रूते,—“अथ तत्र गत्वा किं वक्ष्यसि ?” । दस्युः
आह,—“शृणु, किमनुरक्तो विरक्तो वा मयि स्वामीति ज्ञा-
तावत् ।” करटको ब्रूते,—“किं (ब) तज्ज्ञानलक्षणम् ?”

(प) तथाऽपि—स्वासिसकाशादपमानाशङ्कायां सत्यामपि ।

(फ) सान्निध्यं—सन्निधौ अवस्थानम् ।

(५६) दोषेति ।—दोषभीतेः अनिष्टभयात्, क्षतिशङ्कया इत्यर्थः, यत्
अप्रवृत्तिः, कार्यपरासुखता इति यावत्, इति यत् तदेव कापुरुषस्य एव
पुरुषकारहीनस्य इति यावत्, लक्षणं चिह्नं, कापुरुषा एव वैफल्यमाशङ्क्य
साधने विमुखा भवन्तीत्यर्थः, हे भ्रातः करटक ! अजीर्णभयात् अपाकाभा-
“खाद्यमिदम् उदरस्थं सत् न पच्यते चेत्” इति भवेन्नित्यर्थः, कैजने, यो
आहारः, परिहीयते त्यज्यते ? न कैरपीत्यर्थः ।

(५७) आसन्नेति ।—नृपतिः राजा, विद्याविहीनं मूर्खम्, अकुलीनम् एव
ज्ञातम्, असङ्गतं वा सौहास्यविरहितं वा, अप्रियमपीति यावत्, आसन्नमेव
सन्निहितमेव, मनुष्यं यं कश्चिदेव नरं, भजते आश्रयति, अनुगृह्णातीति
तथाहि, भूमिपतयः राजानः, प्रमदाः नार्यः, लताश्च व्रतत्यश्च, प्रायेण सूत्रा, वा
नेति यावत्, यः जनः वृक्षादिर्वा, पार्श्वतः पार्श्वं, वसति तिष्ठति, तं जनं वृक्षादि
परिवेष्टयन्ति अवलम्बन्ते, तमेव आश्रित्य वसन्ते इत्यर्थः ; अतः सर्वथा राजा
गुह्यमिति भावः । वसन्तल्लोकं वृक्षम् ।

(५८) तज्ज्ञानलक्षणं—तथोक्तुरागविराजयोः, ज्ञानं वीचः, तस्य लक्षणं वि-

द्रुमनको ब्रूते,—“शृणु,—

दूरादवेक्षणं हासः सम्प्रशेषादरो मृशम् ।

परोक्षेऽपि गुणज्ञाघा स्मरणं प्रियवस्तुषु ॥ ५८ ॥

तत्सेवकेऽनुरक्तिश्च दानं प्रीतिविवर्धनम् ।

सुरक्तेश्चरचिह्नानि दोषेऽपि गुणसङ्ग्रहः ॥ ५९ ॥

[युञ्जकम्]

अथ च,—कालयापनभाशानां वर्धनं फलखण्डनम् ।

विरक्तेश्चरचिह्नानि जानीयान्मतिमान् नरः ॥ ६० ॥

एतज्ज्ञात्वा (भ) यथा चायं समायत्तो भविष्यति, तद्
वक्ष्यामि । यतः,—

(५८) मत्स्यपुराणीयराजधर्मवर्णनप्रसङ्गे उक्तं शोकनवलम्ब्य युष्मकेन तज्ज्ञचयं
कथयति, दूरादिति ।—दूरात् दूरत एव, अनुरागास्पदं सेवके दूरं स्थिते एवेत्यर्थः,
अवेक्षणं सामिखापदृष्टिपातः, हासः हास्यं, तं दृष्ट्वैव इति भावः, सम्प्रशेषे
कुशलादिदृष्ट्यासु, मृशम् अतिशयितं यथा तथा, आदरः यत्नः, परोक्षेऽपि असमक्षेऽपि,
सेवकस्य अप्रत्यक्षेऽपीत्यर्थः, गुणज्ञाघा स्वामिभक्तिकर्मकुशलित्वादिगुणप्रशंसा,
प्रियवस्तुषु अभिमतवस्तुषु दृष्टेऽप्यित्यर्थः, स्मरणं स्मृतिः, अनुरक्त्येति शेषः ।

(५९) तदिति ।—तत्सेवके तस्मिन् मृत्ये, अनुरक्तिः अनुरागः, आनुकूल्यमिति
यावत्, दानं श्रमादीनां वितरणं, प्रीतिविवर्धनं सन्तोषवर्धनं, सदयव्यवहारैः
सेवकस्य तुष्टिजननमित्यर्थः, (“सप्रियभाषणम्” इति पाठे—प्रियभाषणेन मधुरवचनेन
सह दानम् इत्यर्थः) दोषेऽपि अपराधसंक्षेपेऽपि, गुणसङ्ग्रहः तम् अगणय्य गुणयच्छन्,
एतानि सुरक्तेश्चरचिह्नानि अनुरक्तस्य प्रभोः लक्षणाणि ।

(६०) मत्स्यपुराणीयराजधर्मवर्णनप्रसङ्गे कथितश्लोकस्य कथामवलम्ब्य
विरक्तप्रभोर्लक्षणाह, कालयापनमिति ।—कालयापनं ददासि करोमि इति कृत्वा
अनुयच्छप्रदर्शने समयातिपातः, आशानां वृत्तानां, वर्धनं वृद्धिजनयम्, अनुकूलकार्य-
मकृत्वा प्रत्यक्षमाशाद्राजमित्यर्थः, फलखण्डनम् आशानुगतस्य वस्तुनः अप्रदानं, सुसम्पा-
दितस्यापि कार्यस्य अस्वीकरणमित्यर्थो वा, मतिमान् बुद्धिमान्, नरः जनः, एतानि
विरक्तेश्चरचिह्नानि विरक्तस्य विरागभावापन्नस्य, ईश्वरस्य स्वामिनः, चिह्नानि लक्षणाणि,
जानीयात् बुध्येत ; अप्रसङ्गे स्वामिनि पुत्रानि लक्षणाणि भवन्ति इत्यर्थः ।

(भ) यथा चायं समायत्तो भविष्यति—यथा येन प्रकारेण, वाङ्मयप्राप्ताः

हि—१४

अपायसन्दर्शनजां विपत्तिमुपायसन्दर्शनजाञ्च सिद्धिम् ।

मेधाविनो नीतिविधिप्रयुक्तां पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति ॥६१॥

अपरच, — दोषा गुणा गुणा दोषा दोषा दोषा गुणा गुणाः ।

रक्ते विरक्ते मध्यस्थे स्वामिनि त्रिविधा गुणाः ॥६२॥

करटको ब्रूतं, — “तथाऽपि (म) अग्राप्ते प्रस्तावे न वक्तुमर्हसि । यतः,—

वस्तुत्वेनेत्यर्थः, अयं स्वामी, मम आयत्तः अधीनः, वशीभूत इत्यर्थः, नवि श्रुत इति यावत्, भविष्यति, महत्तममनुसृत्यैव सर्वं विधास्यतीत्यर्थः । (“तद्वक्ष्यामि” इति “तथा करिष्यामि” इति पाठान्तरम्) ।

(६१) यादृशेनोपायेन स्वामिनं वशीकर्तुं शक्नोति तत्प्रदर्शयितुम् अपायमिति ।—मेधाविनः पण्डिताः, नीतिविधिप्रयुक्तां नीतिशास्त्रीकाम्, अणिष्टनिष्ठस्य, सन्दर्शनात् सङ्गटनात्, जायते उत्पद्यते या तथोक्तां, कुपचावचने अणिष्टजन्यामित्यर्थः, [“पञ्चस्यामजातौ” (३१.१८५ पा०) इति पञ्चमुपपन्नजनेडः] विपत्तिं विपदम्, उपायसन्दर्शनजाम् उपायस्य अणिष्टप्रतीकारसाधनसन्दर्शनात् आययणात्, जायते इति तथोक्तां, प्रतीकारसङ्गतां, [पूर्व्ववत् डः] ति कार्यासाफल्यश्च, पुरः समीपे, प्रत्यक्षे इत्यर्थः, स्फुरन्तीमिव आविर्भवन्तीमिव तु परोक्षानित्याशयः, दर्शयन्ति प्रमाणयन्ति, प्रभुमिति शेषः, अणिष्टजनकैर्मागेण कार्यारम्भे कृते ते विपत्तिरवश्यमेवाविनो एतेन मार्गेण कार्यं कृते च विपत्तिं कारयन्ता एव इति नीतिशास्त्रीकप्रमाणोल्लेखपुरःसरं प्रत्यक्षमिव स्वामिनं प्रकौशलेन स्वायत्तः करणीय इति भावः । उपजातिः वृत्तम् ।

(६२) दोषा इति ।—स्वामिनि प्रभौ, रक्ते अनुरागवति, विरक्ते अद्वयमध्यस्थे उदासीने, अपक्षपातिनि इत्यर्थः, नापि विरक्ते नाप्यनुरक्ते इति त्रिविधाः त्रिप्रकाराः, गुणाः भावा इत्यर्थः, भवन्ति इति शेषः । कौटिल्ये इत्याह,—दोषाः दूषणानि ; सर्वत्र अपिरध्यादाश्रयः, गुणाः अदोषवत् प्रतीताः, विद्यावत्त्वादयः, दोषाः अगुण्यमानाः ; दोषाः दोषा एव, गुणाः गुणा यथाकृते जायन्ते इति शेषः, अनुरक्ते दोषा अपि गुणाः, विरक्ते गुणा अपि दोषा मध्यस्थे दोषा दोषा एव, गुणाश्च गुणा एव, इति स्वामिनः त्रिविधासु प्रागुक्तसु कूट्योदासीन्याभिधेयासु अवस्थासु त्रिविधं मूल्यं दोषगुणश्रीसारतमं भवेदित्यर्थः ।

(म) अग्राप्ते प्रस्तावे—अनुपस्थिते प्रसङ्गे, वचनावसरे अनुपस्थिते शक्ति

अप्राप्तकालवचनं ब्रह्मस्तिरपि ब्रुवन् ।

प्राप्नुयाद् बुद्ध्यावज्ञानमपमानञ्च शाश्वतम् ॥ ६३ ॥

दमनको ब्रूते,—“मित्र ! (य) सा भैषीः, नाहमप्राप्तावसर-
वचनं वक्ष्यामि । यतः,—

आपद्युन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।

अपृष्टेनापि वक्तव्यं भृत्येन हितमिच्छता ॥ ६४ ॥

यदि च (र) प्राप्तावसरेणापि मया (ल) मन्त्रो न वक्तव्य-
स्तदा मन्त्रित्वमेव मम (व) अनुपपन्नम् । यतः,—

(६३) भारतोद्दयोगपर्वीयवचनमनुसृत्य अनवसरीक्तेः दीषमाह, अप्राप्तेति ।—
ब्रह्मस्तिः देवगुरुः अपि, नीतिशास्त्रप्रणेतोऽपीत्यर्थः, अप्राप्तः अनागतः, कालः अवसरः
यस्य तत् तादृशम्, अप्रासङ्गिकं, वचनं वाक्यं, ब्रुवन् कथयन्, बुद्ध्यावज्ञानं बुद्धिमान्
इति ख्याती अनादरं, तथा शाश्वतं नित्यं, चिरायेत्यर्थः, अपमानञ्च अवसरानभिज्ञत्व-
दीषात् तिरस्कारश्च, अवहास्यतानिति यावत्, प्राप्नुयात् खभेत ; अतादृशस्तु सुत-
रामेव इति भावः । (“खभते बुद्ध्यावज्ञानमवमानञ्च भारत !” इति उत्तरार्द्धस्य
भारतीयः पाठः) ।

(य) सा भैषीः,—न विभीष्टि, न शङ्कां कुरु इत्यर्थः, [भी + लुङ्-स, “माङ्गि
लुङ्” (३।३।१७५ पा०) इति लुङ् “न माङ्ग्योरी” (६।४।७४ पा०) इति
अङागमप्रतिषेधश्च] ।

(६४) आपदोति ।—आपदि विपत्तिकाले, उन्मार्गगमने असत्यथावलम्बने,
तथा कार्यकालस्य अवश्यकर्तव्यकर्मणः समयस्य, अत्ययेषु च अतिपातेषु च, व्यतिक्रमेषु
च इत्यर्थः, सर्वत्र प्रभोरिति शेषः, हितं कल्याणम्, इच्छता अभिलषता, स्वामि-
शुभकामेन इत्यर्थः, भृत्येन सेवकीन, अपृष्टेनापि अजिज्ञासितेनापि, अनवसरेऽपि
इत्यर्थः, वक्तव्यं कथयितव्यं, हितमिति शेषः । (अत्र द्वितीयाहं—“अपृष्टोऽपि हितान्वेषी
ब्रूयात् कल्याणभाषितम्” इति मुक्कनीतौ द्वितीयाध्याये कामन्दकनीतौ ५म सर्गे
च पाठान्तरम्) ।

(र) प्राप्तावसरेण—लब्धावकाशेन, समागतवचनयोग्यकालेनेत्यर्थः ।

(ल) मन्त्रः,—इतिकर्तव्यताऽवधारणार्थं गुह्यभाषणम् ; उपदेश इति भावः ।

(व) अनुपपन्नम्—अयुक्तं, विफलमित्यर्थः ।

कल्पयति येन वृत्तं येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः ।

स गुणस्तेन च गुणिना रक्ष्यः संवर्द्धनीयश्च ॥ ६५ ॥

तद्भद्र ! (श) अनुजानीहि मां, पिङ्गलकसमीपमं गच्छामि” । करटको ब्रूते,—“शुभमस्तु, (घ) यथाऽभिप्रेतमनुष्ठायताम्,—

गम्यतामर्थलाभाय क्षेमाय विजयाय च ।

शत्रुपक्षविनाशाय पुनरागमनाय च” ॥ ६६ ॥

ततो दमनको (स) विस्मित इव पिङ्गलकसमीपं गतः । अथ दूरादेव राज्ञा दृष्टः सादरं प्रवेशितस्तं (ह) साष्टाङ्गं

(६५) कल्पयतीति ।—येन, गुणेन इति शेषः ; वृत्तं चरितं, कल्पयति सङ्कटयति, निर्माति इत्यर्थः, जन इति शेषः, (“वृत्तम्” इत्यत्र “वृत्तिम्” इति पाठे—वृत्तिं जीविकां, जीवनीपायमित्यर्थः, कल्पयति निरूपयति इत्यर्थः, अत्र प्रमुखां इति शेषः) येन च गुणेन, लोके जगति, सद्भिः साधुभिः, प्रशस्यते सत्प्रशस्यते, लोक इति शेषः, स तादृशः गुणः एव, गुणः गुणत्वेन परिगणितः, तेन च हितना, गुणिना गुणवता जनेन, गुणः उत्कर्षाधायको धर्मविशेषः, रक्ष्यः सर्वप्रयत्ने रक्षणीयः, संवर्द्धनीयश्च वृद्धिं प्रापणीयश्च, गुणानां रक्षणे वर्द्धने च गुणवता सर्वथा प्रयतितव्यमित्यर्थः । आख्यां वृत्तम् ।

(श) अनुजानीहि—अनुमोदय, अनुज्ञां देहीत्यर्थः, [अनु + ज्ञा + लोटि हि] ।

(घ) यथाऽभिप्रेतम् अनुष्ठायतां—यथाऽभिलषितं विधीयताम् ।

(६६) गम्यतामिति ।—अर्थलाभाय धनार्जनाय, प्रयोजनसिद्धयर्थं वा, क्षेमार्थे, उन्नतिलाभरूपमङ्गलाय इत्यर्थः, विजयाय जयसिद्धये च, स्वामिवशीकरणरूपमित्यर्थः, शत्रुपक्षविनाशाय रिपुकुलपराभवार्थं, पुनरागमनाय इदं स्थाने प्रत्यागमनाय च, गम्यतां प्रस्थायतां, त्वयेति शेषः, सर्वथा तेऽभीष्टसिद्धिर्भवतु इत्यर्थः ।

(स) विस्मित इव—विस्मयाविष्ट इव ।

(ह) साष्टाङ्गम्—अष्टाभिरङ्गैः “जानुभ्याश्च तथा पद्भ्यां पाणिभ्यामुरसा धिया । शिरसा वक्षसा दृष्ट्या प्रणामोऽष्टाङ्ग ईरितः ॥” इत्युक्तलक्षणैरवयवैः सह वर्तमानं स यथा तथा ।

प्रणम्योपविष्टः । राजाऽऽह,—(क) “चिरात् दृष्टोऽसि” ।
 दमनको ब्रूते,—“यद्यपि मया सेवकेन श्रीमद्देवपादानां न किञ्चित्
 प्रयोजनमस्ति, तथाऽपि (ख) प्राप्तकाले (ग) अनुजीविना
 (घ) सान्निध्यमवश्यं कर्त्तव्यमित्यागतोऽस्मि । यतः,—

दन्तस्य निर्घर्षणकेन राजन् !

कर्णस्य कण्डूयनकेन वाऽपि ।

दृष्टेन कार्यं भवतीश्वराणां

किमङ्ग ! वाक्पाणिमता नरेण ? ॥ ६७ ॥

यद्यपि देवपादैः (ङ) चिरावधौरितस्य मे बुद्धिविनाशः
 शङ्कते, तदपि न । यतः,—

(क) चिरात्—बहोः कालात् परम् ।

(ख) प्राप्तकाले—उचितसमये, कार्यकाले समागते इत्यर्थः ।

(ग) अनुजीविना—अनुजीवितुम् आययितुं शीलमस्य, अनु हीनतया,
 (“अनु हीने सहाये च” इति मेदिनी) जीवितुं प्राणान् धर्त्तुं शीलमस्मेति वा तेन,
 सेवकेन, मृत्येन इत्यर्थः । [अनु + जीव + णिनिः] ।

(घ) सान्निध्यं—सन्निधौ अवस्थानम् ।

(६७) श्रावणके सति सामान्यमपि वस्तु कार्यं निर्वाहयति, अतः अकिञ्चित्-
 करैरपि अस्त्रदादिभिः सेवकधन्यानुसारेण भवत्सकाशमुपस्थातव्यमेव इत्याह,
 दन्तस्तेति ।—अङ्ग ! भोः !, [सम्बोधनसूचकमव्ययम् । “अथ सम्बोधनार्थकाः । स्युः
 पाट् प्याङङ् हे है भोः” इत्यमरः । गद्वा—अङ्गशब्दः पुनरर्थकमव्ययम् । “पुनरर्थेऽङ्ग”
 इत्यमरः । वाक्पाणिमता नरेण किमङ्ग किं पुनः ? तेन कार्यं सिध्यति इत्यत्र किं
 पुनश्चक्रेत्यमित्यर्थः] । राजन् ! दन्तस्य निर्घर्षणकेन मार्जनसाधनेन, दन्तशीधनाधर्मित्यर्थः,
 वा अथवा, कर्णस्य श्रवणस्य, कण्डूयनकेन कण्डूतिसाधनेन, कर्णखर्जनार्थमित्यर्थः,
 दृष्टेनापि “खड्ङिका” इति भाषया प्रसिद्धेन वस्तुनाऽपि, अतितुच्छेनापीति भावः ;
 ईश्वराणां प्रभूणां, कार्यं भवति, वाक्पाणिमता वाक्शक्तियुक्तेन हस्तविशिष्टेन
 च, नरेण मानवेन, किं तद्वारा कार्यसिद्धिविषये किमु वक्तव्यम् ? तेन
 कार्यं भवत्येवेत्यर्थः । उपजातिः वृत्तम् ।

(ङ) चिरावधौरितस्य—बहुदिनं कर्मणि अनियोगात् अवज्ञातस्य ।

कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्ते-
बुद्धेर्विनाशो न हि शङ्कनीयः ।

अधःकृतस्यापि तनूनपातो

नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥ ६८ ॥

देव ! तत् सर्वथा (च) विशेषज्ञेन स्थापित-

भवितव्यम् । यतः,—

मणिलुठति पादेषु काचः शिरसि धार्यते ।

क्रयविक्रयवेलायां काचः काचो मणिर्मणिः ॥ ६९ ॥

(६८) अथ अनादृता अपि समादरणीया मनोविषयः न हि प्रज्ञाति-
जायन्ते, इति वर्णयितुमाह, कदर्थितस्येति ।—कदर्थितस्य अवज्ञातत्वात्
धैर्यवृत्तेः धैर्यशीलस्य, सुधिया इति यावत्, अत एव स्वाभिमतमनादरमा-
इति भावः ; बुद्धेर्विनाशः बुद्धिहानिः, न हि नैव, शङ्कनीयः तस्मै
अनादृत्योऽपि मनस्वी न हि स्वकीयनैसर्गिकमनोघातो विद्युतो भवतीत्यर्थः ; न
अधःकृतस्य निम्नाभिमुखं कृत्वा घृतस्यापि, तनूनपातः वक्रेः, प्रज्वलितो
यावत्, [तनू शरीरं न पातयति, किन्तु जाठररूपेण शरीरं धारयति इति न
शिच् + क्तिप् । पाणिनीयास्तु—“नधाण्नपात्—” (६।१।७५ पा०) इति निषेध-
वदन्ति । यदा—तनू स्वं स्वरूपं न पाति न रक्षति, आशुविनाशिता-
पा + शब्द । यदा—तन्वा कुनं कृशं पाति इति तनूनपं घृतादि, तदपि इति
पात् “अदोऽनन्ने” (१।२।६८ पा०) इति विट्] अग्नेः जाठरस्यस्यापि
मुक्ताम्रपाचनाद् देहापातकत्वं सिद्धम् ; शिखा ज्वाला, कदाचिदेव कर्ण-
कथमपीत्यर्थः, न अपी याति न निम्नाभिमुखं गच्छति, प्रत्युत ऊर्ध्वमेव ज्वलती-
अत नाधः,—“प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः” इति । उपजातिः वृत्तम् ।

(च) विशेषज्ञेन—अभिज्ञेन, सगुणनिर्गुणयोः भेदविज्ञाने विचक्षणैवेत्यर्थः

(६९) अनादृता अपि रत्नादयः कदाऽपि न स्वाभाविकगौरवात्
भवन्तीत्याह, मणिरिति ।—मणिः रत्नं, पादेषु चरणेषु, (“पादाये” इति वृत्त-
घृतः पाठः) लुठति विदलितो भवतीत्यर्थः, पादाभरणेषु धार्यते इति
यदोति शेषः, पादाभरणेषु यदि व्यवह्रियते इत्यर्थः, काचः भङ्गप्रवणः ख-
खनामप्रसिद्धः तुच्छः पदार्थविशेषः, च यदि शिरसि धार्यते शिरो-

वत्यय, — निर्विशेषो यदा राजा समं सर्वेषु वर्त्तते ।

तदोद्यमसमर्थानामुत्साहः परिहृष्यते ॥ ७० ॥

त्रिच, — त्रिविधाः पुरुषा राजन् ! उत्तमाधममध्यमाः ।

नियोजयेत् तथैवैतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ७१ ॥

वतः, — स्थान एव नियुज्यन्ते भृत्याश्चाभरणानि च ।

न हि चूडामणिः पादे नूपुरो न च मूर्द्धनि ॥ ७२ ॥

व्यवह्रियते, तथाऽपि, कथं विक्रयवेलायाम् (अत्र “यथैवास्ते तथैवास्ताम्” इति पाठान्तरम्) क्रयस्य मूल्यदानपूर्वकगृहणस्य, विक्रयस्य मूल्यदानपूर्वकार्पणस्य, समये उपस्थिते सतीत्यर्थः, काचः काचः काचत्वेनैव परिगणितः, काचोचितस्वल्पमूल्य एवेत्यर्थः, मणिः मणिः रत्नत्वेनैव समाहृतः, रत्नोचितबहुमूल्य एवेत्यर्थः, भवेदिति शेषः, अनादृतानामप्यस्त्राकं गुणवत्ता कार्थ्यकाली मणिवत् प्रस्फुरत्येव, न काचवदकिञ्चित्करता इति तात्पर्यम् ।

(७०) उत्तमाधमेषु समवर्तिता राज्ञां दोष एव इत्याह, निर्विशेष इति । — यदा यस्मिन् समये, यदि इत्यर्थो वा, राजा वृपतिः, निर्विशेषः निः नास्ति, विश्वेषः पाथंक्वं, सगुणनिर्गुणयोरिति भावः, यस्य तादृशः, गुणागुणविचारपरास्तुखः सन् इत्यर्थः, सर्वेषु जनेषु, समं समानं, वर्त्तते आचरति, सगुणनिर्गुणयोस्तुल्यभावेनैव व्यवहरति इत्यर्थः, तदा तर्हि, उद्यमसमर्थानां उद्योगक्षमाणां, उत्साहवतानित्यर्थः, कार्थ्यकुशलानामिति यावत्, भृत्यानाम् इति शेषः, उत्साहः अध्ववसायः, प्रभुकार्थ्य-सम्पादने दृढसङ्कल्प इति यावत्, परिहृष्यते क्षीयते, विनश्यति इति यावत्, गुणेषु गौरवप्रदर्शनाभावादिति भावः ।

(७१) योग्यमेव योग्यकर्त्रेण नियोजयेत् इत्याह, त्रिविधा इति । — हे राजन् ! पुरुषाः लोकाः, उत्तमाधममध्यमाः उत्कृष्टाः अपक्वष्टाः नाप्युत्कृष्टाः न चाप्यपक्वष्टाः उभयोर्मध्यवर्तिन इत्यर्थः, त्रिविधाः त्रिप्रकाराः, सन्ति इति शेषः, तथैव तेनैव हेतुना, पुरुषाणाम् उत्तमाधममध्यमत्वेनैव हेतुनेत्यर्थः, एतान् त्रिविधान् पुरुषान्, (“तथैवैतान्” इत्यत्र “यथावत् तान्” इति महाभारतोदयोगपर्वोक्तः पाठः) त्रिविधेषु उत्तमाधममध्यमेषु त्रिप्रकारेषु एव, कर्मसु कार्थ्येषु, नियोजयेत् प्रवर्त्तयेत्, योग्यताऽनुसारेणेति भावः ।

(७२) अस्थाने योग्यस्य संस्थापनं न प्रशस्तम् इत्याह, स्थाने इति । — स्वल्पाः सेवकाश्च, आभरणानि रत्नमुषणादीनि च, स्थाने एव यथोचितसन्निवेशे

अपि च,—कनकभूषणसङ्ग्रहणोचितो

यदि मणिस्तपुणि प्रणिधीयते ।

न स विरोति न चापि विशोभते

भवति योजयितुर्वचनीयता ॥ ७३ ॥

अथ,—मुकुटे रोपितः काचश्चरणाभरणे मणिः ।

न हि दोषो मणेरस्ति किन्तु साधोरविज्ञता ॥ ७४ ॥

पश्य,—

एव, नियुज्यन्ते प्रयुज्यन्ते, स्वामिनेति शेषः, नियुक्तानि भवितुमर्हन्तीत्यर्थः (“नियोज्यन्ते” इति पाठेऽपि स एवार्थः । “हि युज्यन्ते” इति पाठे—हि निरुद्धं अत्यर्थमित्यर्थः, युज्यन्ते शोभन्ते, प्रयुक्तानि सुदर्शनानि भवन्ति इत्यर्थः) तथाहि, चूडानधिः शिरोरत्नं, मुकुटादिकमिति भावः, पादे चरणे, न, म, मञ्जीरय, चरणाभरणविशेषः इति यावत्, मूर्त्तानि मन्त्रके, न, उभयत्रापि नियुज्यन्ते वा इति शेषः । अनुष्टुप्वृत्तम् ।

(७३) ननु हीनकार्यनियोगे न केवलं नियुक्तस्य गौरवहानिः, निशेधः अनभिज्ञताकलङ्कः स्यात्, इत्याह, कनकेत्यादिहाभ्याम् ।—कनकभूषणसङ्ग्रहणोचितः कनकभूषणस्य सुवर्णाभरणस्य, सङ्ग्रहणं निवन्धनमित्यर्थः, सङ्गतयितुं यावत्, शौक्ल्यसम्पादनमिति भावः ; यद्वा—कनकभूषणे सङ्ग्रहणं संस्थापनमित्यर्थः । विन्यासः इति यावत्, तस्मिन् उचितः अभ्यस्तः, युक्तः इत्यर्थः, मणिः रत्नं, चेत्, तपुणि सौसधातौ रत्नधातौ वा, सौसकाभरणे रत्नाभरणे वा इति (“तपु सौसकारत्नयोः” इति मेदिनी) प्रणिधीयते संयोज्यते, अलङ्कारकर्तृत्वमिति शेषः, तदा स मणिः, न विरोति न शब्दायते, न सङ्गन्ततीत्यर्थः, न चापि विरोति नैव वा दर्शनीयो भवति, यद्वा—स न विशोभते, अपि च किञ्च, अथ चेत् शोभाभावेऽपीति यावत्, न विरोति ; यद्वा—स न विरोति नापि च विरोति विगतशोभो भवति, स्वकीयनेसर्गिकद्युतिती न परिधृष्टो भवतीत्यर्थः, प्रत्युत योजयितुं सङ्गतयितुः, सौसधातौ निधापयितुरलङ्कारकर्तृत्वेत्यर्थः, वचनीयता निन्दा, न जायते, अस्थाने स्थापनं हि स्थापयितुः स्थापयितव्यस्य च ह्योरपि न्यूनताकलङ्कः इति भावः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम्,—“द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरो” इति खचपाठः । (७४) मुकुटे इति ।—मुकुटे किरीटे, यदि काचः अथवा सुलभः तुल्यपदार्थः

बुद्धिमाननुरक्तोऽयमयं शूर इतो भयम् ।

इति मृत्युविचारज्ञो मृत्युरापूर्यते नृपः ॥ ७५ ॥

अर्थाह,—अश्वः शस्त्रं शस्त्रं वीणा वाणी नरश्च नारी च ।

प्राप्य मनुष्यविशेषं भवन्ति योग्या अयोग्याश्च ॥ ७६ ॥

अथच,—किं भक्तेनासमर्थेन ? किं शक्तेनापकारिणा ? ।

भक्तं शक्तञ्च मां राजन् ! नावज्ञातुं त्वमर्हसि ॥ ७७ ॥

शेष इत्यर्थः, चरणाभरणे पादभूषणे च, यदि मणिः महामूल्यं रत्नम् इत्यर्थः, रोपितः आरोपितः, संयोजितः इत्यर्थः, स्यात् इति शेषः, तदा नखेः रत्नस्य, शेषः निन्दा, न हि अस्ति नाख्येवेत्यर्थः, किन्तु साधोः आरोपयितुरिति यावत्, अतः विपरीतलक्षणा असाधोरित्यर्थः, मूढस्येति भावः, अविज्ञता अलङ्करणानभिज्ञता, प्रकटोभवति इति शेषः । वृत्तमनुष्टुप् ।

(७५) सर्व्वथा विविच्य मृत्युनियोजनं नरेन्द्राणां सम्यग्निदानम् इत्याह, बुद्धि-
मानिति ।—अयं मृत्युः, बुद्धिमान् प्राज्ञः, अयम् अनुरक्तः अनुरागी, प्रभुपरायणः
भवः, तथा अयं मृत्युः, शूरः बलवान्, इतः अस्मात् मृत्यात्, भयं वासः,
निन्दाशब्दा इति यावत्, अस्तीति शेषः, (“अयं शूर इतो भयम्” इत्यत्र “इहोभय-
तो जनः” इति पाठे—इह अस्मिन् मृत्यु, समयगुणः बुद्धिमत्त्वानुरक्तत्वरूपः द्विविध-
गुण इत्यर्थः) इति एवं, मृत्युविचारज्ञः मृत्युगुणागुणविचारे निपुणः, नृपः राजा, मृत्युः
मृत्युः, गुणवन्निरिति भावः ; आपूर्यते इति नीयते, सर्व्वसम्पत्तिभिः परिपूर्णः क्रियते
इति यावत्, तस्य सर्वाभोष्टसिद्धिः जायते इति भावः । अनुष्टुप् वृत्तम् ।

(७६) आश्रयस्य हीनोत्कर्षादिगुणतारतम्येन आश्रितानामपि हीनत्वोत्कर्षत्वे
मायेति इति प्रदर्शयन् आह, अश्व इति ।—अश्वः घोटकः, शस्त्रं खड्गादि-
हरणं, शस्त्रं श्रुत्यादि, वीणा वल्लकी, वादनयन्त्रम् इत्यर्थः, वाणी वाक्यं,
नरश्च पुरुषश्च, नारी च स्त्री च, एते सप्त, मनुष्यविशेषं गुणवन्तागुणवन्तं वा पुरुष-
मायुधं, प्राप्य आसाद्य, योग्याः कार्य्यचमाः, अयोग्याः कार्य्यचमाः च, भवन्ति
मायुधे, गुणवन्तं पुरुषं प्राप्य योग्याः निर्गुणाश्रयणे च अयोग्याः सम्यग्दत्ते
इत्यर्थः । “सङ्क्रान्तिमाधारवशं गुणानाम्” इति “संसर्गजा दीपगुणा भवन्ति”
इति वा भावः ।

(७७) अथावसरज्ञो दमनकः प्राप्तावसरतया इदानीं सर्व्वथा निजोपयोगित्व-
माह, किमिति ।—असमर्थेन अशक्तेन, भक्तेन अनुरक्तेन, प्रभुपरायणेन इत्यर्थः,

वतः,—अवज्ञानाद्राज्ञो भवति मतिहीनः परिजनः

ततस्तत्प्राधान्याद्भवति न समीपे बुधजनः ।

बुधैस्त्यक्ते राज्ये न हि भवति नीतिगुणवती

विपन्नायां नीतौ सकलमवशं सीदति जगत् ॥ ७८

अपरञ्च देव !—

जनं जानपदां नित्यमर्चयन्ति नृपार्चितम् ।

नृपेणावमतो यस्तु स सर्वैरवमन्यते ॥ ७९ ॥

भृत्येन इति शेषः, किम् ? किंप्रयोजनम् ? अनुरक्तमात्रेण न कार्यं
इत्यर्थः, तथा अपकारिणा विद्वेषवता, अनुरक्तेन इत्यर्थः, शक्तेन कार्यं
किम् ? किंप्रयोजनम् ? न वा केवलसामर्थ्यं प्रभोरुपकारकं भवति इत्यर्थः, न
त्वं भक्तम् अनुरक्तं, शक्तं कार्यसाधननिपुणञ्च, माम् अवज्ञातुम् शक्तो
अहंसि न युज्यसे, भक्तानुरक्तानाञ्च मादृशाम् उपेक्षणं न देवपादानां श्रेष्ठतया
गूढाभिप्रायः । अनुष्टुप् वृत्तम् ।

(७८) हितैषिणामवज्ञा हि सर्वदोषमूलम् इति प्रदर्शयन्नाह, अवज्ञा
—राज्ञः नृपतेः, राजकर्तृकादित्यर्थः, अवज्ञानात् अनादरात्, अवसावत्
परिजनः अनुनीविगणः, मतिहीनः बुद्धिभ्रष्टः, भवति जायते, गुणे सत्तात्
कोऽपि स्वं गुणवन्तं कर्तुं नीत्यहते, तेन च मतिहीनता आयाति इति भावः
अनन्तरं, तत्प्राधान्यात् निर्वृद्धिपरिजनानां बाहुल्यात्, मूर्खभावत्
बुधजनः प्राज्ञः, समीपे राजसन्निधौ, न भवति न तिष्ठति, न गच्छतीति
पण्डितैः, त्यक्ते परिहीने, राज्ये राष्ट्रे, नीतिर्नयः, गुणवती गुणशुद्धा,
यावत्, न हि भवति, नैव सम्पद्यते, गुणवदमात्याभावात् यथावदप्रयुक्तता
विफला भवेदित्यर्थः, नीतौ नये, विपन्नायां खल्वितायां, विफलायां काला
सकलं क्लृप्तं, जगत् राज्यम्, अवशम् उच्छृङ्खलं, शासनश्रेयिष्ठ्यात् खेका
इति यावत्, सीदति अवसन्नं भवति ; अहो ! समूलघातिनी राजावज्ञा
इति भावः । शिखरिणी वृत्तम् । तल्लक्षणम्—“रसेन्द्रैर्निष्कृता य न वदति
शिखरिणी” इति ॥

(७९) राजकृतसम्माननावमाननयोरिव गुणदोषावाह, जनमिति ।
जनाः, जनपदवासिनी लोकाः इत्यर्थः, (“भवेज्जनपदी जानपदीपि वतः”)

विष, — बालादपि ग्रहीतव्यं युक्तमुक्तं मनोषिभिः ।

रवेरविषये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम् ? ॥ ८० ॥

पिङ्गलको ब्रूते, — “भद्र दमनक ! किमेतत् ? त्वमस्माकं

प्रधानामात्यपुत्रः सुधौः, (छ) इत्यत्कालं यावत् (ज) कुतोऽपि

पिशुनवचनान्नाऽऽगतोऽसि ? इदानीं (झ) यथाऽभिमतं ब्रूहि ।”

दमनको ब्रूते, — “देव ! पृच्छामि किञ्चित्, उच्यताम् ; उदकार्यी

स्वामी प्रानीयमपौत्वा किमिति विस्मित इवावतिष्ठते ?” ।

पिङ्गलकोऽवदत्, — “भद्रमुक्तं त्वया, किन्तु एतद्रहस्यं वक्तुमस्माकं

क्वाचित् (ज) विश्वासभूमिर्नास्ति, त्वन्तु (ट) तथाविधः,

एव सिद्धिनी) नित्यं संबन्धा, नृपाचितं नृपसम्मानितं, जनम् अर्चयन्ति सुवन्ति,
समाद्रियन्ते इत्यर्थः, यस्तु जनः, नृपेण राजा, अवमतः अवज्ञातः, स जनः,
अर्थः जनैः, अवमन्यते अवज्ञायते, राजसम्मानं हि सम्मानमूलं सर्वेषामिति भावः ।
मनुष्टुप् वृत्तम् ।

(८०) सुभाषितस्य ग्राह्यत्वे प्राप्तापानविचारस्यानुपयोगित्वं प्रकटयन्नाह,
बालादिति । — मनोषिभिः स्थिरधीभिः, विद्वद्भिरिति यावत्, बालादपि बालकादपि,
मुक्तं व्याख्यम्, उक्तं वचः, ग्रहीतव्यं ग्रहणीयम् । अत्र अर्थात्तरमाह, — रवेः सूर्यस्य,
अविषये अगोचरे, सूर्याभावे इत्यर्थः, सूर्यकिरणप्रवेशयोग्यस्थाने इत्यर्थो वा, किं
प्रदीपस्य प्रकाशनं दीप्तिः, ज्ञ ? दीपालोकेन रूपदर्शनं न भवति किम् ? अपि तु
भवत्येव इत्यर्थः, बालकस्यापि मे व्याख्यमेतत् वचनं त्वया अवश्यमेव श्रोतव्यमिति
भावः । तथाहि दिवाकरसदृशाद्यप्यितुः महासन्निधौ अभावे प्रदीपसदृशः तत्तनयः
आर्येणैषिषेपु कथं न समादरणीयः ? इति निष्कर्षः । वृत्तमनुष्टुप् ।

(छ) इत्यत्कालं यावत् — एतावन्तं कालं व्याप्न । (“यावत्” इत्यत्र “नीत्वा” इति
प्राप्ते — यापयित्वा इत्यर्थः, वहिरतिवाहयित्वेति यावत्) ।

(ज) कुतोऽपि — कस्मादपि, अस्माभिरविज्ञातादित्यर्थः । पिशुनवचनान् —
खलवाक्यान्, खलस्य वचनं सुलेख्यर्थः ।

(झ) यथाऽभिमतं — यथाऽभिलषितं, तय ईप्सितं वाक्यमित्यर्थः ।

(ज) विश्वासभूमिः, — विश्वासप्राप्तं, प्रत्ययभाजनमित्यर्थः ।

(ट) तथाविधः, — तादृशः विश्वासभूमिः ।

अतश्च शृणु कथयामि,—सम्प्रति वनमिदम् (ठ)

सत्त्वाधिष्ठितम्, अतोऽस्माकं त्याज्यम् । तथा च श्रुतस्त्वया

(ड) अपूर्वः शब्दो महान्, शब्दानुरूपेण च तस्य प्राप्ति

बलेनापि सुमहता भवितव्यम् ।” दमनको ब्रूते,—“देव !

अस्ति तावदयं महान् भयहेतुः, स शब्दोऽस्माभिरप्याकर्षितः

किन्तु स (ठ) किंसन्त्नी, यः प्रथमं (ण) मन्त्राभावेण

परित्यागं शुद्धोदयोगं वा उपदिशति । अपरश्च देव ! अस्ति

एव (त) कार्यसन्देहे भृत्यानाम् (थ) उपयोगः ज्ञातव्यः । यतः

बन्धुस्त्रीभृत्यवर्गस्य बुद्धेः सत्त्वस्य चात्मनः ।

आपन्निकषपाषाणे नरो जानाति सारताम् ॥ ८१ ॥

सिंहो ब्रूते,—“भद्र ! (द) महती शङ्का मां बाधते” ।

(ठ) अपूर्वसत्त्वाधिष्ठितम्—अपूर्वम् अश्रुतपूर्वम् अदृष्टपूर्वम्, अति
प्रत्यर्थः, यत् सत्त्वं जन्तुः, तेन अधिष्ठितम् अधिष्ठितम् ।

(ड) अपूर्वः,—अश्रुतपूर्वः ।

(ठ) किंसन्त्नी—निन्दितामात्यः, मन्त्रिणामायोग्य इत्यर्थः । (“किं करो
इत्यसमस्तपाठे—मन्त्री किम् ? नैवेत्यर्थः) ।

(ण) मन्त्राभावेण—मन्त्रणामन्त्रत्वेवेत्यर्थः ।

(त) कार्यसन्देहे—कर्तव्यावधारणसंशये ।

(थ) उपयोगः,—उपयोगिता, कार्यनैपुण्यम् इत्यर्थः ।

(८१) बन्धुप्रभृतीनामुपयोगिताप्ररोचायाः कालमाह, बन्धुस्त्रीति ।—नरः स
आपन्निकषपाषाणे आपत् विपत्तिरिय, निष्कषपाषाणः सुवर्णस्य उत्कर्षाप्रकर्षपरि
शोगिप्रसारविशेषः तत्र, बन्धुप्रभृतीनां सारत्वासारत्वनिर्णये विपत्तिरूपकषपा
बन्धुः मित्राणि, स्त्रियः नायकः, दारा इति भावः, भृत्याः अनुजीविनः, तेषां
समूहस्य, आत्मनः स्वस्य, बुद्धेः प्रज्ञायाः, तथा सत्त्वस्य वज्रस्य च स्वभावस्य
सत्त्वगुणस्य च वा, सारताम् उत्कर्षं, जानाति प्ररोचते, आपद्येव एवाम् एवम्
विरक्तत्वं वा कृत्रिमत्वमकृत्रिमत्वं वा बुध्यते इत्यर्थः । वृत्तमनुष्टुप् ।

(८२) महती शङ्का मां बाधते—अत्यर्थं भयप्रोदितोऽस्मीत्यर्थः ।

नकः (घ) स्वगतमाह,—“अन्यथा राज्यसुखं परित्यज्य
स्थानान्तरं गन्तुं कथं मां सम्भाषसे ?” । (न) प्रकाशं ब्रूते,—
“देव ! यावदहं जीवामि, तावद्वयं न कर्तव्यम् । किन्तु
करटकादयोऽपि आश्वासयन्ताम् ; यस्मादापत्प्रतीकाराय
दुर्लभः (प) पुरुषसमवायः ।”

ततस्तौ दमनक करटकौ राज्ञा (फ) महाप्रसादेन पूजितौ
भयप्रतीकारं प्रतिज्ञाय चलितौ । करटको गच्छन् दमनकः
माह,—“सखे ! किं (व) शक्यप्रतीकारोऽयं भयहेतुरशक्य-
प्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा भयोपशमं प्रतिज्ञाय कथमयं महा-
प्रसादो गृहीतः ? यतः (भ) अनुपकुर्वाणो न कस्यापि
(म) उपायनं गृह्णीयात्, विशेषतो राज्ञः । पश्य,—

यस्य प्रसादे पद्माऽऽस्ते विजयश्च पराक्रमे ।

मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजीमयो हि सः ॥ ८२ ॥

(घ) स्वगतम्—आत्मगतम्, अन्यैः अशक्यम् इत्यर्थः । (“अशक्यं खलु यद्
यसु तदिह स्वगतं मतम्” इति दर्पणकारः) ।

(न) प्रकाशं—स्पष्टम् ।

(प) पुरुषसमवायः,—पुरुषाणामेकत्र समावेशः, सहायपुरुषसङ्ग इत्यर्थः ।

(फ) महाप्रसादेन—युद्धाय प्रतिष्ठापविषये कश्चैचित् सेनापतये प्रीत्या यत्
प्रसादद्वारद्वारादिकं दीयते स महाप्रसादस्तेन ।

(व) शक्यप्रतीकारः,—शक्यः साध्यः, कर्तुं पात्रः इत्यर्थः, प्रतीकारः प्रति-
विधानं यस्य सः ।

(भ) अनुपकुर्वाणः,—उपकारमकुर्वन्, उपकारमल्लेख्यः ।

(म) उपायनम्—उपहारम् ।

(८२) मनुष्यचनं समुद्धृत्य राज्ञः स्वरूपमाह दाभ्यां, वस्येति ।—यस्य राज्ञः,
प्रसादे अनुयङ्गे सति, पद्मा लज्जतीः, ऐश्वर्यामित्यर्थः, आसे वसति, भवतीति यावत्,
(“आसे” इत्यत्र “शीः” इति मनुक्तः पाठः) पराक्रमे शीघ्रं च, प्रभावे इत्यर्थः,
विजयः व्यवसायः, क्रोधे रोषे च, मृत्युः नश्यः, वसति त्रियते, यस्मिन् प्रसन्ने भवः

तथाहि,—बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।

महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति” ॥ ८३ ॥

दमनको विहस्याऽऽह,—“मित्र ! (य) तूष्णीमास्यताम् ज्ञातं मया भयकारणं, (र) बलीवर्दनर्दितं तत् । ह्येषा आत्माकमपि भक्ष्याः, किं पुनः सिंहस्य ?” । करटकः ब्रूते,—“यद्येवं, तदा स्वामित्रासस्तत्रैव किं नापनीतः ?” । दमनको ऽवदत्—“यदि स्वामित्रासस्तत्रैव मुच्यते, तदा कथमयं मया प्रसादलाभः स्यात् ? अपरञ्च,—

निरपेक्षो न कर्त्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन ।

निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्यादधिकर्णवत्” ॥ ८४ ॥

करटकः पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । दमनकोः कथयति,—

जीविनां सम्पन्नाभो भवति, रणक्षेत्रे असन्निहितस्यापि यस्य च प्रतापे एव क्षेत्रं विजयं लभन्ते, यस्मिन् कुपिते प्रजानां मृत्युरवश्यमाधीत्यर्थः, हि निर्विदोः राजा, सर्व्वतजोमयः निखिलतेजःसम्पन्नः ; “अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां सायानिर्दिष्टं नृपः” इति स्मरणादिति भावः ।

(८३) साह इति ।—भूमिपः राजा, बालोऽपि शिशुरपि, मनुष्य इति मनुष्यबोधेत इत्यर्थः, न अवमन्तव्यः न अवज्ञातव्यः, हि यतः, एषा राजरूपा, प्रधाना, देवता नररूपेण मनुष्यवेशेन उपलब्धिता, तिष्ठति पृथिव्यां वर्त्तते, प्रशान्ति इत्यर्थः, सुरेन्द्रमात्राऽऽश्रितत्वात् राजावसाने सर्व्वे देवा एव अवसानिता इति भावः । अनुष्टुप् छन्दः ।

(य) तूष्णीमास्यतां—जोषं स्थीयताम् ।

(र) बलीवर्दनर्दितं—हृषभगर्जितम्, सङ्गृह्यतेषां कृतं गर्जितम् इत्यर्थः ।

(८४) निरपेक्ष इति ।—भृत्यैः अनुजीविभिः, स्वामी प्रभुः, कदाचन चिदपि, निरपेक्षः निराकाङ्क्षः, स्वसाहाय्यस्य प्रयोजनीयताबोधपरिश्रममभ्युपगम्य निरपेक्षोति यावत्, न कर्त्तव्यः न विधेयः, भृत्यः सेवकः, प्रभुं स्वामिन् निरपेक्षं सहायताऽऽवश्यकबोधपरिश्रमं, स्वेन अनावश्यकताबोधवन्निवृत्तं विधाय, दधिकर्णवत् दधिकर्णनामा विडाल इव, स्यात् भवेत्, विपन्नः इति भावः, अत्रायं भावः,—यावत् प्रभोः भृत्येण प्रयोजनं वर्त्तते, तावदेव भृत्ये सहायकः

सिंह-माज्जार-मूषिककथा ।—

“अस्ति (ल) उत्तरापथे अर्बुदशिखरनाम्नि पर्वते दुर्दान्तो नाम महाविक्रमः सिंहः । तस्य (व) पर्वतकन्दरमधिशयानस्य (श) केशराग्रं मूषिकः कश्चित् प्रत्यहं छिनत्ति । स सिंहः केशराग्रं (घ) लूनं बुद्ध्वा कुपितो विवरान्तर्गतं मूषिकम् (स) अलभमानोऽचिन्तयत्,—“किं विधेयमत्र ? भवत्वेवं श्रूयते,—

क्षुद्रशत्रुर्भवेद् यस्तु विक्रमानैव लभ्यते ।

तमाहर्तुं पुरस्कार्यः सदृशस्तस्य सैनिकः” ॥ ८५ ॥

इति आलोच्य तेन ग्रामं गत्वा दधिकर्णनामा विडालः प्रयत्नादानीय मांसाद्याहारेण सन्तोष्य स्वकन्दरे स्थापितः । ततस्तद्गयात् मूषिको वह्निर्न निःसरति । तेनासौ सिंहः

वर्तते प्रभूणां, समाप्ते च प्रयोजने पुनर्नाऽऽद्रियते प्रभुभिर्भृत्यः, अतः समादराकाङ्क्षिणा जीविकैषिणा च भृत्येन प्रभुः नैव आत्मसाहाय्यनिरपेक्षः करणीय इति । अनुष्टुप् वृत्तम् ।

(ल) उत्तरापथे—उत्तरस्यां दिशि ।

(व) पर्वतकन्दरं—पर्वतगुहां, पर्वतकन्दरे इत्यर्थः । [“अधिशीङ्ख्यासां कथं” (१।४।४६ पा०) इति अधिकरणस्य कर्मसंज्ञा] ।

(श) केशराग्रं—जटाग्रभागम् ।

(घ) लूनं—छिन्नम् ।

(स) अलभमानः,—अप्राप्नुवन्, आत्ममितुमसमर्थः इति यावत् ।

(८५) सुद्रेति ।—यस्तु (“यस्य” इति पाठे—यस्य, जनरेति शेषः) क्षुद्रशत्रुः मूषिकादिवत् अल्पप्राणी रिपुः, भवेत् स्यात्, तादृशः शत्रुः चेत् विक्रमात् पराक्रममवलम्ब्य, [ल्यव्न्तोपे प्रसी] नैव लभ्यते प्राप्यते, विक्रमेण वशीकर्तुमनर्हः भवतीत्यर्थः, तदा तं शत्रुम्, आहर्तुं वशीकर्तुम्, (“आहनुम्” इति पाठे—विनाशयितुमित्यर्थः) तस्य सदृशः तस्य शत्रोः तुल्यः, क्षुद्रप्राणी इत्यर्थः, सैनिकः सेनां समवेति इति सेनापुरुषः, [“सेनाया वा” (४।४।४५ पा०) इति द्वितीयान्तात् पाचिकः ठक्] पुरस्कार्यः अग्रे स्थापनीयः, कार्यसाधकत्वेन नियोज्यः इत्यर्थः, शत्रुवत् योषयेदिति भावः । अनुष्टुप् वृत्तम् ।

(ह) अक्षतकेसरः सुखं स्वपिति । मूषिकशब्दं यदा शृणोति, तदा तदा तं विडालं मांसाहारदानेन सविश्रामं (क) संवर्द्धयति ।

अथैकदा स मूषिकः क्षुधापीडितो वह्निः सञ्चरन्ते मार्जारिणं प्राप्नो व्यापादितः खादितश्च । अनन्तरं स सिंहेन कदाचिदपि मूषिकशब्दं न श्रुत्वा, तदा (ख) उपयोगाभावात् तस्य विडालस्य आहारदाने (ग) मन्दाऽऽदरो बभूव । अतो ब्रवीमि,—“निरपेक्षो न कर्तव्यः” इत्यादि ।

[इति सिंह-मार्जार-मूषिककथा ।]

ततो दमनक-करटकौ सञ्जीवकसमीपं गतौ । तदा करटकस्तुरुतले (घ) साटोपमुपविष्टः । दमनकः सञ्जीवकसमीपं गत्वाऽब्रवीत्,—“अरे वृषभ ! एषोऽहं राज्ञा पिङ्गलके अरण्यरक्षार्थं नियुक्तः । सेनापतिः करटकः समाज्ञापयति,—‘सत्वरमागच्छ, नो चेदस्मादरण्यात् (ङ) दूरमपसर । अन्यत् ते (च) विरुद्धं फलं भविष्यति’ । न जाने क्रुद्धः स्वामी (छ) किं विधास्यति ।” तत् श्रुत्वा सञ्जीवकश्चायात् । यतः,—

आज्ञाभङ्गो नरेन्द्राणां ब्राह्मणानामनादरः ।

पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो बधः ॥ ८६ ॥

(ह) अक्षतकेसरः,—अच्छिन्नसटः ।

(क) संवर्द्धयति—समाद्ध्यते ।

(ख) उपयोगाभावात्—निष्पृथीजनत्वात्, उपकारिताविरहात् इत्यर्थः ।

(ग) मन्दादरः,—शिथिलप्रयत्नः ।

(घ) साटोपं—सगर्वम् ।

(ङ) दूरमपसर—विप्रकटस्थानं गच्छ, दूरीभवेत्यर्थः ।

(च) विरुद्धं फलं—विपरीतः परिणामः, अनिष्टमित्यर्थः ।

(छ) किं विधास्यति—किं करिष्यति, किंविधं शासनं करिष्यति इत्यर्थः ।

(८६) आज्ञाभङ्ग इति ।—नरेन्द्राणां राज्ञां, प्रमूषाणां इत्यर्थः, ब्राह्मणानां

ततो (ज) देशव्यवहारानभिन्नः सञ्जीवकः सभयमुपसृत्य
(झ) साष्टाङ्गपातं करटकं प्रणतवान् । तथा चोक्तम्,—

मतिरेव बलाहरीयसी

यदभावे करिणामियं दशा ।

इति घोषयतीव डिण्डिमः

करिणो हस्तिपकाऽऽहतः कणन् ॥८७॥

अथ सञ्जीवकः सशङ्कमाह,—“सेनापते ! किं मया कर्तव्यं,
तदभिधीयताम्” । करटको व्रते,—“वृषभ ! यद्यत्र कानने

वादेशलङ्घनं, ब्राह्मणानां विप्राणाम्, अनाटरः अवधः, अवन्ना इत्यर्थः, नारीणां
खोषाच्च, पृथक् भिन्ना, स्वाभिग्रह्याऽन्तरग्रह्यायामित्यर्थः, शय्या शयनस्थानम्.
अश्लविहितः अश्वं विना अनुष्ठितः, वधः विनाशः, सत्युत्तुल्य इत्यर्थः, भवतीति शेषः ;
तथाऽऽचरणस्य नितरामवमाननाजनकत्वात् इति भावः । ईदृशाचरणानां हत्या-
सदृशनतुल्यतया राजहत्यात्रेहहत्यास्त्रीहत्यारूपमहापापजनकत्वसमवयवत्वमिति
वाच्यम् ।

(ज) देशव्यवहारानभिन्नः,—अविदितदेशाचारः ।

(झ) साष्टाङ्गपातम्—अष्टानां जानुपादादीनाम् अङ्गानां पातः, तेन सह
वर्तमानं यथा यथा ।

(८७) मतिरिति ।—बलात् सामर्थ्यात् स्त्रीव्याधा, मतिः बुद्धिरेव, गरीयसी
श्रेष्ठतरा, यदभावे यस्याः मतेरभावे, करिणां हस्तिनां, महाकायानां बलीयसा-
चेति भावः ; इयम् ईदृशी, पराधीनतारूपा इत्यर्थः, दशा अवस्था, इति एतद्वचनं,
हस्तिपकाऽऽहतः हस्तिचालकताद्धितः, गजचालकेन वादित इत्यर्थः, करिणः गजस्य,
पृष्ठस्थित इति शेषः, यद्वा—करिणः सम्बन्धे, इति घोषयतीवेत्यन्वयः ; डिण्डिमः
वाद्यविशेषः, यं वादयित्वा राजभृत्याः सर्व्वेच राजादेशं घोषयन्ति “टेंडा” इति
वक्ष्यमाणा ; कणन् शब्दावमानः, घोषयतीव प्रचारयतीव ; बुद्धिर्यस्य बलं
तस्य अवीचस्य कुतो बलम् ? इति भावः । (केचित्तु “करिणो हस्तिपकाऽऽहताः”
इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति चैवं यत्,—करिणः हस्तिपकेन आहताः भवन्ति, इति
कणन् इति । तद्वचनं न रोचते) । अत्र सुन्दरी इत्यम् । तद्वचनं यथा—
“अयुजोर्वदि सौ जगौ युजोः सभरा खगौ सुन्दरी तदा” इति ।

स्थातुमिच्छा वर्त्तते, तदा (ज) देवपादारविन्दं प्रणमम् । सञ्जीवको वदति,—“तदभयवाचं गच्छामि” । करटकेनोक्तम्,—“शृणु रे बलीवर्द ! (ट) अलमस्मै शङ्कया । यतः,—

प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे ।

अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरौ ।

अपरञ्च,—दृष्टानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो

मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।

(ज) देवपादारविन्दं—देवस्य राज्ञः, (“राजा भट्टारकी देवः” इत्यत्र पादारविन्दं चरणकमलम् ।

(ट) अलं—निषिद्धं, निष्प्रयोजनमित्यर्थः, शङ्कया किमपि साध्यं नास्ति इति ता काऽपि ते शङ्का नास्तीति समुदितार्थः । (“अलं भूषणपथ्यामिशक्तिवारणवाक्क इत्यनरः”) । [“गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका” इति नियमात् क्रियाऽपेक्षया शङ्कायाः करणत्वेन दृष्टीया] ।

(८८) दुर्जलो बलीवर्दः सिंहस्य अवज्ञापाचत्वात् विक्रमप्रदर्शनार्थः । बोधयितुं शिशुपालवधस्य षोडशसर्गोक्तं केशवशिशुपालयोर्दृष्टान्तमुपनयनं प्रतिवाचनमिति ।—केशवः युधिष्ठिरस्य राजसूययज्ञसभायाम् आसीनः शीघ्रं शपमानाय आक्रोशते, रोषेण अवाच्यं वदते इत्यर्थः, चेदिभूभुजे चेदिदेशादि शिशुपालाय इत्यर्थः, प्रतिवाचम् उत्तरम्, न अदत्त न ददौ, शिशुपालप्रयुक्तदृष्टव्यं प्रत्युत्तरे किमपि नाकथयदित्यर्थः ; कथं नादत्त ? इत्याह,—केशरी सिंहः, एतन्मेघगर्जितम्, अनुहुङ्कुरुते अनुपश्यात्, घनध्वनिश्रवणानन्तरमित्यर्थः, हुङ्कुरित्याकारकं गर्जनं करोति, मेघगर्जनस्य स्वगर्जनतुल्यत्वादसहिष्णुत्वमिति या यथा—अनुकरोति इत्यर्थः, गोमायुरुतानि शृगालरवान्, अतिचीरान् इति भावः ; न हि नैव, अनुहुङ्कुरुते इति योजना ; स्वसमानप्रतिस्पर्धित्वेन बौध्यवन्तः, अतः हीनबलस्य अतितुच्छस्य ते शृगाधिपसमीपे काऽपि शङ्का नास्ति भावः । सुन्दरी वृत्तम् ।

(८९) दृष्टानतीति ।—प्रभञ्जनः प्रबली वायुः, सर्वतः चतुर्दिक्षु, सर्वत्रैव या, प्रणतानि प्रभञ्जनालोडनेन भूमिसङ्गतानि, नीचैः ऋक्षानि चुद्राणि वा, क

समुच्छित्तानेव तरुन् प्रवाधते

महान् महत्येव करोति विक्रमम् ॥ ८९ ॥

ततस्तौ सञ्जीवकं नातिदूरे संस्थाप्य पिङ्गलकसमीपं गतौ ।

ततो राज्ञा सादरमालोकिता प्रणम्य उपविष्टौ । राजाऽऽह,—

(ठ) “अपि दृष्टः सः ?” । दमनको ब्रूते,—“देव ! दृष्टः,

यद्देवेनाकर्णितं तत्तथैव ; महाबलोऽसौ देवं द्रष्टुमिच्छति,

तत् (ङ) सञ्जीभूय उपविश्यताम् । किन्तु (ठ) शब्दमात्रान्न

मेतव्यम् । यतः,—

अश्वसा भिद्यते सेतुस्तथा मन्त्रोऽप्यरक्षितः ।

पैशुन्याद्भिद्यते स्नेहो वाग्भिर्भेद्यो हि कातरः ॥ ९० ॥

तथा चोक्तम्,—

कीमलानि, अनुज्ञतानीति यावत्, दृष्टानि न उन्मूलयति न उत्पाटयति ;
विक्रमप्रदर्शनस्वायोग्यपात्रत्वादिति भावः ; किन्तु समुच्छितान् समुन्नतान्, तरुन्
वटादीन् एव, प्रवाधते पीडयति, उन्मूलयतीत्यर्थः, तथाहि, महान् प्रबलः,
महति प्रबले जने एव, विक्रमं श्रौष्यं, करोति प्रदर्शयति, गजे सिंहे इव इति
भावः । सिंहविक्रमस्य अयोग्यत्वात् काऽपि ते शब्दा नास्तीति निष्कर्षः । वंशस्थविलं
वृत्तम्,—“वदन्ति वंशस्थविलं जतौ जरौ” इति लक्षणात् ।

(ठ) अपि—प्रत्याशंकमव्ययम् ।

(ङ) सञ्जीभूय—मृषिता मृत्वा, राजोचितेन उपवेशनप्रकारेणेत्यर्थः ; यदा—
सन्नद्धो मृत्वा, आक्रमितुं क्रमं वद्धा इत्यर्थः, युद्धाद्यमुदयुक्तः सन्नति यावत् ।

(ठ) शब्दमात्रात्—अस्य गर्जनश्रवणादेव, वाक्श्रवणादेव वा ।

(९०) अश्वसेति ।—अश्वसा जलेन, जलवेगेनेत्यर्थः, सेतुः आलिः, भिद्यते
स्वयमेव भिन्नो भवति, तथा किञ्च, अरक्षितः अगीपितः चेत्, मन्त्रोऽपि गुह्यवादीऽपि,
भिद्यते इत्यन्वयः, स्वयं प्रकाशते इत्यर्थः, “षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः” इति भावः ;
पैशुन्यात् खलतायाः, स्नेहः प्रणयः, भिद्यते विश्लिष्यते, भयो भवतीत्यर्थः, कातरः
लघुचितः, भीतो वा, वाग्भिः वचने, भीतिजनकवाक्यप्रयोगेणैवेत्यर्थः, भेद्यः भेदं
प्रापणीयः, वशीकाय्य इत्यर्थः, हि निश्चये ; यतः वीरेण भवता शब्दमात्रात् न
मेतव्यमिति भावः । अनुष्टुप् वृत्तम् ।

शब्दमात्राच्च मेतव्यमज्ञात्वा शब्दकारणम् ।

शब्दहेतुं परिज्ञाय कुट्टनी गौरवं गता ॥ ८१ ॥

राजाऽऽह,—“कथमेतत् ?” । दमनकः कथयति,—

कुट्टनी घण्टाकर्णराक्षसकथा ।—

“अस्ति औपर्वतमध्ये ब्रह्मपुराख्यं नगरम् । तत्

(ख) शैलशिखरे घण्टाकर्णो नाम राक्षसः प्रतिवसतीति

(त) जनप्रवादः श्रूयते । एकदा घण्टामादाय पलायमानः

कश्चिच्चौरो व्याघ्रेण व्यापादितः । (थ) तत्पाणिपतिता

घण्टा वानरैः प्राप्ता । ते वानरास्तां घण्टाम् (द) अनुचरं

वादयन्ति । ततो नगरजनैर्मनुष्यः खादितो दृष्टः, प्रतिचरं

(ध) घण्टाऽऽरावञ्च श्रूयते । अनन्तरं “घण्टाकर्णः कुपितो

मनुष्यान् खादति घण्टाञ्च वादयति” इत्युक्त्वा जनाः सर्वे

नगरात् पलायिताः । ततः करालया नाम कुट्टनी

(न) विमृश्य—(प) “अनवसरोऽयं घण्टावादः, तत् किं

(८१) शब्दमात्रादिति ।—शब्दकारणं कुतः कस्य वा शब्दोऽयमावच्छेदः

इति शब्दस्य हेतुम्, अज्ञात्वा अनिर्णीयं, शब्दमात्रात् केवलशब्दं नृत्वेव, न शब्द

न शब्दितव्यं, तथाहि, शब्दहेतुं शब्दकारणं, परिज्ञाय विदित्वा, कुट्टनी कर्ण

सम्बन्धो, वृद्धा दूतीति यावत्, गौरवं राजसम्मानं लोकसम्मानञ्च, गता गता

अनुष्टुप् वृत्तम् ।

(ख) शैलशिखरे—पर्वतशृङ्गे ।

(त) जनप्रवादः,—जनश्रुतिः, किंवदन्ती इत्यर्थः ।

(थ) तत्पाणिपतिता—व्याघ्रहतचौरहस्तघण्टा ।

(द) अनुचरं—प्रतिचरणं, सर्वदेव इत्यर्थः ।

(ध) घण्टाऽऽरावः,—घण्टावादनशब्दः ।

(न) विमृश्य—विचिन्त्य ।

(प) अनवसरः,—असामयिकः, अधुना अरण्यमध्ये घण्टारवोत्पत्तेः कारण

सम्भावनां न पश्चानीत्यर्थः ।

मर्कटा घण्टां वादयन्ति ?” इति स्वयं (फ) विज्ञाय राजा विज्ञापितः,—“देव ! यदि (ब) कियन्नोपचयः क्रियते, तदा-
 ऽहमेनं घण्टाकार्णं (भ) साधयामि” । ततो राज्ञा तुष्टेन तस्मै
 धनं दत्तम् । कुट्टन्या च (म) मण्डलं कृत्वा (य) गणेशादिपूजा-
 गौरवं दर्शयित्वा स्वयं (र) वानरप्रियफलानि आदाय वनं
 प्रविश्य तत्र फलानि (ल) आकौर्णानि । ततो घण्टां परित्यज्य
 वानराः (व) फलाऽऽसक्ता बभूवुः । कुट्टनौ च घण्टां गृहीत्वा
 नगरमागता सकललोकपूज्या अभवत् । अतोऽहं ब्रवीमि,—
 “शब्दमात्रान्न भेतव्यम्” इति ।

[इति कुट्टनौ-घण्टाकार्णराचसकथा ।]

ततः सखीवकमानीय दर्शनं (श) कारितवन्तौ । पश्चात्
 स तत्रैव वने चिरम् (ष) अतिप्रणयेन निवसति । अथ

(फ) विज्ञाय—विशेषेण ज्ञात्वा, अनुसन्धानेन निश्चित्यर्थः ।

(ब) कियन्नोपचयः,—किञ्चिदर्थव्ययः ।

(भ) साधयामि—मन्त्रादिभिः वशीकरोमि, मारयामीति वा । (“मारये
 धनसंस्कारे गतौ द्रव्योपपादने । निर्व्वर्त्तनीपकरणागुन्न्यासु च साधनम् ॥” इत्यमर-
 वचनात् साधधातोर्मारणार्थेऽपि प्रयोगदर्शनात्) । अथवा “प्रायेण खल्लकः साधिर्गन्धः
 स्नाने प्रयुज्यते” इति नियमात् साधयामि गच्छामि, तत्त्वान्वेषणाय गच्छामि, मत्वा
 च मारयामीति वा अर्थः ।

(म) मण्डलं—हरिद्रादीनां चूर्णैः पञ्चवर्णात्मकैः कृतं देवतापूजार्थं सर्व्वतो-
 भद्रादिमण्डलाख्यं रेखाविशेषम् ।

(य) गणेशादिपूजागौरवं—गणेशादिपूजनच्छलेन आत्मनो बहुव्रत्तमित्यर्थः ।

(र) वानरप्रियफलानि—रम्भादिफलानि ।

(ल) आकौर्णानि—सर्व्वतः विचित्रानि ।

(व) फलासक्ताः,—रम्भादिफलवद्व्यथतत्पराः ।

(श) कारितवन्तौ—सम्पादितवन्तौ, दमनककरटकौ सिङ्घनिति शेषः ।

(ष) अतिप्रणयेन—सिङ्गेन सह प्रेमातिशयेन ।

कदाचित् तस्य सिंहस्य भ्राता स्वध्वकर्णो नाम किं
 समायातः । तस्याऽऽतिथ्यं कृत्वा समुपवेश्य पिङ्गलकस्तदाहात
 पशून् हन्तुं चलितः । अत्रान्तरे सञ्जीवको वदति,—“देव । स
 हतमृगाणां मांसानि क्व ?” । राजाऽऽह,—“दमनक-कार
 जानीतः” । सञ्जीवको ब्रूते,—“ज्ञायतां किमस्ति नां
 वा ?” । सिंहो विहस्याऽऽह,—“नास्त्येव तत् ।” सञ्जीव
 ब्रूते,—“कथमेतावन्मांसं ताभ्यां खादितम् ?” । राजाऽऽह,—
 (स) “खादितं व्यधितम् अवधीरितञ्च । प्रत्यहमेष (ह) क्रम
 सञ्जीवको ब्रूते,—“कथं श्रीमद्देवपादानामगोचरं
 क्रियते ?” । राजाऽऽह,—“मदीयागोचरेणैव क्रियते
 सञ्जीवको ब्रूते,—“नैतदुचितम् । तथा चोक्तम्,—
 नानिवेद्य प्रकुर्वीत भर्तुः किञ्चिदपि स्वयम् ।
 कार्यमापत्प्रतीकारादन्यत्र जगतीपतेः ॥ ८२ ॥
 अपरञ्च,—कमण्डलूपमोऽमात्यस्तनुत्यागो बहुग्रहः ।
 नृपते ! किञ्चणो मूर्खो दरिद्रः किंवराटकः ॥ ८३ ॥

(स) खादितं—भक्षितम् । व्यधितम्—अन्येभ्यो दत्तम् अपचितं वा । परमं
 —अवज्ञातम्, अनुपादेयत्वात् अयद्वात् वा हेतुया परित्यक्तं, दूरे निश्चितमिह
 (ह) क्रमः,—कल्पः, अनुष्ठाननियमः इत्यर्थः, एवमेवाचरतः इति वाच्यं ।
 (८२) युक्तकामन्दकादिनीतिशास्त्रात् सारमाहृत्य कोषाधिकारिकत्वं
 विभिः, नेति ।—जगतीपतेः महीपतेः, (“जगतीपते !” इति पाठे—भो महीपते
 इति सिंहस्यामन्त्रणम्) भर्तुः प्रभोः सकाशे, भर्त्ते इत्यर्थः, [सम्बन्धविवक्षया
 अनिवेद्य अविज्ञाप्य, आपत्प्रतीकारात् विपत्तिनिवारणात्, अन्यत्र अन्यत्, किं
 किमपि, कार्यं कर्म, स्वयम् आत्मना, स्वातन्त्र्येणेत्यर्थः, न प्रकुर्वीत न ह
 राज्ञ आज्ञाम् अप्राप्य अपि तस्य आपत्प्रतीकाराय यतेत, अन्यकार्यं कर्म
 अवश्यमेवानुमतिरपेक्षणीयेत्यर्थः ; यद्वा—जगतीपतेः आपत्प्रतीकारादन्यत्र किं
 कार्यं भर्तुरनिवेद्य स्वयं न प्रकुर्वीत इति योजनीयम् । अनुष्टुप् इतम् ।
 (८३) कमण्डलुधमः मन्त्रिभिः याज्य इति दर्शयति, कमण्डलुति ।—

स ह्यमात्यः सदा श्रेयान् यः काकिन्याऽपि वर्धयेत् ।

कोषः कोषवतः प्राणाः प्राणाः प्राणा न भूपतेः ॥ ८४ ॥

किञ्चान्यैर्न कुलाचारैः सेव्यतामेति पूरुषः ।

धनहीनः स्वपत्न्याऽपि त्यज्यते किं पुनः परैः ? ॥ ८५ ॥

हे राजन् ! अमात्यः सचिवः, कमण्डलूपमः कुण्डौसदृशः, प्रतिनां जलपाचविशेष इत्यर्थः, तनुत्यागः तनुः स्त्रियः, त्यागः एकत्र—सञ्चितस्य धनस्य दानम्, अन्यत्र—जलनिर्गमः यस्य तादृशः, तथा बहुयुष्टः एकत्र—बहुः भूरिः, युष्टः प्रजाभ्यः करग्रहणं यस्य तादृशः, प्रजाभ्यः निःशेषेण करग्रहणतत्पर इत्यर्थः, सञ्चयशील इति यावत्, अपरत्र—बहुः युष्टः जलव्य ग्रहणं यत् तादृशः, भवेदिति शेषः, कमण्डलुयन्त्रं बहुजलं गृह्णाति ददाति च स्त्रिय एव, तद्वदमात्येनापि करग्रहणतत्परं स्त्रियव्यतिना च भाव्यम् इत्यर्थः ; तथाहि मूर्खः किञ्चनः कुत्सितसमयः, समयमूल्यानभिज्ञः, समयः व्यवहारानभिज्ञो वा, समयोऽयं न वृथा अतिवाहयितव्यः, अस्य कार्यस्यायमुचिततावसरः इत्यादिविचारबुद्धिपरिहीन इत्यर्थः, तथा दरिद्रः निधनः, किंवराटकः कपदकमूल्यानभिज्ञः कपदकव्यवहारानभिज्ञो वा, किथान् सञ्चयः कर्त्तव्यः व्यथोऽपि कुत वा कर्त्तव्यः इत्यादिविवेकविहीन इत्यर्थः, भवतीति शेषः ; मूर्खो दरिद्रश्च यतः समयस्य अर्थस्य च अपचयं करोति, अतः अमात्यस्तादृशी न प्रशस्तः, दरिद्राविमो दमनकरटकौ नामान्याहो इत्याशयः । वृत्तमनुष्टुप् ।

(८४) प्रशस्तमन्त्रिचक्षणमाह, स इति ।—यः काकिन्या वराटकानां दशक-वशेनापि, विंशतिसङ्ग्रहककपदकेनापीत्यर्थः, (“वराटकानां दशकद्वयं यत् सा काकिनो” इति खोलावतीवचनात्) अत्यल्पेनापि धनेन इति यावत्, (मूर्खस्यान्तोऽप्ययं दृश्यते) यज्ञयेत् वृद्धिं प्रापयेत्, कोषमिति शेषः, काकिणीनामेषाणि मूलिन यः प्रभूतसञ्चयं कुर्व्यादित्यर्थः ; (“काकिणीं यः प्रवर्धयेत्” इति पाठान्तरम्) [“शकि लिङ्” (१३११७२पा०) इति लिङ्] सः अमात्यः सदा सञ्चदा, श्रेयान् श्रेष्ठः, सञ्जामात्यप्रधान इत्यर्थः, हि यतः, कोषवतः धनशालिनः, भूपतेः राज्ञः, कोषः धनं, (“कोषाः” इति पाठान्तरम्) प्राणाः प्राणतुल्यः, प्राणाः जीवनं, न प्राणाः ; कोषाभावे राज्यप्राणादिरचाऽसम्भवादिति भावः ; प्राणैर्भ्योऽपि कोषः यत्नेन रक्षणीय इत्यर्थः, अतः तनुत्यागो बहुयुष्टो हि अमात्यः राज्ञः प्राणैर्भ्योऽपि प्रियतम इति भावः । अनुष्टुप् वृत्तम् ।

(८५) धनस्य प्रयोजनमाह, किञ्चेति ।—अन्तेः यदुक्तं तद्व्यतिरिक्तैः, वृद्धिः

(क) एतच्च राज्ञः प्रधानदूषणम् । पश्य,—

अतिव्ययोऽनपेक्षा च तथाऽर्जनमधर्मतः ।

मोषणं दूरसंस्थानं कोषव्यसनमुच्यते ॥ ८६ ॥

वतः,—क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया ।

अमणायत एवासौ धनी वैश्ववणोपमः ॥ ८७ ॥

हृत्तेरिति शेषः, किम् ? किं फलम् ? एतदेव धनस्य प्रयाजनोयतामोषवे
मित्यर्थः, धनहीनः निर्धनः, पुरुषः कुलाचारैश्च वंशपरम्परागतसदाचारैश्च
स्त्रीयतां पूज्यतां, न एति न लभते, न पूजनोद्यो भवतीत्यर्थः ; सत्यपि वंशपरम्परा
प्रशसाचारादिषु गौरवकारणेषु बहुषु न समादरं प्राप्नोतीत्यर्थः, यदा—किञ्च एष
कुलाचारैः तथा अन्यैः कुलाचारव्यतिरिक्तैः गुणवत्त्वादिभिः गौरवकारणैश्च
यदा—अन्यैः कुलाचारैः धनव्यतिरिक्तैः केवलैः कुलाचारैरित्यर्थः, धनहीनः पू
जेयतां न एति ; अत्र “पश्य” इति ऊहनीयम् ; स्वपदार्थापि आत्मनः भावं
त्यज्यते हीयते ; धनहीनः पुरुषः इति शेषः, परैः अन्यैरनुजोविप्रसृतिभिः, किं
तेषां त्यागे किं वैचित्र्यम् ? वक्तव्यञ्च ? इत्यर्थः, अवश्यमेव त्यज्यते इति
अनुष्टुप् वृत्तम् ।

(क) एतत्—वक्ष्यमाणम् ।

(८६) शकृत्कामन्दकादीनां मतमनुसृत्य कोषस्य दूषणं दर्शयति, प्रतिवर्त
—अतिव्ययः अत्यधिकधनक्षयः, अनपेक्षा सचये औदासीन्यम्, उपेक्षाशून्य
यातु आयातु वा इत्येवमास्याभावः इति यावत्, (“अनपेक्षा” इति पाठान्तरम्)
अधर्मतः धर्मसंलक्ष्य, अर्जनम् उपार्जनं, मोषणम् अपहरणं, निपुण
कृतं चौर्यमित्यर्थः, दूरसंस्थानञ्च दूरवर्तिस्थाने धनरक्षणञ्च, कार्येकाले प्रा
मिति यावत्, एतत् सर्व्वे कोषव्यसनम् अर्थदूषणं, धनविषयिणी त्रिपक्षि
उच्यते कथ्यते, पण्डितैरिति शेषः । अनुष्टुप् वृत्तम् ।

(८७) क्षिप्रमिति ।—आयं धनागमम्, अनालोच्य अविविच्य, कियन् व
इति विवेचनामकृत्वा इत्यर्थः, स्ववाञ्छया स्वेच्छया, वशेच्छया
अनितमिति यावत्, व्ययमानः व्ययं कुर्वन्, व्ययशीलः इत्यर्थः, असौ प्रवृ
राजेत्यर्थः, वैश्ववणोपमः वैश्ववणः विश्ववस्तुनयः कुबेरः, उपमा तुलना
तादृशः, धनी धनवान् अपि, क्षिप्रं सहसा, अमणायते एव अमणः मिथ्या, इ
मरुतोपि दरिद्राति, भिक्षां अरति इत्यर्थः । अनुष्टुप् वृत्तम् ।

तदाकर्ण्य स्तब्धकर्णो ब्रूते,—“शृणु भ्रातः ! चिरादऽश्रिता-
वेतौ दमनक-करटकौ (ख) सन्धिविग्रहकार्याधिकारिणौ
कदाचित् (ग) अर्थाधिकारे न नियोज्यौ ।
अपरञ्च (घ) नियोगिप्रस्तावे मया यत्किञ्चित् (ङ) श्रुतं, तत्
कथयामि,—

ब्राह्मणः क्षत्रियो बन्धुर्नाधिकारि प्रशस्यते ।

ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणापि न यच्छति ॥ ८८ ॥

नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये खड्गं दर्शयते ध्रुवम् ।

सर्वार्थं असते बन्धुराक्रम्य ज्ञातिभावतः ॥ ८९ ॥

(ख) सन्धिविग्रहकार्याधिकारिणौ—सन्धिः वृषाणां परस्परमेतनाश
मिवीकरणं, विग्रहः युद्धः, परमखले दाहलुण्ठनच्छेदादिरिति यावत्, तौ एव
कार्ये सन्पाद्ये इत्यर्थः, अधिकर्तुं शीलमनयोः तौ, तत्र अधिकारः नियोगः प्रभुत्वं वा
पश्यनयोरिति तौ इति वा, यथा—सन्धिविग्रहयोः कार्ये कर्तव्ये, कर्तव्याकर्तव्यवि-
निश्चये इत्यर्थः, अधिकारिणौ युद्धसचिवौ इत्यर्थः ।

(ग) अर्थाधिकारे—धनाध्यक्षत्वे ।

(घ) नियोगिप्रस्तावे—कश्चिन् कार्ये कौटुम्भीनाम् नियोज्य इति प्रसङ्ग

(ङ) श्रुतम्—आकर्ण्यतं, परिज्ञातम् इति यावत् ।

(८८) इत आरभ्य एकादशभिः श्लोकैः शुककामन्दकादिनीतिशास्त्रेभ्यः सारं
समाहृत्य नियोगिव्यवस्थामाह, ब्राह्मण इत्यादिभिः ।—ब्राह्मणः विप्रः, क्षत्रियः
ब्राह्मणः, योद्धृपुरुषः इत्यर्थः, बन्धुः आत्मीयः, पितृव्यादिः ज्ञातिवर्ग इति यावत्,
अधिकारे राजकर्तव्ये, प्रस्तुतत्वात् धनाधिकारे इत्यर्थः, न प्रशस्यते न शोभते,
त नियोगमहंतौत्यर्थः, नैव एतेषु कार्यभारः अपरणीय इति यावत् । कुतः ?
इत्याह,—ब्राह्मणः सिद्धं विद्यमानमपि, यथा—सिद्धं निष्पन्नमपि, कस्यैचिद्भातं
कार्यविशेषार्थं व्ययितुं वा राज्ञा अनुमतत्वात् प्राप्तप्रायमपीत्यर्थः, अथ धनं,
कृच्छ्रेणापि अतिकष्टेनापि, खड्गमाश्रयतिशयेनापीत्यर्थः, न यच्छति न अप्रयति,
कृपणसम्भावनादिति भावः । अनुष्टुप् इहम् ।

(८९) नियुक्त इति ।—क्षत्रियः राजन्यः, योद्धृपुरुषः इत्यर्थः, द्रव्ये धने, धनरक्षणे
इत्यर्थः, नियुक्तः अधिकृतयेत्, पुत्रं निश्चितं, खड्गं वृषाणं, दर्शयते गुप्तं धनदातेन

अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः ।

स स्वामिनमवज्ञाय चरेच्च निरवग्रहः ॥ १०० ॥

उपकर्त्ताऽधिकाराऽऽव्यः स्वापराधं न मन्यते ।

उपकारं ध्वजौकृत्य सर्वमेव विलुम्पति ॥ १०१ ॥

उपांशुक्रौडिताऽमात्यः स्वयं राजायते यतः ।

अवज्ञा क्रियते तेन सदा परिचयाद्भुवम् ॥ १०२ ॥

सर्वान् आयत्तौकृत्य राज्यग्रहणार्थं खड्गमुत्तोलयति इति भावः ; वन्तुः आत्मौ, ज्ञातिवर्ग इत्यर्थः, ज्ञातिभावतः आत्मीयत्वात्, आत्मीयतया समत्वं प्रभुत्वं प्रकटय्य इत्यर्थः, आक्रम्य आक्रमणं कृत्वा, निःशङ्कमभ्यन्तरं प्रविश्येत्यर्थः, सर्वो सर्वसम्पत्तिं, यस्यते आत्मसात् करोति, सर्ववेदित्वादिति भावः । वन्तुः वृत्तम् ।

(१००) अपराधे इति ।—नियोगी प्रस्तुतत्वात् धनाधिकारे नियुक्तः एकः चिरसेवकः पुरातनः भूत्यः, चेत् इति शेषः, अपराधेऽपि दोषेऽपि, अपकारं कुर्वन् इत्यर्थः, निःशङ्कः निर्भयः, भवतीति शेषः, स चिरसेवकः, निरवग्रहः अप्रतिरुद्धः निर्बाधः सन् इत्यर्थः, स्वामिनं प्रभुम् अवज्ञाय अवमन्य, चरेत् आचरेत्, इत्यर्थः धनव्ययादिकं कुर्व्यादित्यर्थः । अनुष्टुप् वृत्तम् ।

(१०१) उपकर्त्ता इति ।—उपकर्त्ता उपकारकः, अधिकाराव्यः अपि मन्त्रः, धनाधिकारे अन्यत्विन्नधिकारे वा नियुक्तश्चेदित्यर्थः, (“अधिकारस्य” पाठान्तरम्) स्वापराधमात्मदोषं, न मन्यते न जानाति, न मण्यतीत्यर्थः, उपकर्त्ता पूर्वजन्तनानुकूल्यं, ध्वजौकृत्य अग्रे कृत्वा, आरयित्वेति यावत्, सर्वमेव दोषं धनजतं वा, विलुम्पति क्षीपं प्रापयति, चालयति हरति वा इत्यर्थः ।

(१०२) उपांश्विति ।—अमात्यः मन्त्री, उपांशुक्रौडितः रङ्गसि एकत्र कृतकौ सर्वैरङ्गस्यक्रौडितः इत्यर्थः, नष्टसहायः चेत् इति यावत्, यतः यस्मात् कार्यं स्वयं राजायते राजवत् आचरति, सर्वत्र प्रभुत्वं दर्शयतीत्यर्थः, तत उपांशुक्रौडित इति एव सदा सर्वदा, परिचयात् सहयोगित्वात्, तेन अमात्येन, भुवं क्रियते अवज्ञा अवमानना, प्रभोरिति शेषः, क्रियते विधीयते ; यद्वा—सदा परिचयात् बहुकालावधि एकत्र वासादित्यर्थः, उपांशुक्रौडितः अमात्यः यतः स्वयं राजायते यतः तेन भुवम् अवज्ञा क्रियते ; यद्वा—यतः सदा परिचयात् उपांशुक्रौडितः स्वयं राजायते, ततः परिचयात् तेन भुवमवज्ञा क्रियते ।

अन्तर्दुष्टः क्षमायुक्तः सर्वानर्थकरः किल ।

शकुनिः शकटारश्च दृष्टान्तावत्र भूपते ! ॥ १०३ ॥

(१०३) दुर्मन्त्रिणं निन्दारयति, अन्तारति ।—भूपते ! हे राजन् ! अन्तर्दुष्टः अन्तः मनसि, दुष्टः अनिष्टचिन्तापरत्वात् सापराधः, मनसि अनिष्टचिन्तकः, परोक्षे कार्यहन्तेत्यर्थः, क्षमायुक्तः वहिः क्षमापरः, समक्षे हितैषितां प्रकटयन् इत्यर्थः, सचिव इति शेषः, पयोमुखविषकुम्भवत् इति भावः, किल निश्चये, यदा—किल इति दृष्टान्तौ इत्यनेनान्वीयते, प्रसिद्धौ वार्त्तायां वा ; सर्वानर्थकरः सर्वान्शुभसम्पादकः, अत्र अस्मिन् विषये, शकुनिः दुर्योधनस्य मन्त्री मातुलश्च, तथा शकटारश्च तन्नामकः नन्दराज-मन्त्री च, दृष्टान्तौ उदाहरणभूतौ । दुर्योधनो हि स्वमातामहं गान्धारराजं सपरिजनं केनचिदपराधमिषेण कारायां निचिक्षेप, भक्ष्यञ्च तस्मै अतीव स्वल्पं जनैकस्यापि सुप्रशमनानर्हमेककालं ददौ, स्वल्पमितेन तेन सर्व्वेषां जीवनधारणमसम्भवं मन्यमानः प्रकुपितः गान्धाराधिपः पुनं शकुनिं दुर्योधनविनाशाय अङ्गीकारयन् तेनान्नं जीवयामास, स्वयञ्च सङ्गान्धपरिजनः अनाहारेण प्राणान्तत्याज । ततः तथा क्रतुप्रतिज्ञः शकुनिः कालेन कारागारात् विमुक्तः महाबलं दुर्योधनं पराक्रमेण विनाशयितुमशक्तुवन् अमान्यापदेशेन दुर्योधनसभाशमवस्थाय कन्दोऽनुवर्त्तनेन तं वशीकृत्य च मित्रभावेण विविधकुसन्ध्याञ्च प्रदाय श्रीकृष्णसङ्गायैः पाण्डवैः वैरतामुत्पाद्य विनाशयामास ससर्व्वपरिजनं दुर्योधनमिति । एवमन्तः शकटारोऽपि स्वययागतं प्रभुं नन्दमनुगच्छन् पिपासातुरस्य तस्य पानार्थं जलमानेतुं कस्मिंश्चित् सरसि अवतीर्य तत्र एकस्मिन् शिलाखण्डे उत्कीर्णं श्लोकविशेषं वाचयित्वा तेन च स्वप्रभावपरिचयशङ्कया सङ्गातेर्यः सङ्घसा प्रभुं निजघान । कालेन च विदितहत्तान्ताः नन्दाङ्गजाः सपुत्रदारं तं कारायां निचिक्षेप पलपञ्चकमितं पुराण-चणकं हन्ति निन्दारयामासुः । तेन प्रकुपितश्च शकटारः नन्दवंशं समूलघातं हनुम् अङ्गीकार्य्यं कनिष्ठपुत्रं विकटारनामानं तेन भोज्यं जीवयामास, स्वयञ्च सङ्गान्धपरिजनः प्राणान्तत्याज । कालेन च कृपाद्रीः नन्दात्मजाः विकटारं कारागारात् विमुच्य कस्मिंश्चिदधिकारे नियोजयामास । अपमानितः स्थिरप्रतिज्ञश्च विकटारः स्वसङ्ख्यादविचलितः वहिः सन्तोषं प्रदर्शयन् रन्ध्रमन्विष्य च तत्रैव स्थितः । कालेन च बाणक्षेत्रे वैरमुत्पादयन् तेनैव नन्दान्वयं समूलघातं निजघान इति च वार्त्ता । शकटारविवरणन्तु विस्तरेण अस्मदीयमुद्राराचसपूर्व्वपीठिकायां द्रष्टव्यम् ।

सदाऽमात्यो न साध्यः स्यात् समृद्धः सर्व एव हि ।

सिद्धानामयमादेशः ऋद्धिश्चित्तविकारिणी ॥ १०४ ॥

प्राप्तार्थग्रहणं द्रव्यपरिवर्त्तोऽनुरोधनम् ।

उपेक्षा बुद्धिहीनत्वं भोगोऽमात्यस्य दूषणम् ॥ १०५ ॥

नियोग्यार्थग्रहापायो राज्ञां नित्यं परीक्षणम् ।

प्रतिपत्तिप्रदानञ्च तथा कर्मविपर्ययः ॥ १०६ ॥

(१०४) समृद्धोऽमात्यः राजवशे न तिष्ठतीति ज्ञापयति, सदेति ।—अमात्यो मन्त्री, तथा सर्व एव जनः, यदा—सर्व एव उत्तममध्यमाधमः सर्व एवेत्यर्थः, अमात्यः, समृद्धः धनशाली चेत्, सदा चिरकालम्, अधिकदिनमित्यर्थः, साध् राज्ञाम् आद्यतः, न स्यात् न भवेत्, राज्ञः वशे न तिष्ठेदित्यर्थः, (सदावस्थानं साध्यः स्यात्” इति पाठान्तरम्) हि निश्चये; यतः ऋद्धिः ऐश्वर्यं, चित्तविकारिणी चित्तप्रनादविधायिनी, औद्धत्यादिसम्पादिकेति यावत्, अयम् ईदृशः, सिद्धान्तं अव्याहतवाचां मुनीनाम्, आदेशः उपदेशः ।

(१०५) अमात्यस्य दूषणमाह, प्राप्तेति नियोग्येति च दाभ्याम् ।—प्राप्तार्थं प्रजाभ्यः लब्धानाम्, अर्थानां राजकररूपाणां, ग्रहणं मङ्गलः, आत्मसात्करणमित्यर्थः, (“प्राप्तार्थग्रहणम्” इति पाठे—प्राप्तस्य अर्थस्य पारितोषिकस्य इत्यर्थः, अथ ह्यपर अनङ्गीकारः) द्रव्यपरिवर्त्तः द्रव्याणां राजकोषधनादीनां, परिवर्त्तः विनिवृत्तः बहुमुख्यद्रव्यग्रहणपूर्वकं तत्स्थाने स्वल्पमुख्यद्रव्यसंरक्षणमित्यर्थः, अनुरोधनं प्रियवचनं शरणं, न्यायविचारे पक्षपातित्वमित्यर्थः, उपेक्षा प्रभुकार्येषु औदासीन्यं, बुद्धिहीनत्वमविवेकता, भोगः विषयासक्तिः, कामिन्यादिसम्भोगः इत्यर्थः, एतत् सर्वम् अमात्यमन्त्रिणः, दूषणं दोषः; नैतद्दोषयुक्तः मन्त्रिपदमहंतीति भावः ।

(१०६) नियोग्यार्थेति ।—नियोग्यस्य प्रभोः, अर्थग्रहस्य अर्थसञ्चयस्य, सचित्तवत् स्वेत्यर्थः, अपायः नाशः, नियोग्यस्य अर्थग्रहे धनागमे, अपायः विघ्नमृतः इति वा, किं सर्वदा, राज्ञां परीक्षणं “किमर्थं मयि सन्दिग्धो विश्वस्तो वा” इति परीक्षा, निश्चय इत्यर्थः, सन्दिग्धचित्तता इति यावत्, प्रतिपत्तेः स्वगौरवस्य, प्रदानं प्रदर्शनं, ऋणं निजपटुत्वप्रख्यापणमित्यर्थः, तथा कर्मविपर्ययः कर्तव्यकर्मणः विपरीतानुष्ठानं उपेक्षा वा, एतत् सर्वम् अमात्यस्य दूषणमिति पूर्वेष्वन्वयः । (“नियोगार्थग्रहापायः” इति पाठे—नियोगस्य नियुज्यते अस्मिन्निति व्युत्पत्त्या कार्यस्य, भृत्यानुष्ठितकर्मणा

निपीडिता वमन्त्युच्चैरन्तःसारं महीपतेः ।

दुष्टव्रणा इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः ॥ १०७ ॥

मुहुर्नियोगिनो बोध्या वसुधारा महीपतेः ।

सक्तत् किं पीडितं स्नानवस्त्रं मुचेद्बह्वदकम् ? ॥ १०८ ॥

इत्यर्थः, अथंयह तात्पर्येणहणे, किमुद्दिश्यानेन एतदनुष्ठितमिति मन्त्रां वयोधे इत्यर्थः, उपायः प्रयत्नः, विधेय इति लिङ्गव्यत्ययेन सर्वत्राध्याह्वयः । नित्यं परीक्षणम् अमात्येषु कः किमाचरतीति अनुसन्धानम् ; प्रतिपत्तिप्रदानं प्रतिपत्तेः गौरवस्य, प्रदानम् अप्रपञ्चं, भृत्यानां प्रीत्यर्थं तेषां काव्यस्य प्रशंसाकरणं धनदानादिकञ्च कर्त्तव्यमित्यर्थः, तथा कर्त्तव्यविषयः अमात्यानां चातुर्व्यपरीक्षणार्थम् अन्तराऽन्तरा काव्यान्तरे नियोगः इत्येतत् सर्वं राज्ञाम् अवश्यकर्त्तव्यमिति गृह्यार्थः । “नियोग्यथंयहोपायः” इति पाठे—नियोगिनां भृत्यानाम्, अथंयह धनागमविषयकज्ञाने, उपायः प्रयत्नः, कर्त्तव्य इति शेषः, यद्वा—नियोगिभिः अथंयहः राजकीयात् धनापहारः, राज्ञाम् अपायः विनाशहेतुभूतः, अत एव नित्यं परीक्षणं कर्त्तव्यम् ।

(१०७) निपीडितेति ।—नियोगिनः काव्यकारिणः सेवकाः, निपीडिताः अत्यर्थं शासिताः सन्त इत्यर्थः, महीपतेः राज्ञः, [सम्बन्धे ६४] (“महीपते !” इति निर्विचर्गपाठे—भो महीपते ! इत्यर्थः) अन्तःसारम् अन्तः स्त्रीकृतम्, आत्मसात् कृतमित्यर्थः, (“अन्तः स्त्रीकारमध्यधीः” इति मेदिनी) सारं धनम्, उच्चैः अत्यर्थं, कात्स्न्येनेत्यर्थः, वमन्ति उद्गिरन्ति, वहिष्कृत्य ददति इत्यर्थः, अन्तःसारं स्त्रीकृतमाभ्यन्तरिकं काव्यपटुत्वादिकं, वमन्ति प्रकाशयन्ति इत्यर्थो वा । (“निपीडिताः” इत्यत्र “निपीडिताः” इति पाठे—अपीडिता अनिष्टहीताः सन्तः, उच्चैः अन्तःसारं न वमन्ति इति अन्वयः) हि यतः, ते प्रायः बाहुल्येन, दुष्टव्रणा इव अन्तःस्थितपूया दूषितव्रणा इव, भवन्ति जायन्ते, आचरन्तीति यावत् ; दुष्टव्रणा हि अनिपीडिताः अन्तःस्थिताः, निपीडिताश्च पूयादिकम् उद्गिरन्ति इति तस्मात् ।

(१०८) असन्निधौ निपीडनस्य नित्यावश्यकतामाह, मुहुर्नियोगिनः सेवकस्य, आत्मसात्कृतराजधनस्य इति सावः ; वसुधाराः अयंसमृद्धाः, सच्चितानि धनान्येत्यर्थः, महीपतेः राज्ञः, [कर्तुः] मुहुः पुनः पुनः, बोध्याः ज्ञातव्याः, प्राप्तवतनानुरूपः तस्यायंसचयः भवति अधिको वा इति सूच्यो सूच्यः परीक्षा कर्त्तव्या इत्यर्थः, तथात्वे तस्य साधुत्वासाधुत्वयोः ज्ञानं मविष्यतीत्याशयः ; (“मुहुर्नियोगिनो बाध्या वसुधारा महीपते !” इति पाठे—भो महीपते ! बाध्या पोष्या, पीडयित्वा

एतत् सर्वं ज्ञात्वा (च) यथाऽवसरं व्यवहर्त्तव्यम् ।
पिङ्गलको ब्रूते,—“अस्ति तावदेवं, किन्तु एतौ सर्वथा
मम वचनकरौ ।” स्तब्धकर्णो ब्रूते,—“एतत् सर्वथाऽनुचितम्
यतः,—

आज्ञाभङ्गकरान् राजा न क्षमेत सुतानपि ।

विशेषः को नु राज्ञश्च राज्ञश्चित्रगतस्य च ? ॥ १०८ ॥

अथ,—स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री

नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः ।

विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं

राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥ ११० ॥

विशेषतश्च,—

ग्रहीतव्या इत्यर्थः) ननु द्विविवारवीधेनैव इष्टसिद्धौ मुहुर्वोधस्य को हि
मुहुर्वोधनस्य वा ? इत्यत आह, सङ्गदिति ।—स्नानवस्त्रं स्नानकाले परिहितवस्तु
आर्द्रवस्त्रमिति यावत्, सङ्गत एकवारं, पीडितं निष्पीडितं सत्, बद्धदकं प्रसृतम्
मुञ्चेत् किम् ? त्यजेत् किम् ? न कदाऽप्येत्यर्थः, (“बद्धदकम्” इत्यत्र “द्रुतं पयः”
पाठे—द्रुतं शीघ्रं, पयः जलं, मुञ्चेत् किम् ?) अतो मुहुः बोध्या वाचा
अथवा धनवाङ्मयात् प्रभुमप्यवमन्यन्ते इति निष्कर्षः ।

(च) यथाऽवसरं—कालोचितमित्यर्थः । व्यवहर्त्तव्यम्—आचरितव्यम् ।

(१०८) आज्ञेति ।—राजा नृपतिः, आज्ञाभङ्गकरान् अनाश्वान्, अर्ध-
वह्निनः इत्यर्थः, सुतान् पुत्रानपि, किमुत भृत्यान् ? इत्यपेरर्थः, न क्षमेत न क्षम-
राज्ञश्च नृपतेः, क्षमेत चेत् तादृशस्य व्याहृताज्ञस्य वास्तवस्य नृपस्य इत्यर्थः, चित्र-
चित्रार्पितस्य, अचेतनस्य इत्यर्थः, राज्ञश्च को नु विशेषः ? कः प्रमेदः ? उक्तं
तादृशः आज्ञाभङ्गसङ्घिणः हि राजा अकर्मण्य एवेति भावः ।

(११०) क्षब्धस्येति ।—क्षब्धस्य नियेष्टस्य, दोषं दृष्ट्वाऽपि अप्रतिकुर्वन्तः इति
मौनिन इत्यर्थो वा, अवाक्पटोरिति यावत्, यशः कीर्तिः, नश्यति भङ्गते, विन-
समतायन्त्यस्य, पक्षपातिनः, अव्यवस्थितचित्तस्य वा इत्यर्थः, खलस्य इत्यर्थो वा, नि-
मित्रता, नष्टेन्द्रियस्य पुंस्त्वयन्त्यस्य, दृष्टेन्द्रियस्येत्यर्थो वा, अजितेन्द्रियस्येति वा
कुलं वंशः, वंशगौरवमित्यर्थो वा, अर्थपरस्य अर्थगृह्णी, धर्मः, अर्थ-
वावत् ।

तत्स्करेभ्यो नियुक्तेभ्यः शत्रुभ्यो नृपवत्तभात् ।

नृपतिर्निजलोभाच्च प्रजा रक्षेत् पितेव हि ॥ १११ ॥

भ्रातः ! सर्वथाऽस्मद्वचनं (छ) क्रियताम् । (ज) व्यवहारोऽप्यस्माभिः कृत एव । अयं शस्त्रभक्षकः सञ्जीवको (झ) भोजनाधिकारे नियुज्यताम् ।” एतद्वचनात् तथाऽनुष्ठिते सति तदारभ्य पिङ्गलकसञ्जीवकयोः (ज) सर्व्ववन्धुपरित्यागेन महता स्नेहेन कान्तोऽतिवर्त्तते । ततोऽनुजीविनामप्याहारदाने (ट) शैथिल्यदर्शनात् दमनक-करटकौ (ठ) अन्योऽन्यं चिन्तयतः ।

यूतावासक्तस्य, विद्याफलं विद्यायाः शास्त्रज्ञानस्य, फलं परिणतिः, विनयादिकम् इत्यर्थः, क्षपणस्य व्ययकुण्डस्य, सौख्यं सुखजातं, प्रसन्नः अनवहितः, अविवेक इति यावत्, सचिवः मन्त्री यस्य तस्य दुष्टमात्यस्य, नराधिपस्य राज्ञः, राज्यं राष्ट्रं, सर्व्वं नश्यतीत्यनेनान्वयः । वसन्ततिलकं हृतम् ।

(१११) कामन्दकनीतेः प्रमसर्गोक्तशोकमवलम्ब्य राज्ञः तत्स्कराद्युपद्रवात् प्रजारचणस्य कर्त्तव्यतामाह, तत्स्करेभ्य इति ।—नृपतिः राजा, तत्स्करेभ्यः चौरैभ्यः, नियुक्तेभ्यः अधिकृतेभ्यः, राजकर्म्मणि प्राप्ताधिकारपुरुषेभ्य इति यावत्, शत्रुभ्यः शिष्याः, विपक्षवृत्तेभ्य इत्यर्थः, नृपवत्तभात् राज्ञः प्रियजनानात्, श्यालादेरिति यावत्, निजलोभात् आत्मगृध्रुतायाश्च, पिता इव जनक इव, प्रजाः लोकान्, हि निश्चयेन, रक्षेत् प्रतिपालयेत् ।

(छ) क्रियताम्—अनुष्ठायताम्, अस्मदुपदेशानुयायि कर्म क्रियतामित्यर्थः ।

(ज) व्यवहारोऽप्यस्माभिः,—अस्माभिरपि एवमेवाचरणमित्यर्थः ।

(झ) भोजनाधिकारे—खाद्यद्रव्याणां रक्षणव्यापारे इत्यर्थः, शस्त्रभोजित्वेन भक्षज्ञेषु मांसेषु निस्पृहत्वादिति भावः । (“अर्थाधिकारे” इति पाठेऽपि—भोजनाधिकारे इत्येवायं, पशूनां भोज्यरूपाद्यर्थव्यतिरिक्तार्थाभावात्) ।

(ज) सर्व्ववन्धुपरित्यागेन—सर्व्वेषां बन्धूनां परित्यागः तेन, सर्व्ववन्धुपरित्यागपूर्व्वकमित्यर्थः ; सर्व्ववन्धूनां परित्यागो यत्र तादृशेन इति वा ।

(ट) शैथिल्यदर्शनात्—मन्दादरदर्शनात् ।

(ठ) अन्योऽन्यं—परस्परम् । चिन्तयतः,—भावयतः, मन्त्रयतः इति यावत् ।

तदाह दमनकः करटकम्,—“मित्र ! किमत्र (ङ) विधेयम्
आत्मकृतोऽयं दोषः । स्वयं कृतेऽपि दोषे (ट) परिदेवना
म्यनुचितम् । तथा चोक्तम्,—

स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा बद्धाऽऽत्मानञ्च दूतिका ।

आदित्सु मणिं साधुः स्वदोषाद्दुःखिता इमे” ॥११२॥

करटकं पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । दमनकः कथयति,—

राज-राजपुरुष-परिव्राजक-साधु-गोप-गोपवधू-नापित-नापितवधूकथा ।

“अस्ति काञ्चनपुरनाम्नि नगरे वीरविक्रमो नाम राजा
तस्य (ण) धर्माधिकारिणा कश्चिन्नापितो (त) बध्य-
नोयमानः कन्दर्पकेतुनाम्ना (थ) परिव्राजकेन साधुद्वितीयेन
“नायं बध्यः” इत्युक्त्वा वस्त्राञ्चले धृतः । राजपुरुषा ऊचुः,
“किमिति नायं बध्यः ?” । स आह,—“श्रूयताम् । स्वर्णरे-
महं स्पृष्ट्वा” इत्यादि पठति । ते आहुः,—“कथमेतत् ?”
परिव्राजकः कथयति,—“अहं सिंहलद्वीपस्य भूपतेर्जीमूतके-
पुत्रः कन्दर्पकेतुर्नाम । एकदा (द) केलिकाननावस्थितेन म

(ङ) विधेयं—कर्त्तव्यम् ।

(ट) परिदेवनं—विलपनम्, अनुताप इति यावत् ।

(११२) स्वर्णरेखामिति ।—अहं स्वर्णरेखां चित्रगतां तन्नामविद्याधरीप्रति-
स्पृष्ट्वा करेणावस्य, स्पर्शं कृत्वा इत्यर्थः, तथा दूतिका काचित् दूती च, आकाश-
बद्धा रज्जुसंयतां कृत्वा, साधुः कथित् परिव्राजकस्य, मणिं पुत्रविक्रयार्थ-
रत्नम् । आदित्सुः आदातुमिच्छुः, गृहीष्यन्नित्यर्थः, इति एते वयः, स्वर्ण-
आत्मकतापराधात्, दुःखिताः विषादमापन्नाः, सन्ति इति शेषः ।

(ण) धर्माधिकारिणा—धर्माधिकरणे नियुक्तेन, विचारकेण इत्यर्थः ।

(त) बध्यभूमिं—बधसाधनस्थानम् ।

(थ) परिव्राजकेन—सत्रासिना । साधुद्वितीयेन,—साधुः वणिक् ।
वस्य सः तेन वणिञ्चावसहायेन इत्यर्थः । वध्यः,—वधार्हः [अर्हार्थे वत्] ।
—वसनप्रान्ते । [अवच्छेदे सप्तमी] ।

(द) केलिकाननावस्थितेन—क्रोडोद्यानवर्तिना ।

(घ) पोतवणिङ्मुखात् श्रुतं यत्, 'अत्र समुद्रमध्ये चतुर्दश्याम्
 (न) आविर्भूतकल्पतरुतले (प) मणिकिरणावलीकर्बुरपर्यङ्के
 स्थिता सर्वालङ्कारभूषिता लक्ष्मीरिव वीणां वादयन्ती कन्या
 काचिद् दृश्यते' इति । ततोऽहं तं पोतवणिजमादाय
 (फ) पोतमारुह्य तत्र गतः । अनन्तरं तत्र गत्वा मया तथैव
 सा अवलोकिता । ततः (ब) तस्मावख्यगुणाऽऽकृष्टेन तत्पञ्चा-
 मयाऽपि भक्त्यो दत्तः । तदनन्तरं (भ) कनकपत्तनं प्राप्य
 सुवर्णप्रासादे तथैव सा पर्यङ्कस्था विद्याधरीभिः (म) अभिनव-
 यौवनाभिः उपास्यमाना मया अवलोकिता । तयाऽपि अहं
 दूरादेव दृष्ट्वा सखीं प्रस्थाप्य सादरं सम्भाषितः । ततस्तत्कथा
 च मया पृष्ठ्या (य) समाख्यातम्—“एषा कन्दर्पकलिनाम्नो
 (र) विद्याधरचक्रवर्तिनः पुत्री रत्नमञ्जरी नाम । अनया

(घ) पोतवणिङ्मुखात्—सांघाधिकवचनात्, अर्थवयानारोहणेन बाष्पिन्याद्ये
 शान्तरविचरणकारिणां सकाशात् इत्यर्थः । (“सांघादिकः पोतवणिक्” इत्यमरः) ।

(न) आविर्भूतकल्पतरुतले -- प्रकाशितकल्पवृक्षनिम्बे ।

(प) मणिकिरणावलीकर्बुरपर्यङ्के—मण्योनां पर्यङ्कनिबद्धरत्नानां, किरणावल्या
 पापटलेन, कर्बुरः विचित्रः, पर्यङ्कः खट्वा तस्मिन् ।

(फ) पोतं—वह्निवं, वृद्धाकारजलयानमित्यर्थः ।

(ब) तस्मावख्यगुणाऽऽकृष्टेन—तस्याः कन्यायाः, लावण्यं सौन्दर्यम् एव, गुणः
 रज्जुस्वरूप इत्यर्थः, तेन आकृष्टः तेन, तत्सौन्दर्यविमोहितचित्तेन इत्यर्थः ।
 कल्पितम्,—लम्पनम् ।

(म) कनकपत्तनं—सुवर्णमयीं पुरीम् । सुवर्णप्रासादे—सुवर्णनिर्मित-
 यौवे ।

(य) अभिनवयौवनाभिः,—चचिरोद्गतयौवनाभिः, तरुणोमिरित्यर्थः । उपास-
 नाना—सेव्यमाना ।

(य) समाख्यातम्—अभिहितम् ।

(र) विद्याधरचक्रवर्तिनः,—विद्याधरः देवयोनिविशेषः, तेषु चक्रवर्ती
 चक्रवर्तीभिः तस्य, विद्याधरजातीयराजमण्डलानां श्रेष्ठ इत्यर्थः ।

प्रतिज्ञातम्,—‘यः कनकपत्तनं स्वचक्षुषाऽऽगत्य पश्यति, स
 मां परिण्येयति’ इति । तदिमां (ल) गन्धर्वविधानेन परि
 भवान् ।” अथ (व) वृत्ते गन्धर्वविवाहे तत्र तथा स
 रममाणश्चिरं तिष्ठामि । ततः एकदा रक्षसि तथा उक्तम्
 ‘स्वामिन् ! स्वेच्छया सर्वमिदमुपभोक्तव्यम् ; किन्तु
 चित्रगता स्वर्णरेखा नाम विद्याधरी न कदाचित् स्पृष्टा
 ततः पश्चात् (श) उपजातकौतुकेन सा स्वर्णरेखा हस्तेन
 स्पृष्टा । तथा च चित्रगतयाऽपि अहं तथा कृत्वा चरण
 (ष) आहतः यथा आगत्य स्वराष्ट्रे पतितः । अतो दुःखाऽऽति
 प्रव्रजितः पृथिवीं परिभ्रमन् इमां नगरीमनुप्राप्तः । अ
 भतिक्रान्ते दिवसे गोपगृहे (स) सुप्तः सन् अपश्यत्,—
 (ह) प्रदोषसमये स गोपो (क) गोष्ठादागतः स्ववधूं दृष्ट्वा
 मन्त्रयन्तीमपश्यत् । ततस्तां गोपीं ताडयित्वा स्वभे बद्धा
 ततोऽर्चिरात्रे (ख) अस्य नापितस्य बधूदूती पुनस्तां गोपीं
 अवदत्,—‘तव वियोगानलदग्धोऽसौ स्मरशरजं
 सुमूर्धुरिव वर्त्तते । तथा चोक्तम्,—

(ल) गन्धर्वविधानेन—“इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वर
 गान्धर्वः स तु विज्ञेयः” इत्युक्तलक्षणकेन वरकन्ययोः परस्परमनुरक्तयोः
 विनिमयरूपविवाहविधिना इत्यर्थः ।

(व) वृत्ते—निष्पन्ने ।

(श) उपजातकौतुकेन—उपजातं कौतुकं कुतूहलं यस्य तेन
 क्रान्तेन ।

(ष) आहतः,—साहितः । स्वराष्ट्रे—निजराज्ये ।

(स) सुप्तः,—शयितः । (“स्वापः शयननिद्रयोः” इति मेदिनी) ।

(ह) प्रदोषसमये—रजनौमुखे, सायंकाले इत्यर्थः ।

(क) गोष्ठात्—गोचारणस्थानात् ।

(ख) अस्य नापितस्य—भवद्भिर्बधाय नोद्यमानस्य क्षुरिणः इत्यर्थः ।

रजनीचरनाथेन खण्डिते तिमिरे निशि ।

यूनां मनांसि विव्याध दृष्ट्वा दृष्ट्वा मनोभवः ॥ ११३ ॥

तस्य तादृशीमवस्थामवलोक्य परिक्लिष्टमनाः त्वाम्
(ग) अनुवर्त्तितुमागता । तदहमात्मानमत्र बद्धा तिष्ठामि, त्वं
तत्र गत्वा तं सन्तोष्य सत्वरमागच्छ ।' तथाऽनुष्ठिते सति स गोपः
प्रबुद्धोऽवदत्,—'इदानीं (घ) जारान्तिकं कथं न यासि ?' ।
ततो यदा सा दूतौ न किञ्चित् ब्रूते, तदा क्रुद्धो गोपः,—
दर्पात् मम वचनस्योत्तरमपि न ददासि ?' इत्युक्त्वा
(ङ) कर्त्तारिकामादाय तस्यास्तेन नासिका छिन्ना । तथा कृत्वा
पुनः सुप्तो गोपो निद्रासुपगतः । अथाऽऽगत्य सा गोपी दूतीम-
पृच्छत्,—'का (च) वार्त्ता ?' । दूती उवाच,—'पश्य, मम
मुखमेव वार्त्तां कथयति ।' अनन्तरं सा गोपी तथैव आत्मानं
बद्धाऽवस्थिता । इयञ्च दूती तां छिन्ननासिकां गृहीत्वा
निजगृहं प्रविश्य स्थिता । ततः प्रभाते अनेन नापितेन स्वबधूः
क्षुरभाण्डं याचिता सती सा अस्मै क्षुरभाण्डमदत्त्वा क्षुरमेकं
प्रादात् । ततः असमग्रभाण्डे प्राप्ते समुपजातकोपोऽयं नापितः
तं क्षुरं दूरादेव गृहे प्रक्षिप्तवान् । अथ (छ) कृताऽऽर्त्तनादेयं,—

(११३) रजनोति ।—निशि रात्रौ, रजनीचरनाथेन रजनीचरणां निशा-
विहारिणां, नाथेन प्रियेणेत्यर्थः, चन्द्रण, तिमिरे तमसि, खण्डिते विनाशिते सति,
मनोभवः कामः, यूनां तरुणानां, मनांसि चेतांसि, दृष्ट्वा दृष्ट्वा तेनैवालोकीन पुनः
पुनरवलोक्य, विव्याध विद्ववानिवेति योजना ।

(ग) अनुवर्त्तितुम्—अनुसरतुम्, अनुवर्त्तयितुमित्यर्थः । [अन्तर्भूतमित्यर्थः] ।
अनुनेतुमित्यर्थो वा । अनुरोधं कर्तुमित्यर्थो वा । ("अनुरोधोऽनुवर्त्तनम्" इत्यमरः) ।

(घ) जारान्तिकम्—उपपतिसमीपम् ।

(ङ) कर्त्तारिकां—"काटारी" इति ख्यातमस्त्रविशेषम् ।

(च) वार्त्ता—वृत्तान्तः, समाचारः इत्यर्थः ।

(छ) कृतासंज्ञा—कृतः आसंज्ञादः कातरभ्जनिः यया सा, उद्येः क्रन्दनी इत्यर्थः ।

‘विनाऽपराधेनानेन मम नासिका छिन्ना’ इत्युक्त्वा धर्माधि-
समीपमेनमानोतवतौ ।

सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच,—‘अरे पापा-
को मां (ज) महासतीं (झ) विरूपयितुं समर्थः ? मम
हारम् (ञ) अकल्पमष्टौ लोकपाला एव जानन्ति । यत्

आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च

द्यौर्भूमिरापो हृदयं यमश्च ।

अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये

धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम् ॥ ११४ ॥

यद्यहं परमसती स्यां, त्वां विहाय अन्यं न
पुरुषान्तरं स्वप्नेऽपि न हि भजे, तेन धर्मेण छिन्नाऽपि
नासिका (ट) अच्छिन्नाऽस्तु । मया त्वं भस्म कर्तुं शक्तेः

(ज) महासती—महापतिव्रताम् ।

(झ) विरूपयितुं—विकृतां कर्तुम् । (‘निरूपयितुम्’ इति पाठे—
मम नासिकां परिज्ञातुमित्यर्थः) ।

(ञ) अकल्पम्—निष्पापम् ।

(११४) लोकपालानां लोकव्यवहारज्ञत्वात् समर्थयितुं महा-
पर्वोदुष्यन्तीपाख्यानीकं श्लोकं प्रमाणयति, आदित्येति ।—आदित्यचन्द्रौ ह्य-
वनिलः वायुः, अनलः वाङ्मय, द्यौः आकाशं, भूमिः पृथिवी, आपः जलं,
चित्तं, यमः अन्तकश्च, अहः दिनश्च, रात्रिश्च निशा च, उभे सन्ध्ये सायं प्रातः
धर्मश्च सुकृतश्च आत्मा वा, (‘धर्मो आत्मा’ इति वाचस्पत्यम्) नरस्य
वृत्तं चरितं, जानाति वेत्ति । श्लोकोऽयं वीरमित्रादये व्यवहाराध्याये स्मि-
मन्तरूपेण लिखिताऽस्ति । तत्रास्य एवं कल्याणि निदिष्टः,—यदर्थं न भियुक्तः,
मन्त्रेणानेन सह पत्रे लिखित्वा भियुक्तस्य शिरसि संस्थाप्य प्राह्निषाक-
कारयेत् । तथाच—‘यमर्थं न भियुक्तः स्याद्विस्तृत्वा तन्तु पत्रके । मन्त्रेणानेन
तत्कार्यं शिरोगतम् ॥ मन्त्रश्च—‘आदित्यचन्द्रौ’ इत्यादि । उपजातिः इत्य-
(ट) अच्छिन्ना—अखण्डिता, यथावत् संस्थितेत्यर्थः, छिन्ना नासिका इति यावत् ।

किन्तु स्वामी त्वं, लोकभयादुपेक्षे त्वाम् । पश्य मन्मुखम् ।
ततो यावदसौ गोपः प्रदीपमानौय तस्याः मुखं पश्यति,
तावदक्षतं सुखमवलोक्य तच्चरणयोः पतितः,—‘धन्योऽहं,
यस्येदृशो भार्या परमसाध्वी’ इत्युवाच ।

योऽयमास्ते साधुरेतद्वृत्तान्तमपि शृणुत,—अयं स्वगृहा-
भिःसृतो (ठ) द्वादशभिर्वर्षैर्मलयोपकण्ठादिमां नगरीमागतः ।
अत्र च वेश्यागृहे सुप्तः । ततः कुट्टन्या गृहद्वारि स्थापितस्य
(ड) काष्ठघटितवेतालस्य मूर्द्धिं रत्नमंकमुत्कृष्टमास्ते । तद्गृहार्थ-
तृप्तेनानेन साधुना रात्रावुत्थाय (ढ) तत्र हस्तो दत्तः । तदैव
तंन वेतालेन (ण) सूत्रसञ्चारितेन बाहुभ्यां पौडितः सन्
आर्त्तनादं चकार । पश्चादुत्थाय कुट्टन्योक्तम्,—‘पुत्र !
(त) मलयोपकण्ठादागतोऽसि, तत् सर्व्वरत्नानि प्रयच्छास्ते,
नो चेदनेन न त्यक्तव्योऽसि, (थ) इत्यमेवायं चेटकः’ । ततोऽनेन
सर्व्वरत्नानि समर्पितानि । अधुना चायमपि (द) हृतसर्व्वस्वोऽस्मासु
मिलितः” ।

एतत् सर्व्वं श्रुत्वा राजपुरुषैः (घ) न्यायः (न) प्रवर्त्तितः ।

- (ठ) द्वादशभिर्वर्षैः,—द्वादशवर्षकालिन, द्वादशवर्षान् व्याप्य परिभ्रम्येत्यर्थः ।
(ड) काष्ठघटितवेतालस्य—काष्ठनिर्मितद्वारपालमूर्त्तः, मन्त्रविशेषमूर्त्तेश्च ।
(ढ) तत्र हस्तो दत्तः,—रत्नयुक्तपादं वेतालमस्तके हस्तः प्रसारितः ।
(ण) सूत्रसञ्चारितेन—रज्जुचालितेन ।
(त) मलयोपकण्ठान्—मलयपर्व्वतसमीपवर्त्तिनः प्रदेशान् ।
(थ) इत्यमेवायम्—एवमप्रकारनियमवानयम् । चेटकः,—दासः ।
(द) हृतसर्व्वस्वः,—हृतं नष्टं, सर्व्वस्वं सर्व्वधनं यस्य सः, क्षयितसर्व्वधनः ।
(घ) न्यायः,—उचितः, युक्तियुक्तविचारः इति यावत् ।
(न) प्रवर्त्तितः,—कृतः, अनुष्ठित इत्यर्थः । (“राजपुरुषेभ्योऽपि धर्म्माधिकारी
प्रवर्त्तितः” इति पाठे—राजपुरुषैः रक्षितैः, धर्म्माधिकारी विचारकैः, न्याये उचित-
विचारे, प्रवर्त्तितः बोद्धव्यः, राजपुरुषा विचारकैः न्यायविचारं कारितवन्त इत्यर्थः) ।

अनन्तरं (प) तेन नापितबधूर्मुण्डिता, गोपी शासिता, कुक्षं दण्डिता, साधोर्धनानि च प्रदत्तानि । अतोऽहं ब्रवामि,—
“स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा” इत्यादि ।

[इति राज-राजपुरुष-परिव्राजक-साधु-गोप्त-गोपवधू-नापित-नापितवधूकथा ।

यतः स्वयं कृतोऽयं दोषः, अत्र विलपनमनुचितम् ।” च
विमृश्य आह,—“मित्त ! (फ) सहसैव यथा अनयोः सौभाग्यं
मया कारितं तथा भेदोऽपि कार्यः । यतः,—

अतथ्यान्पि तथ्यानि दर्शयन्ति हि पेशलाः ।

समे निम्नान्नतानौव चित्रकर्मविदो जनाः ॥ ११५ ॥

अपरच,—उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते ।

स निस्तरति दुर्गाणि गोपी जारह्यं यथा” ॥ ११६ ॥

करटकः पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । दमनकः कथयति,—

(प) तेन—धर्माधिकारिणा । मुण्डिता—केशयुक्ता, तस्याः केशा
केशवपनं वा कारितम् इत्यर्थः ।

(फ) सहसा—उठात्, परिणाममविच्यैवेत्यर्थः ।

(११५) नासाध्यं हि नीतिकुशलानामिति वक्तुमाह, अतथ्यानीति ।—
कर्मविदः आलेख्यकाव्येनिपुणाः, जनाः लोकाः, समे समतले स्थाने, समतला
इत्यर्थः, निम्नान्नतानि गभीराश्चानि इव, पेशलाः चतुराः, नीतिकुशला इति
अतथ्यानि अतथ्यानि अपि, तथ्यानि सत्यानि, दर्शयन्ति बोधयितुं शक्नुवन्ति इति
दक्षशिवकरो यथा अङ्गनैपुण्येन समतलेऽपि पटे सुगभीरनदीनद्यादिसमवित्तं
सुगभीरमिव कृत्वा उत्तुङ्गपर्वतादियुक्तप्रदेशश्च चन्नतमिवाङ्घ्रित्वा प्रदर्शयति,
नीतिकुशलः खबुद्धिप्रभावेण असत्यं सत्यं सत्यप्राप्यसत्यं कृत्वा दर्शयितुं प्र
इति सरलायः ।

(११६) उत्पन्नेष्विति ।—यस्य जनस्य, मतिः बुद्धिः, कार्येषु कर्मसु, विप
कर्मसु इति यावत्, उत्पन्नेषु उपस्थितेषु अपि, विपद्बहुली कार्ये उपस्थिते स्वी
न हीयते न हीना भवति, न विचलति इत्यर्थः, सः जनः, गोपी काचित् गोप
जारह्यम् उपपतिष्य, यस्या यदत्, निस्तारयति शेषः, तथा दुर्गाणि दुःसं
प्राप्याणीत्यर्थः, दारुणानि दशान्तराणि इति यावत्, निस्तरति साधवोर्धनं

गोपी-तज्जारह्यकथा ।—

“अस्ति द्वारवत्यां पुर्यां कस्यचिन्नोपस्य बधूः (न) बन्धकी ।
सा ग्रामस्य (म) दण्डनायकेन तत्पुत्रेण च सह (म) रमते ।
तथा चोक्तम्,—

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां नापगानां महोदधिः ।

नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचना ॥ ११७ ॥

अथ,—न दानेन न मानेन नाऽऽर्जवेन न सेवया ।

न शस्त्रेण न शास्त्रेण विषमाः सर्वथा स्त्रियः ॥ ११८ ॥

महासङ्कटम् अपि उत्तीर्य स्त्रियां सम्पादयतीति सरस्वतीः, न हि किमपि
वसाध्यं मतिमतामिति भावः ।

(न) बन्धकी—कुलटा, व्यभिचारिणी इत्यर्थः ।

(म) दण्डनायकेन—ग्रामरक्षकप्रधानेन सैन्याध्यक्षेण वा ।

(म) रमते—क्रीडति, सम्भोगसुखमनुभवति इत्यर्थः ।

(११७) बहुनायकसंसर्गेऽपि असतीनां वृत्त्यभावं प्रमाणयितुं महाभारतीयोद्-
योगानुशासनपर्वद्वयोक्तमुपस्थापयति, नाग्निरिति ।—अग्निः अनलः, काष्ठानां दाहकां,
वह्निः इत्यनेनोक्त्यर्थः, न तृप्यति न प्रीणाति, काष्ठं सन्दृष्ट्वा प्रशमं न लभते
प्रत्युत प्रवृत्तो भवतीति भावः ; महोदधिः समुद्रः, आपगानाम् अपां समूहः
आपः जलसमूहः, तेन गच्छन्ति इति आपगाः तासां नदीनां, न, तृप्यति,
वह्नीभिरप्यापगाभिः न लब्धसि सदा एव असतीति भावः ; अन्तकः यमः,
सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां, सर्वैरपि भूतैरित्यर्थः, न तृप्यति न प्रीणाति, सर्वाण्येव
भूतानि मारयित्वाऽपि तस्य मारणशून्यता न प्रशमिता भवति इति भावः ; वामलोचना
वामे सुन्दरे, लोचने नयने यस्याः सा कामिनी, पुंसां पुरुषैरित्यर्थः, बहुपुरुष-
सम्भोगेऽपीति भावः, न, तृप्यति नित्यं नवं नवं पुरुषं कामयन्ते इति भावः । [सर्वत्र
“वृत्त्यर्थानां वा करणे” इति नियमात् करणे षष्ठी । क्रियासम्बन्धे षष्ठीति
पञ्चनामः । शेषे षष्ठीति पाणिनिः] ।

(११८) न दानेनेति ।—दानेन बहुधनप्रदानेन, स्त्रियः असत्यः इति यावत्,
न, तृप्यन्तीति शेषः, एवं सर्वत्र ; न वशीभूता भवन्तीति भावः, मानेन सम्मानेन,
सम्मानप्रदर्शनेनेत्यर्थः, न, आर्जवेन सरलव्यवहारेण, प्रियसम्भाषणादिनेति

यतः,—गुणाश्रयं कौर्त्तियुतञ्च कान्तं
 पतिं रतिञ्च सधनं युवानम् ।
 विहाय शीघ्रं वनिता व्रजन्ति
 नरं परं शीलगुणादहीनम् ॥ ११८ ॥

अपरञ्च,—न तादृशीं प्रीतिमुपैति नारी
 विचित्रशय्यां शयिताऽपि कामम् ।
 यथा हि दूर्वादिविकीर्णभूमौ
 प्रयाति सौख्यं परकान्तसङ्गात् ॥ १२० ॥

अथ सा कदाचित् दण्डनायकसुतेन सह रममाणा तिष्ठति
 अत्रान्तरे दण्डनायकोऽपि रन्तुं तत्रागतः । तम् आयातन्तं
 तत्पुत्रं (य) कुशूले धृत्वा दण्डनायकेन (र)समं तथैव क्रीडति

यावत्, न, सेवया आनुगत्वेन, गुणश्रयः, न, शस्त्रेण प्रहरणमिति शब्देन
 न, शास्त्रेण नीतिशास्त्रीपदशब्देन, विद्याशिक्षया वा न, दृश्यन्ति, अतः स्त्रियः सर्वथा
 सर्वथा सर्वतोभावेन, विषमाः दुराराधनीयाः इत्यर्थः ।

(११८) गुणेति ।—वनिता नायकः, गुणानाम् आश्रयं सर्वगुणानां
 कौर्त्तियुतं यशस्विनं, कान्तं सुशीलं, रतिञ्च रतिपण्डितं, सधनं धनवान्, युवानं
 तरुणम् अपि, पतिं भर्तारं, विहाय त्यक्त्वा, शीघ्रं सहसा, दर्शनसम्पत्तिं
 शीलगुणादहीनं दुश्चरितं निर्गुणं निधनं कुम्भितञ्च, परं पतीतरं, नरं
 कारमित्यर्थः, व्रजन्ति गच्छन्ति ; “स्त्रियाश्चरितं पुरुषस्य भाग्यं देवान् प्र
 कुतो मनष्याः ?” इति भावः । उपेन्द्रवत्त्वा वृत्तम् ।

(१२०) नेति ।—नारी रमणी, दूर्वादिविकीर्णभूमौ दण्डनायकसुतेन
 अरण्यमध्ये इत्यर्थः, परकान्तसङ्गात् उपपतिसम्बन्धेन, यथा सौख्यम् आनन्दं, प्र
 प्राप्नोति, विचित्रशय्यां गृहे मनोहरशयने, कामं यथेष्टं, स्वच्छन्दमित्यर्थः, श्रित
 [अनर्भूतशय्यां शीङ्गः क्तः] पत्या सहैति शेषः, तादृशीं पूर्वोक्तप्रकारं,
 सुखं, न हि उपैति नैव लभते ; स्त्रियाश्चरितं दुर्वोधमिति भावः । उपेन्द्रवत्त्वा

(य) कुशूले—धान्यादिरक्षार्थं निमित्ते पात्रविशेषे, “गोला” “गोला”
 इति प्रसिद्धे । धृत्वा—स्थापयित्वा, गोपयित्वा इत्यर्थः ।

(र) समं—सह ।

वती । अनन्तरं तस्या भर्ता गोपो गोष्ठात् समागतः । तमालोक्य गोप्योक्तम्,—“दण्डनायक ! त्वं लघुदं गृहीत्वा कीपं दर्शयन् सत्वरं याहि” । तथा (ल) अनुष्ठिते सति स गोप-स्तत्रागत्य भार्यां पृष्ठवान्,—“केन कारणेन दण्डनायकः समागतोऽत्र ?” । सा ब्रूते,—“अयं केनापि कारणेन पुत्रस्योपरि क्रुद्धः । स च पलायमानोऽत्राऽऽगत्य प्रविष्टः, मया कुशूले निक्षिप्य रक्षितश्च । तत्पित्रा च (व) अन्विष्यतां अत्र गृहे न दृष्टः, अतोऽयं कुपित एव गच्छति” । ततः सा तत्पुत्रं कुशूलात् (श) अवतार्य दर्शितवती । तथा च उक्तम्,—

आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा ।

षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥१२१॥

अतोऽहं ब्रवामि,—“उत्पन्नेष्वपि कार्येषु” इत्यादि ।

[इति गोपो-तज्जारक्षयकथा] ।

करटको ब्रूते,—“अस्वेवं, किन्त्वनयोर्महान् (ष) नैसर्गिकः सेहः कथं मेदयितुं शक्यः ?” । दमनक आह,—(स) “उपाय-श्चिन्तनीयः । तथा च उक्तम्,—

(ल) अनुष्ठिते—आचरिते, दण्डनायकेनेति शेषः ।

(व) अन्विष्यता—इतस्ततो निरूपयता, अनुसन्धयता इत्यर्थः ।

(श) अवतार्य—अवरोप्य, बहिष्कृत्येत्यर्थः ।

(१२१) लघुचाणक्योक्तं पुरुषापेक्षया नारीणां विशेषत्वं दर्शयति, आहार इति ।—स्त्रीणाम् आहारः भोजनं, द्विगुणः द्विरावृत्तः, तासां स्त्रीणां, बुद्धिः प्रज्ञा, चतुर्गुणा, व्यवसायः उद्यमश्च, कार्यसाधनचेष्टा च इत्यर्थः, चातुर्थ्यमिति यावत्, षड्गुणः, कामः रतीच्छा च, भोगवासना वा, अष्टगुणः स्मृतः कथितः, सर्वत्र पुरुषा-पेक्षया इति शेषः । (बृहद्वाणक्ये तु—“स्त्रीणां द्विगुण आहारो लज्जा चापि चतुर्गुणा । साहसं षड्गुणश्चैव कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥” इति पाठान्तरम्) ।

(ष) नैसर्गिकः,—स्वाभाविकः । मेदयितुं—विषटयितुम् ।

(स) उपायः,—साधनं, कार्यसाधनार्थकौशलम् इत्यर्थः ।

उपायेन हि यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः ।

काकः कनकसूत्रेण कृष्णसर्पमघातयत् ॥१२२॥

करटकः पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । दमनकः कथयति—

काकदम्पती-कृष्णसर्प-कनकसूत्रकथा ।—

“कस्मिंश्चित् तरौ (ह) वायसदम्पती निवसतः । तौ

(क) अपत्यानि तरुकोटरावस्थितकृष्णसर्पेण खादितानि ।

पुनर्गर्भवती वायसौ ब्रूते,—“स्वामिन् ! त्यज्यतामयं तरुः ।

यावत् (ख) कृष्णसर्पस्तावदावयोः (ग) सन्ततिः कदाचि-

न (घ) भविष्यति । यतः,—

दुष्टा भार्या शठं मित्रं मृत्युश्चोत्तरदायकः ।

ससर्पे च गृहे वासो मृत्युरेव न संशयः” ॥ १२३॥

(१२२) पराक्रमात् बुद्धेः प्राधान्यं दर्शयति, उपायेनेति ।—यत् काक्यम्, कौशलविशेषेण इत्यर्थः, शक्यं साध्यं, तत् पराक्रमैः शौर्थ्यैः, विक्रमप्रदर्शनेन इत्यर्थः । हि नैव, शक्यं साधयितुं पाथ्यम् । तत् दृष्टान्तेन दर्शयति, काक इति ।—वायसः, कनकसूत्रेण सुवर्णसूत्रेण, स्वर्णमयसूत्ररूपेण उपायेन इत्यर्थः, कृष्णसर्पे तोषयति । सर्पः, स्वावासतरुकोटरस्थम् अत एवातिभीषणमिति भावः ; अघातयत् विनाशयत् ।

(ह) वायसदम्पती—काकमिथुनम् । [जाया च पतियेति इमे “अशब्दस्य अभावो दम्भावश्च वा निपात्यते” इति दौक्षिताः । पक्षे अभावो नित्यद्विवचनान्तोऽयम्] ।

(क) अपत्यानि—शावकाः । तरुकोटरावस्थितकृष्णसर्पेण—तरुः तरुकोटरं रश्मिं, तस्मिन् अवस्थितः कृतावस्थानः, कृष्णसर्पः तेन, तरुविवरणादतिना कालसर्पेण ।

(ख) कृष्णसर्पः, तिष्ठतीति शेषः ।

(ग) सन्ततिः,—वंशः, पुत्रपौत्रादिः इत्यर्थः । (“सन्ततिः स्वात्तुः पारम्पर्ये च पुत्रयोः” इति मेदिनी) ।

(घ) भविष्यति—स्थास्यति, जीविष्यति इत्यभिप्रायः ।

(१२३) ससर्पगृहवासस्य अकृतं व्यले चाणक्योपदेशं प्रदर्शयति, दुष्टेति भार्या स्त्री, दुष्टा व्यभिचारिणी, तथा मित्रं सुहृत्, शठं वधकं, मृत्युः मृत्योः ।

वायसो ब्रूते,—“प्रिये ! न भेतव्यम् । वारं वारं मयैतस्य
(ङ) महाऽपराधः (च) सोढः, इदानीं पुनर्न क्षन्तव्यः ।” वाय-
स्याह,—“कथमनेन बलवता कृष्णसर्पेण सार्द्धं भवान्
(छ) विग्रहीतुं समर्थः ?” । वायसो ब्रूते,—“अलमनया
चिन्तया ? यतः,—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्वृद्धेस्तु कुतो बलम् ? ।

पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः” ॥१२४॥

वायस्याह,—“कथमेतत् ?” । वायसः कथयति,—

सिंह-शशककथा ।—

“अस्ति मन्दरनान्ति पर्वते दुर्दान्तो नाम सिंहः । स च
सर्वदा पशूनां बधं (ज) विदधान एवास्ते । ततः सर्वैः पशुभिः
(झ) मेलकं कृत्वा स सिंहो विजगत्,—“देव ! किमर्थं

उत्तरदायकः तुल्यभावेन प्रत्युत्तरप्रदायी, ससर्पे संपर्ग्युक्ते, गृहे भवने, वासः अवस्थितिः
च, भवेच्छेदिति शेषः, तदा सत्युरेव तत् एतत् सर्वं मरणकारणमेवेत्यर्थः, संशयः अत्र
सन्देहः, न, अस्तीति शेषः ; एषां परिग्रहे मरणमवश्यत्वावतीति भावः ।

(ङ) महाऽपराधः,—शावकविनाशरूपः महान् दोषः ।

(च) सोढः,—मर्षितः । [सङ् + क्तः] ।

(छ) विग्रहीतुं—धीतुं, विरोधं कर्तुमित्यर्थः ।

(१२४) चाणक्यवचनं प्रमाणीकृत्य बलाद्बुद्धेरधिक्वं दर्शयति, बुद्धिरिति ।—
वस्य जनस्य, बुद्धिः प्रज्ञा, अस्तीति शेषः, तस्य बलं वीर्यं, विद्यते इति शेषः, स
एव बलवानित्यर्थः, निर्वृद्धः बुद्धिहीनस्य तु, बलं कुतः ? न कुत्राप्यित्यर्थः ;
बलसत्त्वेऽपि दुर्बलवत् सर्वत्र पराभूतो भवतीति भावः ; तथाहि, मदोन्मत्तः मदगर्हितः,
बलवान् विजगत्प्राप्तिमानौ चेति भावः, सिंहः पशुराजः, शशकेन क्षुद्रेण गृगविशेषेण,
अतिदुर्बलेनापीति भावः ; निपातितः विनाशितः, बुद्धिप्रभावेणेति शेषः, पश्य एतत्
वक्ष्यमाणदृष्टान्तेन जानीहि ; मतिरेव बलाद्गरीयसीति भावः ।

(ज) विदधानः,—कुर्वाणः । [वि + धा + शानच्] ।

(झ) मेलकं कृत्वा—समैत्य, एकचित्तीभूय इत्यर्थः । विजगत्,—निवेदितः ।

(ज) सर्वपशुबधः क्रियते ? यदि (ट) प्रसादो भवति, तदा वयमेव भवदाहारार्थं प्रत्यहमेकैकं पशुम् (ठ) उपढौकयामः” । सिंहे नोक्तम्,—“यद्येतत् (ड) अभिमतं भवतां, तर्हि भवतु तत्” । (ढ) ततः प्रभृति प्रत्यहमेकैकं पशुम् (ण) उपकल्पितं भक्षन्नास्ते । अथ कदाचित् कस्यापि वृद्धशशकस्य (त) वारः प्राप्तः । ततः सोऽचिन्तयत्,—

“वासहेतोर्विनोतिस्तु क्रियते जीविताशया ।

पञ्चत्वं चेन्नमिष्यामि किं सिंहानुनयेन मे ? ॥१२५॥

तत् मन्दं मन्दमुपगच्छामि ।” ततः सिंहोऽपि (थ) चुषापोडितः कोपात् तमुवाच,—“कुतस्त्वं विलम्बादागतोऽसि ?” ।

(ज) सर्वपशुबधः,—युगपत् सर्वपशुनाशः ।

(ट) प्रसादः,—अनुग्रहः ।

(ठ) उपढौकयामः,—उपहारत्वेन प्रेरयामः ।

(ड) अभिमतम्—अभीष्टम् ।

(ढ) ततः प्रभृति—तस्मात् दिनादारभ्य । [“कार्त्तिक्याः प्रभृति” इति मत् प्रयोगात् प्रभृतियोगे पञ्चमी] ।

(ण) उपकल्पितम्—उपायनोक्तं, प्रेरितमित्यर्थः ।

(त) वारः,—पय्यायनियमः (पाला इति भाषा) । प्राप्तः,—उपकृतः ।

(१२५) समूर्धोः कुतो भयम् इत्याह, वासेति ।—जीविताशया जीवदणया, जीवनरक्षार्थमित्यर्थः, वासहेतोः भयकारणस्य, निघांसोः समीपे इत्यादि विनोतिः विनयः, क्रियते प्रदर्शयते इत्यर्थः, लोकोरिति शेषः, चेत् यदि, पशुं चतुः, गमिष्यामि प्राप्स्यामि, मरिष्यामि इत्यर्थः, अहमिति शेषः, तर्हि मे इत्यादि सिंहानुनयेन सिंहसमीपे विनयप्रकाशनेन, किम् ? किं फलम् ? न किमपीदं मरणे नियते सिंहसन्निधौ विनयप्रदर्शनस्य नास्ति किमप्यावश्यकमिति भावः ।

(थ) चुषापोडितः,—चुषया वुमुचया, पीडितः कातरः, अतीव दुःखी इत्यर्थः ।

शशकोऽब्रवीत्,—“देव ! नाहम् (द) अपराद्धः ; आगच्छन्
 पथि (ध) सिंहान्तरेण बलाद्धृतः । तस्याग्रे पुनरागमनाय
 (न) शपथं कृत्वा स्वामिनं निवेदयितुमत्रागतोऽस्मि” । सिंहः
 मकोपमाह,—“सत्वरं गत्वा मां दर्शय क्वासौ (प) दुरात्मा
 तिष्ठति ।” ततः शशकस्तं गृहीत्वा गभीरकूपसमीपमागतः ।
 तत्र आगत्य,—“स्वयमेव पश्यतु स्वामी” इत्युक्त्वा तस्मिन्
 कूपजले (फ) तस्यैव प्रतिविम्बं दर्शितवान् । ततोऽसौ
 (ब) दर्पाऽऽश्चातः तस्योपरि आत्मानं निक्षिप्य पञ्चत्वं गतः ।
 अतोऽहं ब्रवीमि,—“बुद्धिर्यस्य” इत्यादि ।

[इति सिंह-शशककथा] ।

वायसौ ब्रूते,—“श्रुतं मया, सम्प्रति यथा कर्त्तव्यं तद् ब्रूहि ।”
 वायसोऽवदत्,—“प्रिये ! अत्र (भ) आसन्ने सरसि राजपुत्रः
 सततमागत्य स्नाति, स्नानसमये तदङ्गात् (म) अवतारितं
 (य) तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चक्ष्वा धृत्वा आनीय अस्मिन्

(द) अपराद्धः,—कृतापराधः, दोषी इत्यर्थः । [अप + राध + क्तः] ।

(ध) सिंहान्तरेण—अन्यः सिंहः सिंहान्तरं तेन, अन्यसिंहेन ।

(न) शपथं—दिव्यम् ।

(प) दुरात्मा—दुर्हृत्तः, मन्दप्रभावः इत्यर्थः ।

(फ) तस्यैव—इदं नाम सिंहेत्येव । प्रतिविम्बं—प्रतिकृतिं, कूपजले
 प्रतिविम्बितां निजच्छायामिति यावत् ।

(ब) दर्पाऽऽश्चातः,—गर्वस्तौतः, अहङ्कारपूर्णः इत्यर्थः । (“क्रोधाश्चातो
 दर्पात्” इति पाठान्तरम्) । [आ + आ + क्तः] ।

(भ) आसन्ने—समीपस्थे ।

(म) अवतारितम्—उन्मीषितम् ।

(य) तीर्थशिलानिहितं—तीर्थे निपानं, जलावतारः इत्यर्थः, नद्यादौ अवरोह-
 षार्थं सीपानमिति यावत्, (“निपानागमयोस्तीर्थेष्वनुष्टम्बे गुरौ” इत्यमरः)
 तीर्थशिला पाषाणमवसीपानमित्यर्थः, तस्यां निहितं स्थापितम् ; यदा—सीपान-
 पार्श्वविशालप्रसारे न्यस्तम् ।

कोटरे (र) धारयिष्यसि” । अथ कदाचित् कनकसूत्रं (ल) दृष्ट्वा
संस्थाप्य स्नातुं जलं प्रविष्टे राजपुत्रे वायस्या तदनुष्ठितम् ।
(व) कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तैः राजपुरुषः तत्र कोटरे
(श) निरूप्यमाणः कृष्णसर्पे व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—
“उपायेन हि यच्छक्यम्” इत्यादि ।

इति काकदम्पती-कृष्णसर्प-कनकसूत्रका ।

करटक आह,—“यदि एवं तदा गच्छ, (घ) शिवास्ते
पत्न्याः ।” ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा प्रपद्यते
उवाच,—“देव ! (स) अत्याहितं मन्यमानो निवेदयिष्ये
मागतः । यतः,—

आपद्यन्मार्गगमने कार्यकालात्ययेषु च ।

कल्याणवचनं ब्रूयादपृष्टोऽपि हितो नरः ॥१२६॥

(र) धारयिष्यसि—निधापयिष्यसि, स्थापयिष्यसि इत्यर्थः ।

(ल) दृष्ट्वा—प्रक्षरे, प्रक्षरसोपाने इत्यर्थः ।

(व) कनकसूत्रानुसरणप्रवृत्तैः,—सुवर्णसूत्रान्वेषणार्थम् इतस्ततो विचरति ।

(श) निरूप्यमाणः,—निर्णीयमाणः, दृश्यमानः इत्यर्थः ।

(घ) शिवाः,—मङ्गलमयाः, निर्विघ्नाः इत्यर्थः ।

(स) अत्याहितम्—अतीव आघोयते स्म मनसि, अतीव आघोयते
तन्निवारणार्थं मनो दीयते अस्मिन् इति वा अत्याहितं महाभीतिं, विपत्कारणमित्यर्थः ।
प्राणहानिशब्दाकरमनर्थमिति यावत् [अति + आ + घा + क्तः । “अत्याहितं” इति
भीति कर्म जीवानपेक्षि च” इत्यमरः] ।

(१२६) “नापृष्टः कस्यचित् ब्रूयात्” इति निषेधे सत्यपि स्वस्य तदवस्थायां
समर्थयते, आपदीति ।—आपदि विपत्काले उपस्थिते सति, उन्मार्गगमने यत्काले
वक्ष्यन्ने, कार्यकालात्ययेषु च कर्तव्यकर्मसम्पादनस्य समये अतिबाहिते च सतीत्यर्थः ।
सर्वत्र प्रभोरिति शेषः, हितो नरः हितैषी जनः, अपृष्टोऽपि न निश्चासितोऽपि
कल्याणवचनं हितं वाक्यं, ब्रूयात् वदेत्, प्रभुमिति शेषः, हितमुपदिशेदित्यर्थः,
मयैतत् वक्तव्यमेव इति भावः ।

भोगस्य भाजनं राजा मन्त्री कार्यस्य भाजनम् ।

राजकार्यपरिध्वंसी मन्त्री दोषेण लिप्यते ॥ १२७ ॥

तथाहि पश्य, अमात्यानामेष (ह) क्रमः,—

वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वाऽपि कर्त्तनम् ।

न तु स्वामिपदावाप्तिपातकेच्छोरुपेक्षणम् ॥ १२८ ॥

पिङ्गलकः सादरं ब्रूते,—“अथ भवान् किं वक्तुमिच्छति ?” ।

दमनकः आह,—“देव ! अयं तावत् सञ्ज्ञौवकस्तवोपरि

(क) असदृशव्यवहारीव लक्ष्यते । तथा चास्मत्सन्निधाने स्वामिनः

(ख) शक्तिव्यनिन्दां कृत्वा राज्यमेवाभिलषति” । एतच्छ्रुत्वा

(१२७) भोगस्येति ।—राजा वृषतिः, भोगस्य सुशासितात् राज्यात् लब्धस्य सुखस्य, भाजनं पात्र, राजा सन्मन्त्रिणि कार्यभारं निश्चिष्य निरुद्देशेन भोगं मुञ्चानः कालमतिवाहयेदित्यर्थः, मन्त्रो मन्त्रणादायकः सचिवः, कार्यस्य यथाविधि राज्यपरिचालनादिव्यापारस्य, भाजनं, मन्त्रो एव शासनादिकं निखिलं राजकार्यं कुर्वन् इत्यर्थः, अतः राजकार्यपरिध्वंसी राजकर्त्तव्यः व्याघातकारी, राज्यशासन-कार्यमुपेक्षमाणः इत्यर्थः, मन्त्रो सचिवः, दोषेण कर्त्तव्यमनुष्ठानगणितेन पापेन, लिप्यते संस्पृश्यते ; राज्ञो राज्यस्य च काचित् विपत्तिर्भवेत् चेत् तत्र मन्त्री एव दोषभाक्, अतः अवश्यमेव मया हितं वक्तव्यमिति भावः ।

(ह) क्रमः,—कल्पः, नियम इत्यर्थः ।

(१२८) वरमिति ।—प्राणपरित्यागः मरणमपि, वरं श्रेयान्, वा अथवा, शिरसः सत्तकस्य, कर्त्तनं छेदनमपि, वरं, प्रभोः हितसाधनाय यदि प्राणपरित्यागोऽपि कर्त्तव्यः भवति, शिरोऽपि छिन्नं भवति, तदपि वरं मन्त्रे इत्यर्थः, तु किन्तु, स्वामिनः प्रभोः, पदस्य राजत्वस्य, अवाप्तिः प्राप्तिः, ग्रहणमित्यर्थः, राज्यलाभेच्छेति भावः, तदेव पातकं पापं, तत् इच्छति कर्त्तुम् आकाङ्क्षति यः तस्य प्रभुराज्यापक्षिणीर्षोर्विश्वास-पातकस्य, उपेक्षणम् उपेक्षा, तद्वशासनमित्यर्थः, न, वरमिति शेषः ; तादृशो हि मेवकः संप्रथा दण्डार्हं एवेति भावः ।

(क) असदृशव्यवहारीव—असदृशव्यवहारी अनुष्ठिताचारी, उल्लङ्घितभृत्यधर्मं एव यावत्, स इव तद्वत्, स्वामिद्रोहिणी यादृशः आचारः तद्वदाचरणशील इत्यर्थः ।

(ख) शक्तिव्यनिन्दां—प्रभाषीत्याहमन्त्रजात्यविशक्तेः कुत्सां, शक्तिव्यनिन्दां

पिङ्गलकः सभयं साक्षर्यं तूष्णीं स्थितः । दमनकः पुनराह-
 "देव ! (ग) सर्वांमात्यपरित्यागं कृत्वा एक एवायं यत्
 सकलकार्याधिकारे नियुक्तः, स एव महान् दोषः । यतः

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च

विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः ।

सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य

तयोर्द्वयोरैकतरं जहाति ॥ १२८ ॥

न्यूनतादुपमित्यर्थः । ("शक्तयस्मिन् प्रभावोत्साहमन्त्रजाः" इत्यमरः । तत्र कीर-
 त्वं प्रभुशक्तिः, विक्रमबलमुत्साहशक्तिः, सन्ध्यादीनां सामादोनाच्च यथाप्र-
 मत्तशक्तिः, पञ्चाङ्गमन्त्रो मन्त्रशक्तिर्वा इति) ।

(ग) सर्वांमात्यपरित्यागं कृत्वा—सकलान् मन्त्रिणः अनादृत्य इत्यर्थः ।

(१२८) एकस्मिन्नेवामात्ये सर्व्याधिकारप्रदानस्य दोषमाह, अत्युच्छ्रिते इति-
 श्रीः राजलक्ष्मीः, अत्युच्छ्रिते अत्याधिकामुन्नतिं लभमाने, अतिप्रवले इत्यर्थः, स-
 शक्तिसम्पन्ने इति यावत्, मन्त्रिणि सचिवे, पार्थिवे नृपे च, पादौ चरणौ, स-
 मन्त्रिणाय, एकैकं चरणमैकैकमिदं संस्थाप्य इत्यर्थः, उपतिष्ठते सेवते, मन्त्रिण-
 दावेव आराधयतीत्यर्थः, किञ्चरत्तन्म सभयमेव युगपदाश्रयतीति भावः ["सभय-
 पुशासङ्गतिकरण—" (वा०) इति पार्थिवस्य देवतांशत्वात् "उपतिष्ठते" इति
 आत्मनेपदम्] सा श्रीः, स्त्रीस्वभावात् स्त्रीजातिमुखमभापत्वात्, स्त्रीणां स्त्राणां
 पाटवाहा, भरस्य वयाश्रयरूपस्य भारस्य, सभयव पादौ संस्थाप्य अवस्थानक-
 र्त्वेत्यर्थः, [कव्योगात् कर्मणि षष्ठी] असहा न सहतीति [पचाद्यच्] इति
 तादृशं लेशभारं सोढुमसमर्थं सतीत्यर्थः, तयोर्द्वयोः मन्त्रिपार्थिवयोः, सभयोरैक-
 च्छ्रितत्वात् परस्परप्रभावमसङ्गित्तया वेनत्यनापन्नयोरिति भावः ; एकतरम्
 सभयोरमध्ये दुर्बलमिति यावत्, जहाति परित्यजति, प्रवले एव चरणौ सुदृढ-
 मुचिरं तिष्ठतीत्यर्थः ; दृश्यते च लोके एकस्मिन्नेवाश्रये पादौ संस्थाप्य युवा कीर-
 सुस्मिन् स्थातुं शक्नोति न तथा आश्रयद्वये, तेन हि टलच्चरणतया किञ्चरत्त-
 इति । यदा—स्त्रीस्वभावात् एकभर्तृशङ्करूपपरमणीजसुलभप्रकृतः
 अतिशयस्य, भर्तृदयाश्रयरूपस्य आतिशयस्य इत्यर्थः, ("भरोतिशयभावा-
 इति मेदिनी) असहा असमा सती, तयोर्द्वयोः एकतरं जहाति दुर्बलं पु-
 नः

अपरञ्च,—

एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रधानं यदा

तं मोहाच्छ्रयते मदः स च मदाऽऽलस्येन निर्भिद्यते ।

निर्भिन्नस्य पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रसृहा

स्वातन्त्र्यसृहया ततः स नृपतेः प्राणान्तिकं द्रुहति ॥१३०॥

नृषवन्तमेव भक्तारं विदधाति इत्यर्थः ; यदुक्तं,—“स्त्रीभिः षष्ठ इव श्रीभिः दुर्वचः परिसूयते” इति । उभयायत्तसिद्धिर्हि राज्ञां दोषाय भवति, अतः अत्युच्छ्रितेन पार्थिवेण भवता एकस्मिन्नेव सचिवे सर्वकर्मभारापंशात् तस्य अत्युच्छ्रितत्वमप्यादनं कृत्वा न युक्तमाचरितम् ; तेन हि तवापि अत्याहितं भवितुमर्हति इति भावः ।

“श्रीः राजलक्ष्मीः, अत्युच्छ्रिते अत्युन्नते कार्यक्षमे च, मन्त्रिणि सचिवे, पार्थिवे च पादौ विष्टभ्य स्थापयित्वा, उपतिष्ठते उच्छ्रयति, उल्लिता भवति, उत्तिष्ठतीत्यर्थः, ऊर्ध्वोत्थितौ हि अत्युच्चालम्बनमेव हेतुः, तद्विना ऊर्ध्वोत्थानासम्भवादिति भावः”

प्रति पूर्वाह्णव्याख्यायां तर्कवाचस्पतिपादाः । श्लोकोऽयं मुद्राराक्षसस्य चतुर्थेऽङ्के उभयायत्तसिद्धेर्दोषप्रदर्शनाय सन्निवेशितः कविना । उपजातिः वृत्तम् ।

(१३०) एकमिति ।—भूमिपतिः राजा, यदा राज्ये राष्ट्रे, एकम् एकमात्रं, मन्त्रिणं सचिवं, प्रधानं सर्वकार्याधिकारिणं सर्वश्रेष्ठञ्च, (“प्रधानम्” इत्यत्र “प्रमाणम्” इति पाठे—प्रसातरं, सर्वकार्यनिर्णायकम् इत्यर्थः) करोति विदधाति, यदा तं सचिवं, मोहात् अविद्यावशात्, अहं प्रधानमित्यभिमानवशादित्यर्थः, मदः गर्वः, मोहत्यमिति यावत्, अग्रते आग्रयते, अवलम्बते इत्यर्थः, स मदाम्बो भवति इति भावः ; स च सचिवः, मदालस्येन को हि मत्तुल्यः गुणवान् शक्तिमांशान् राष्ट्रे, कथं वा अहं अत्योचितं अमसाध्यं कर्म करोमि, इत्येवं गर्वोद्धूतेन अमवेमुल्लेखेनेत्यर्थः, निर्भिद्यते नितरां भेदमाप्नोति, राजसकाशादूरभवतिष्ठते इत्यर्थः, निर्भिन्नस्य भेद-मापन्नस्य, तस्य सचिवस्य, हृदये मनसि, स्वतन्त्रसृहा स्वाधीनतालालसा, पदं स्थानं, करोति, स च स्वाधीनी भवितुं यतते इत्यर्थः, ततः तदनन्तरं, स्वातन्त्र्यसृहया स्वाधीनतालामेच्छया, सः सचिवः, नृपतेः राज्ञः, प्राणान्तिकं जीवनपथ्यन्तं, द्रुहति हेटि, प्रभुं हत्वाऽपि राज्याधिकारं कर्तुमिच्छति इत्यर्थः ; [“नृपतेः प्राणान्तिकं द्रुहति” इत्यत्र “क्रुधद्रुहेष्वाम्भ्यासाणां यः प्रति कीपः” (१।४।३७ पा०) इत्यनेन द्रुहेः प्रथोने नृपतेः कथं न सम्प्रदानता इति चेत् उच्यते,—अत्र द्रोहे स्वातन्त्र्यसृहाया एव आरम्भेनोपादानात् कीपप्रभवत्वाभावेन न सम्प्रदानत्वमिति] । मन्त्रिषु निर्भरत्वं

हि—१८

तथा चीकम्,—विषदिग्धस्य भक्तस्य दन्तस्य चलितस्य च ।

अमात्यस्य च दुष्टस्य मूलादुद्धरणं सुखम् ॥१३१॥

किञ्च,—यः कुर्व्यात् सचिवाऽऽयत्तां श्रियं तद्व्यसने सति ।

सोऽन्धवज्रगतौपालः सीदेत् सञ्चारकेर्विना ॥१३२॥

स च सर्वकार्येषु (घ) स्नेच्छातः प्रवर्तते । तदत्र (ङ) स्वामी प्रमाणम् । एतच्चाहं जानामि (च) कार्यतः,—

न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम् ।

परस्य युवतीं रम्यां साकाङ्क्षं वीक्षते न कः ? ॥१३३॥

हि राज्ञां सर्वस्वान्तकारम् इति भावः । आर्द्धूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

(१३१) विधेति ।—विषदिग्धस्य विषमिश्रितस्य, भक्तस्य अप्रस्य, चलिन्मिथिलमूलवन्धनस्य, दन्तस्य दशनस्य च, दुष्टस्य दुर्नृत्यस्य, पिशितमापन्नस्य इत्येव, अमात्यस्य मन्त्रिणस्य, मूलात् मूलदेशात्, समूलमिच्छार्थः, उद्धरणम् उच्चारणं, सर्वत्र परित्याग इत्यर्थः, सुखं सुखदायकं, श्रेय इति यावत् ; समूलवधोऽर्थः श्रद्धाघननं विधेयमिति भावः ।

(१३२) य इति ।—यः राजा, श्रियं राजलक्ष्मीं, सचिवायत्ताम् पश्यन् धीनां, मन्त्रिहस्तगताम् इत्यर्थः, मन्त्रिणि एव निखिलकर्मभारमनपंशादिति भावः, कुर्व्यात् विदध्यात्, स जगतौपालः महीपतिः, तद्व्यसने तस्य मन्त्रिणः, मरणाद्यापि स्वामिन्द्रीहादिदोषे वा उपस्थिते सति, सञ्चारकैः चाहर्षितः अन्धवत् अन्ध इव, सीदेत् अवसादमाप्नुयात्, कर्तव्यविमूढतया राज्यपरिचर्ये नितरामशक्तो भवेदित्यर्थः ; ऐश्वर्यमिच्छुना राज्ञा आत्मनिर्भर एव कर्तव्य इति भावः ।

(घ) स्नेच्छातः,—स्वामिप्रायानुसारात्, राजादेशमनपेक्ष्यैवेति भावः ।

(ङ) स्वामी प्रमाणं—प्रमाता, कर्तव्यावधारकः इत्यर्थः, स्वामिने रोचते तत् क्रियताम् इति यावत् ।

(च) कार्यतः,—कार्यवशात्, दीर्घकालकार्यकरणजनितप्रज्ञावलादित्यर्थः ।

(१३३) नेति ।—लोके जगति, यः पुरुषः, श्रियं लक्ष्मीं, समूलवधोऽर्थः न कामयते न इच्छति, सः तादृशः, पुरुषः न अस्ति न विद्यते, तथाहि, जनः, परस्य अन्यस्य, रम्यां सुन्दरीं, युवतीं तरुणीं, भार्यामिति शेषः, सख्यं, सखीनुपमित्यर्थः, न वीक्षते ? न पश्यति ?, सुन्दरी युवतिरिव सती

सिंहो (छ) विमृश्याऽऽह,—“भद्र ! यद्यपि एवं, तथाऽपि सस्त्रीवक्त्रेन सह मम महान् स्नेहः । पश्य,—

कुर्वन्नपि व्यस्त्रीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः ।

अशेषदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः ? ॥ १३४ ॥

अथ,—अप्रियाख्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः ।

दग्धमन्दिरसारोऽपि कस्य वज्रावनादरः ? ॥ १३५ ॥

दमनको वदति,—“देव ! स एवातिदोषः । यतः,—

यस्मिन्नेवाधिकं चक्षुरारोपयति पार्थिवः ।

सुतेऽमात्येऽप्युदासीने स लक्ष्म्याऽऽश्रीयते जनः ॥ १३६ ॥

कामुकान् विदधाति राजलक्ष्मीरिति भावः ।

(छ) विमृश्या—क्षणं विचिन्त्य ।

(१३४) कुर्वन्निति ।—यः जनः, प्रियः प्रीतिभाजनं, सः व्यस्त्रीकानि अप्रियाणि, अनिष्टानि इत्यर्थः, कुर्वन् आचरन्नपि, प्रियः एव प्रकृत्या प्रीतिभाजनम् एव, वर्तते इति शेषः, न कदाचिदप्रियो भवति इत्यर्थः; तथाहि, अशेषाः बहुविधाः, दोषाः रोगादयः, तैर्दुष्टोऽपि दूषितोऽपि, विविधदुःखजनकोऽपि इत्यर्थः, कायः शरीरं, कस्य जनस्य, न वल्लभः ? न प्रियः ? प्रत्युत सर्वस्यैवेत्यर्थः; आत्मशरीरवत् अपरित्यज्यः खलु प्रियजन इति भावः ।

(१३५) अप्रियाणीति ।—यः जनः, प्रियः प्रीतिभाजनं, स्नेहपावनित्यर्थः, स अप्रियाणि अहितानि, कुर्वाणोऽपि आचरन्नपि, प्रियः एव प्रीतिभाजनमेव, वर्तते इति शेषः, तथाहि, दग्धः भस्मीकृतः, मन्दिरसारः उत्कृष्टगृहं गृहस्थमहामूर्खद्रव्य-समूहो वा येन तादृशोऽपि, वज्रैः अग्नौ, कस्य जनस्य, अनादरः ? अशुद्धा ? सर्वेदिति शेषः, वज्रेरिव प्रियजनस्यापि अप्रियाचरणम् उपेक्षणीयम् इति भावः ।

(१३६) यस्मिन्निति ।—पार्थिवः राजा, सुते पुत्रे, अमात्ये सचिवे, तथा उदासीनेऽपि असम्पृक्ते वा, सम्पर्काश्रये वेत्यर्थः, यस्मिन्नेव जने, अधिकम् अतिरिक्तम्, अन्वेभ्यो विशिष्टं यथा तथेत्यर्थः, सस्नेहमिति यावत्, चक्षुः आरोपयति निक्षिपति, यमेव प्रसन्नयनेन पश्यतीत्यर्थः, स जनः, सुतादीनामन्यतम इत्यर्थः, लक्ष्म्या श्रिया, राजलक्ष्म्या इत्यर्थः, आश्रीयते आलम्बयते, सेव्यते इत्यर्थः, राजप्रियो हि सम्पन्नो भवतीति भावः ।

शृणु देव!—

अप्रियस्यापि पथ्यस्य परिणामः सुखावहः ।

वक्ता श्रोता च यत्राऽऽस्ते रमन्ते तत्र सम्पदः ॥ १३७ ॥

त्वया च (ज) मूलभृत्यान् (झ) अपास्य अयम् (ञ) आगन्तुकः
(ट) पुरस्कृतः । एतच्च अनुचितं कृतम् । यतः,—

मूलभृत्यापराधेन नागन्तून् प्रतिपालयेत् ।

नातः परतरो दोषो राज्यभेदकरो यतः” ॥ १३८ ॥

(१३७) प्रियाहं राज्ञि अप्रियनिवेदनस्य हेतुनाह, अप्रियस्यापीति—
अप्रियस्य श्रुतिकटुत्वात् आपाततः अनभिमतस्यापि, पथ्यस्य हितस्य, [“पथ्यर्थन्यायादनपेते” (४।४।२२ पा०) इति पथिन्शब्दान् यत्प्रत्ययः] वाक्ये
शेषः, परिणामः परिणतिः, शेषफलमिति यावत्, सुखावहः सुखप्रदः, महात्मा
अप्रियनपि परिणामे सुखहेतुत्वात् याज्ञं भवता इति भावः । ननु क्व
उपदेशदानानहः ? कथं वा वाक्यं ते श्रोष्यामीति राज्ञोऽनभिमतमाशङ्क्य तम्
कुलयति, वक्षेति ।—यत्र स्थाने, वक्ता अप्रियस्यापि पथ्यस्य उपदेशकः इत्यर्थः,
तथा श्रोता तादृशवाक्यस्य श्रवणकर्त्ता च, हितोपदेशश्रुतीता च इत्यर्थः, यत्र
विद्यते, तत्र सम्पदः सर्वैश्वर्याणि, रमन्ते क्रीडन्ति, स्वेच्छया उपगम्य प्रीत्या विहरन्ति
इत्यर्थः, यतः हितोपदेशः मम वाक्यं श्रोतव्यमिति भावः । (“सुखमः पुनः
राजन् ! सततं प्रियवादिनः । अप्रियस्य तु पथ्यस्य परिणामः सुखावहः
इति भारतीयोगपर्वीयः पाठः) ।

(ज) मूलभृत्यान्—कुलक्रमागतान् सेवकान्, विश्वस्तप्राचीनानाम्
इति यावत् ।

(झ) अपास्य—त्यक्ता, स्वस्वाधिकारात् अपसार्य इति यावत् । [सप्त
असतेः ल्यप्] ।

(ज) आगन्तुकः,—नवागतः, अज्ञातकुलशील इति यावत् ।

(ट) पुरस्कृतः,—सम्मानितः, विश्वस्तपुवृद्धा सर्वकार्ये नियुक्तः इत्यर्थः ।

(१३८) मूलैति ।—मूलभृत्यापराधेन मूलभृत्यानां कुलक्रमागतसेवकानां
अपराधेन दोषेण, अपराद्धोऽयं नाधिकारं स्थापयितव्य इति वृद्धा इत्यर्थः, यावत्
कृतवित् समागतान्, अपरिचितान् इत्यर्थः, न प्रतिपालयेत् न नियोजयेदिति

सिंहो ब्रूते,—“महदाश्चर्यम् !! यत् मयाऽयमभयवाचं
दत्त्वा आनीतः (ठ) संवर्द्धितश्च, तत् कथं (ड) मच्चं दृष्टवति ?” ।

दमनको वदति,—“देव !—

दुर्जनो नाऽऽर्ज्वं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः ।

खेदनाभ्यञ्जनोपायैः श्वपुच्छमिव नामितम् ॥ १३८ ॥

अपरश्च,—खेदितो मर्दितश्चैव रज्जुभिः परिवर्षितः ।

मुक्तो द्वादशभिवर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः ॥ १४० ॥

यतः यस्मात् कारणात्, अतः अस्मात् आगन्तुकनिधीजनात्, आगन्तुप्रतिपालन-
मपेक्ष्येत्यर्थः, परतरः श्रेष्ठतरः, राज्यभेदकरः रहस्यप्रकाशनेन राज्यनाशकः, दोषः
दूषणं, न, अस्ति इति शेषः, (“नातःपरतरोऽन्योऽस्ति राज्यभेदकरो यतः” इति
पाठान्तरम्) “सकलं नूतनं शर्त्तं सेवकाभ्रे पुरातने” इति मन्त्रव्यभिक्ति भावः ।

(ठ) संवर्द्धितः,—अभ्युदय प्रापितः ।

(ड) मच्च—मामित्यर्थः । [“क्रुधद्रुहेप्यां—”(१।४।३७ पा०) इति
सखदानाशतुर्थी] । दृष्टवति—विरुणद्धि, जिघांसति इत्यर्थः ।

(१३८) दुर्जन इति ।—दुर्जनः खलः, नित्यशः प्रतिदिनं, चिरमिति यावत्,
सेव्यमानः आराध्यमानोऽपि, विविधापचारेण सन्तोष्यमाणोऽपि इति यावत्, खेदनानि
तापनानि, अभ्यञ्जनानि तैलादिमर्दनानि, तान्येव उपायाः आर्जवसाधनानीत्यर्थः,
तैः नामितं प्रह्वीकृतं, श्वपुच्छं कुकुरलाङ्गूलम् इव, आर्ज्वं सरलतां, न याति न
लभते, खभावकुटिलं कुकुरलाङ्गूलं सेकाभ्यङ्गादिभिर्विवर्षैरुपायैरपि यथा सरलं
न भवति, तथा दुर्जनोऽपि बहुश्वैरपि प्रकृतिं न मुञ्चतीत्यर्थः ।

(१४०) खेदित इति ।—श्वपुच्छः कुकुरलाङ्गूलम्, [“अर्द्धशांः पुंसि च”
(१।४।३१ पा०) इति अर्द्धशांदिगणे पाठात् पुच्छशब्दस्य पुल्लिङ्गप्रयोगोऽपि
समीचीन एव । अत एवामरः,—“पुच्छोऽस्त्री लूमलाङ्गूले बालकस्य बालधिः”
इति] खेदितः तापितः, मर्दितः पीडितः, तैलादिभिरभ्यक्त इत्यर्थः, तथा
रज्जुभिः दामाभिः, परिवर्षितः बद्धश्च, द्वादश वर्षानां भावः, द्वादशभिः वर्षैः
शतश्वत्सरानन्तरं, बहोः कालान्तरमपीत्यर्थः, मुक्तः एव रज्जुबन्धनात् श्रियलोकगतः
एव, बन्धनविमुक्तिसमकालमेव, न तु किञ्चिद्विलम्बमिति भावः ; प्रकृतिं स्वभाव-
वक्रतां, गतः प्राप्तः, भवेदिति शेषः ; “स्वभावो दुरतिक्रमः” इति भावः ।

अन्यच्च,—वर्द्धनश्चाथ सम्मानः खलानां प्रीतये कुतः ?

फलन्यमृतसेकेऽपि न पथ्यानि विषद्रुमाः ॥ १४१ ॥

पश्य,—

यः स्वभावो हि यस्यास्ति स तेन दुरतिक्रमः ।

श्वा यदि क्रियते राजा स किं नाश्नात्युपानहम् ? ॥ १४२ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि,—

अपृष्टोऽपि हितं ब्रूयात् यस्य नेच्छेत् पराभवम् ।

एष एव सतां धर्मो विपरीतमतोऽन्यथा ॥ १४३ ॥

तथा च उक्तम्,—

(१४१) वर्द्धनमिति ।—वर्द्धनम् अन्नवस्त्रादिना पोषणम्, अथ वाक्प्राप्तौ सम्मानः समादरश्च, (“चाथ” इत्यत्र “वाऽथ” इति पाठे—वाऽथ अथवा इत्यर्थः) खलानां क्रूरप्रकृतीनां, प्रीतये सन्तोषाय, कुतः ? भवतीति शेषः, दानमात्रात् खलानां प्रीतिं सम्पादयितुं न कोऽपि प्रभवतीत्यर्थः, तथाहि, अमृतसेके सुधासिञ्चने कृतेऽपि, अमृतेन अभिषिक्ताः अपीत्यर्थः, विषद्रुमाः विषहृत्वा, एषां हितानि, सुफलानि इत्यर्थः, न फलन्ति न उत्पादयन्ति ; दुराराधनीया इति भावः ।

(१४२) प्रकृतेः दुस्वजत्वं दर्शयति, य इति ।—यस्य प्राणिनः, यः शास्त्रे स्वभावः प्राक्संस्कारानुसारिणी प्रकृतिः, अस्ति वर्तते, सः तादृशः स्वभावः, तादृशं प्राणिना, हि निश्चयेन, दुरतिक्रमः दुर्लभः, दुस्वज इत्यर्थः । तदेव दृष्टं विगद्यति चेति ।—श्वा सारमेयः, यदि राजा क्रियते, कैश्चित् इति शेषः, श्वा, किम् उपानहं चमेपादुकां, न अश्नाति ? न भक्षयति ?, अपि तु भक्षयति स्वभाववत्तयः दुस्वजाः इत्याशयः ।

(१४३) अपृष्ट इति ।—यस्य जनस्य, पराभवं पराजयम्, अमृतसेके यावत्, न इच्छत् न प्राथयेत्, यस्य हितकामो भवेदित्यर्थः, अपृष्टः अजिज्ञासितो हितं पथं, मत्पदंशमित्यर्थः, ब्रूयात् उपदिशत्, तं हितं वीति शेषः, अपृष्ट इत्यत्र एव, सतां माधूनां, धर्मः आचारः स्वभावा वा, अतः एतस्मात्, वैपरीत्यं, विपरीतं विरुद्धम्, अधर्म इत्यर्थः, अतोऽधर्मभीरुणा मयेतत् इति भावः ।

स स्निग्धोऽकुशलान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं
 सा स्त्री याऽनुविधायिनो स मतिमान् यः सङ्ग्रह्यर्चते ।
 सा श्रीर्या न मदं करोति स सुखी यस्तृष्णया मुच्यते
 तन्मित्रं यदक्लृप्तमिदं स पुरुषो यः खिद्यते नेन्द्रियैः ॥१४४॥
 यदि (ठ) सञ्जीवकव्यसनार्दितो विज्ञापितोऽपि स्वामी
 (ण) न निवर्तते, तदा भृत्यस्य न दोषः । तथा च,—
 नृपः कामासक्तो गणयति न कार्यं न च हितं
 यथेष्टं स्वच्छन्दः प्रविचरति मत्तो गज इव ।

(१४४) स इति ।—यः जनः, अकुशलात् अशुभात्, आपदः इत्यर्थः, अहिता-
 हितयो वा, निवारयति निवर्तयति, परित्रायते इति यावत्, सः स्निग्धः वत्सलः,
 वेदपरायण इत्यर्थः, हितैषीति यावत्, यत् कर्म, निर्मलं दोषस्पर्शशून्यं, पवित्र-
 मित्यर्थः, तत् एव कर्म, या स्त्री, अनुविधायिनो अनुवर्तिनी, पत्युः अनुकूल-
 चारिणीत्यर्थः, पतिच्छन्दानुवर्तिनीति यावत्, सा एव स्त्री मायापदवाच्या, यः
 जनः, सङ्ग्रहः विद्वद्भिः, अभ्यर्च्यते पूज्यते, आद्रियते इत्यर्थः, स एव मतिमान्
 बुद्धिमान्, मतिमत्त्वया गणनीय इत्यर्थः, या श्रीः, मदं गर्व, न करोति न जनयति,
 सा एव श्रीः सम्पत्, अविकारजननी सम्पदेव सम्पत्पदवाच्या इत्यर्थः, यः जनः,
 वृषया सक्तललात्सया, मुच्यते त्यज्यते, न अभिमूयते इत्यर्थः, स विद्वन्मो जनः
 एव, सुखी सुखभाक्, यत् मित्रम्, अक्लृप्तमिदं स्वाभाविकम्, अकपटमित्यर्थः,
 तत् एव मित्रं सुहृत्, सुहृत्पदवाच्यामित्यर्थः, यः पुरुषः, इन्द्रियैः चक्षुरादिभिः,
 उपरसादिभिरिन्द्रियार्थैरिति यावत्, कामादिभिरिन्द्रियजनविकारैर्वा, न खिद्यते
 न क्लियते, न वशीक्रियते इत्यर्थः, सः एव पुरुषः पुरुषश्रेष्ठत्वेन गणनीय इत्यर्थः ।
 सर्वत्र तच्छब्दस्य प्रशस्ततायः । ग्राह्यत्वविक्रीडितं वृत्तम् ।

(ठ) सञ्जीवकव्यसनार्दितः,—सञ्जीवके शब्द व्यसनम् आसक्तिः, यद्वा—सञ्जीवक
 एव व्यसनं पापः, सञ्जीवकात् यत् व्यसनं विपत्तिः इति वा, (“व्यसनन्त्वशुभे सक्तो
 पापस्त्रोषगथादिषु । देवान्ष्टफले पापे विपत्तौ निष्कलौघम्” इति मेदिनी) तेन
 अर्दितः पीडितः, सञ्जीवकामक्तः सञ्जीवकरूपपापकान्ता वा सञ्जीवकात् विपन्नो वा ।

(ण) न निवर्तते—सञ्जीवकं प्रति विश्वासात् न विरमात ।

(१४५) नृप इति ।—कामासक्तः विषयासक्तः, नृपः राजा, कार्यं

ततो मानघातः स पतति यदा शोकगह्वरे

तदा मृत्ये दोषान् क्षिपति न निजं वेत्यविनयम् ॥१८॥

पिङ्गलकः स्वगतम्,—

“न परस्यापवादेन परेषां दण्डमाचरेत् ।

आत्मनाऽवगमं कृत्वा बध्नीयात् पूजयेत वा ॥१८॥

तथा चोक्तम्,—

गुणदोषावनिश्चित्य विधिना ग्रहनिग्रही ।

स्वनाशाय यथा न्यस्तो दर्पात् सर्पमुखे करः” ॥१८॥

स्वकसंख्यं, न, हितं हितकरं विषयश्च वचनश्च वा, न गणयति न विचारति इदं कार्यमिदमकार्यमिदं हितमिदमहितमित्यादिकं न विवेचयति प्रत्युत मत्तः मदोत्कटः, गण इव करो इव, स्वच्छन्दः निवरणः सन्, भावेनेत्यर्थः, यथेष्टं यथाभिप्रेतं, प्रविचरति आचरति, गणपक्षे—सर्पदि, पश्चात्, मानघातः गर्वाभिभूतः, अहङ्कारपरिपूर्ण इत्यर्थः, स नृपः, यदा तदा शोकगह्वरे स्वैराचारात् दुष्प्रतीकारायां विपदि, राज्यनाशादिजन्यदुःखे पतति निश्चिन्तो भवति, विपन्नो भवतीत्यर्थः, तदा तत्काले, मृत्ये दोषान् आत्मनः विपत्तिजन्यापराधान्, क्षिपति अर्पयति, आरोपयतीत्यर्थः, स्वकीयम्, अविनयम् असदाचरणं, न वेत्ति न जानाति, न स्मरतीति कामार्ताः खलु हिताहितविचारमूढाः भवन्तीति भावः । शिखरिणी इत्यम् ।

(१८६) नेति ।—परस्य स्वैतरस्य, अपवादेन निन्दावाक्येन, यदा दोषारोपणेन इत्यर्थः, परेषाम् अन्येषां, दण्डं शार्ङ्गं, न आचरेत् न आत्मना स्वयम्, अवगमम् अनुसन्धानं, कृत्वा किमयं दुष्टोऽदुष्टो वेति शङ्के बध्नीयात् दण्डयेदित्यर्थः, वा अथवा, पूजयेत सम्मानयेत्, स्वयम् आचरणं दण्डाय दण्डं सम्माननाऽहंस्य सम्मानं कुर्यादित्यर्थः, तथा च स्वयमवगमं सञ्जीवकस्य दण्डो न विधेय इति भावः । (“न परस्य प्रवादेन परस्य दण्डयेत् पागमानुगमं कृत्वा बध्नीयान्मोक्षयेत वा ॥” इति भारतशान्तिपर्वोपरपञ्चमोक्तपाठान्तरम्) ।

(१८७) गुणेति ।—विधिना न्यायानुसारेण, गुणदोषौ निरपराधित्वापत्तौ उपकारकोऽयमपकारको वा इति दण्ड्यगतोपकारापकारौ इत्यर्थः, इति

प्रकाशं ब्रूते,—(त) “तदा सञ्ज्ञौवकः किं (य) प्रत्यादिश्या-
ताम् ?” । दमनकः ससम्भ्रममाह,—“देव ! मा मैवं तावत् ।

(द) मन्त्रभेदो जायते । तथा चोक्तम्,—

मन्त्रबीजमिदं गुप्तं रक्षणीयं तथा यथा ।

मनागपि न भिद्येत तद्भिन्नं न प्ररोहति ॥ १४८ ॥

किञ्च,—आदेयस्य प्रदेयस्य कर्त्तव्यस्य च कर्मणः ।

क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥ १४९ ॥

बनिहांथं, यद्वनियहौ अनुगृह्णशासने, विहितौ इति शेषः, दर्पात् गवांत्, सर्पमुखे
वक्तुः अपितः, करः यथा हस्त इव, स्वनाशाय आत्मविनाशाय, भवत इति शेषः ;
विचारको राजा न चिरं राज्यं रक्षितुं शक्नुयात्, अतो मयाऽन विचारः कर्त्तव्य
इति भावः ।

(त) तदा—तथात्वे इत्यर्थः ।

(य) प्रत्यादिश्यातां—निराक्रियतां, परित्यज्यताम् इत्यर्थः ।

(द) मन्त्रभेदः,—गुप्तमन्त्रायाः प्रकाशनम् ।

(१४८) मन्त्रबीजमिति ।—मन्त्रबीजं मन्त्रः गुह्यवादरूपः, बीजं राज्यरक्षायाः
कारणं, तथा तेन प्रकारेण, सर्वप्रयत्नेनेत्यर्थः, गुप्तं सुरक्षितम्, अन्यसन्निधौ यथा
प्रकाशितं न भवेत् तथेत्यर्थः, रक्षणीयं पालनीयं, भेदं न प्रापणीयम् इत्यर्थः,
बीजपक्षे—स्थापनीयमित्यर्थश्च, यथा येन प्रकारेण, इदं मन्त्रबीजं, मनागपि
बीजमपि, न भिद्येत न भेदं लभेत, न प्रकाशित इत्यर्थः, बीजपक्षे—न विखण्डितं
भवेदित्यर्थः, तत् बीजं, भिन्नं प्रकाशितं सत्, अन्यत्र—खण्डितञ्च सत्, न प्ररोहति न
प्रादुर्भवति, न सफलं भवतीत्यर्थः, नाङ्कुरितं भवतीत्यर्थश्च, भग्रे बीजे अङ्कुरोद्गमा-
भावात् इति भावः ; असंभृतमन्त्रस्य कार्यनाशो भवेत् ध्रुवमिति तात्पर्यम् ।

(१४९) आदेयस्येति ।—कर्त्तव्यस्य अवश्यं सन्पादनीयस्य, आदेयस्य
रक्षणीयस्य, प्रदेयस्य वितरणीयस्य च, प्रदातव्यस्य च इत्यर्थः, कर्मणः कार्यस्य, यथा
—आदेयस्य प्रदेयस्य तथा कर्त्तव्यस्य कर्मणश्च क्षिप्रं सत्वरम्, अक्रियमाणस्य
असम्पाद्यमानस्य मतः, आदानप्रदानादिकर्मण्यं ग्रीष्ममक्रियमाणे सतीत्यर्थः, कालः
समयः, अतिपातितः समय इत्यर्थः, तद्रसं तस्य कर्मणः, रसं सारमूतं फलं,
पिबति यद्यत्वे, कालातिपातेन कार्यध्वंसो भवतीत्यर्थः ।

तदवश्यं (ध) समारब्धं महता यत्नेन सम्पादनीयम् । वि

मन्त्रो यो ध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि ।

चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ १५० ॥

यदि असौ (न) दृष्टदोषोऽपि दोषान्निवर्त्य (प) सन्धातु

स्तदतीव अनुचितम् । यतः,—

सकृद्दुष्टं यो नु मिलं पुनः सन्धातुमिच्छति ।

स सत्यमेव गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा” ॥ १५१ ॥

(ध) समारब्धम्—उपक्रान्तं कर्म ।

(१५०) सन्धितस्याश्रयं सत्वरमननुष्ठाने दीपसाह, मन्त्र इति—
पङ्क्त्यालं गुप्ततया स्थातुम् अचमः इत्यर्थः, अन्यत्र—कातरः, भौकरित्यर्थः,
मन्त्रणा, राज्यसङ्क्रान्तः गुह्यवाद इत्यर्थः, यो ध इव योद्धृपुरुष इव, संवृते
अप्रकाशितैरित्यर्थः, अन्यत्र—यमांशुतैः, सर्वाङ्गैः सकलावयवैः, कर्मणां स
साधनोपायादिभिः पञ्चाङ्गैरित्यर्थः, तथा च—“सहायाः साधनोपायाः सि
देशकालयोः । विनिपातप्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्ग इष्यते ॥” इति कामद
अन्यत्र—प्रष्टोरः प्रभृतिभिः उपलक्षितोऽपि ; परेभ्यः अन्यजनेभ्यः, प
शत्रुभ्यः, भेदशङ्कया प्रकाशमयेन, अन्यत्र—विदारणभीत्या, विनाशमवेनेत्यर्थः,
दीर्घकालं, स्थातुम् अपेक्षितं, विलम्बितमित्यर्थः, न सहते न चमते, मित्रं तं
फलोपधायको भवति, अतो न विलम्बितव्यम् अन्यथा कार्यहानिः स्यादिति
श्लोकोऽयं शिशुपालवधे २५ सर्गे दृश्यते ।

(न) दृष्टदोषः,—प्रत्यक्षोक्ततापराधः, प्रमाणीकृतपापः इत्यर्थः ।

(प) सन्धातव्यः,—सन्धेयः, सैत्रीकरणार्हं इत्यर्थः, इति मन्त्रे भवानिति

(१५१) सकृदिति ।—नु भीः !, यो जनः, सकृत् एकवारं, दुष्टं कृतं
शत्रुताऽऽचरणात् भग्नमेवमित्यर्थः, मिलं सुहृदं पुनः भूयः, सन्धातुं तं
मिलितुम्, इच्छति अभिलषति, सः जनः, अश्वतरी गर्भमेनाम्नायामुत्पन्ना
विशेषः, “खच्चर” इति प्रसिद्धा, सर्पविशेषो वा, गर्भं यथा गर्भमिव, गर्भं
मिवेत्यर्थः, सत्यमेव आत्मविनाशमेव, गृह्णाति स्वीकरोति, आश्रयतोत्तरः ;
गर्भं यथा सरणाय, तथा दुष्टमित्येव पुनः सन्धित्वा अपि इति भावः ।
गर्भवती चेत् म्रियते इति लोके । “भग्नजेहेन या सैत्री न सा कल्याणदा”

सिंहो ब्रूते,—“ज्ञायतां तावत् किमस्माकमसौ कर्तुं
उभयम्” । दमनक आह,—“देव !—

अङ्गाङ्गिभावमज्ञात्वा कथं सामर्थ्यनिर्णयः ? ।

पश्य टिट्ठिभमात्रेण समुद्रो व्याकुलीकृतः” ॥ १५२ ॥

सिंहः पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । दमनकः कथयति,—

समुद्र-टिट्ठिभदम्पतीकथा ।—

“दक्षिणसमुद्रतीरे (फ) टिट्ठिभदम्पती निवसतः । अथ

(ब) आसन्नप्रसवा टिट्ठिभौ भर्तारमाह,—“नाथ ! प्रसवयोग्य-
स्थानं निश्चितमन्विष्यताम् ।” टिट्ठिभोऽवदत्,—“प्रिये ! ननु
इदमेव स्थानं प्रसूतियोग्यम्” । सा ब्रूते,—(भ) “समुद्रवेलया
प्राप्यते स्थानमेतत् ।” सोऽब्रवीत्,—“भद्रे ! किमहं निर्वलः,
यत् मम गृहावस्थितानि अण्डानि समुद्रेणापहर्तव्यानि, अहं

इति निर्वलः । (“दण्डेनोपनतं शत्रुं यो राजा न नियच्छति । स सत्यमुपगृह्णाति
गर्भमश्वतरो यथा ॥” इति भारतशान्तिपर्वोद्यापद्धन्वोक्तपाठान्तरम् । चाणक्यनीतौ
यथाभारते च अस्य बहवः पाठभेदा दृश्यन्ते) ।

(१५२) अङ्गाङ्गीति ।—अङ्गाङ्गिभावम् अप्रम् अग्रधानम्, (“अङ्गं गात्रे
प्रतीकोपाययोः पुं भृश्वि नौहति । स्तौवैकले त्वप्रधाने” इति मेदिनी) अङ्गी प्रधानं,
तयोः भावं स्वरूपम्, उभयोः कः अग्रधानः को वा प्रधानः इत्येतयोः याथार्थ्यं,
यथा—सहायसाधनादिवलं, विद्याङ्गवलावलकारणमित्यर्थः, अज्ञात्वा अविदित्वा,
कथं केन प्रकारेण, सामर्थ्यनिर्णयः प्रकृतिनिरूपणं, कियते इति शेषः, न केनापीत्यर्थः,
पश्य अवलोक्य, जानीहीत्यर्थः, टिट्ठिभमात्रेण एकेनैव टिट्ठिभास्त्र्यक्षुद्रपक्षिणा,
समुद्रावयता इति भावः ; समुद्रः अगाधजलनिधिः, कैरपि अचोभ्य इति भावः ;
व्याकुलीकृतः क्षुब्धीकृतः, कर्त्तव्यज्ञानशून्यः कृतः इत्यर्थः ।

(फ) टिट्ठिभदम्पती—टिट्ठिभर्निधुनम् । [जाया च पतिसिद्धिं हन्ते जाया-
वत्स्य दमादिशः] ।

(ब) आसन्नप्रसवा—सन्निहितगर्भमोचनकाला ।

(भ) समुद्रवेलया—समुद्रजलविकारेण, उद्वेलितसमुद्रप्रवाहेण इत्यर्थः ।
प्राप्यते—निमज्ज्यते इत्यर्थः ।

च (म) नियद्गीतव्यः ?” । टिड्ढिभौ विहस्याऽऽह,—“ना
(य) त्वया समुद्रेण च महदन्तरम् । अथवा,—

दुःखमात्मा परिच्छेत्तुमेव योग्यो न वेति वा ।

अस्मीदृग् यस्य विज्ञानं स कच्छेऽपि न सीदति ॥ १५१ ॥
अपिच,—अनुचितकर्मारम्भः स्वजनविरोधो बलीयसा स्पर्धा ।

प्रमदाजनविश्वासो मृत्योर्द्वाराणि चत्वारि” ॥ १५२ ॥

ततः स्वामिवचनात् सा तत्रैव प्रसूता । एतत् सर्वं तु
समुद्रेणापि (र) तच्छक्तिज्ञानार्थिना तदण्डानि अपहृतानि
ततस्तु टिड्ढिभौ शोकार्त्ता भर्त्तारमाह,—“ना

(म) नियद्गीतव्यः,—पीडयितव्यः इत्यर्थः । [नि + यङ् + तव्य “यद्गीतव्यः”
दीर्घः” (७।२।३७ पा०) इति इटो दीर्घः ।]

(य) त्वेति ।—त्वया सह तुलनया समुद्रस्य, समुद्रेण च तव इत्युक्तं
महदन्तरं महान् प्रभेदः ।

(१५१) दुःखमिति ।—आत्मा स्वयं, योग्यः इदं कार्यं संपादयितुं स्वयं
वा न वा असमर्थो वा इत्यर्थः, इत्येतत्, परिच्छेत्तुमेव निर्धारयितुमेव, निषेद्धं
यावत्, दुःखं कष्टं, क्लेशकरमित्यर्थः, स्वसामर्थ्यनिरूपणम् एव दुःखमित्यर्थः,
किन्तु यस्य जनस्य, इदं कृत्वा एतादृशम्, आत्मबलात्स्वनिरूपणविषयकमित्यर्थः, निषेधः,
कोपः, अस्ति वसन्ते, सः जनः, कच्छेऽपि विपत्तावपि, न सीदति न पराजयः
भवति, न विषादमाप्नोति इत्यर्थः, स्वप्रभावं सुविदुषः नास्ति कुत्रापि निषेधः
सम्भावना इति भावः ।

(१५२) अनुचितेति ।—अनुचितस्य अयोग्यस्य, स्वयं साधयितुमशक्यं
कर्मणः कार्यस्य, चारम्भः साधयितुमुद्यमः, स्वजनेन आत्मीयेन, वस्तुनेति स्वजनः
विरोधः दैन्यं, विच्छेदघटनमिति यावत्, बलीयसा स्वापेक्षया बलवत्तरेण स
स्पर्धा प्रतिद्वन्द्विता, तथा प्रमदाजनविश्वासः प्रमदाजनेषु स्त्रीजनेषु, दुष्टावस्था
इति यावत्, विश्वासः प्रत्ययः, चत्वारि एतच्चतुष्टयं, मृत्योर्द्वाराणि मृत्युमन्दिराणि
मार्गाः, मरणकारणानीत्यर्थः, एतदन्यतमाभ्युपगमे मरणमेव अवश्यमावतीति
प्राप्या वृत्तम् ।

(र) तच्छक्तिज्ञानार्थिना—टिड्ढिभस्तु सामर्थ्यवुमुन्ना ।

(ह) कष्टमापतितम्, अण्डानि मे नष्टानि” । टिट्ठिभोऽवदत्,—
 “प्रिये ! मा भैषीः ।” इत्युक्त्वा पक्षिणां (व) मेलकं कृत्वा पक्षि-
 स्वामिनो गरुडस्य समीपं गतः । तत्र गत्वा तेन निजाण्डानां
 विनाशकथा निवेदिता,—“देव ! समुद्रेणाहं स्वगृहावस्थितः
 विनाऽपराधेनैव निगृहीतः” । ततस्तेन गरुत्मता तद्वचन-
 माकर्ण्य (श) प्रभुर्भगवान् नारायणः (ष) सृष्टिस्थितिप्रलय-
 हेतुर्विज्ञप्तः । स समुद्रमण्डदानायाऽऽदिदेश । ततो भगवदाज्ञां
 (स) मौली निधाय समुद्रस्तानि अण्डानि टिट्ठिभाय
 समर्पितवान् । अतोऽहं ब्रवीमि,—“अङ्गाङ्गिभावम् अज्नात्वा”
 इत्यादि ।

[इति समुद्र-टिट्ठिभदम्पतीकथा] ।

राजाऽऽह,—“कथमसौ ज्ञातव्यो (ह) द्रोहबुद्धिः ?” इति ।
 दमनकः पुनराह,—“यदाऽसौ (क) शृङ्गाग्रप्रहरणाभिमुखश्चकित
 इव आगच्छति तदा ज्ञास्यति स्वामी ।” एवमुक्त्वा सञ्जीवक-
 समीपं गतः । तत्र गतश्च मन्दं मन्दमुपसर्पन् विस्मितमिव
 आत्मानम् अदर्शयत् । ततः सञ्जीवकेन सादरमुक्तम्,—“भद्र

(ख) कष्टमापतितं—कष्टं कष्टकारणमित्यर्थः, आपतितं सञ्जातं, विपदुपस्थिता
 इति यावत् । नष्टानि—अपहतानि ।

(व) मेलकं—समवायं, सर्वैः पक्षिभिः मिलित्वेत्यर्थः ।

(श) प्रभुः,—गिरिजाशुश्रूषसमर्थः । भगवान्—वडेन्द्रव्यंशाली ।

(ष) सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुः,—उत्पत्तिरक्षाविनाशकारणम् । विज्ञप्तः,
 निवेदितः ।

(स) मौली—शिरसि ।

(ह) द्रोहबुद्धिः,—अनिष्टसाधनेच्छुः, विद्रोहभावापन्नः इत्यर्थः ।

(क) शृङ्गाग्रप्रहरणाभिमुखः,—शङ्कयाः विषाणयोः, अयं तेन प्रहरणं प्रहारः,
 तस्मिन् तस्मै वा अभिमुखः उच्यतः । चकित इव—उन्मत्त इव ।

दमनक ! कुशलं ते ?” । दमनको ब्रूते,—“अनुजीविनां कुशलम् ? यतः,—

सम्यक्तयः पराधीनाः सदा चित्तमनिर्वृतम् ।

स्वजौवितेऽप्यविश्वासस्तेषां ये राजसंश्रयाः ॥ १५५ ॥

अन्यच्च,—

कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो ? विषयिणः कस्यापदोऽस्तङ्गः
स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः ? को वाऽस्ति राज्ञां प्रियः
कः कालस्य भुजान्तरं न च गतः ? कोऽर्थी गतो गौरवं ?
को वा दुर्जनवागुरासु पतितः क्षेमेण यातः पुमान् ?” ॥ १५६ ॥

(१५५) सम्यक्तय इति ।—ये राजसंश्रयाः राजा संश्रयः अवलम्ब्य तथोक्ताः राजाधीनाः, राजसेवकाः इत्यर्थः, तेषां सम्यक्तयः ऐश्वर्याणि, परतन्त्राः, तासां स्थायित्वमस्थायित्वं वा राजाभिलाषायत्तमित्यर्थः, चित्तं सदा नित्यकालम्, अनिर्वृतम् अस्वस्थम्, असुखितमित्यर्थः, कदा राजा विचारयतीति चिन्तया व्याकुलमिति भावः ; स्वजौविते निजजीवनेऽपि, चास्य अप्रत्ययः, राज्ञां कोपप्रसादयोः अनिश्चितत्वात् कदा कुपितो भवति, कदा दण्डं विधास्यति इति शङ्कयेति भावः ।

(१५६) क इति ।—कः जनः, अर्थान् धनानि, प्राप्य खल्व्वा, न गर्वितो नादङ्गुतः ? न धनमत्त इत्यर्थः, भवतीति शेषः, विषयिणः विषयास्तन्त्राः, जनस्य, आपदः अनर्थाः, अस्तं गताः ? अवसानं प्राप्ताः ? दूरोन्मृता इत्यर्थः कस्यापीति भावः ; भुवि पृथिव्यां, कस्य जनस्य, मनः चित्तं, स्त्रीभिः को न खण्डितम् ? न विकलौकतम् ? न भयमित्यर्थः, को वा जनः, राज्ञां प्रियः अभिमतः, प्रीतिपात्रमित्यर्थः, अस्ति ? वर्तते ? चिरनिति शेषः, जनः, कालस्य यमस्य, भुजान्तरं बाहुमध्यगतं, कालकवलमित्यर्थः, यावत्, न गतः ? न प्राप्तः ?, (“को वाऽस्ति राज्ञां प्रियः” इत्यर्थः “को राजप्रियः” तथा “कः कालस्य भुजान्तरं न च गतः” इत्यर्थः “कः कालगौरवं गतः” इति वृद्धचाणक्योक्तपाठान्तरम्) कः अर्थी याचकः, सन्धानं, गतः ? प्राप्तः ? राज्ञां कृत्वा सन्मानभाजनं कः असूय ? को वा पुमान् पुरुषः, दुर्जनवागुरासु दुर्जनप्रयुक्तेषु कापक्यरूपपाशविशेषे,

सञ्जीवकेनोक्तम्,—“सखे ! ब्रूहि किमेतत् ?” । दमनक
माह,—“किं ब्रवीमि मन्दभाग्यः ? । पश्य,—

यथा समुद्रे पतितो लब्ध्वा सर्पावलम्बनम् ।

न मुञ्चति न चादत्ते तथा सुग्धोऽस्मि सम्प्रति ॥ १५७ ॥

वृत्तः,—एकत्र राजविश्वासो नश्यत्यन्यत्र बान्धवः ।

किं करोमि क्व गच्छामि पतितो दुःखसागरे” ॥ १५८ ॥

इति उक्त्वा दीर्घं निश्चस्योपविष्टः । सञ्जीवको ब्रूते,—

“मित्र ! तथाऽपि (ख) सुविस्तरं मनोगतं कथ्यताम् ।” दमनकः

(ग) सुनिश्चितमाह,—“यद्यपि राजविश्वासोऽन्यस्मै न कथनीयः
तथाऽपि भवान् (घ) अस्मदीयप्रत्ययादागतः स्थितश्च, तन्मया

संरुद्धः सन्, यदा—दुर्जनः खल एव, वागुरा मृगवन्धनार्थं जालविशेषः तासु,
पतितः निश्चितः, खलइत्ये निपतितः सन्नित्यर्थः, क्षेमेण निर्दिष्टमित्यर्थः, यातः ?
निष्कृतिं प्राप्तः ? ; सुवि इति पदेन सर्वत्र सम्बन्धः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

(१५७) यथेति ।—समुद्रे सागरे, पतितो निश्चितः जनः, सर्पावलम्बनं सर्प
एव अवलम्बनम् आश्रयस्तं, लब्ध्वा प्राप्य, यथा यदत्, न मुञ्चति न त्यजति, त्यक्तुं
न शक्नोतीत्यर्थः, मञ्जनभयेन इति भावः ; न च चादत्ते गृह्णाति, धर्तुमपि न
शक्नोतीत्यर्थः, दंशनभयेन इति भावः ; तथा तदत्, सम्प्रति इदानीं, सुग्धः किं कर्तव्य-
विमूढः, अस्मि भवामि, अहमिति शेषः, सदृसा किमपि वक्तुं न शक्नोमि इत्यर्थः ।

(१५८) एकत्रेति ।—एकत्र एकस्मिन् पक्षे, मनोभावप्रकटने इत्यर्थः, राज-
विश्वासः राज्ञः नृपस्य, विश्वासः मयि प्रत्ययः, अन्यत्र अपरतः, तदप्रकाशने च
इत्यर्थः, बान्धवः भवादृशः मुहुर्दित्याश्रयः, नश्यति विनाशं गच्छति, अतः अहं किं
करोमि ? क्व कुत्र, गच्छामि ? दुःखमेव सागरः तस्मिन् दुःखार्णवे, पतितः निश्चितः,
भवामिति शेषः, अत्र कर्तव्यनिर्णयासामर्थ्यात् सदृष्टे निपतितोऽस्मीत्यर्थः ।

(ख) सुविस्तरं—प्रकाशं कृत्वा इत्यर्थः, (“सुविस्तरम्” इति पाठे—सप्रपञ्च-
मित्यर्थः) । मनोगतं—हृदये स्थितं भावम् ।

(ग) सुनिश्चितं—सुगूढं, सुगुप्तमित्यर्थः ।

(घ) अस्मदीयप्रत्ययात्—अस्माकं वाक्येषु विश्वासं कृतेत्यर्थः ।

(ङ) परलोकार्थिनाऽवश्यं तव हितम् (च) आख्येयम् । भृश-
 अयं स्वामी तवोपरि (छ) विह्वतबुद्धिः रहसि एवमुक्तवान्—
 ‘सञ्जीवकमेव हत्वा स्वपरिवारं (ज) तर्पयामि ।’ एतच्छ्रुत्वा
 सञ्जीवकः परं विषादमगमत् । दमनकः पुनराह,—‘यत्
 विषादेन ? (झ) प्राप्तकालकार्यमनुष्ठीयताम्’ । सञ्जीवक-
 क्षणं विस्मय्यह,—“सुष्ठु खल्विदमुच्यते,—

दुर्जनगम्या नार्यः प्रायेणापात्रभृद्भवति राजा ।

कृपणानुसारि च धनं देवो गिरिजलधिवर्षी च ॥ १५५ ॥

तथा च,—नीचमाश्रयते लक्ष्मीरकुलीनं सरस्वती ।

अपात्रं भजते नारी गिरौ वर्षति वासवः ॥ १६० ॥

(ङ) परलोकार्थिना—परलोके शुभां गतिमिच्छता ।

(च) आख्येयं—कथनीयम् ।

(छ) विह्वतबुद्धिः,—विह्वता दूषिता बुद्धिर्यस्य सः मन्दमतिः, तां विषाद-
 इत्यर्थः । रहसि—निज्जने ।

(ज) तर्पयामि—प्रीणयामि ।

(झ) प्राप्तकालकार्यं—समयानुरूपं कर्म ।

(१५५) दुर्जनेति ।—प्रायेण बाहुल्येन, पदमिदं सर्व्वदैव योजनीयम् ; गार्ह-
 स्त्रियः, सुन्दर्य्य इति भावः ; दुर्जनगम्याः दुर्जनलभ्याः, दुर्जनोपभोग्या इत्यर्थः, सर्व्वतो-
 शेषः, दुर्जना एव प्रायशो नारीप्रिया भवन्तीति भावः ; राजा अपात्रभृत् अतृप्त-
 पोषकः, दुर्जनप्रतिपालक इत्यर्थः, भवति, धनम् अयं च, कृपणं व्ययकुण्डम्, अतृप्त-
 अनुगच्छतीति तत् कृपणानुसारि कृपणाधिगतं, भवतीति शेषः, देवः इन्द्रः, तौ
 पर्व्वते, जलधौ समुद्रे च, वर्षतीति तादृशः, अस्थानवर्षकः इत्यर्थः, भवतीति शेषः ।
 राजानी हि प्रायेणानवस्थितचित्ताः पावापात्रविचाराक्षमाश्च भवन्ति, ये हि तं
 कुन्दोऽनुवर्त्तिनी भवन्ति, ते एव प्रसादभाजो भवन्ति, अतोऽत्र न कोऽपि विषय-
 वकाशः इति भावः । आख्यां वृत्तम् ।

(१६०) नीचमिति ।—लक्ष्मीः कमला, सम्पदिति यावत्, नीचं हीनप्रकृति-
 जनं, मूर्खमित्यर्थः, कृपणमिति यावत्, आश्रयते अभिगच्छति, सरस्वती वाग्देवी,
 अकुलीनं हीनवंशीयं पुरुषम्, आश्रयतीति शेषः, नारी स्त्री, सुन्दरीति भावः ।

स्वगतं—किमिदम् (ज) असद्विचेष्टितं न वेत्येतद्व्यवहारात्
निर्णेतुं न शक्यते । यतः,—

कश्चिदाश्रयसौन्दर्यादत्ते शोभामसज्जनः ।

प्रमदालोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ॥ १६१ ॥

तत्र विचिन्त्योक्तम्,—“कष्टं ! किमिदमापतितम् ? । यतः,—

आराध्यमानो नृपतिः प्रयत्नात्

न तोषमायाति किमत्र चित्रम् ? ।

अयं त्वपूर्वः प्रातमाविशेषो

यः सेव्यमानो रिपुतामुपैति ॥ १६२ ॥

अपाचम् असज्जनम्, अशोभ्यपाचमिति वा, कुरुपमिति यावत्, भजते सेवते, वासवः
इन्द्रः, गिरौ पर्वते, जनसाधारणदुरधिगमे तथा शस्त्रादीनामनुपयोगित्वाद्प्र-
योजनीयस्थाने इत्यर्थः, वर्षति जलं ददाति । श्लोकेऽत्र प्रायेणेति पदमध्याहरणोद्यम् ।
तत् प्रमीरप्यविचारः सिद्ध एव इति भावः ।

(ज) असद्विचेष्टितं—दुर्जनकार्यम् । (“एतद्विचेष्टितम्” इति पाठे—
एतस्य दमनकस्य विचेष्टितमित्यर्थः) ।

(१६१) कथिदिति ।—कश्चित् असज्जनः असाधुपुरुषः, आश्रयसौन्दर्यात्
आश्रयगुणेन, प्रमदालोचनन्यस्तं कामिनीनेत्रलिङ्गं, मलीमसं मलिनम्, अञ्जनं
पञ्जलमिव, शोभां कान्तिं, सौन्दर्यमित्यर्थः, धत्ते लभते, नीचोऽपि आश्रयगुणे-
नोत्कृष्टवत् प्रतिभातीत्यर्थः ; अतीव कृष्णवर्णं कञ्जलं सुन्दरीनयनार्पितं यथा आश्रय-
सौन्दर्यवशेन निजकुम्भितत्वे सत्यपि लोकावयने सुन्दरत्वेन परिदृश्यमानं भवति, तथा
दुर्जनोऽपि महदाश्रयप्रभावेण सुजनवत् प्रतीतो भवति न तस्य दोषं कश्चित् सहस्रं
उपलब्धं शक्नोतीति भावः ।

(१६२) आराध्यमान इति ।—नृपतिः राजा, प्रयत्नात् सविशेषादरात्,
अतीवामिनिवेशपूर्वकमित्यर्थः, आराध्यमानः सेव्यमानः, अपीति श्रेष्ठः, तोषं प्रीतिं,
न आयाति न गच्छति, अत्र अस्मिन् विषये, किं चित्रम् ? किम् आश्चर्यम् ?
किमप्याश्चर्यं नास्तीत्यर्थः । कष्टं नास्तीत्यत्र आह, अयमिति ।—अत्र यदिति पद-
मध्याहरणोद्यम् ; यतः अयन्तु राजा पुनः, अपूर्वः अदृष्टाभूतपूर्वः, प्रतिमाविशेषः
प्रतिमुक्तिभेदः, यः सेव्यमानः पूज्यमानः, अपीति श्रेष्ठः, रिपुतां शत्रुताम्, उपैति

तदयम् (ठ) अशक्यार्थः प्रयत्नः । यतः,—

निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकुप्यति

ध्रुवं स तस्यापगमे प्रसीदति ।

अकारणद्वेषि मनस्तु यस्य वै

कथं जनस्तं परितोषयिष्यति ? ॥ १६३ ॥

किं मया (ठ) अपकृतं राज्ञः ? अथवा निर्निमित्तान् कारिणो हि भवन्ति राजानः ।” दमनको ब्रूते,—“एवमेवैव शृणु,—

विज्ञैः स्निग्धैरपकृतमपि द्वेष्यतामेति कश्चित्
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतिमेवोपयाति ।

प्राप्तिरिति, हरिहरादयो देवाः सेव्यमानाः प्रसन्ना एव भवन्ति, राजा एतद्विपरीतस्वभाव एव, यत् सेव्यमानः शत्रुर्भवति, एतदेवास्य अपूर्वत्वं, तत् आराध्यमानस्यापि तस्य असन्तुष्टत्वे किमपि चित्रं नास्तीत्यर्थः ; यथा—किं किमपि किमाश्चर्यम् ! एतदेवाश्चर्यमित्यर्थः, यत् अत्र संचारे, वृत्तिः आराध्यमानो इत्यादि ; “अतिगहना खलु राजसेवा” इति भावः । उपजातिः वृत्तम् ।

(ठ) अशक्यार्थः,—अशक्यः दुःसाध्यः, अर्थः प्रयोजनं यस्य सः, इत्यर्थः ।

(१६३) निमित्तमिति ।—हि पादपूरणे ; यः जनः, निमित्तं किं कारणम्, उद्दिश्य उपलक्ष्य, प्रकुप्यति क्रुध्यति, क्रोधपरवशो भवति इत्यर्थः, यः चिद्विदितं शेषः, ध्रुवं निश्चितं, स जनः, तस्य निमित्तस्य, अपगमे अपादे, नाशे इत्यर्थः, प्रसीदति अनुगृह्णाति, प्रसन्नो भवतीत्यर्थः, तु किन्तु, यस्य मनः स्निग्धः अकारणद्वेषि निर्निमित्तवैरभावापन्नम्, अनिष्टाचरणादिकं विनाऽपि विरोधपूर्णं यावत्, जनः लोकः, तं विवेष्टारं, कथं केन प्रकारेण, परितोषयिष्यति ? प्रसन्नयति ?, न केनापि प्रकारेण तं तोषयितुं शक्यतीत्यर्थः ; अप्रतिकार्योऽयं दुर्वर्तमानः । वंशस्थविलं वृत्तम् ।

(ठ) अपकृतम्—अनिष्टमाचरितम् ।

(१६४) गद्यस्य कारणमेव दर्शयति, विज्ञैरिति ।—कश्चित् जनः प्रसन्नः विज्ञैः विद्वद्भिः, तथा स्निग्धैः प्रीतिभाजनैः, स्निग्धैः विज्ञैरिति वा, कृतमिति

चित्रं चित्रं किमथ चरितं नैकभावाश्रयाणां

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ १६४ ॥

उपकृतमपि उपकारमपि, [“कदमिहितभावो द्रव्यवत् प्रकाशते” इति नियमात् भावविहितस्य उपकृतस्य उपकारार्थकत्व मन्वव्यम्] हेयतां हेयविषयताम्, एति गच्छति, नयतीत्यर्थः, अप्रियत्वेन गणयतीति यावत्, [“सर्वे गत्यथाः प्राप्तार्थाः” इत्यनुशासनात् एतेरत्र प्राप्तार्थकत्वम्] तथा अन्यैः अविज्ञैरस्मिन्, साक्षात् प्रत्यक्षम्, अपकृतमपि कृतमपकारमपि, प्रीतिमेव सन्तोषमेव, उपयाति गच्छति, प्रीतिविषयतां नयतीत्यर्थः, प्रियत्वेन गणयतीति यावत् [अत्रापि पूर्ववत् समाधेयम्] यद्वा अत्र— “लब्ध्वा तं प्रति” इत्यध्याहार्यम् ; तथाच, विज्ञैः स्मिन्हेरुपकृतं लब्ध्वाऽपि तं प्रति कश्चित् हेयतामेति, अन्यैः साक्षादपकृतं लब्ध्वाऽपि तं प्रति प्रीतिमेवोपयाति । (“कश्चित्” इत्यत्र “कस्य” इति पाठकल्पने सर्वे समञ्जसं स्यात्, तथाच विज्ञैः स्मिन्हेः कृतमुपकृतमपि उपकारोऽपि, कस्य कस्यचित् सम्बन्धे इत्यर्थः, हेयतामेति, तथा अन्यैः साक्षात् कृतमपकृतमपि अपकारोऽपि, कस्य सम्बन्धे प्रीतिमेवोपयाति) ननु उपकृतमपि हेयत्वम् अपकृतमपि प्रियत्वं याति, कथमीदृशविसदृशव्यवहारः सम्भवतीत्याह, चित्रमिति ।—यतः नैकभावाश्रयाणाम् अस्थिरस्वभावानाम्, अव्यवस्थितचिदानामित्यर्थः, चरितं चरित्रं, चित्रम् अद्भुतं, विस्मयकरमित्यर्थः, चित्रत्वेन पूर्वोक्तविसदृशव्यवहारः तेषां सम्भवतीति भावः ; अथ अथवा, किं चित्रम् ? अत्र किमद्भुतम् ? किमपि चित्रं नास्तीत्यर्थः, नैकभावाश्रयाणामेव एव स्वभावः, यथात् न विस्मयकारणं किमपीति भावः ; यद्वा—नैकभावाश्रयाणां चरितं चित्रं चित्रम् अतीवाद्भुतमित्यर्थः, [“नित्यवीक्ष्योः” (८११४ पा०) इति द्विर्भावः, विस्मयाधिक्यद्योतनार्थं द्विर्भावो वा] अथ कार्त्स्न्येन, सर्वथा इत्यर्थः, (“अथाधी संशये स्यातामधिकारे च मङ्गले । विकल्पानन्तरप्रश्नकार्त्स्न्यारम्भसमुच्चये” इति मेदिनी) किं कुस्मितम्, निन्दनीयमित्यर्थः, (“किं-शब्दः प्रश्नकुत्सयोः” इति शाश्वतः) “किमथ” इत्यत्र “किमुत” इति पाठकल्पनं सुगमार्थकं, तथा च, नैकभावाश्रयाणां चरितं किमुत अतिशयेन, (“किमुत प्रश्नतर्कयोः । विकल्पेऽतिशयेऽपि स्यात्” इति मेदिनी) चित्रं चित्रम् ; अत एव सेवाधर्मः प्रभुपरिचर्या, परमगहनः अतीवदुःखः, अतिशयेन दुःखकर इत्यर्थः, (“गहनं कखिले त्रिषु । नपुंसकं गह्वरे स्यात् दुःखकाननयोरपि” इति मेदिनी) योगिनामपि तापसानामपि, योगबलेन प्रत्यक्षोक्तसंबन्धत्वानामपीत्यर्थः, अगम्यः दुर्ज्ञेय इत्यर्थः ; योगबलेन

अन्यच्च,—कृतशतमसत्सु नष्टं सुभाषितशतञ्च नष्टमवधेषु ।

वचनशतमवचनकरे बुद्धिशतमचेतने नष्टम् ॥ १६५ ॥

किञ्च,—चन्दनतरुषु भुजङ्गा जलेषु कमलानि तत्र च ग्राहाः ।

गुणघातिनश्च पिशुना भोगे न सुखान्यविघ्नानि ॥ १६६ ॥

अन्यच्च,—

मूलं भुजङ्गैः कुसुमानि भृङ्गैः शाखाः प्लवङ्गैः शिखराणि भजे ।

नास्त्येव तच्चन्दनपादपस्य यन्नाश्रितं दुष्टतरैश्च हिंस्रैः ॥ १६७ ॥

मृतमविविधहृत्मानजानसम्पन्नैराराध्यमानः ईश्वरोऽपि कदाचित् आराधनया भजे
क्रियते, न तु भूपतिरित्यहो राजमहिमा ! इति भावः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ।

(१६५) कृतशतमिति ।—असत्सु असम्पन्नेषु, कृतशतं बहुविधमपि काव्यं, इतर
कृतः उपकारोऽपीत्यर्थः, नष्टं विफलम् ; प्राप्तोपकारिणापि तेन कृतज्ञतास्वीकाराभावात्
दिति भावः ; अवधेषु मूर्खेषु, हिताहितविचाराद्यज्ञेषु इति यावत्, सुभाषितशत
शतशः सदुपदेशोऽपि, नष्टम् अनर्थकम्, उपदेशग्रहणसामर्थ्याभावादिति भावः ;
अवचनकरे अनाश्रये, अवधौरितहितवचने इत्यर्थः, जने इति शेषः, वचनशतं इत्यर्थः
वाक्यानि, भूमीभृङ्गः कृतोऽप्यादेश इत्यर्थः, तथा अचेतने चेतनाश्रये, भजे इत्यर्थः
बुद्धिशतं शतशः बुद्धिप्रदानं, विविधज्ञानोपदेशोऽपीत्यर्थः, नष्टं, सर्वत्र भवतीति शेषः
अस्मिन्नकृतज्ञे वृथैव मम प्रयासः इति भावः । आख्या ।

(१६६) जीवानां न कुत्राप्यभयमिति दर्शयति, चन्दनेति ।—चन्दनतरु
चन्दनवृक्षेषु, भुजङ्गपिशाचं व्यवहर्तव्येषु इति भावः ; भुजङ्गाः सर्पाः, जलेषु कमलानि
पद्मानि, सन्तीति शेषः, तत्र च तस्मिन्नेव कमलशोभितजले, ग्राहाः हिंस्रजन्तवः
विशेषाः, गुणघातिनः गुणविलोपिनः, पिशुनाः खलाः, सर्वत्र सन्तीति शेषः, भजे
हि गुणिनां गुणानवलपितुं सदैव तत्परा भवन्ति, अतः गुणिनामपि खलेभ्यः तत्र
विद्यते इत्यर्थः, अत एव भोगे राज्यादिमुखभोगे विषयभोगे वा, सुखादिमुख
साधनानीत्यर्थः, अविघ्नानि विघ्नरहितानि, न, भवन्तीति शेषः ; जगति दुःखरहित
मेव सुखमिति भावः । सर्वथा पिशुनोऽयं स्वानो गुणघाती चेत्याशयः । आख्या ।

(१६७) गुणवतानपि दुष्टात् भयं प्रदर्शयति, मूलमिति ।—चन्दनपादप
चन्दनतरोः, मूलम् अधोदेशः, भुजङ्गैः सर्पैः, कुसुमानि पुष्पाणि, भृङ्गैः नृपुङ्गवैः
[अत्र चन्दनकुसुमवर्णनं “न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणां” इति दर्पचरिते
कविसमयविरुद्धमिति ध्येयम्] शाखाः विटपानि, प्लवङ्गैः वानरैः, शिखराणि पर्वतमुख

अयं तावत् स्वामी (ङ) वाङ्मधुरः (ठ) विषहृदयो मया
ज्ञायते । यतः,—

दूरादुच्छ्रितपाणिरार्द्रनयनः प्रोत्सारितार्द्धासनो

गाढालिङ्गनतत्परः प्रियकथाप्रश्नेषु दत्तादरः ।

अन्तर्गूढविषो वह्निर्मधुमयश्चातीव मायापटुः

को नामायमपूर्वनाटकविधिर्यः शिञ्चितो दुर्जनैः ॥ १६८ ॥

पथभागाः, भङ्गेः भङ्गकैः, इत्थं चन्दनपादपस्य चन्दनवृक्षस्य, तत् तादृशम्, अङ्गम्
इति शेषः, नास्ति एव न विद्यते एव, यच्च, अङ्गमिति शेषः, दृष्टतरेः अतिदृष्टेः,
हिंसैः क्लृप्तत्वेः, भुजङ्गादिदुष्टप्राणिभिरित्यर्थः, न आश्रितं नावलम्बितं, नाकान्त्वमिति
भावः, (“दृष्टतरेय हिंसैः” इत्यत्र “दृष्टतरेः कृपणैः” इति पाठे—कृपणैः क्लृप्ता-
चारैः पापैः, पापकारिभिरित्यर्थः, “पङ्कोऽस्त्री कष्टं मे पापे” इति मेदिनी) ।
सज्जनोऽपि दुर्जनसमावृतः साधुभिरशक्यप्रवेशश्च इत्यङ्गो विङ्गन्वना विधातुः । इति
भावः ; अत एव गुणवतीऽपि भवती निरपराधस्यापि हिंस्रप्रकृतेर्दुष्टादस्मादपकार-
शङ्का युज्यते एवेति तात्पर्यम् । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

(ङ) वाङ्मधुरः,—मधुरभाषी, पथोमुख इति भावः ।

(ठ) विषहृदयः,—विषं गरलं, विषवद्दूषितभाव इत्यर्थः, हृदये चेतसि यस्य
सः, खलः इत्यर्थः, विषकुम्भ इति भावः ; यद्वा—विषं विषपूर्णं, विषवदनिष्टोत्-
पादनतत्परमित्यर्थः, हृदयं यस्य सः ।

(१६८) दूरादिति ।—दूरात् दूरतः दृष्टैव इत्यर्थः, उच्छ्रितौ उन्नमितौ, पाणी
करी, आङ्गानाथंमालिङ्गनाथं वा इति भावः, येन स तथोक्तः, आर्द्रं सज्जली, आनन्द-
शापाकुले इत्यर्थः, नयने नेत्रे यस्य सः, प्रोत्सारितं प्रकर्षेण चालितं, विस्तारित-
मित्यर्थः, यद्वा—प्रोत्सारितं दूरीकृतं, परित्यक्तमित्यर्थः, आगतीरुपवेशनार्थमिति
भावः ; अर्द्धासनम् आसनाङ्गभागः येन सः, उपवेशयितुम् अर्द्धमासनं विस्तार्य
प्रदत्तमित्यर्थः, अर्द्धासने उपवेष्टुं दत्तावकाशः इति भावः ; गाढे निविड्,
आलिङ्गने आश्लेषणे, तत्परः प्रसक्तः, सुहृदमालिङ्गनावलम्ब इत्यर्थः, प्रियकथाप्रश्नेषु
मधुरसंभाषणेषु कुशलपृच्छासु च, दत्तादरः कृताग्रहः, आग्रहसमन्वित इत्यर्थः, अत
एव यतः अभ्यन्तरे, मनसोत्थः, गूढम् अन्तर्लक्षितं, विषं गरलं यस्य सः विषहृदयः,
वहिः बाह्ये, वाक्वादी इत्यर्थः, मधुमयः साधुर्यपूर्णः, मधुरव्यवहार इत्यर्थः, विषकुम्भ-
पथोमुखवदिति भावः ; अत एव अतीव मायापटुः कापट्यदक्षः ; अयं स्वामीति

तथाहि,—

पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे
निर्वाते व्यजनं मदन्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै शृणुः ।
इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धाताऽपि भग्नोद्यमः ॥१॥

सञ्जीवकः पुनर्निश्चयस्य स्वगतम्,—“कष्टं भोः ! कथं

(ण) शस्यभक्षकः सिंहेन व्यापादयितव्यः ? यतः,—

धूर्णकस्थेनान्वयः, भवतीति शेषः ; तथा च, योऽयं कपटतया दूरादुद्धितः
त्वादिरूपः इत्यर्थः, अपूर्वः अदृष्टाश्रुतपूर्वः, नाटकविधिः संसाररङ्गमौक्त्य-
प्रदर्शनोपपत्तिवारवत् व्यापारविशेषः इत्यर्थः, दुर्जनैः असज्जनैः, शिचितः इत्यर्थः
स की नाम ? कीदृशी हि ? नाम इति विचक्ष्ये अस्त्रीके वा, विषयकं
व्यवहारः, सर्व्वथैव कपटतापूर्णं इति वा अर्थः ; नटी यथा रामादिमुनिविर-
चितादृशोऽपि तादृशं व्यवहरति. अभिनयनैपुण्येन च रामादिवदेव प्रतीयेत
खलोऽपि विषयदयो वाक्चधुरः सुजनवत् प्रतीयते, न तु तत्त्वतः सुजन इति वा
विचित्ररूपा खलु दुर्जनचित्तवृत्तिः इति तात्पर्य्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

(१६८) अशक्यप्रतीकारं हि दीर्घान्वयमिति वक्तुमाह, पोत इति ।—
वारिराशितरणे दलंद्गुसमुद्रपारगमने, पोतः वह्नितम, अर्थवयानमित्यर्थः, यथा
गमे ध्वान्ताविभावे, तमोनाशार्थमिति भावः ; दीपः प्रदीपः, निर्वाते वायुशून्ये
व्यजनं तालवृन्तादिकं, वाताभावजनितक्लेशोपशमनार्थमिति भावः ; मदमत्तगजानां,
दर्पोपशान्त्यै अहङ्कारनाशाय, शौक्यवारणाय इत्यर्थः, इत्यर्थः,
अदुःखम्, इत्यम् अनेन प्रकारेण, विधिना विधाया, यस्य प्राणिनां क्लेश-
प्रतीकारार्हस्य विषयस्य, उपायचिन्ता प्रतिविधानं, न कृता न विहिता, न कृता
थावत्, भुवि मृतली, तत् तादृशं वस्तु, नास्ति न विद्यते, परन्तु मन्ये सञ्जीवक-
धाताऽपि असाध्यसाधनपटुः विधिरपि, दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे खलानां दौर्जन्य-
दूरीकरणे, असतां मनःशुद्धिविधाने इत्यर्थः, भग्नोद्यमः विफलप्रयत्नः, यत्न-
शेषः ; अन्यथा कथं दुर्जनमनसः प्रतीकारो नास्ति ? इति भावः ।
अप्रतिकाख्योऽयं दुर्जनव्यवहार इति निष्कर्षः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

(ण) शस्यभक्षकः,—वृचादीनां फलमात्रभोजी, न तु मांसाश्रित्य-
हिंसाकारीत्यर्थः, कस्यापि अनपकारित्वात् सर्व्वथा निरपराध इति भावः ।

ययोरिव समं वित्तं ययोरिव समं बलम् ।

तयोर्विवादो मन्तव्यो नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥ १७० ॥

पुनर्विचिन्त्य आह,—“केनायं राजा ममोपरि (त) विकारितः न जाने । (य) भेदमुपगताद्वाङ्मः सदा भेतव्यम् । यतः,—

मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तं विघटितं क्वचित् ।

बलयं स्फटिकस्यैव को हि सन्धातुमौखरः ? ॥ १७१ ॥

अथ,—वज्रञ्च राजतेजस्य हयमेवातिभीषणम् ।

एकमेकत्र पतति पतत्यन्यत् समन्ततः ॥ १७२ ॥

(१७०) समानशक्तिसम्पदोः विरोधाचरणस्य न्याय्यतां समर्थयन्तं, ययोरिति ।—

ययोरिव यादृशयोः हयोः हि, वित्तं सम्पत्, समं तुल्यं, ययोरिव यादृशयोः हयोः हि, बलं बौध्यं, समं तुल्यं, (“ययोः” “ययोः” इत्यत्र “हयोः” “हयोः” इति पाठान्तरम्) हयोः तादृशयोः हयोरिव, विवादः विरोधः, प्रतिद्वन्द्विता इत्यर्थः, मन्तव्यः सार्धोपान्तं ज्ञातव्यः, उत्तमाधमयोः अधिकबलहीनबलयोः, क्वचित् कुत्रचिदपि स्थाने, न, विवादः मन्तव्य इति अनुषङ्गः ; तुल्यबलयोः विरोधस्यैव न्याय्यत्वादिति भावः ।

(त) विकारितः,—विकृतिं प्रापितः, विरक्तः कारित इत्यर्थः ।

(य) भेदमुपगतात्—उपगतात्, भग्नचेष्टात् इति यावत् ।

(१७१) मन्त्रिणेति ।—क्वचित् कस्मिंश्चित् कर्मणि, कदाचिद्वा, मन्त्रिणा सचिवेन, विघटितं भेदं प्रापितं, क्वचित् प्रति इति शेषः ; यद्वा—मन्त्रिणा सह विघटितं विघटितं, भेदं गतमित्यर्थः, अनेकभावापन्नमिति यावत्, पृथिवीपालस्य राज्ञः, चित्तं मनः, स्फटिकस्य स्फटिकमण्ये, स्फटिकमणिनिर्मितमित्यर्थः, बलयं कटकमिव, भग्नस्फटिकमयकरमुष्णमिव, कः हि जनः, सन्धातुं संयोजयितुम्, ईश्वरः प्रमथः ? न कोऽपीत्यर्थः, हि अवधारणे प्रश्ने वा, (“हि पादपूरणे हंतौ विशिष्टेऽङ्ग-प्रधारणे । प्रश्ने हेत्वपदेशे च सन्धुमाद्ययोरपि ॥” इति मेदिनी) ।

(१७२) वज्रतेजसोऽपि राजतेजसः आधिक्यं दर्शयति, वज्रचेति ।—वज्रञ्च कुलिशञ्च, इन्द्रास्त्रम् इत्यर्थः, राजतेजस्य राजप्रतापस्य, हयमेव एतत् उभयम् एव, अतिभीषणम् अतीव भयावहं, भवतीति शेषः, परन्तु एकं हयोरिव अतिभीषणत्वेऽपि तन्मध्ये एकं बलमित्यर्थः, एकत्र एकस्मिन्नेव स्थाने, जने वा, पतति, अन्यत् राजतेजः, समन्ततः समन्तात्, सर्वतो व्याप्येत्यर्थः, सपुत्रकलत्रे क्रोधपात्रे इति भावः ; पतति प्रवृत्तं भवति, वज्राग्रेरपि तीव्रतरो राजरोवाप्तिः इति भावः ।

तत् संग्रामे (द) मृत्युरेवाश्रीयतामिति वरम्, इदानीं
(ध) तदाज्ञानुवर्त्तनमयुक्तम् । यतः,—

मृतः प्राप्नोति वा स्वर्गं शत्रुं हत्वा सुखानि वा ।

उभावपि हि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ १७३ ॥

अथ च,—आहवेषु मिथोऽन्योऽन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः ।

युध्यमानाः परं शत्रया स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ॥ १७४ ॥

युद्धकालश्चायम्,—

यत्रायुद्धे ध्रुवं नाशो युद्धे जीवितसंशयः ।

तमेव कालं युद्धस्य प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ १७५ ॥

(द) मृत्युरित्यादि—मरणमेवावलम्ब्यतामित्यपि मनाक्प्रियमित्यर्थः ।

(ध) तदाज्ञानुवर्त्तनम्—तस्य आदेशानुपालनं, परिचरणमित्यर्थः ।

(१७३) आत्मसन्देहे वीराणां युद्धकरणस्य श्रेयस्त्वं दर्शयति, मृत इति—
मृतः युद्धे निहतः सन्, स्वर्गं सुरलोकं, प्राप्नोति लभते वा, जीवितः शत्रुम् परि, हत्वा
विनाश्य, सुखानि विजयलाभजनितानि सुखसाधनानि धनरत्नादीनि, प्राप्नोति,
वाहयं विकल्पायकम् ; शूराणां वीराणाम्, एतौ उभौ अपि मरणशत्रुहन्तारौ
वापि, सुदुर्लभौ अतिदुष्प्रापौ, गुणौ ऐहिकामुष्मिकश्रेयस्कारौ इत्यर्थः, युधि येषां
जीवनमरणयोः समानश्रेयःसाधनत्वात् मरणालम्बनमपि न हानिकरमकार्त्तिकं
भावः । (“इतोऽपि लभते स्वर्गं हत्वा च लभते यशः । उभयं नो बहुमुखं धाम
निष्कलता रणे ॥” इति भारतस्त्रीपर्वोपपाठः) ।

(१७४) मनुसंहितायाः ७भाष्यायीक्तवचनं समुद्धृत्य युद्धे अपराङ्मुखतायां
गुणवत्त्वमाह, आहवेष्विति ।—आहवेषु युद्धेषु, अन्योऽन्यं परस्परं, जिघांसन्तः एक-
द्वन्द्वमिच्छन्तः, महीक्षितः राजानः, अपराङ्मुखाः युद्धादप्रतिनिवृत्ताः सन्तः, अन्ध-
सामर्थ्येन, निजनिजसामर्थ्यानुसारेणेत्यर्थः, मिथः परस्परं, युध्यमानाः संशयमयकाः, त-
स्वर्गं स्वर्गादपि उत्कृष्टं स्थानं, वीरलोकमित्यर्थः, यान्ति गच्छन्ति, वीरोचितं मरणं
वाञ्छनीयं वीराणामिति भावः । श्लोकोऽयमधिकपदतादोषदृष्टो मुद्रितपुस्तकादपि
न दृश्यते ।

(१७५) यवेति ।—यत्र यस्मिन् काले यस्मिन् स्थले वा, अयुद्धे युद्धादौ,
नाशः मृत्युः, ध्रुवं निश्चितं, युद्धे रणे च, युद्धकरणं चेत्यर्थः, जीवितसंशयः जीवितवि-

यतः,—अयुद्धे हि यदा पश्येन्न किञ्चिद्विमतमात्मनः ।

युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियते रिपुणा सह ॥ १७६ ॥

जये च लभते लक्ष्मीं मरणेऽपि सुराङ्गनाम् ।

क्षणविध्वंसिनः कायाः का चिन्ता मरणे रणे ? ॥ १७७ ॥

एतच्चिन्तयित्वा सञ्ज्ञौवकः आह,—“भो मित्र ! कथमसौ मां जिघांसुरिति ज्ञातव्यम् ?” । दमनको ब्रूते,—“यदाऽसौ (न) स्तब्धकर्णः (प) समुद्धतलाङ्गूलः समुन्नतचरणो (फ) विवृतास्य-
स्त्वां पश्यति, तदा त्वमपि स्वविक्रमं दर्शयिष्यसि । यतः,—

मरिष्यामि वेति सन्देहः, भवतौति शेषः, मनोविषयः पण्डिताः, तमेव पूर्वोक्तप्रकारमेव, युद्धस्य विग्रहस्य, कालम् उपयोगिसमयं, प्रवदन्ति कथयन्ति ; अथच कालः तादृश इति भावः ।

(१७६) अयुद्धे इति ।—यदा यस्मिन् काले, प्राज्ञः बुद्धिमान्, युद्धविद्या-
विशारदः इति यावत्, जनः इति शेषः, अयुद्धे युद्धाकरणे, आत्मनः स्वस्य, किञ्चित्
लोकमपि, हितम् इष्टं, न पश्येत् न अवलोकयेत्, न बुध्येत इत्यर्थः, तदा रिपुणा
सह युद्धेण सह, युध्यमानः युद्धे प्रवर्त्तमानः सन्, म्रियते मृत्युं प्राप्नोति ; यदा युद्धा-
करणेऽपि जीवमरचणोपायं न पश्येत्, तदा युद्धा विपद्यैः सह मरणमपि श्रेयो
मन्येत इति भावः ।

(१७७) जये इति ।—जये च विजयलाभे तु, लक्ष्मीं सम्पदं, लभते प्राप्नोति,
मरणे मृत्यौ सत्यपि, सुराङ्गनाम् अप्सरसमित्यर्थः, स्वर्गप्राप्ता इति भावः ; लभते
इत्यनेनान्वयः, कायाः शरीराणि, क्षणविध्वंसिनः क्षणविनाशिनः, अनित्या इति यावत्,
एवं सति मरणे प्राणत्यागे, रणे युद्धे च, का चिन्ता ? का भावना ? किं भयमिति
यावत् ; यदा देहस्य नाशः अवश्यम्भावी एव, तदा मरणात् रणात् वा भयेन किमपि
फलं नास्ति अवश्यमेव योद्धव्यमिति भावः ।

(न) स्तब्धकर्णः,—स्तब्धो निश्चलो कर्णो यस्य सः, समुन्नतकर्णः ।

(प) समुद्धतलाङ्गूलः,—समुद्धतं समुन्नतं लाङ्गूलं पुच्छं यस्य सः ऊर्ध्वोत्थिष्ठ-
पुच्छं, प्रचण्डतया आस्फालितपुच्छ इत्यर्थो वा । समुन्नतचरणः,—समुन्नतौ सन्त्यक्
ऊर्ध्वोत्थितौ चरणौ पादौ येन सः ऊर्ध्वोत्थितायपादः, अयपादद्वये भरं कृत्वा
उपविष्ट इत्यर्थः ।

(फ) विवृतास्यः,—व्याप्ताननः, कृतमुखव्यादानः इत्यर्थः ।

हि—२०

बलवानपि निस्तेजाः कस्य नाभिभवास्पदम् ? ।

निःशङ्कं दीयते लोकैः पश्य भस्मचये पदम् ॥ १७८ ॥

किन्तु सर्वमेतत् (ब) सुगुप्तमनुष्ठातव्यं, नो चेत् (म) न त्वं
नाहम्” इत्युक्त्वा दमनकः करटकसमीपं गतः । करटकेनोक्तम्,
—“किं (म) निष्पन्नम् ?” । दमनकेनोक्तम्,—“निष्पन्नोऽन्ये-
रन्योऽन्यभेदः ।” करटको ब्रूते,—“कोऽत्र सन्देहः ? यतः—

बन्धुः को नाम दुष्टानां ? कुप्येत् को नातियाचितः ?

को न दृष्यति वित्तेन ? कुलत्वे को न पण्डितः ? ॥ १७९ ॥

(१७८) बलवानिति ।—बलवान् अपि शक्तिसम्पन्नोऽपि, निस्तेजाः तेजोहीनः
कस्य जनस्य, सकाशे इति शेषः, न अभिभवास्पदम् ? न पराजयस्थानम् ? अतः
इति शेषः, सर्वस्यैव भवति इत्यर्थः, बलसत्त्वेऽपि सर्वेषामेव अवज्ञाभाजनं भवति
इति भावः ; तथाहि पश्य जानीहि इत्यर्थः, लोकैः जनसाधारणैः इत्यर्थः, भस्म-
भस्मराशौ, निःशङ्कं निर्भयं यथा तथा, तेजोहीनत्वादिति भावः ; पदं चरणं, क्षेत्रं
अप्यन्ते, सर्वभूतदाहकस्य महाप्रतापस्य अग्रेरपि भस्मपरिणतिरुपा तेजोहीनत्वात्
अभिभवकारिणोति निष्कर्षः ।

(ब) सुगुप्त—सुप्रच्छन्नं यथा तथा, गोपनभावेनेत्यर्थः । अनुष्ठातव्यं—इत्यर्थः
मित्यर्थः, कश्चैचित् न प्रकाशनीयमिति भावः । [अनु + स्था + तव्य “उपपन्नं”
सुनोतिसुवतिस्यतिसौतिसौभतिस्या—” (८३ ६५ पा०) इति षत्वम्] ।

(म) न त्वं नाहं, जीवामि इति शेषः, पिङ्गलककोपेन हावप्यावां मरिच-
इत्यर्थः ।

(म) निष्पन्नम् ?—सिद्धम् ? समीहितं ते सफलं जातम् ? इत्यर्थः ।

(१७९) बन्धुरिति ।—कः जनः, दुष्टानां दुर्हत्तानां, बन्धुः मित्रं, नाम ?
इति प्रश्ने ; न कोऽपि इत्यर्थः ; अतियाचितः पुनः पुनः प्रार्थितः सन्, कः कर-
कुप्येत् ? न क्रोधपरवशो भवेत् ? अपि तु सर्व एव कुप्येदित्यर्थः, को जनः, किं
सम्पदा, न दृष्यति ? न गर्वितो भवति ? अपि तु सर्व एव अहङ्कारो भवतीत्यर्थः
कुलत्वे कुकार्ये, परहिंसादौ इत्यर्थः, कः जनः, न पण्डितः ? न दक्षः ? अपि तु
एव ; परानिष्टकरत्वेन कुलत्वत्वात् कर्मण्यस्मिन् त्वं सुदक्ष एव, अतस्तव कार-
मम सन्देहो नास्तीति भावः ।

अन्यच्च,—दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये ।

किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाश्रवत् ? ॥ १८० ॥

ततो दमनकः पिङ्गलकसमीपं गत्वा,—“देव ! समागतोऽसौ
(य) पापाश्रयस्तत् (र) सज्जीभूय स्थीयताम्” इत्युक्त्वा
(ल) पूर्वोक्ताकारं कारयामास । सज्जीवकोऽप्यागत्य तथाविधं
विक्रताकारं सिंहं दृष्ट्वा स्वानुरूपं विक्रमं चकार । ततस्तयोः
प्रवृत्ते (व) महाऽऽहवे सज्जीवकः सिंहेन व्यापादितः । अथ
पिङ्गलकः सज्जीवकं सेवकं व्यापाद्य विश्रान्तः सशोक इव
(श) आसीनः ब्रूते च—“किं मया (ष) दारुणं कर्म कृतम् ? यतः,—
परैः सम्भुज्यते राज्यं स्वयं पापस्य भाजनम् ।

धर्मातिक्रमतो राजा सिंहो हस्तिवधादिव ॥ १८१ ॥

(१८०) दुर्वृत्त इति ।—धूर्तैः शत्रैः, आत्मविवृद्धये निजोन्नतिसम्पादनायम्,
आत्मदरभिसन्धिसाधनायमित्यर्थः, श्रीमान् धनसम्पन्नो लोकः, दुर्वृत्तः दुराचारः,
दुःशील इत्यर्थः, क्रियते, धूर्ताः स्वायंसिद्धये श्रीमन्तमपि स्वानुरूपं दुर्वृत्तं करोतीत्यर्थः,
तथाहि खलसंसर्गः असत्सङ्गतिः, आश्रयाश्रवत् आश्रयम् आधारम्, अश्राति दहतीत्या-
श्रयाश्रः वज्रिः तद्वत्, (“आश्रयाशो वृद्धानुः क्लेशानुः पावकोऽनलः” इत्यमरः) ।
किं नाम नाम इति सम्भावनायाम्, अनिष्टम् इति शेषः, न कुरुते ? न विदधाति ?
प्रत्युत सर्वानेवान्धान् साधयितुं शक्नोतीत्यर्थः, ज्वलदग्निर्यथा निखिलमेव विश्वं
सम्योर्धुं शक्नोति, तथा खलसंसर्गोऽपि संसर्गिणं सर्व्वथा विकरोति, न हि किमपि
अकार्य्यं दुर्जनानामिति भावः । अत्र “आश्रयाश्र” पदेन आश्रयदातारमपि दुर्जना
विनिघ्नन्ति इति ध्वन्यते ।

(य) पापाश्रयः,—दुष्टचित्तः ।

(र) सज्जीभूय—सन्नहीभूय, आत्मनषोद्यतः सन्नित्यर्थः ।

(ल) पूर्वोक्ताकारं—सज्जीवकाद्योपदिष्टं स्वव्यकरणं लाद्याकारम् ।

(व) महाऽऽहवे—महायुद्धे ।

(श) आसीनः,—उपविष्टः । [आस + आनच्] ।

(ष) दारुणं—भीषणं, निष्ठुरम् इति यावत् ।

(१८१) परैरिति ।—राजा वृषः, हस्तिवधात् गजव्यापादनात्, सिंह इव

अपरच, — भूम्येकदेशस्य गुणान्वितस्य

भृत्यस्य वा बुद्धिमतः प्रणाशः ।

भृत्यप्रणाशो मरणं नृपाणां

नष्टाऽपि भूमिः सुलभा न भृत्याः ॥ १८२ ॥

दमनको ब्रूते, — “स्वामिन् ! कोऽयं नूतनो (स) न्यायः,
यत् (ह) अरातिं हत्वा सन्तापः क्रियते ? तथा ह्युक्तम्, —
पिता वा यदि वा भ्राता पुत्रो वा यदि वा सुहृत् ।
प्राणच्छेदकरा राज्ञा हन्तव्या भूतिमिच्छता ॥ १८३ ॥

पशुराज इव, धर्मातिक्रमतः धर्मोन्नतनात, राज्यरक्षणार्थं युद्धे प्राणिवधादिदम्,
धर्माचरणादित्यर्थः, स्वयम् आत्मना, पापस्य हिंसायुक्तानजनितस्य बन्ध,
भाजनं पावं, भवति, राज्यं सुशासनजनितं राज्यवाससुखमित्यर्थः, परैः स्वैः,
अनुजीविभिरित्यर्थः, सम्भुज्यते अनुभूयते, न तु राज्ञेति भावः ; सिंहो यथा हंसं
निहत्य अनुजीविनाम् उदरपूरणविधिं कुर्वन् प्राणिवधपापेन पापी भवति, तथा
राजाऽपि अरिकुलं विनिहत्य प्रकृतिपुञ्जानां सुखं विधाय स्वयं नरहत्यापापेन
पातको भवति इति भावः ।

(१८२) भूमौति । — गुणान्वितस्य सर्वगुणीपेतस्य, बुद्धिमतः विवेकधीमत्स्य,
भृत्यस्य अनुजीविनः, प्रणाशः हत्युः, गुणान्वितस्य सर्वशस्याव्यस्येत्यर्थः, भृत्यैकदेशस्य
राज्यांशस्य, प्रणाशो वा अपहरणमिव, अन्यहस्तगमनम् इवेत्यर्थः, (“इत्यु-
वायथाशब्दौ” इत्युक्तेः) परन्तु भृत्यप्रणाशः तादृशस्य भृत्यस्य अभावः, नृपा-
राज्ञां, मरणं हत्युत्पल्लवेशावह इत्यर्थः ; कुतः ? इत्याह — भूमिः राज्यं, नष्टाऽपि
अपहृताऽपि सती, सुलभा पुनरपि लब्धुं शक्या, भृत्याः अनुजीविनस्तु, यत्
हतायेत्, न, सुलभा इत्यनुषङ्गः ; तन्मया अकार्यं कृतमिति भावः । (“प्रणाश-
इत्यत्र “प्रणाशे” इति पाठे — वा-शब्दः चकारार्थकः, तथा च — गुणान्वित-
भूम्येकदेशस्य बुद्धिमतः भृत्यस्य च प्रणाशे प्रणाशविवये, एतदुभयोर्मध्ये इत्यर्थः,
भृत्यप्रणाशो नृपाणां मरणमित्यादि) । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

(स) न्यायः, — नीतिः, नियम इति यावत् ।

(ह) अराति — शत्रुम् ।

(१८३) महाभारतशान्तिपर्वोपापहन्तव्याख्यानप्रकरणोक्तं श्रीकमलवत्सल

अपि च,—धर्मार्थकामतत्त्वज्ञो नैकान्तकरुणो भवेत् ।

न हि हस्तस्थमप्यर्थं क्षमावान् रक्षितुं क्षमः ॥ १८४ ॥

किञ्च,—क्षमा शत्रौ च मित्रे च यतीनामेव भूषणम् ।

अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैव दूषणम् ॥ १८५ ॥

अपरञ्च,—राज्यलोभादहङ्कारादिच्छतः स्वामिनः पदम् ।

प्रायश्चित्तं हि तस्यैकं जीवोत्सर्गो न चापरम् ॥ १८६ ॥

सर्वथा जिघांसुर्हन्तव्य इत्याह, पितेति ।—पिता जनको वा, यदि वा अथवा, भ्राता सहोदरः, पुत्री वा सुतो वा, यदि वा अथवा, सुहृत् मित्रम्, एते अपि प्राणच्छेदकराः प्राणनाशीयताः चेत्, मृतिं सम्पदम्, इच्छता अभिलषता, राज्ञा नृपेण, हन्तव्याः अवश्यमेव वध्याः, का कथा परेषाम् ? इत्यर्थः, अतोऽत्र नानुशोचितव्यमिति भावः । (महाभारते “पिता” इत्यत्र “पुत्रः” “पुत्रः” इत्यत्र “पिता” “प्राणच्छेदकरा राज्ञा” इत्यत्र “अयं विघ्नं कुर्वाणः” इति पाठव्यतिकरः) ।

(१८४) धमेति ।—धर्मः अहिंसादिः, अर्थः अर्जनवर्द्धनसंरक्षणादिनाम्नं धनं, कामः विषयभोगाभिलाषः ते तेषां, द्विवर्गस्य इत्यर्थः, तत्त्वज्ञः रहस्यवित्, जनः इति शेषः, एकान्तकरुणः अत्यन्तदयालुः, न भवेत् न स्यात्, हि यतः, क्षमावान् अत्यन्तक्षमाशीलो जनः, एकान्तकरुण इति भावः ; हस्तस्थमपि करतलगतमपि, अर्थं धनं, रक्षितुं स्वाधिकारे स्थापयितुं, न क्षमः न समर्थः, भवतीति शेषः । (“अर्थम्” इत्यत्र “अन्नम्” इति तथा “रक्षितुम्” इत्यत्र “भक्षितुम्” इति पाठान्तरम्) ।

(१८५) क्षमेति ।—शत्रौ रिपौ च, मित्रे सुहृदि च, क्षमा तितित्वाप्रदर्शनमित्यर्थः, यतीनामेव तापसानामेव, विषयभोगे वीतस्पृहाणामेवेति यावत्, न पुनः यद्विनामिति भावः ; भूषणम् अलङ्कारः, प्रशंसनीयेति यावत्, नृपाणां राज्ञाम्, अपराधिषु कृतापराधेषु, सत्त्वेषु प्राणिषु, सा क्षमा, दूषणमेव दोषावज्ञा एव, तथात्वे राज्यरक्षणमशक्यं स्यादिति भावः ।

(१८६) राज्येति ।—राज्यलोभात् राजत्वलिप्तायाः, राजपदलाभे उत्कटेच्छायाः इत्यर्थः, अहङ्कारात् स्वात्मपेक्षया राज्यकार्ये अहं दत्त इत्यभिमानात् वा, स्वामिनः प्रभोः, पदम् अधिकारम्, इच्छतः अभिलषतः, तस्य तादृशस्य, तथाविधपापात्मनः भृत्यस्य इत्यर्थः, (“तस्य” इत्यत्र “तत्र” इति पाठे—इच्छतः, भृत्यस्वेति शेषः, तत्र तथाविधपापेच्छायामित्यर्थः) जीवोत्सर्गः प्राणविनाश एव, एकम्

अन्यच्च,—राजा घृणो ब्राह्मणः सर्वभक्षः

स्त्री चावशा दुष्प्रकृतिः सहायः ।

प्रेष्यः प्रतीपोऽधिकृतः प्रमादी

त्याज्या अमी यश्च कृतं न वेत्ति ॥ १८७ ॥

विशेषतश्च,—सत्याऽनृता च परुषा प्रियवादिनी च

हिंसा दयालुरपि चार्थपरा वदान्या ।

नित्यव्यया प्रचुररत्नधनागमा च

वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा ॥ १८८ ॥

अद्वितीयं, प्रायश्चित्तं पापक्षयसाधनं विधिबोधितं कर्म, अपरम् अन्तः किं
न च नैव, प्रायश्चित्तमिति योजना, जीवनदण्ड एव तादृशपापस्य प्रतीकारः इति

(१८७) एकान्तकरुणो राजा न राजपदमहंतीति वक्तुं कांश्चित् त्याज्या
राजेति ।—घृणो दयालुः, अत्यन्तकरुणः इति यावत् । (“कारुण्यं करुणा घृणा
दयाऽनुकम्पा स्यात्” इत्यमरः) राजा भूपतिः, सर्वभक्षः भक्ष्याभक्ष्यभुक्, तं
लुब्ध इत्यर्थः, खाद्यान्नाद्यविचारवर्जित इति यावत्, ब्राह्मणः विप्रः, अवशा प्रसिद्धः
चारिणी, स्त्री च भाव्यां च, दुष्प्रकृतिः असच्चरित्रः, सहायः सहचरः, प्रतीपः प्रसिद्धः
विरुद्धाचारी इत्यर्थः, प्रेष्यः क्लृप्तः, प्रमादी अनवहितः, कर्तव्यपराङ्मुख इति इति
अधिकृतः राजकार्ये नियुक्तः पुरुषः, यश्च जनः, कृतम् उपकृतं, न वेत्ति न ब्रह्म
कृतम् इत्यर्थः, अमी ईदृशाः, एते नृपादयः इत्यर्थः, त्याज्याः परिहायाः, एते
सदोषत्वान् सदोषस्य च परित्यज्यानीचित्यादिति भावः । अत्र प्रथमपादे आदि
नाम गायत्रीच्छन्दः, अपरपादत्रये तु गायत्रीभेदः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

(१८८) सत्येति ।—नृपनीतिः राजनीतिः, वाराङ्गना वारविद्याविनी
वेश्मेव इत्यर्थः, अनेकरूपा विविधरूपधारिणी, प्रयोजनानुरोधात् इति भावः ; अत्र
इति शेषः ; कौटुम्भी ? इत्याह,—सत्या कदाचित् सत्यवादिनी, कदाचित्
सर्वत्राध्याहाय्यं अन्वेतव्यम् ; अनृता कदाचित् मिथ्यावादिनी च, परुषा कदाचित्
कठोरभाषिणीत्यर्थः, प्रियवादिनी च मधुरभाषिणी च, हिंसा युद्धादौ प्राप्ति
दिभिः हिंसारता, दयालुः कृपाप्रदर्शनपरा अपि, अर्थपरा धनग्रहणतत्परा, वदान्या
दानशीला च, नित्यव्यया राज्यरक्षणदिहितोः सदा व्ययशीला, प्रचुराणां तत्परा
मणिमणिस्वामीनां, धनानाम् अर्थानाञ्च, आगमी लाभो यस्याः सा तथोक्ता ।

इति (क) कपटवचनेन दमनकेन सन्तोषितः स्वां प्रकृति-
मापन्नः पिङ्गलकः सिंहासने समुपविष्टः । दमनकः प्रहृष्टमना
भूत्वा,—(ख) “विजयतां महाराजः, शुभमस्तु सर्वजगताम्”
इत्युक्त्वा यथासुखमवस्थितः ।

[इति वणिग्-वृषभ सिंह-ग्रगालहयकथा] ।

विष्णुशर्मा उवाच,—“सुहृद्भेदः श्रुतस्तावद्भवद्भिः ?” ।
राजपुत्रा जनुः,—“भवत्यसादात् श्रुत्वा सुखिनो वयम्” ।
विष्णुशर्मा अब्रवीत्,—“अपरमपि इदमस्तु,—

सुहृद्भेदस्तावद्भवतु भवतां शत्रुनिलये

खलः कालाकृष्टः प्रलयमुपसर्पत्वहरहः ।

जनो नित्यं भूयात् सकलसुखसम्पत्तिवसतिः

कथाऽऽरामे रम्ये सततमिह बालोऽपि रमताम् ॥ १८८ ॥

इति द्वितीयोपदेशे सुहृद्भेदो नाम द्वितीयः कथासङ्ग्रहः ।

वाराङ्गना अपि दृष्टश्चेव भवति, अतो नृपनीतेवाराङ्गनासादृश्यमवगन्तव्यमिति
भावः । वसन्ततिलकं वक्तुम् ।

(क) कपटवचनेन—कृत्तपूर्णवाक्येन ।

(ख) विजयतां—सर्वोत्कर्षेण वर्त्तताम् । [“विपराभ्यां जीः” (१।३।१८ पा०)
इति आत्मनेपदम्] ।

(१८८) परिच्छेदान्ते आशीः कार्येति आह, सुहृद्भेद इति ।—भवतां युष्माकं,
शत्रुनिलये वैरिगृहे, तावत् साकल्येन, सुहृद्भेदः मित्रेण सह भेदसङ्गतं, शत्रूणां
वस्तुविच्छेद इत्यर्थः, भवतु, न तु युष्माकमित्याभिप्रायः ; खलः क्रूरो जनः, कालाकृष्टः
समवशवर्त्तो सन्, अहरहः प्रतिदिनं, प्रलयं नाशम्, उपसर्पंतु प्राप्नुतु, जनः लोकः,
युष्माकं राज्ये स्थितः इत्यर्थः, नित्यं सर्वदैव, सकलसुखसम्पत्तिवसतिः सकलानां सर्व-
विधानां, सुखानां सम्पत्तीनां सम्पदाश्च, वसतिः आवासस्थानं, निखिलसुखैश्वर्यां स्पन्दं,
भूयात् भवतु, इह अस्मिन्, रम्ये रमणीये, चित्तविनोदने इति यावत्, कथा नीति-
कथैव, आरामः उपवनं तस्मिन्, (“आरामः स्यादुपवनम्” इत्यमरः) उपवनरूपे
द्वितीयोपदेशे श्रम्ये इत्यर्थः, बालोऽपि अपरिणतबुद्धिरपि, किमुत परिणतबुद्धिः इति
भावः ; सततं निरन्तरं, रमतां क्रीडतु, विहरतु इत्यर्थः, प्रीतिमग्नभवतु इति यावत् ।

विग्रहः ।

अथ पुनः कथाऽऽरम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्,—“आदि-
राजपुत्रा वयं, तत् (क) विग्रहं श्रोतुं नः कुतूहलमस्ति ।
विष्णुशर्मा उवाच,—“यदेव (ख) भवद्भ्यो रोचते तत् कथयामि ।
विग्रहः श्रूयतां, यस्य अयमाद्यः श्लोकः,—

हंसैः सह मयूराणां विग्रहे तुल्यविक्रमे ।

विश्वास्य वञ्चिता हंसाः काकैः स्थित्वाऽरिमन्दिरे” ॥ ११

राजपुत्रा ऊचुः,—“कथमेतत् ?” । विष्णुशर्मा कथयति,—

हंस-मयूरकथा ।—

“अस्ति कर्पूरद्वीपे (ग) पद्मकेलिनामधेयं सरः । तत्र

[संवत् “आश्विनि लिङ्खोटी” (३३१७३ पा०) इत्याशोरर्धे खण्डे
शिखरिणी वृक्षम् ।

इति श्रीमज्जीवानन्द-विद्यासागर-भट्टाचार्यकृता सुहृद्देव्याख्या ॥ २॥

(क) विग्रहं,—युद्धम् ।

(ख) भवद्भ्यः,—युष्मभ्यम् । [“रुच्यर्थानां प्रीयमाणः” (१४१३३ पा०) इति
चतुर्थी] ।

(१) हंसैरिति ।—हंसैः जलचरैः पक्षिविशेषैः सह, मयूराणां शिखिनां, इत्य-
समरूपः, विक्रमः बलसम्पत्, अभिभवोद्द्योग इत्यर्थः, यस्मिन् तस्मिन् सहस्रपर्यन्तं
विग्रहे युद्धे, काकैः वायसैः, अरिमन्दिरे शत्रुदुर्गे, हंसावासे इत्यर्थः, स्थित्वा तस्मिन्
विश्वास्य प्रत्याययित्वा, हंसानाम् आत्मीयत्वेन विश्वासमुत्पाद्य इत्यर्थः, हंसाः शत्रु-
प्रतारिताः, पराजिताः इति यावत् ; वीर्यवन्तोऽपि हंसाः विश्वासघातकस्य शत्रो-
दुष्टस्य कौशलेन पराजयं प्राप्ता इति निष्कर्षः ।

(ग) पद्मकेलिनामधेयं—पद्मकेलिनामकम् । [“भागरूपनामधेयः धेयः” इति
इति स्वार्थे धेयप्रत्ययः] ।

हिरण्यगर्भो नाम (घ) राजहंसः प्रतिवसति । स च सर्वैर्जलचरेः
पद्मिर्मिलित्वा पञ्चिराज्येऽभिषिक्तः । यतः,—

यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता ततः प्रजा ।

अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव ॥ २ ॥

अपरच,—प्रजां संरक्षति नृपः सा वर्द्धयति पार्थिवम् ।

वर्द्धनाद्रक्षणं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत् ॥ ३ ॥

एकदा असौ राजहंसः (ङ) सुविस्तीर्णकमलपर्यङ्के
सुखासीनः परिवारपरिहृतः तिष्ठति । ततः (च) कुतोऽपि
देशादागत्य दीर्घमुखो नाम वकः प्रणम्य उपविष्टः । राजा
उवाच,—“दीर्घमुख ! देशान्तरादागतोऽसि, वार्त्तां कथय ?” ।

(घ) राजहंसः,—लोटितचक्षुचरणः श्वेतवर्णः हंसश्रेष्ठः । [हंसानां राजा
प्रति विग्रहे राजदन्तादिवत् पूर्व्वनिपातः] ।

(२) युक्तीनेतः कामन्दकनीतेश्च वचनमुपन्यस्य सुशासकस्य आवश्यकतां प्रति-
पादयति, यदीति ।—इह भूतले, यदि सम्यक् समीचीनः, नेता नायकः, शासितेति
राजत, नरपतिः राजा, न स्यात् न विद्येत, ततः तदा, प्रजा लोकः, जलधौ समुद्रे,
अकर्णधारा नाविकाविरहिता, नौः नौका इव, विप्लवेति निमज्जेत्, अराजके जनपदे
प्रजा न कथमपि शान्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

(३) कामन्दकीयवचनमुपन्यस्य राजप्रजयोरेकान्यवर्द्धकत्वमाह, प्रजामिति ।—
नृपः राजा, प्रजां प्रकृतिं, संरक्षति सम्यक् पालयति, सा प्रजा, पार्थिवं नृपं, वर्द्धयति
आदिदानेन पोषयति, वर्द्धनात् पोषणात्, रक्षणं पालनं, श्रेयः शुभकारं, तदभावे
रक्षणाभावे, सत् अपि साधोयोऽपि, मङ्गलमपि इत्यर्थः, असत् असाधोयः, अशुभम्
अश्रेयः, अथवा विद्यमानमपि सर्वम् असत् अविद्यमानमित्यर्थः, भवतीति शेषः ;
राजैव प्रजारक्षणमूलमिति भावः ।

(ङ) सुविस्तीर्णकमलपर्यङ्के—सुविस्तीर्णं बृहदाकारं, यत कमलं पद्मं, तदेव
पर्यङ्कमिति । सुखासीनः,—सुखेन आसीनः उपविशन् [आदादिकस्य आसधातोः
आसच् रूपम्] । परिवारपरिहृतः,—परिवारेण सजनवर्गेण, परिहृतः वेष्टितः ।

(च) कुतोऽपि—कस्माच्चिदपि, अविज्ञातनामधेयात् देशादित्यर्थः ।

स ब्रूते,—“देव ! अस्ति (क) महती वार्त्ता । ताम् (ज) आख्या-
काम एव सत्वरमागतोऽहम् । श्रूयताम्,—”

अस्ति जम्बुद्वीपे विन्ध्यो नाम गिरिः । तत्र चित्रवर्षो न-
मयरः पक्षिराजो निवसति । तस्य अनुचरैश्चरद्भिः पक्षिभिः
(भ) दग्धारण्यमध्ये चरन्नवलोकितः पृष्ठश्च,—“कस्त्वं,
समागतोऽसि ?” । ततो मयोक्तम्,—“कर्पूरद्वीपस्य राजा
वर्त्तिनो हिरण्यगर्भस्य राजहंसस्यानुचरोऽहम् । कौतुकाद्देश-
द्रष्टुमागतोऽस्मि ।” तच्छ्रुत्वा पक्षिभिरुक्तम्,—“अनयोः देश-
को देशो (ज) भद्रतरः, राजा वा ?” । ततो मयोक्तम्,—“
किमेवमुच्यते ? (ट) महदन्तरम् ; यतः कर्पूरद्वीपः (ठ) स्वर्ग-
देशः, राजा च (ड) द्वितीयः स्वर्गपतिः, कथं वर्णयितुं शक्यं
अत्र मरुस्थले पतिता यूयं किं कुरुथ ? आगच्छत, श्रूय-
गम्यताम् । ततस्तद्वचनमाकर्ण्य पक्षिणः सकोपा बभूवुः । त-
तो चोक्तम्,—

पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम् ।

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ॥ ४ ॥

(क) महती—गुरुतरा, अतीवप्रयोजनीया इत्यर्थः ।

(ज) आख्यातुकामः,—वक्तुकामः [“लुप्त्येदवश्यमः कृत्ये तुम्-काममव-
(का०) इति तुमुनी मलोपः] ।

(भ) दग्धारण्यमध्ये—दग्धारण्यनामारण्यविशेषमध्ये ।

(ज) भद्रतरः,—श्रेष्ठतरः ।

(ट) महदन्तरम्—उभयोर्देशयोः राज्ञोश्च महान् प्रभेदः ।

(ठ) स्वर्गदेशः,—सुरलोकस्य अंशविशेषः, स्वर्गतुल्य इत्यर्थः ।

(ड) द्वितीयः,—अपरः । स्वर्गपतिः,—सरिन्द्रः, इन्द्रतुल्य इत्यर्थः ।

(४) भुजनीत्युक्तवचनमवलम्ब्य अयोग्यपात्रे उपदेशः महानर्कश्च
पयःपानमिति ।—भुजङ्गानां सर्पाणां सम्बन्धे, पयःपानं दुग्धपानं, केवलम्
विषवर्द्धनं विषजनकम् ; हि तथाहि, मूर्खाणां हिताहितविवेकशून्याणां

विग्रहः—विद्वानेवोपदेष्टव्यो नाविद्वान्स्तु कदाचन ।

वानरानुपदिश्याञ्जान् स्थानभ्रष्टा ययुः खगाः ॥ ५ ॥

राजोवाच,—“कथमेतत् ?” । दीर्घमुखः कथयति,—

विग्रह-वानरकथा ।—

“अस्ति नर्मदातीरे (ठ) पर्वतोपत्यकायां विशालः शाखाली-
तरः । तत्र (ण) निर्मितनीडक्रोडे पक्षिणः सुखेन निवसन्ति ।
प्रत्येकदा वर्षासु (त) नीलपटैरिव जलधरपटलैः आवृते
नभस्तले धारासारैर्महती वृष्टिर्वभूव । ततो वानरांस्तुतलेऽव-
स्थितान् (थ) शीतार्त्तान् कम्पमानान् अवलोक्य कृपया
पक्षिभिरुक्तम्,—“भो भो वानराः ! श्रूयताम्,—

उपदेशः इतिःनुशासनं, प्रकोपाय क्रोधीह्रीपनाय, शान्तये प्रबोधाय, न, सम्यग्वापि
भवति इति श्रवः, मुखे उपदेशवचनं विफलम् अतो मुखो न उपदेष्टव्य इति भावः ।

(५) मुखः हितोपदेशानर्हः इत्याह, विद्वानिति ।—विद्वान् बुध एव, उपदेष्टव्यः
हितं वक्तव्यः, अविद्वान् मुखस्तु, कदाचन कदाचिदपि, न, उपदेष्टव्य इति
पूर्वशान्त्यः, तथाहि अज्ञान् मुखान्, वानरान् शाखासृगान्, उपदिश्य विबोध्य,
उपदेशं दत्त्वा इत्यर्थः, खगाः केचित् पक्षिणः, स्थानभ्रष्टाः स्वावासयुताः, भग्ननीडाः
सनः इत्यर्थः, ययुः अन्यत्र जग्मुः ।

(ठ) पर्वतोपत्यकायां—पर्वतस्य उपत्यकायाम् आसन्नभूमौ, पर्वतसमीपस्थ-
समतलक्षेत्रे इत्यर्थः ।

(ण) निर्मितनीडक्रोडे—निर्मितः रचितः, य नीडः कुलायः, तस्य क्रोडे अभ्यन्तरे ।

(त) नीलपटैरिव—नीलाम्बरेरिव, नीलवर्णचन्द्रातपैरिवेत्यर्थः । (“नील-
पटलैः” इति पाठे—नीलसमूहैः, राशीभूतनीलवर्णैरित्यर्थः, नीलच्छदिभिर्वा, नील-
वर्णवृक्षाच्छादनैरित्यर्थः । (“छदिर्नेत्रकृजोः क्लीबं समूहे षट्त्वं न ना” इत्यमरः) ।
“नीलपटोलैः” इति पाठे—पटोलैः नीलवर्णवस्त्रभेदैः (“पटोलं वस्त्रभेदः । नीलधौ
गोस्त्रान् योषति” इति मेदिनी) । जलधरपटलैः,—नीलसमूहैः । आवृते—
आवृते, आच्छादिते इत्यर्थः । नभस्तले—गगनप्रदेशे । धारासारैः,—सवेगवृष्टजल-
सम्पातैः, महतीभिः जलसन्ततिभिः इति यावत् ।

(थ) शीतार्त्तान्—शीतकातरान् । [शीतेन ऋतः इति वाक्ये “ऋते च

अस्माभिर्निर्मिता नीडाश्चक्षुमात्राहृतैस्तृणैः ।

हस्तपादादिसंयुक्ता यूयं किमवसीदथ ?” ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा वानरैः (द) जातामर्षेः आलोचितम्,—“पक्षि
(ध) निर्वातनीडगर्भावस्थिताः सुखिनः पक्षिणोऽस्मान् निन्दन्ति
तद्भवतु तावद् वृष्टेः (न) उपशमः” । अनन्तरं (प) शान्ते
पानीयवर्षे तैर्वानरैर्वृक्षमारुह्य सर्वे नीडा भग्नाः, तेषां पक्षिण
मण्डानि चाधः पातितानि । अतोऽहं ब्रवीमि,—‘विहायैवे
देष्टव्यः’ इत्यादि ।”

[इति विहग-वानरकथा] ।

राजोवाच,—“तदा पक्षिभिः किमुक्तम् ?” । दीर्घमु
कथयति,—“ततः पक्षिभिः कोपादुक्तम्,—“केनासौ राजा
कृतो राजा ?” । ततो मयोपजातकोपेनोक्तम्,—“

तृतीयासमासे” (वा०) इति सूत्रेण वृद्धिः । “श्रीतेन आर्चः इति वाक्ये प-
ञ्च + क्तः “उपसर्गादिति धातौ” (६।१।८१ पा०) इति वृद्धौ आर्चः इति
सिद्धम् । ततश्च “ओमाङोश्च” (६।१।८५ पा०) इति पररूपम् एकादेशश्च,
“अकः सवर्णे दीर्घः” इति सूत्रेण दीर्घता] ।

(६) किमसाध्यमुत्साहवतां प्रज्ञावतां वा इत्यभिप्रायेणाह, अस्माभिर्निर्मिता-
अस्माभिः पक्षिभिरित्यर्थः, हस्तविहीनैरपीति भावः, चक्षुमात्राहृतैः चक्षुमात्राहृतैः
नङ्गहृतैः, वृणोः घासादिभिः, नीडाः कुलायाः, आवासाः इति यावत्, निर्वात-
कृताः, यूयं हस्तपादादिसंयुक्ताः इक्षौ च पादौ च हस्तपादम् आदिः देव-
संयुक्ताः हस्तादिभिः अङ्गैः अन्विताः सन्तः, अपीति शेषः, किं कथम्, यदस्माकं
किं ग्रथ ? भवतां क्लेशस्तु निर्बुद्धितामूलः आलस्यमूलो वा इति भावः ।

(द) जातामर्षेः,—जातः उत्पन्नः, अमर्षः क्रोधी येषां तैः, क्रोधादित्यर्थः ।
आलोचितं—वितर्कितम् ।

(ध) निर्वातनीडगर्भावस्थिताः,—निर्वातं वातो वायुः येषु ते निर्वाताः
रहिताः, ये नीडानां कुलायानां, गर्भा अभ्यन्तराणि, तेषु अवस्थिताः ।

(न) उपशमः,—विरतिः ।

(प) शान्ते—निवृत्ते । पानीयवर्षे—जलवर्षणे ।

युष्मदीयः मयूरः केन राजा कृतः ?” । तच्छ्रुत्वा ते पक्षिणो मां
हन्तुमुद्यताः । ततो मयाऽपि स्वविक्रमो दर्शितः । यतः,—

अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः ।

पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव” ॥ ७ ॥

राजा विहस्याह,—

“आत्मनश्च परेषाञ्च यः समीक्ष्य बलावलम् ।

अन्तरं नैव जानाति स तिरस्क्रियतेऽरिभिः ॥ ८ ॥

एवञ्च,—सुचिरं हि चरन्निव्यं क्षेत्रे शस्यमबुद्धिमान् ।

ह्रीपिचर्मपरिच्छन्नो वाग्दोषात् गर्दभो हतः” ॥ ९ ॥

वक्ता पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । राजा कथयति,—

(७) स्वविक्रमप्रदर्शनस्य औचित्यं समर्थयितुं महाकवेर्माघस्य उक्तिं प्रमाण-
त्वेन उपन्यस्यति, अन्यदेति ।—अन्यदा अन्यस्मिन् काले, अपरिभवसमये इत्यर्थः । पुंसः
पुरुषस्य, क्षमा सहिष्णुता, अन्यदा सुरतव्यतिरिक्ते काले, योषितः स्त्रियाः, लज्जा
शङ्कीनतेव, भूषणम् अलङ्कारः, प्रशंसनीयत्वार्थः, किन्तु योषितः सुरतेषु रतिक्रियासु,
वैयात्यं धार्ष्ट्यं, निर्लज्जत्वमित्यर्थः, तदिव, परिभवे पराजयकारणे समुपस्थिते,
पराक्रमः प्रभावः, साहसप्रदर्शनम् इत्यर्थः, भूषणमित्यनेनान्वयः ; अन्यथा पराजय एव
सम्भाव्यते इति भावः ।

(८) स्वपरबलावलाविवेकिनः नियहस्थानत्वमाह, आत्मन इति ।—यो
जनः, आत्मनः स्वस्य च, परेषाञ्च शत्रूणाञ्च, बलावलं सबलत्वं हीनबलत्वञ्च,
समीक्ष्य विचार्य, अन्तरं प्रभेदं, नैव जानाति न बुध्यते, स जनः, अरिभिः शत्रुभिः,
तिरस्क्रियते परिभूयते ; परमखली परेषां संक्षतिबलं समीक्ष्यमाणस्यापि सहाय-
यस्य उभयोः प्रभेदाज्ज्ञस्य व्यर्थविक्रमं प्रदर्शयितुको परामवप्राप्तिर्न विस्मयावहा
इति हृदयम् ।

(९) अनियतवचसी नियहस्थानत्वं प्रदर्शयितुमाह, सुचिरमिति ।—क्षेत्रे
वेदारे, शस्त्रोपपत्तिस्थाने इत्यर्थः, सुचिरं हि बहुदिनं यावत्, नित्यं प्रत्यहं, शस्यं
शान्तप्रवादिनं, चरन् भक्षयन्, ह्रीपिचर्मपरिच्छन्नः व्याघ्रचर्मसमाहतः, अबुद्धिमान्
निर्बोधः, गर्दभः कश्चित् रासभः, वाग्दोषात् वाक्संयमाभावापराधात्, चीत्कारा-
दित्यर्थः, हतः व्यापादितः, क्षेत्रपतिना इति शेषः ।

रजक-व्याघ्रचर्मांशतगर्दभकथा ।—

“अस्ति हस्तिनापुरे विलासो नाम रजकः । तस्य गर्दभोऽतिभारवहनात् दुर्बलो (फ) सुमूर्षुरिवाभवत् । ततश्च रजकेनासौ व्याघ्रचर्मणा प्रच्छाद्य अरण्यसमीपे शयनं मोचितः । ततो दूरात् (ब) तमवलोक्य (भ) व्याघ्रवृद्धा चैत्रपक्षे सत्वरं पलायन्ते । अथैकदा केनापि शस्यरक्षकेण (म) धूसरकम्बलकृततनुव्राणेन (य) धनुष्काण्डं सज्जीकृत्य (र) श्वनकायेन एकान्ते स्थितम् । ततस्तच्च दूरात् दृष्ट्वा गर्दभः पुष्टो यथेष्टशस्यभक्षणजातबलो गर्दभोऽयमिति मत्वा उच्चैः कुर्वाणस्तदभिमुखं धावितः । ततस्तेन शस्यरक्षकेण चीत्तशब्दात् (ल) गर्दभोऽयमिति ज्ञात्वा (व) लीलयैव व्यापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि,—‘सुचिरं हि चरन्नित्यम्’ इत्यादि” ।

[इति रजक-व्याघ्रचर्मांशतगर्दभकथा] ।

दीर्घमुखो ब्रूते,—“पश्चात् तैः पक्षिभिरुक्तम्,—“अरे पक्षि

(फ) सुमूर्षुरिव—मरणोन्मुख इव । [मृडः सन्नन्तादुः] ।

(ब) तं—व्याघ्रचर्मांश्चादितं गर्दभम् ।

(म) व्याघ्रवृद्धा—व्याघ्रज्ञानेन, व्याघ्रसमीपे इति यावत् । चैत्रपक्षः चैत्रश्रावणः ।

(न) धूसरकम्बलकृततनुव्राणेन—धूसरः धूसरवर्णः, यः कम्बलः तन्वसम्पादितं, तनुव्राणं देहाच्छादनं येन स तथोक्तेन, धूसरवर्णकम्बलेन शरीरव्राण इत्यर्थः ।

(य) धनुष्काण्डं—धनुर्वाणम् । (“काण्डोऽस्त्री दण्डवाणावर्णावसरानां इत्यमरः) ।

(र) श्वनतकायेन—श्वनतः नृलोक्तः, कायः येन सः तेन, श्वनतं नार्थं देहं सङ्ख्य इत्यर्थः । एकान्ते—क्षेत्रस्य एकदेशं, निर्वर्जनस्थाने इत्यर्थः ।

(ल) गर्दभोऽयम्—अयं परमायतः गर्दभः, न तु व्याघ्रः ।

(व) लीलयैव—प्रलयावस्थेनैव ।

दुष्ट वक् ! अस्माकं भूमौ चरन्नस्माकं स्वामिनम् (श) अधि-
क्षिपसि ? तन्न चन्तव्यमिदानीम्” इत्युक्त्वा सर्वे मां चक्षुभिर्हत्वा
सकोपा ऊचुः,—“पश्य रे मूर्ख ! स हंसस्तव राजा सर्वथा
(ष) मृदुः, तस्य राज्याधिकारो नास्ति, यतः (स) एकान्तमृदुः
करतलगतमप्यथै रक्षितुमक्षमः, कथं स पृथिवीं शास्ति ?
राज्यं वा तस्य किम् ? त्वच्च (ह) कूपमण्डूकः, तेन (क) तदा-
श्रयणमुपदिशसि । शृणु,—

सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः ।

यटि दैवात् फलं नास्ति छाया केन निवार्यते ? ॥ १० ॥

अथ,—हीनसेवा न कर्त्तव्या कर्त्तव्यो महदाश्रयः ।

पयोऽपि शीर्णिको हस्ते वारुणीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

(श) अधिक्षिपसि—निन्दसि ।

(ष) मृदुः,—कीमलस्वभावः, हीनतेजा इत्यर्थः ।

(स) एकान्तमृदुः,—अत्यर्थशान्तचित्तः ।

(ह) कूपमण्डूकः,—कूपस्थभेकः, कूपे एव सञ्चरणकारी मण्डूक इव
देशान्तरवृत्तान्तानभिज्ञ इत्याशयः ; तथा हि, मण्डूको व्यावामकूपादृतेऽन्यः वृद्धत्
मलाश्रयो नास्तीति मन्यते, लोकेऽपि तादृशं किञ्चिद्विधाभिमानिनं सर्वे कूपमण्डू-
काव्यदुर्वादेन निन्दन्ति ।

(क) तदाश्रयणं—तस्य राजर्हस्य, आश्रयणम् आश्रयणदणम् ।

(१०) कीदृशः आश्रयः याज्ञः इति वक्तुं वृक्षचाणक्यवचनं प्रमाणयति, सेवितव्य
इति—फलच्छायासमन्वितः फलच्छायायुक्तः, महावृक्षः विशालस्तम्भः, सेवितव्यः
आश्रयणीयः ; कुतः ? इत्याह,—यदि चेत्, दैवात् दैववशात्, फलं शस्यं, नास्ति
न विद्यते, न फलतौत्यर्थः, तथाऽपि छाया अनातपः, केन निवार्यते ? प्रतिरुध्यते ?
न केनापि इत्याशयः ; फलाभावेऽपि अवश्यमेव छाया लब्धव्या भवेत् इत्यर्थः, ततो
महदाश्रयणमेव कर्त्तव्यमिति भावः ।

(११) वृक्षचाणक्यवचनमुपन्यस्य सर्वथा महानेवाश्रयणीय इत्याह, हीनेति ।—
हीनसेवा नीचपरिचर्या, नीचाश्रयणमित्यर्थः, न कर्त्तव्या न विधेया, महदाश्रयः
महता गुणाधिकानाम्, आश्रयः महाजनावलम्बनं, कर्त्तव्यः विधेयः ; नीचा-

अपरच,—महानप्यल्पतां याति निर्गुणे गुणविस्तरः ।

आधाराधेयभावेन गजेन्द्र इव दर्पणे ॥ १२ ॥

किन्तु,—अजा सिंहप्रसादेन वने चरति निर्भयम् ।

राममासाद्य लङ्कायां लेभे राज्यं विभीषणः ॥ १३ ॥

अथ ये दोषमाह,—तथा हि शौण्डिकी सुराविक्रोदपत्नी, तस्याः हस्ते करे, स्थितिः शेषः, पयोऽपि जलं दुग्धं वा अपि, वारुणी सुराविशेषः, इति एवम्, परिगणितं कथ्यते, जनैरिति शेषः । हीनसेवायाः हीनत्वप्रापकत्वात् हीनत्वबोधकत्वात् नौचः कथमपि सेवितव्य इति निष्कर्षः । महदाश्रये,—“कौटोऽपि समन्वयः आरीहति सतां शिरः” इति दृष्टान्त उच्यते ।

(१२) निर्गुणाश्रयस्य दोषान्तरमाह, महानपीति ।—निर्गुणे गुणहीने परं महानपि प्रसूतोऽपि, आधारीयोऽपि इत्यर्थः, गुणविस्तरः गुणसमृद्धः, केनापि कथ्यते गुणव्यापनम् इत्यर्थः, आधारधेयभावेन आश्रयाश्रयिभावेण, विस्वप्रतिविम्बभावेन स्वस्वत्वेन इत्यर्थः, आधारस्य अणुत्ववृत्तत्वेन आधेयस्यापि अणुत्वमहत्त्वप्रतीयमानत्वेनेति यावत्, दर्पणे मुकुटे, गजेन्द्र इव नागराज इव, प्रतिविम्बः महागज इव इत्यर्थः, अल्पतां लघुत्वं, हीनत्वमित्यर्थः, याति प्राप्नोतिः स्वत्वात्प्रतिविम्बस्वस्मिन् प्रतिफलितं महागजं यथा स्वल्पतया गृह्णाति, तथा निर्गुणः पुमान् महं गुणराशिमपि अल्पतयैव मन्यते ; आधारभूतायाम् आत्मनः स्वल्पबुद्धौ आधेयस्य गुणराशिः परिच्छेदाच्चमत्वात्, अतो हीनसेवा नैव कार्या इति निष्कर्षः । यथा,—निर्गुणे गुणविस्तरः गुणानां विस्तरो यत्र सः प्रभृतगुणसम्पन्नः, महानपि सदा चरितोऽपि, आधाराधेयभावेन दर्पणे गजेन्द्र इव अल्पतां हीनतां याति, इत्येतं परिगणितो भवतीत्यर्थः ; यथा अतिक्षुद्रे दर्पणे प्रतिफलितः महागजोऽपि क्षुद्रं प्रतीयते, तद्वत् हीनाश्रितो महानपि । तथा हि “सा काली दाससङ्गेन दृष्टा क्रूरतां गता” इति । अहो ! दुष्परिणामः सेवाया इति भावः । यथा,—गुणविस्तरं महानपि, अल्पतां हीनतां, निर्गुणमित्यर्थः, याति प्राप्नोति, नौचाश्रयवृत्तत्वात् कथं आश्रयदृष्टान्तेन स्वयमपि गुणहीनो भवति, दोषगुणयोः संसर्गप्रभावाधीनता इति भावः । “संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति” इति महाननवाक्यम् ।

(१३) तथैव महदाश्रयस्य गुणवत्त्वां दर्शयति, अजेति ।—सिंहप्रसादेन सिंहानुगृहेण, सिंहमाश्रित्य तदभयवरीणेत्यर्थः, अजा छागी, वने चरत्ये, निर्भयं व्याघ्रादिभयरहितं यथा तथा, चरति आस्यति, तथा विभीषणः रावणानुजः, राव

विशेषतः,—व्यपदेशेऽपि सिद्धिः स्यादतिशक्ते नराधिपे ।

शशिनो व्यपदेशेन वसन्ति शशकाः सुखम् ॥ १४ ॥

मयोक्तम्,—“कथमेतत् ?” । पक्षिणः कथयन्ति,—

गज-शशककथा ।—

“कदाचिद्वर्षास्त्रपि वृष्टेरभावात् (ख) वृषार्त्तो गजयूथो
यूथपतिमाह,—“नाथ ! कोऽभ्युपायोऽस्माकं (ग) जीवनाय ?
नास्ति (घ) क्षुद्रजन्तूनां निमज्जनस्थानम् ; वयञ्च निमज्जना-
भावात् (ङ) अन्धा इव, क्व यामः ? किं वा कुर्मः ?” । ततो
हस्तिराजो नातिदूरं गत्वा निर्मलं ऋदं दर्शितवान् । ततः
दिनेषु गच्छत्सु तत्तीरस्थिताः क्षुद्रशशकाः (च) गजयूथपादा-
ऽहतिभिः चूर्णिताः । अनन्तरं शिलीमुखो नाम शशकश्चिन्तया-

दाशरथिम्, आसाद्य प्राप्य, रामाश्रयग्रहणादित्यर्थः, लङ्कायां राज्यं लब्धे प्राप,
वशाधिपत्यम् अधिककारित्वर्थः ।

(१४) महतां प्रभावेणापि कार्यसिद्धिः स्यादिति दर्शयति, व्यपदेशे इति ।—
नराधिपे राजनि, अतिशक्ते प्रबले सति, प्रभावसम्पन्ने सतीत्यर्थः, व्यपदेशेऽपि
तद्वामयक्षणे कृतेऽपि, सिद्धिः अभोष्टसिद्धिः, जयलालः इति यावत्, स्यात्
भवेत् ; तथा हि शशिनश्चन्द्रस्य, व्यपदेशेन नामकोत्तनेन, चन्द्रस्य वयमिति
परिचयदानेनेत्यर्थः, शशकाः सृगविशेषाः, सुखं निरुपद्रवं, वसन्ति तिष्ठन्ति ।
(“शशकाः सुखमासते” इति पाठान्तरम्) ।

(ख) वृषार्त्तः,—पिपासातुरः । यूथपतिः—यूथनाथं, गजेषु मुख्यम् इत्यर्थः ।

(ग) जीवनाय—जीवनं धारयितुम् ।

(घ) क्षुद्रजन्तूनां—क्षुद्रकायप्राणिनाम्, अपीति शेषः । निमज्जनस्थानम्—
अवगाहनयोग्यजलाशयः, अवेति शेषः । (“कोऽभ्युपायोऽस्माकं जीवनाय नास्ति
क्षुद्रजन्तूनां निमज्जनस्थानम्” इति पाठे—क्षुद्रप्राणिनां पक्ष्यादीनां, निमज्जनस्थानं
अवगाहनाहंजलाशये, अस्माकं जीवनाय कोऽपि उपायो नास्तीत्यर्थः) ।

(ङ) अन्धा इव—महातापात् दृष्टिशक्तिविहीना इव, अतः किंकर्तव्य-
विमूढा इत्यर्थः । (“अन्धाः” इति पाठान्तरम्) ।

(च) गजयूथपादाऽऽहतिभिः,—हस्तिमूढपादप्रहारैः । चूर्णिताः,—पिष्टाः ।

मास,—“अनेन गजयूथेन (छ) पिपासाऽऽकुलितेन प्रत्यक्षं
गन्तव्यम्, अतो विनष्टमस्मत्कुलम्” । ततो विजयो
दृष्टशशकोऽवदत्,—(ज) “मा विषीदत, प्रतीकारो
कर्त्तव्यः” इति प्रतिज्ञाय चलितः । गच्छता च तेनाऽऽलोचितं
—“कथं मया (झ) गजयूथपनिकटे गत्वा वक्तव्यम् ? यतः—

स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः ।

पालयन्नपि भूपालः प्रहसन्नपि दुर्जनः ॥ १५ ॥

अतोऽहं (ज) पर्वतशिखरमारुह्य यूथनाथम् (ट) परि
वादयामि” । तथाऽनुष्ठिते सति यूथनाथ उवाच,—“कस्मिन्
कुतः समायातः ?” । स ब्रूते,—“दूतोऽहं, भगवता च

(छ) पिपासाऽऽकुलितेन—दृष्टान्तेन ।

(ज) मा विषीदत—न विषादं गच्छ । मा इति वारणां चकार
(“मा वारणे विकल्पे च” इति मेदिनी) । [वि + सद + लोट्-त] । प्रतीकारः
वैरनिर्यातनम्, अस्वापकारस्य प्रतिविधानमित्यर्थः, (“वैरमुद्धिः प्रतीकारो वैरनि-
तनञ्च सा” इत्यमरः) ।

(झ) गजयूथपनिकटे—गजयूथाधिपतिसमीपे ।

(१५) गजादीनां भौषणत्वमाह, स्पृशन्निति ।—गजः स्पृशन्नपि
कुर्वन्नपि, स्पृशन्नमात्रेणापि इत्यर्थः, का कथा आघातस्य ? इति भावः,
नाशयति, प्राणिनमिति शेषः, भुजङ्गमः सर्पः, जिघ्रन्नपि आघातं कुर्वन्
निश्वासवायुनाऽपि इत्यर्थः, का कथा दंशनस्य ? इति भावः, सर्वत्र इदं
योजना ; भूपालः राजा, पालयन्नपि रक्षन् अपि, का कथा अपालनस्य
भावः, दुर्जनः दुष्टो लोकः, प्रहसन्नपि प्रसन्नतां दर्शयन्नपि, का कथा मुह्यन्
इति भावः, आघातादिकमकुर्वन्तोऽपि एते गजादयः न हि विश्वासभूतव्यः इति
चरितत्वात् इति भावः ।

(ज) पर्वतशिखरं—गिरिशृङ्गम् ।

(ट) अभिवादयामि—मदभिमुखीकर्तुं वाचिकप्रणामपुरःसरं
मील्यर्थः, येन स समागतं मां परिज्ञातुं शक्नुयादिति भावः ।

भवदन्तिकं (ठ) प्रेषितः” । यूथपतिराह,—(ड) “कार्यमुच्यताम्” । विजयो वदति,—

“उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ।

सदैवावध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः ॥ १६ ॥

तदहं तदाज्ञया ब्रवीमि, शृणु,—यदेते शशकाः (ठ) चन्द्र-
सरोरक्षकास्त्वया निःसारितास्तत्र युक्तं कृतम् ; यतो रक्षकास्ते
शशका मदीयाः, अत एव मे शशाङ्क इति (ण) प्रसिद्धिः” ।
एवमुक्तवति दूते युथपतिर्मयादिदमाह,—“देव ! इदमज्ञानतः
कृतम् ; पुनर्न गमिष्यामि” । दूत उवाच,—“यद्येवं, तदत्र
सरसि भगवन्तं चन्द्रमसं कोपात् प्रकम्पमानं प्रणम्य
(त) प्रसाद्य च गच्छ” । ततस्तेन रात्रौ नीत्वा तत्र जले

(ठ) प्रेषितः,—प्रेरितः ।

(ड) कार्यमुच्यतां—कर्त्तव्यं कथ्यताम् ।

(१६) दूतस्य अवध्यत्वात् निःशङ्कं स्नाम्यादेशविज्ञापनस्य कर्त्तव्यतां कामन्दक-
वचनमनुसृत्याह, उद्यतेष्विति ।—हि यतः, सदैव नित्यकालम् एव, अवध्यभावेन
अवध्यत्वात्, यथायंश्च प्रकृतायंश्च, न तु भवेन अप्रकृतायंश्चेत्यर्थः, वाचकः वक्ता, अतः
दूतः वार्ताहरः, शस्त्रेषु खड्गादिषु, उद्यतेषु मारणायंमुत्तिष्ठेष्ट्वपि, अन्यथा अन्यप्रकारं,
प्रभुसन्देशस्य विपरीतमित्यर्थः, न वदति न कथयति, यद्येव राज्ञा उपदिष्टः
तथैव ब्रूते इत्यर्थः, यद्वा,—शस्त्रेषु उद्यतेष्वपि सदैव अवध्यभावेन दूतः अन्यथा
न वदति, हि यतः, स यथायंश्च वाचकः ; स्नाम्यादेशानुवादी खलु पञ्चम,
अतो अप्रियमपि वचनं मे सर्व्वथा मर्षणीयमित्यभिप्रायः । (“उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु
यथोक्तं शासनं वदेत् । रागापरागौ जानीयात् प्रकृतीनाञ्च मर्त्तरि” ॥ इति
कामन्दकीयः पाठः) ।

(ठ) चन्द्रसरोरक्षकाः,—चन्द्रस्य जलाशयप्रतिपालकाः परिदर्शका वा ।
निःसारिताः,—दूरीकृताः, पादपेषणेन स्थानमष्टाः कृता इति यावत् ।

(ण) प्रसिद्धिः,—ख्यातिः, नामधेयमित्यर्थः, अहं शशाङ्कनाम्ना प्रसिद्धः इति
यावत् ।

(त) प्रसाद्य—प्रसन्नं कृत्वा इत्यर्थः ।

चञ्चलं चन्द्रप्रतिविम्बं दर्शयित्वा स यूथपतिः प्रणामं कारितः।
उक्तञ्च तेन,—“देव ! अज्ञानादनेनापराधः कृतः, तत् क्षमायां,
नैवं वारान्तरं (थ) विधास्यते” इत्युक्त्वा तेन शशकेन स
यूथपतिः प्रस्थापितः। अतोऽहं ब्रवीमि,—‘व्यपदेशेऽपि सिद्धिः
स्यात्’ इत्यादि”।

[इति गज-शशककथा]।

ततो मयोक्तम्,—“स एवास्मत्पुत्रभुः राजहंसो (द) महा-
प्रतापोऽतिसमर्थः, त्रैलोक्यस्यापि प्रभुत्वं तत्र युज्यते, किं
पुनः राज्यम् ?” इति। तदाऽहं तैः पक्षिभिः,—(ध) “दुष्ट !
कथमस्मद्भूमौ चरसि ?” इत्यभिधाय चित्रवर्णस्य राज्ञः समीपं
नीतः। ततो राज्ञः पुरतो मां प्रदर्श्य तैः प्रणम्योक्तम्,—
“देव ! (न) अवधीयताम्, एष दुष्टवकोऽस्मद्देशे चरन्नि
देवपादान् (प) अधिचिपति”। राजाऽऽह,—“कोऽयम् ? कुतः
समायातः ?”। ते जचुः,—“हिरण्यगर्भनाम्नो राजहंसस्यानुचरः,
कर्पूरद्वीपादागतः”। अथाहं गृध्रेण मन्त्रिणा पृष्टः,—“कस्तव
(फ) मुख्यो मन्त्री ?” इति। मयोक्तम्,—(ब) “सर्वशास्त्रार्थ-
पारगः सर्वज्ञो नाम चक्रवाकः”। गृध्रो ब्रूते,—“युज्यते,
(भ) स्वदेशजोऽसौ। यतः,—

(थ) विधास्यते—करिष्यते।

(द) महाप्रतापः,—महान् प्रतापो यस्य सः महाप्रभावः।

(ध) दुष्ट !—उद्धत ! धृष्ट ! इति यावत्। चरसि—विहरसि।

(न) अवधीयताम्—अवहितेन सूयतां, साभिनिवेशं श्रूयतामित्यर्थः।

(प) अधिचिपति—निन्दति।

(फ) मुख्यः,—प्रधानः।

(ब) सर्वशास्त्रार्थपारगः,—सर्वाणि शास्त्राणि तेषाम् अर्थस्य पारं गच्छति
यः सः, सर्वशास्त्रतत्त्ववित् इत्यर्थः।

(भ) स्वदेशजः,—स्वदेशोत्पन्नः, स्वदेशीयः इत्यर्थः।

स्वदेशजं कुलाचारे विशुद्धमुपधाशुचिम् ।

शास्त्रज्ञमव्यसनिनं व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १७ ॥

अधीतव्यवहाराङ्गं ख्यातं मौलं विपश्चितम् ।

अर्थस्योत्पादकं सम्यक् विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः ॥ १८ ॥

(म) अत्रान्तरे शुकनोक्तम्,—“देव ! कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा
जम्बुद्वीपान्तर्गता एव, तत्रापि देवपादानामेवाऽऽधिपत्यम्” ।

ततो राज्ञाऽप्युक्तम्,—“एवमेव । यतः,—

राजा मत्तः शिशुश्चैव प्रमदा धनगर्वितः ।

अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति किं पुनर्लभ्यमेव यत् ?” ॥ १९ ॥

(१७।१८) इदानीं प्रसङ्गतः मन्त्रिणवाचनमुपदिशति, स्वदेशजनिति
पद्यतेति च दाभ्याम् ।—स्वदेशजं स्वस्य देशे जायतं यः सः तं स्वदेशोत्पन्नं,
कुलाचारे कौलिकरीतिनीत्योः, विशुद्धं पवित्रं पवित्रकुलाचारसम्पन्नं, यथा,—कुलं
वंशः, आचारः व्यवहारः, तत्र विशुद्धं विशुद्धकुलोद्भवं पुताचारश्च, उपधाशुचिम्
उपधा “धर्मायंकाममोक्षेय प्रत्येकं परिशीधने । उपेत्य धीयते यस्यादुपधा तेन
कीर्तता” ॥ इत्युक्तेन धर्मायंकामभयाद्युपन्यासेन परीक्षणोऽपि, शुचिं प्रमाणीकृतविशुद्ध-
परितम्, उत्कीचादिप्रलीभनविनयिनमिति भावः ; (“उपधा धर्माद्यैर्यत् परीक्षणम्”
इत्यमरः । “आदिना कामाद्यैर्भययद्” इति टीकाकारः) शास्त्रज्ञं शास्त्रज्ञानवन्तम्,
अव्यसनिनं द्युतपानाद्यासङ्करहितं, व्यभिचारविवर्जितं सत्यधावलांम्बनं परदारामि-
मर्षादिदोषरहितं वा, अधीतव्यवहाराङ्गम् अधीतानि शिखाविषयीकृतानि,
व्यवहाराङ्गाणि विवादशास्त्राणि येन तं व्यवहारशास्त्रवैचारं, ख्यातं विख्यात-
मानं, लोके प्रतिपत्तिभाजनमित्यर्थः, मौलं कुलक्रमागतं प्रथितवंशोत्पन्नं वा,
विपश्चितं पण्डितं, [विप्रकृष्टं चेतति वि+प्र+चित्+क्लिप् पृथो० । “विद्वान्
विपश्चित् दोषज्ञः” इत्यमरः] सम्यक् न्यायतः, अर्थस्य धनस्य, उत्पादकं वृद्धिकरं,
यथा,—सम्यक् साधु यथा तथा, अर्थस्य प्रयोजनस्य, उत्पादकं साधकं, नृपः राजा,
पञ्चगुणसम्पन्नं जनं, मन्त्रिणं सचिवं, विदध्यात् कुर्व्यात्, राज्यशासनकार्येण नियोजयेत्
इत्यर्थः, सचिवः खलु एतादृशगुणसम्पन्न एव युज्यते इति निष्कर्षः ।

(न) अत्रान्तरे—इत्यवसरे । लघुद्वीपाः,—क्षुद्रद्वीपाः । आधिपत्यं—प्रभुत्वम् ।

(१९) राजादोनाः स्वाभाविकवृत्तिं वर्णयन्नाह, राजेति ।—राजा भूपतिः,
मत्तः उत्मत्तः, चित्त इति यावत्, शिशुः बालकः, प्रमदा नारी, धनगर्वितस्य धनेन

ततो मयीक्तम्,—“यदि (य) वचसैव तत्रापि श्रीमहा-
पादानामधिपत्यं सिध्यति, तदा जम्बुद्वीपेऽपि अस्मत्प्रभो
हिरण्यगर्भस्य (र) स्वाम्यमस्ति” । शुक उवाच,—“कथमेव
(ल) निर्णयः ?” । मयीक्तम्,—“सङ्ग्राम एव” । राज्ञा विहस्योक्तम्
—“स्वस्वामिनं गत्वा सज्जो कुरु” । तदा मयीक्तम्,—“सदूतोऽपि
(व) प्रस्थाप्यताम्” । राजाऽऽह,—“कः प्रयातु (श) दौत्येन
यतः एवम्भूतो दूतः कार्यः,—

भक्तो गुणौ शुचिर्दक्षः प्रगल्भोऽव्यसनी क्षमी ।

ब्राह्मणः परममर्जः दूतः स्यात् प्रतिभानवान्” ॥ २० ॥

गृध्रो वदति,—“सन्त्येवम्भूता बहवः, किन्तु ब्राह्मणः
दूतः कर्तव्यः । यतः,—

गर्वितः धनित्वाभिमानो जनश्च, अप्राप्यं दुर्लभम् अपि वस्तु, वाञ्छन्ति एव
आकाङ्क्षन्ति एव, यतः लभ्यमेव अनायासेन लब्धं शक्यमेव, ततः किं पुनः ? त-
स्मात् कथा ? नियतमभिनवप्रार्थिनीं खलु एषां चित्तवृत्तिरिति भावः । “सन्त्येवम्भूता
प्रार्थिवाः” इति स्मरणान्न सन्तोषः दूषणमेवाधीश्वराणामिति सामान्यकर्तृपक्षोपा-
वाञ्छा न दोषावहा राजासनादृढानामस्माकमित्याशयः ।

(य) वचसैव—वाङ्मात्रेणैव । तत्रापि—कर्पूरद्वीपेऽपि ।

(र) स्वाम्यं—प्रभुत्वम्, अधिकार इत्यर्थः ।

(ल) निर्णयः,—निश्चयः, इयोरैकतरस्य प्रभुत्वावधारणमित्यर्थः ।

(व) प्रस्थाप्यतां—प्रेष्यताम् । [प्र + स्था + णिच् + कर्त्तृणि लोट्-प्रत्ययः]

(श) दौत्येन—दूतस्य कर्म दौत्यं तेन दूतकर्मणा, दौत्यं स्वीकृत्येत्यर्थः ।

(२०) प्रसङ्गतः दूतधर्मान् दर्शयन्नाह, भक्त इति ।—भक्तः राशिः पण्य-
गुणौ गुणान्वितः, विश्वासादिदूतगुणयुक्तः इत्यर्थः, शुचिः विशुद्धचरितः, उल्लो-
प्रलोभनेनापि अवशीभूतः इति भावः, दक्षः कार्यनिपुणः, स्वकर्तव्यसम्पन्ने-
इत्यर्थः, प्रगल्भः वाक्प्रयोगकुशलः, अव्यसनी द्यूतपानाद्यनासक्तः, क्षमी चण-
ब्राह्मणः विप्रः, परममर्जः परस्य श्रेयोः, नर्म रदस्य मनोभावं वा, जानातीति
प्रतिभानवान् जवनबोन्धेषशालिवुद्धिमान्, जन इति शेषः, दूतः स्यात् सर्व-
गुणः एव दौत्यसाहं इत्यर्थः ।

प्रसादं कुरुते पत्युः सम्पत्तिं नाभिवाञ्छति ।

कालिमा कालकूटस्य नापैतीश्वरसङ्गमात्” ॥ २१ ॥

राजाऽऽह.—(घ) “ततः शुक्र एव व्रजतु । शुक्र ! त्वमेवानेन सह तत्र गत्वा अस्मदभिलषितं ब्रूहि” । शुक्रोऽवदत्,—“यथा आज्ञापयति देवः, किन्त्वयं दुर्जनो वक्रः, तदनेन सह न व्रजामि । तथा ह्युक्तम्,—

खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं फलति साधुषु ।

दशाननोऽहरत् सीतां बन्धनं स्यान्महोदधेः ॥ २२ ॥

(२१) प्रसङ्गतः सङ्शयस्य प्राशङ्क्यं दर्शयन्नाह, प्रसादमिति ।—पत्युः स्वामिनः, प्रसादं प्रसन्नतां, सन्तोषमिति यावत्, कुरुते जनयति, विश्रुतादि-गुणेन कर्त्तृपाटवेन च इति भावः; ब्राह्मण इति शेषः, सम्पत्तिम् ऐश्वर्यं, प्रभोरिति शेषः, न अभिवाञ्छति न प्रायश्चते, प्रभोरेश्वर्यमपहृत्य न स्वयं धनो भवितु-मिच्छति, परन्तु दरिद्र एव वर्त्तते इत्यर्थः, निःस्वार्थपरोपकारक एव अभिजात इति भावः । तथा हि कुंभरसङ्गमात् महेश्वरसंसर्गात्, शिवकण्ठमूषणतां लब्ध्वाऽपीत्यर्थः, कालकूटस्य हालाहलस्य विषस्य, समुद्रसम्भवात् हेतोः नितराम् अभिजातस्य इति भावः, कालिमा मलितत्वं, न अपैति नापगच्छति, न शुद्धीभवति इत्यर्थः, कालकूटस्तु हरमेव कण्ठमूषासम्पादनेन प्रसादयति, स्वयन्तु यथापूर्वं तिष्ठति, इत्यर्थं स्वभावोऽभिजातानामिति भावः । सागरसम्भवात् सङ्शयः कालकूटः महेश्वरसङ्गतिं लब्ध्वाऽपि स्वकीयकालिमानं दूरीकर्तुं शिवस्य श्रवतां नापजिहीर्षति, कण्ठवर्षं एव तिष्ठति, एवं विशुद्धः प्रकृत्या दरिद्रः ब्राह्मणः राजाश्रयं लब्ध्वाऽपि तदैश्वर्यमपहृत्य धनो भवितुं नेच्छति, दरिद्र एव वर्त्तते, परन्तु कार्यकारण स्वामिनं प्रसादयतीति निष्कर्षः ।

(घ) ततः,—तस्मात्, ब्राह्मणस्य दूताह्वानात् । मनुष्याणां ब्राह्मण इव पवित्रां शुक्रः श्रेयान्, श्रुत्यध्ययन-उच्छाहिसादिदृष्टिमाप्नोति ।

(२२) दुर्जनसङ्गस्य दोषमाह, खल इति ।—खलः दुराचारः, दुर्वृत्तं पापम्, असदाचरणम् इति यावत्, करोति विदधाति, किन्तु तत् साधुषु सज्जनेषु, निरपराधेषु इति यावत्, नूनं निश्चितं, फलति, साधवः खलज्जत-दुराचरणात् निदोषा अपि तत्सम्पर्कात् क्लेशमाप्नुवन्ति इत्याशयः । अत्र दृष्टान्त-माह,—दशाननः रावणः, सीतां रामपत्नीम्, अहरत् अपहृतवान्, किन्तु

अपरह, —न स्थातव्यं न गन्तव्यं दुर्जनेन समं क्वचित् ।

काकसङ्गाहतो हंसस्तिष्ठन् गच्छंश्च वर्त्तकः ॥ २३ ॥

राजोवाच,—“कथमेतत् ?” । शुकः कथयति,—

हंस-वायसकथा ।—

“अस्ति (स) उज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे महान् पिप्पलवृक्षः ।
तत्र हंसकाकौ निवसतः । कदाचित् श्रौण्यसमये परित्राण्य
कश्चित् पथिकस्तत्र तरुतले (ह) धनुष्काण्डं सन्निधाय सुप्तः ।
ततः क्षणान्तरे तन्मुखाद्बृक्षच्छाया (क) अपगता । अनन्तरं
सूर्यतेजसा तन्मुखं (ख) व्याप्तमवलोक्य क्षपया (ग) पुण्यात्मना
पापरहितेन तत्पिप्पलवृक्षस्थितेन हंसराजेन पक्षौ (घ) प्रसार्य

महोदधेः समुद्रस्य, समीपस्थत्वात् निरपराधस्थापीति भावः, वन्धनं सेतुना संयम्य
स्यात् भवेत्, अभवदित्यर्थः । दुर्जनप्रयुक्तदुष्टव्यवहारः निरपराधानां सत्त्वार्थ
आपन्नकः स्यात् सहावस्थितिदोषात् इति भावः ।

(२३) सर्वथा खलसंसर्गः त्याज्य इति दृष्टान्तेन समर्थयन्नाह, नेति-
क्वचित् कदाचिदपि, दुर्जनेन दुष्टेन, समं सह, न स्थातव्यं न वक्तव्यं,
न गन्तव्यं न यातव्यम् ; तथा हि, काकसङ्गात् वायससंसर्गात्, काकेन वा
मिलित्वा इत्यर्थः, तिष्ठन् एकत्रावस्थानं कुर्वन्, हंसः हतः विनाशितः, तत्र
काकेन सह मिलित्वा ब्रजन्, वर्त्तकश्च क्षुद्रपक्षिविशेषश्च, (भारुड इति भाषा)
हत इति योजना ।

(स) उज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे—उज्जयिनीगामिप्रथमार्श्वस्थितारण्ये । (“शाला
कोटरैऽरण्ये दूरशून्यपथेऽपि च” इति मेदिनी । “उज्जयिनीवर्त्मनि प्रान्तरे” इति
व्यक्तः पाठः क्वचित्) । पिप्पलवृक्षः,—अश्वत्थतरुः, (“पूचतरुः” इति पाठे-
पकंटीवृक्षः) ।

(ह) धनुष्काण्डं—धनुर्बाणम् । सन्निधाय—रक्षित्वा ।

(क) अपगता—अपसृता इत्यर्थः ।

(ख) व्याप्तम्—आच्छन्नम्, आक्रान्तमित्यर्थः ।

(ग) पुण्यात्मना—पूतस्वभावेन । पापरहितेन—निष्पापेन ।

(घ) प्रसार्य—विक्षार्य ।

पुनस्तन्मुखे छाया कृता । ततो (ङ) निर्भरनिद्रासुखिना
पथि भ्रमणाऽऽकुलेन परिश्रान्तेन पाथ्येन (च) सुखव्यादानं
कृतम् । अनन्तरं (छ) स्वभावदौर्जन्यात् (ज) परसुखमसहिष्णुः
स काकस्तस्य मुखे (झ) पुरीषोत्सर्गं कृत्वा पलायितः ।
ततो यावदसावुत्थाय ऊर्ध्वं निरीक्षते, तावत् तेनावलोकितो
हंसः (ञ) काण्डेन हतः । अतोऽहं ब्रवीमि,—‘न स्यादव्ययम्’
इत्यादि ।

[इति हंस-वायसकथा ।]

तथा चोक्तम्,—

त्यज दुर्जनसंसर्गं भज साधुसमागमम् ।

कुरु पुण्यमहोरात्रं स्मर नित्यमनित्यताम् ॥ २४ ॥

देव ! वर्त्तकवार्त्तामपि कथयामि । श्रूयताम्,—

काक-वर्त्तककथा ।—

एकः काको वृक्षशाखायां स्वपिति ; वर्त्तकश्च (ट) अधस्तात्
भूमौ निवसति । एकदा सर्वे पक्षिणो भगवतो गरुडस्य

(ङ) निर्भरनिद्रासुखिना—प्रगाढनिद्रासुखम् अनुभवता । भ्रमणाऽऽकुलेन—
पर्यटनक्षिप्तेन ।

(च) सुखव्यादानं—सुखविचारम् ; निद्रावेशेनैव इति भावः ; दृश्यते
य केषांचिदेवं स्वभावः यत् ते सुखं व्यादाथैव निद्रां याति ।

(छ) स्वभावदौर्जन्यात्—स्वभावतः दुष्टत्वात् ।

(ज) परसुखमसहिष्णुः,—परसुखं सौदम्यमसहिष्णुः ।

(झ) पुरीषोत्सर्गं—मलत्यागम् ।

(ञ) काण्डेन—बाणेन ।

(२४) असत्सङ्गस्य परिणाममुक्त्वा इदानीं वृक्षपाण्यवोक्तकर्तव्यधर्मानाह,
नवेति ।—दुर्जनसंसर्गम् असत्सङ्गं, त्यज नहीहि, साधुसमागमं मज्जनसङ्गतिं,
अथ अवलम्बस्व, अहोरात्रं रात्रिन्दिवं, नित्यनिवेत्यर्थः, पुण्यं धर्मानुष्ठानं, कुरु
विधेहि, नित्यं सर्वदा, अनित्यतां संसारस्य अस्वायित्वं, स्मर परिचिन्तय ।

(ट) अधस्तात्—तल्लक्ष्मी, वृक्षस्थिति शेषः ।

(ठ) यात्राप्रसङ्गेन समुद्रतीरं प्रचलिताः । तत्र काकेन सर्पवर्त्तकसहितः । अथ गच्छतो गोपालस्य (ड) मस्तकावस्थित-दधिभाण्डात् धारं धारं तेन काकेन दधि खाद्यते । ततो यावदसौ दधिभाण्डं भूमौ निधाय ऊर्ध्वमवलोकते, तावत् तेन काकवर्त्तकौ दृष्टौ । ततस्तेन (ढ) दृष्टः काकः पलायितः ; वर्त्तकः स्वभावानिरपराधः (ण) मन्दगतिस्तेन प्राप्तो व्याप-दितः । अतोऽहं ब्रवीमि,—‘न गन्तव्यम्’ इत्यादि” ।

[इति काक-वर्त्तककथा ।]

ततो मयोक्तम्,—“भ्रातः शुका ! किमेवं ब्रवीषि ? (त) मां प्रति यथा श्रीमद्देवपादास्तथा भवानपि” । शुको ब्रूते,—“अस्वेवं, किन्तु,—

दुर्जनैरुच्यमानानि सस्त्रितानि प्रियाण्यपि ।

अकालकुसुमानीव भयं सञ्जनयन्ति मे ॥ २५ ॥

(ठ) यात्राप्रसङ्गेन—पर्वनीलसर्पपल्लवेष, (यात्रा तु यापनेऽपि सात रजःजीवसर्पयोः स्त्रियाम्” इति मेदिनी) ।

(ड) मस्तकेति ।—शिरःस्थितदधिपात्रात् ।

(ढ) “दृष्टः” इत्यत्र “खेदितः” इति पाठे—क्षोभितः, दूरीकरणस्य तात्त्वेन पीडित इत्यर्थः ।

(ण) मन्दगतिः,—मन्दा मन्दरा, गतिर्यस्य सः ।

(त) मामिति ।—श्रीमद्देवपादाः,—श्रीमन्महाराजचरणाः, महाराज इत्येवं मां प्रति यथा स्थापितविश्वासाः तथा भवानपि कृतविश्वासी भवेत्यर्थः ।

(२५) दुर्जनः प्रियवचनोऽपि पयोमुखविषकुम्भवत् भोतिप्रद इत्यादि, दुर्जे-रिति ।—दुर्जनैः क्रूरप्रकृतिभिः, उच्यमानानि कष्यमानानि, सस्त्रितानि दुर्जनै-रुक्तानि, चास्यपूर्वकाणि इत्यर्थः, प्रियाणि प्रीतिपूर्णवचनानि अपि, अकालकुसुमानीव भयं सञ्जनयन्ति इत्यादयः ; अकालकुसुमानीव यथा नेत्रतपणान्यपि अमङ्गलसूचकानि भवन्ति, तथा दुर्जनै-रुच्यमानानि प्रियवचनानि भूतिमुखदान्यपि परिणामविरसानि भवन्तीति विषयः ।

दुर्जनत्वञ्च भवतः (थ) वाग्व्यापारादेव (द) प्रत्यक्षो-
क्तम् । यतः अनयोर्भूपात्रयोर्विग्रहे भवद्वचनमेव (ध) निदानम् ।
पश्य,—

प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे मूर्खः सान्त्वेन तुष्यति ।

रथकारो निजां भार्यां सजारां शिरसाऽकरोत् ॥२६॥

(न) मयोक्तम्,—“कथमेतत् ?” । शुकः कथयति,—

रथकार-तद्वधूजारकथा ।—

“अस्ति श्रीनगरे मन्दमतिर्नाम रथकारः । स च स्वभार्यां
(प) बन्धकीं जानाति । किन्तु जारेण समम् एकस्थाने
स्वचक्षुषा न पश्यति । ततोऽसौ रथकारः ‘अहमन्यं ग्रामं
गच्छामि’ इत्युक्त्वा प्रचलितः । स कियद्दूरं गत्वा पुनरागत्य
स्मरहे खट्वातले (फ) निभृतं स्थितः । अथ ‘मम भर्ता

अकालपुण्योद्गमेन वृक्षाणामुत्पादिका शक्तिव्याघ्रन्यते, अमङ्गलमपि सम्भाव्यते इति
प्रसिद्धिः ।—“अहुतानि प्रसूयन्ते तत्र देशस्य विद्रवः । अकाले फलपुष्पाणि देशविद्रव-
कारणम्” ॥ इति मत्स्यपुराणधृतवचनात् । नातो भवद्वचनं विश्वासमिति हृदयम् ।

(थ) वाग्व्यापारात्—वचनरचनाचातुर्यात् ।

(द) प्रत्यक्षोक्तं—प्रत्यक्षमेव दृष्टं, प्रमाणोक्तम् इत्यर्थः ।

(ध) निदानं—मूलकारणम् ।

(२६) नाहं मूर्खः यत् वचनप्रत्यक्षेणैव दुर्जनं भवन्तं सुजनम् अवैमि, इति
दृष्टान्तेनाह, प्रत्यक्षे इति ।—प्रत्यक्षे समक्षे, दोषे अपराधे, कृतेऽपि अशुचितेऽपि,
मूर्खः मन्दबुद्धिर्जनः, सान्त्वेन सान्त्वयनेन, चाटुवादनेत्यर्थः, तुष्यति प्रसीदति ।
अथ दृष्टान्तेनाह,—रथकारः काष्ठतट्, “कुतार” इति ख्यातः, (तथा तु वर्धकिस्तटा
रथकारश्च काष्ठतट्” इत्यमरः) सजारां उपपत्तिसहितां, निजां स्वकीयां, भार्यां
पत्नीं, शिरसा मलकीन, अकरोत् मलकी निहितवान्, भार्यायाश्चाटुवादेन तुष्टः
सन्निविष्टः ।

(न) “राजोवाच” इति पाठान्तरम् ।

(प) बन्धकीं—कुलटा, व्यभिचारिणीम् इत्यर्थः ।

(फ) निभृतं—सुगुप्तमित्यर्थः ।

ग्रामान्तरं गतः' इति (ब) उपजातविश्वासया तद्वत्
 जारः सन्ध्याकाले एवाऽऽहृतः । पश्चात् तेन जारेण समं तस्यां
 खट्वायां (भ) निर्भरं क्रीडन्ती खट्वाऽधःस्थितस्य स्वामिनः
 किञ्चिदङ्गस्पर्शात् स्वामिनं (म) मायाविनं विज्ञाय सा
 (य) विषया अभवत् । ततो जारेणोक्तम्,—“किमिति मया
 सह अद्य निर्भरं न रमसे ? (र) विस्मितेव प्रतिभासि ?”
 अथ तयोक्तम्,—“अनभिज्ञोऽसि, योऽसौ मे प्राणेश्वरः, येन
 मम (ल) आकौमारं सख्यं, सोऽद्य ग्रामान्तरं गतः, तेन
 विना सकलजनपूर्णोऽप्ययं ग्रामो मां प्रति अरक्ष्यत्
 प्रतिभाति । किं (व) भावि ? तत्र (श) परस्थाने किं
 खादितवान् ? कथं वा प्रसुप्तः ? इत्यस्मद्बृहदयं विदीर्यते” ।
 जारेणोक्तम्,—“तत् किम् एवंविधा (ष) स्नेहभूमिः स ते

(ब) उपजातविश्वासया—उपजातः सञ्जातः, विश्वासः प्रत्ययः यस्याः
 कृतप्रत्ययया, विश्वासं कृतवत्या इत्यर्थः, निःशङ्कितया इति यावत् ।

(भ) निर्भरं—नितराम् । क्रीडन्ती—रममाणा ।

(म) मायाविनं—कपटिनम्, “अन्यं यामं गच्छामि” इति कपटवाक्ये
 प्रतारयन्मन्त्रित्वं ।

(य) विषया—दुःखिता, व्याकुलहृदया इति यावत् ।

(र) विस्मितेव—चकितेव, आश्चर्यान्वितेव इति वा, मूर्खो मे यथा
 कदा ईदृक् चातुर्यं श्रितवान्, कदा वा सुगुप्तमागत्य खट्वातले आत्मगोपनं
 कृतवान् ? इति विचिन्त्य विस्मिता इति भावः । (“विषयेव” इति पाठकल्पः ।
 प्रकाशोपयोगितया साधोति मनव्यम्) । प्रतिभासि—लक्षिताऽसि । [प्रति+भा+
 लट्-सि] ।

(ल) आकौमारं—वाक्यावधि । सख्यं—समप्राणता, प्रणयः इत्यर्थः ।

(व) भावि—भविष्यति [भू+षिनिः] ।

(श) परस्थाने—परगृहे ।

(ष) स्नेहभूमिः,—प्रणवास्पदम् ।

भर्ता (स) कलहकारः ?" । बन्धकी व्रते,—“रे वर्वर ! किं ब्रवीषि ? शृणु,—

परुषाण्यपि या प्रीक्ता दृष्टा वा क्रुद्धचक्षुषा ।

सुप्रसन्नमुखी भर्तुः सा नारी धर्मभाजनम् ॥ २७ ॥

नगरस्थो—नगरस्थो वनस्थो वा पापो वा यदि वा शुचिः ।

यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः ॥ २८ ॥

नगरस्थो—भर्ता हि परमं नार्थ्यं भूषणं भूषणैर्विना ।

एषा विरहिता तेन शोभनाऽपि न शोभते ॥ २९ ॥

(स) कलहकारः,—कलहं विवादं करोति इति विद्वद्वादी । (“रघकारः” इति पाठान्तरम्) ।

(२७) कुलटा मूर्खस्त्रामिने स्वपातिव्रत्यं प्रव्याधयितुं चातुर्यमभिव्यञ्जयन्ती वहाभारतादिविविधपुराणमवलम्ब्य श्लोकवशेष पातिव्रत्यधर्ममाह, परुषाण्यपीति । —या नारी, परुषाणि कर्कशाणि, अप्रियाणि इत्यर्थः, प्रीक्ताऽपि सम्यक् अभिहिताऽपि, वा अथवा, क्रुद्धचक्षुषा कोपपूर्णनयनेन, किमुत प्रसन्नेन सस्नेहेन चक्षुषा इति भावः, दृष्टा सती, अपि भर्ता इति शेषः, भर्तुः स्त्रामिनः, सुप्रसन्नमुखी प्रफुल्लानना, अनुकूलकारिणी इत्यर्थः, व्रतंते इति शेषः, सा नारी स्त्री, धर्मभाजनं धर्मस्य धर्मानुष्ठानस्य, भाजनं पात्रं, धार्मिका इत्यर्थः, पतिव्रता इति यावत् ; स्त्रीया वया तथा आचरतु, पतिव्रतया तु सर्वदाऽयं सेव्य इति भावः । (भारतानुशासनपर्वणि दानधर्मव्याख्यानप्रकरणे, “परुषाण्यपि प्रीक्ता या दृष्टा क्रुद्धेन चक्षुषा । सुप्रसन्नमुखी भर्तुयां नारी सा पतिव्रता” ॥ इति पाठान्तरम्) ।

(२८) तच्च शुभफलसन्दर्शनेन द्रढयति, नगरस्थ इति ।—नगरस्थः नगरवासी, वनस्थ इत्यर्थः, वा अथवा, वनस्थः वनवासी, अकिञ्चनः इति भावः, पापः पणितः वा, यदि वा अथवा, शुचिः पवित्रात्मा, यादृगवस्थोऽपीति भावः, भर्ता स्त्री, यासां स्त्रीणां प्रियः प्रीतिभाजनं, भवतीति शेषः, तासां नारीणां, महोदयाः महान् उदयः अभ्युदयः, सुखमित्यर्थः, येषु ते तथोक्ताः, लोकाः स्वर्गादिलोकाः, भवन्तीति शेषः, ता एव नार्थ्यं इह परत्र च सुखेन तिष्ठन्तीत्यर्थः ।

(२९) परत्र शुभफलसुक्ता ऐहिकमपि तदाह, भर्तेति ।—भर्ता हि पतिरेव, नार्थ्याः स्त्रियाः, भूषणैरलङ्कारैः, विना, अपीति शेषः, परमम् उत्कृष्टं, भूषणम्

त्वच्च जारः पापमतिः; (ह) मनोलौल्यात् पुष्पताम्बू
सदृशः कदाचित् सेव्यसे कदाचिन्न सेव्यसे च । स च मे स्वाति
मां विक्रेतुं देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो वा दातुं समर्थः । किं बहुना ?
—तस्मिन् जीवति जीवामि, तन्मरणे चानुमरणं करिष्यामि,
इत्येव मे निश्चयः । यतः,—

तिस्रः कोट्योऽर्द्धकोटी च यानि लोमानि मानवे ।
तावत्कालं वसेत् स्वर्गे भर्तारं याऽनुगच्छति ॥ ३० ॥
अथ च,—व्यालयाही यथा व्यालं विलादुद्धरते बलात् ।
तद्वद्भर्तारमादाय तेनैव सह मोदते ॥ ३१ ॥

फलङ्कारः, श्रीभासम्पादक इति यावत्, तेन पत्न्या, विरहिता वर्जिता, एषा नारी
श्रीभनाऽपि रूपखावण्यालङ्कारवत्यपि, न श्रीभते न राजते, मालिनेव प्रतिभाति इव,
कान्तीभिक्तायाः सर्वत्रैव अनादरणीयत्वादिति भावः । तथा च चाणक्यः,—“नारी
भूषणं पतिः” इति ।

(ह) मनोलौल्यात्—चित्तचाञ्चल्यात्, चित्तविकारवशात् इत्यर्थः । पु
ताम्बूजसदृशः,—कुसुमवत् पणवच्च चणप्रमोदहेतुरिति भावः । सेव्यसे—न
भुज्यसे ।

(३०) पतिं सन्तोष्य आत्मनि परमश्रिष्टासमुत्पादयितुम् अनुमरणमादाय
कीर्तयति, तिस्र इत्यादिश्लोकवयेण ।—या नारी, भर्तारं पतिं, मृत्तमिति शेषः
अनुगच्छति अनुसरति, अनुस्रियते इत्यर्थः, सा नारी, मानवे नरदेहे, तिस्रः कोटि
अर्द्धकोटी च सार्द्धद्विकोटीसङ्ख्याकानि, यानि यावन्ति, लोमानि रोमाणि, सर्वेति
शेषः, तावत्कालं तावत्सङ्ख्याकवर्षं, चिरकालमित्यर्थः, स्वर्गे वसेत् भवतिष्ठेति
(आङ्गिरसश्च्युतौ “तावत्कालं वसेत्” इत्यत्र “तावन्त्यब्दानि सा” इति पाठात्तरम्) ।

(३१) आङ्गिरसवचनं महाभारतवचनञ्च समुद्धृत्य अनुवृत्तामाह्वयमात्र
व्यालयाहीति ।—व्यालयाही व्यालं सर्पं, यद्भीतुं शीलं यस्य सः आङ्गिरसि
सपांजीव इति यावत्, विलात् विवरात्, व्यालं सर्पं, बलात् बलेन, बलसाधिव
इत्यर्थः, [व्यबलोपे प्रसि०] यथा उद्धरते उन्नयति, बहिरानयति इत्यर्थः, उद्धृ
क्रोडति इति यावत्, तद्वत् तथा, भर्तारं पतिम्, आदाय गृहीत्वा, निरयायणे
देशादुद्धृत्येति, तेनैव सह पत्येव सार्द्धं, मोदते हस्यति, रमते इत्यर्थः ।

अपरच, —चितौ परिवर्ज्य विचेतनं पतिं

प्रिया हि या मुञ्चति देहमात्मनः ।

कृत्वाऽपि पापं शतलक्षमप्यसौ

पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात् ॥ ३२ ॥

यतः,—

यस्मै दद्यात् पिता त्वेनां भ्राता वाऽनुमते पितुः ।

तं शुश्रूषेत जीवन्तं संस्थितञ्च न लङ्घयेत् ॥ ३३ ॥

एतत् सर्वं श्रुत्वा (क) मन्दमतिः स रथकारः,—

पातिव्रत्यधर्मेण अनुमृता नारीति शेषः, अनुमृता तु स्वकर्मणा नरकपतितमपि
स्वामिनम् अनुमरणजनितपुण्यवलेन स्वर्गं नयतीति भावः । अतो मयाऽपि
शालेश्वराभावे अनुमत्तव्यमेव इति निष्कर्षः ।

(३२) चिताविति ।—शतलक्षम् असङ्ख्यं, पापं दुष्कृतिं, कृत्वाऽपि आच-
रित्वाऽपि, या प्रिया या पत्नी, विचेतनं मृतं, पतिं भर्तारं, परिवर्ज्य आलिङ्ग्य,
आत्मनः स्वस्थाः, देहं शरीरं, चितौ चितायां, मुञ्चति त्यजति, विद्यते इत्यर्थः, असौ
अपि भर्ता सह अनुमृता इन्द्रशौ शतलक्षपापकारिणी नारी अपि, पतिं गृहीत्वा
भर्तारमादाय, सुरलोकं स्वर्गम्, आप्नुयात् गच्छेत्, भर्तृसहमृता स्वर्गं वसेदित्यर्थः,
यथाः पतिसहमरणं हि सकलपापप्रक्षालकं स्वर्गसाधनञ्च इति निष्कर्षः । वंश-
स्त्रविलं वृत्तम् ।

(३३) जीवती मृतस्य वा पत्युः पदानुसरणस्य अवश्यकर्तव्यत्वे अनुमृतेः
पञ्चमाध्यायीतं श्लोकं प्रमाणयति, यस्मै इति ।—तु पश्चान्तरे, किञ्चेत्यर्थः, (“तु पाद-
पूरणे मेदे समुच्चयेऽवधारणे । पश्चान्तरे नियोगे च प्रशंसायां विनियुते” ॥ इति
मेदिनी) पिता जनकः, पितुरनुमते आदेशे, स्थित इति शेषः, भ्राता वा सहोदरो
वा, एनां कन्यां, यस्मै वराय, दद्यात् प्रयच्छेत्, जीवन्तं जीवनेन विद्यमानं, सजीव-
मित्यर्थः, तं पतिं, शुश्रूषेत सेवेत, संस्थितञ्च मृतञ्च, (“परासुग्राहपञ्चत्परेतप्रेत-
संस्थिताः । मृतप्रसीतो विधेते” इत्यमरः) न लङ्घयेत् नावजानीयात्, अपि तु
तमनुसरेदित्यर्थः । (“संस्थितिम्” इति पाठे—भर्तुः मर्यादाम् इत्यर्थः) । अतो
मया सर्वथा कर्तव्यमिह भर्तुरनुसरणमिति भावः ।

(क) मन्दमतिः,—मूर्खः ।

“धन्योऽहं, यस्य (ख) एतादृशी भार्या स्नेहवती प्रियवादिनी” इति (ग) मनसि निधाय तां खट्वा स्त्रीपुरुषसहितां मूर्ध्नि धृत्वा सानन्दं नर्तितवान्। अतोऽहं ब्रवीमि,—‘प्रत्यक्षेऽपि कृते दोषे’ इत्यादि”।

[इति रथकार-तर्द्धधनारकथा]।

ततोऽहं तेन राज्ञा (घ) यथाव्यवहारं सम्पूज्य प्रस्थापितः। शुक्रोऽपि मम पश्चादागच्छन्नास्ते। एतत् सर्वं ज्ञात्वा (ङ) यथाकार्यमनुसन्धीयताम्”। चक्रवाको विहस्याऽऽह,—“देव! वकेन एतावद्देशान्तरं गत्वा यथाशक्ति राजकार्यमनुष्ठितं, किन्तु स्वभाव एष मूर्खानाम्। यतः,—

शतं दद्यान्न विवदेदिति विज्ञस्य सम्मतम्।

विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतत् मूर्खस्य लक्षणम्” ॥ ३४ ॥

(ख) एतादृशी—ईदृशी पतिपरायणा।

(ग) मनसि निधाय—विचिन्त्य।

(घ) यथाव्यवहारं—दूतानुरूपव्यवहारं, दूतं प्रति यादृशः व्यवहारः कर्तव्यः तदनुरूपव्यवहारेणेत्यर्थः। सम्पूज्य—समादृत्य। प्रस्थापितः,—प्रेरितः, [प्र + स्था + णिच् + क्तः “वर्तिः क्वारोक्तु शोकाप्यातापुग् णो” (७।३।३६ पा०) इति पुमायमः]।

(ङ) यथाकार्ये—कर्तव्यानुरूपम्। अनुसन्धीयताम्—अन्वित्यताम्, अनुसन्धीयतामित्यर्थः।

(३४) वकस्य मूर्खत्वे हेतुमाह, शतमिति।—शतम् आत्मनः बहुसङ्ख्याकमिति इष्टं स्वार्थं वा, दद्यात् उपेक्षेत, परित्यजेदिति यावत्, परन्तु न विवदेत् न विरुद्ध्यत् [वैमत्यायं कवदधातोः आत्मनेपदविधानात् परस्मैपदमत्र ध्येयम्]। इति एतत् विज्ञस्य विदुषः, सम्मतम् अभिमतम्, उपदेश इति यावत्, साधवः प्रभूतस्त्वर्थवति मन्वेनापि विवादकारणं परिहर्तुं स्वीकुर्वन्ति इत्यर्थः, हेतुं कारणं, विनाऽपि त्वं कलहः, कर्तव्यमिति शेषः, एतत् अकारणकलहकरणरूपं, मूर्खस्य हितादि विवेकासमर्थस्य, लक्षणं चिह्नं, मूर्खाः खलु अकारणं विगृह्णन्ति, पण्डितास्तु कारणं सत्यपि कलहात् निवर्तन्ते इत्यर्थः। “काखी गच्छति मूर्खाणां निद्रया कलहं न” इति भावः।

राजाऽऽह,—“अलमनेन (च) अतीतोपालम्भनेन, (छ) प्रस्तु-
तम् (ज) अनुसन्धीयताम्” । चक्रवाको ब्रूते,—“देव !
(झ) विजने ब्रवीमि । यतः,—

वर्णाकारप्रतिध्वानैर्नेत्रवक्त्रविकारतः ।

अप्यूहन्ति मनो धीरास्तस्माद्रहसि मन्त्रयेत्” ॥ ३५ ॥

ततो राजा मन्त्री च स्थितौ तत्र, अन्येऽन्यत्र गताः । चक्र-
वाको ब्रूते,—“देव ! अहमेवं जानामि, कस्यापि (ज) अस्म-
द्वियोगिनः (ट) प्रेरणया वक्त्रेणैदमनुष्ठितम् । यतः,—

वैद्यानामातुरः श्रेयान् व्यसनी यो नियोगिनाम् ।

विदुषां जीवनं मूर्खः सहन्वो नृपतेर्जनः” ॥ ३६ ॥

(च) अतीतोपालम्भनेन—अतिक्रान्तविषये तिरस्करणेन, गतस्य शोचनवैलक्षण्यः ।

(छ) प्रस्तुतम्—प्रकृतविषयः, आसन्नविषये कर्तव्यम् इत्यर्थः ।

(ज) अनुसन्धीयताम्—अन्विष्यतां, निरूप्यताम् इत्यर्थः ।

(झ) विजने—रहसि, निर्जने इत्यर्थः ।

(३५) निभृतमन्त्रणस्य कारणमाह, वर्णैति ।—धीराः विद्वांसः, वर्णः मुख-
रणादिः, आकारः वहिराकृतिः, प्रतिध्वानः प्रतिध्वनिः, स्वरसंयोजनविशेष इत्यर्थः,
वेतैः, नेत्रवक्त्रवक्त्र तयोर्विकारस्तेन नयनभङ्गा मुखभङ्गा अपि, मनः दृढतं भावम्,
कश्चित् तर्केण जानन्ति, ज्ञातुं शक्नुवन्तीत्यर्थः, तस्मात् मन्त्रभेदसम्भावनाया हेतोः,
रहसि विजने, मन्त्रयेत् मन्त्रणां कुख्यातं, विचारयेदित्यर्थः, “षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रः”
इति श्रवणादिति भावः ।

(ज) अस्मद्वियोगिनः,—अस्माकमनुजीविनः ।

(ट) प्रेरणया—नियोगिन, अस्मद्वियोगिकर्तृकनियुक्तः सन्नित्यर्थः ।

(३६) राजपुरुषाणां नृपान्तरेण विग्रहसङ्घटने हेतुमाह, वैद्यानामिति ।—
आतुरः रोगी, वैद्यानां चिकित्सकानां, श्रेयान् मङ्गलजनक इत्यर्थः, लाभजनकत्वात्
प्रसिद्धः इति भावः । यः, प्रभुरिति शेषः, व्यसनी विपन्नः, हवतामाभियोगादिति
भावः, द्यूतपानाद्यासक्तः वा, सः नियोगिनाम् अनुजीविनां, श्रेयान् श्रेयस्करः, विवि-
धोपायेन प्रभुं वचयित्वा तद्धनेन आत्मपूरणावकाशलाभादिति भावः । मूर्खः निर्बोधः,
विदुषां पण्डितानां, जीवनं प्राणरचाङ्गुसूत इत्यर्थः, मूर्खानुपदिष्ट विविधप्रलोभन-

राजा अत्रवीत्,—“भवतु, कारणमत्र पञ्चान्निरूपणीयम्;
सम्प्रति यत् कर्तव्यं, तत् ब्रूहि” । चक्रवाको ब्रूते,—“देव !
(ठ) प्रणिधिस्तावत् तत्र (ड) ग्रहीयताम् । ततः (ढ) तदनु-
ष्ठानं बलाबलञ्च जानीमः । तथा हि,—

भवेत् स्वपरराष्ट्राणां कार्याकार्यावलोकने ।

चारश्चक्षुर्महीभर्तुर्यस्य नास्त्यन्व एव सः ॥ ३७ ॥

स च (ण) द्वितीयं विश्वासपात्रं गृहीत्वा यातु । तेना

वाक्येन तान् प्रलीभ्य च पेषिताः जीवकां निर्वाहयन्ति इति भावः । चर-
कलहयुक्तः, विवदमान इत्यर्थः, (“हन्वं रंक्ष्ये कलहे तथा मिथुनयुग्मयोः” इति
मेदिनी) जनः प्रजा इत्यर्थः, नृपतेः राज्ञः, जीवनम् अर्थदत्ताद्युपायेन पक्ष-
सम्भावनेति भावः । प्रभोर्व्यसनस्य नियोगिनां लाभजनकत्वात् अस्माकमेव दूर-
कश्चित् पुरुषः विग्रहमिमं वक्तेन उत्पादयामास, यतः स्वायंपराणां हि लाभोदशात्
प्रयासः, न जनपदाभीष्टसाधने इत्याशयः ।

(ठ) प्रणिधिः,—चारः ।

(ड) ग्रहीयतां—प्रस्थाप्यतां, प्रेर्यतामित्यर्थः [प्र + हा + कर्त्तृणि लोट्-भ
“पुमास्त्राणापोजहातिसां हलि” (६।४।६६ पा०) इति ईत्] ।

(ढ) तदनुष्ठानं—तस्य राज्ञः कार्यं, युद्धोद्योगमित्यर्थः । बलाबलं—विश-
प्रभृतवत्सम्पन्नः परिमितवत्सम्पन्नो वा ? इत्यर्थः । जानीमः,—अवगच्छामः [श-
खट्-मिप् “क्रादिभ्यः आ” (६।१८।१ पा०) इति आ “हृ-इत्यचीः” (६।१।१।
पा०) इति ईत् “आऽभ्यस्तयोः—” (६।४।११२ पा०) इति आकारलोपः] ।

(३७) राज्यशासने चाराणामुपयोगितामाह, भवेदिति ।—महीभर्तुः एव
स्वपरराष्ट्राणां स्वस्य परिषाच्च राज्यानां सत्त्वन्वे, कार्याकार्यावलोकने किं कर्त-
कर्मकर्तव्यमित्यादिविषयपरिज्ञाने, स्वस्य पौरजानपदाः अधिभूताश्च तथा परराज-
भूपालास्तत्सम्बन्धिनश्च किं कुर्वन्ति किं न कुर्वन्ति इत्यादिकं परिज्ञाय कर्तव्यवर्तने
इत्यर्थः, चारः गूढचर एव, चक्षुर्भवेत्, चारमुखादेव महीपतिः सर्वे वसोवर्तः
वस्य नृपस्य, नास्ति, चारचक्षुरिति शेषः, स अन्वः एव अन्ववत्, स्वकर्तव्यसम्पन्नो
अचमः इत्यर्थः, स्वपरराष्ट्राणां गूढव्यापारज्ञानाभावादिति भावः, यतः अवगच्छाम-
तव प्रणिधयः प्रेषितव्या इति निष्कर्षः ।

(ण) द्वितीयं विश्वासपात्रं—सुविश्वस्तमपरं चारम् ।

स्य तत्तावस्थाय द्वितीयं (त) तत्रत्यमन्त्रकार्यं सुनिश्चितं
निश्चित्य निगद्य प्रस्थापयतु । तथा चोक्तम्,—

तीर्थाश्रमसुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना ।

तपस्त्रिव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह संवदेत् ॥ ३८ ॥

गूढचारश्च यो जले स्थले चरति ; ततोऽसावेव वक्ता
(ग) नियुज्यताम् । एतादृश एव कश्चित् वक्तो (द) द्वितीयत्वेन
प्रयातु, (ध) नियुज्यलोकाश्च राजद्वारे तिष्ठन्तु । किन्तु देव !
एतदपि (न) सुगुप्तमनुष्ठानव्यम् । यतः,—

(त) तत्रत्यमन्त्रकार्यं—परराज्यसम्बन्धिगुप्तमन्त्रणादिकम् । सुनिश्चितं—
सुगुप्तम् । निगद्य—उक्त्वा, उपदिश्य इत्यर्थः । [नि + नद + ल्यप्] ।

(३८) कामन्दकवचनमनुष्ठत्य गुप्तचरैः सह मन्त्रणायाः स्थानं प्रकाराच्च,
शौचेति ।—तपस्त्रिनः तापसस्य, व्यज्यते अनेनेति व्युत्पत्त्या व्यञ्जनं चित्रं, वेशः इत्यर्थः,
देव उपेताः अन्वितास्त्रैः तपस्त्रिवेशधारिभिः, स्वचरैः स्वकीयगूढचरैः करणैः, तीर्थे
शास्त्रादिपुष्पस्थानम्, पाश्र्वमः सञ्चास्यादीनामावासः, तपोवनम् इत्यर्थः, सुरस्थानं
देशाद्यः तस्मिन्, [एतेषां समाहारः] शास्त्रविज्ञानहेतुना शास्त्रार्थालोचनाव्याजि-
नेत्यर्थः, सह संवदेत् परराष्ट्रभावं जानीयात्, राजेति श्रेष्ठः । यदा,—तीर्थाश्रमसुरस्थाने,
तपस्त्रितैरिति शेषः, तपस्त्रिव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः स्वकीयविश्वलचरान्तरैः सह, शास्त्र-
विज्ञानहेतुना, समागत्येति शेषः, संवदेत्, प्रणिधिरिति शेषः । (“तीर्थाश्रमसुरस्थाने”
इत्यत्र “तीर्थाश्रमाश्रयस्थाने” तथा “संवदेत्” इत्यत्र “संवसेत्” इति कामन्दकनीतौ
शदशसर्गोक्तपाठान्तरम्) ।

(ग) नियुज्यताम्—आदिश्रुतां, प्रणिधित्वेन प्रेक्ष्यतामित्यर्थो वा । (“तद्गृह्यताम्”
इति पाठे—प्रणिधित्वेन स्वीक्रियतामित्यर्थः) ।

(द) द्वितीयत्वेन—सहचरत्वेनेत्यर्थः ।

(ध) नियुज्यलोकाः,—प्रणिधित्वे नियुज्यस्य परिजनाः । तिष्ठन्तु—स्थापयन्तु
इत्यर्थः, तथात्वे तस्य विश्वासघननस्त्रावसराभावादिति भावः । (“तद्गृह्यलोकाश्च”
इति पाठान्तरम्) ।

(न) सुगुप्तम्—अतीव गूढम् । अनुष्ठानव्यं—कसंध्यम् [अनु + स्था + तस्य
“उपसर्गात् सुनीतिसुवति—” (आश. ६५ पा०) इति षत्वम्] ।

षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्त्तया ।

इत्यात्मना द्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता ॥ ३८ ॥

अपरच,—मन्त्रभेदे हि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः ।

न शक्यास्ते समाधातुमिति नौतिविदां मतम् ॥ ४० ॥

राजा (प) विसृज्योक्ताच,—“प्राप्तस्तावन्मयोत्तमः प्रणिधिः” ।
मन्त्री ब्रूते,—“देव ! तदा सङ्ग्रामे जयोऽपि प्राप्तः” । (फ) अतः
न्तरे प्रतीहारः प्रविश्य प्रणम्योवाच,—“देव ! जम्बूद्वीपादागतो
द्वारि शुकस्तिष्ठति” । राजा चक्रवाकमाश्लोकते । चक्रवाक-
योक्तम्,—(ब) “कृताऽऽवासे गत्वा तावत् तिष्ठतु, पश्चादान्तरम्” ।

(३८) मन्त्रयिवोरेकोऽपि मध्यवर्त्तो वर्त्तते चेत् मन्त्रभेदः स्यात्, किं पुनर्वचन-
इत्याह, षट्कर्ण इति ।—मन्त्रः मन्त्रणा, षट्कर्णः षट् कर्णाः श्रवणानि इव ।
विभिः श्रुत इत्यर्थः, तथा वार्त्तया जनश्रुत्या, लोकमुखिनेत्यर्थः, (“वार्त्तां वृत्तौ
जनश्रुतौ” इत्यमरः) प्राप्तः विदितश्च सन्, भिद्यते भेदं प्राप्नोति, जनसभायां
प्रकाशितो भवतीत्यर्थः, इति अस्माद्धेतोः, महीभृता राजा, आत्मना स्वयं, द्वितीयेन
द्वितीयपुरुषेण, सचिवेन सह इत्यर्थः, मन्त्रः मन्त्रणा, कार्यः कर्त्तव्यः, तत्रभेदे
कार्येद्वानिः स्यादिति भावः । (“षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णस्तु धार्यते । तत्रपञ्च
तु मन्त्रस्य ब्रह्माऽप्येको न बुध्यते” ॥ इति गरुडपुराणोक्तः पाठः) ।

(४०) मन्त्रभेदस्य अनिष्टजनकत्वमाह, मन्त्रभेदे इति ।—पृथिवीपतेः राजा
मन्त्रभेदे मन्त्रणाप्रकाशे, ये दोषाः अनिष्टानि, भवन्ति जायन्ते, ते दोषाः, समाधानं
संशोधयितुं, न हि नैव, शक्याः पार्याः, इति नौतिविदां नौतिज्ञानां, मतं सूचयन्,
चक्षुरिति यावत्, मन्त्रप्रकाशजनितमनिष्टन्तु अशक्यप्रतिकारमिति सर्वथा गोपित-
मिति भावः । (“पृथिवीपतेः” इत्यत्र “पृथिवीचिन्ताम्” तथा “इति नौतिविदा-
मतम्” इत्यत्र “कश्चिदिति मे मतिः” इति भारतीयाश्वमवाचिकपर्वोक्तपाठान्तरम् ।
आश्विकापुराणेऽपि श्लोकस्यास्य अनुरूपो दृश्यते) ।

(प) विसृज्य—विविच्य ।

(फ) अतान्तरे—अस्मिन्नवकाशे । प्रतीहारः,—द्वीवारिकः ।

(ब) कृताऽऽवासे—कृतः राष्ट्रान्तरादागतदूतस्य अवस्थानार्थं निरूपितः ।
आवासः तस्मिन् । (“तावद्गत्वाऽऽवासे तिष्ठतु” इति प्राधान्तरम्) ।

दृष्टव्यः” । “यथा आज्ञापयति देवः” इत्यभिधाय प्रतीहारः
 भूक्तं गृहीत्वा तमावासस्थानं गतः । राजाऽऽह,—(भ) “विग्रह-
 स्मावत् समुपस्थितः” । चक्रवाको ब्रूते,—“देव ! तस्याऽपि
 (म) सहसा विग्रहो न (य) विधिः । यतः,—

स किंभृत्यः स किंमन्त्री य आदावेव भूपतिम् ।

युद्धोदयोगं स्वभूत्यागं निर्दिशत्यविचारितम् ॥ ४१ ॥

अथ,—विजितुं प्रयतेतारौ न युद्धेन कदाचन ।

अनित्या विजयो यस्मात् दृश्यते युध्यमानयोः ॥ ४२ ॥

अथ,—साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् ।

साधितुं प्रयतेतारौ न युद्धेन कदाचन ॥ ४३ ॥

(भ) विग्रहः,—युद्धम् ।

(म) सहसा—सम्पन्नत्वात् ।

(य) विधिः,—विधेयः, आस्त्राशुभोदितः इत्यर्थः [विधीयते इति कर्मणि
 विः] ।

(४१) सहसा विग्रहीतुम् उपदिशतः दुर्नमित्तमाह, स किमिति ।—यः आदौ
 प्रवर्तते, अविचारितम् अविमृष्टं यथा तथा, पूर्वमनालोच्येवेत्यर्थः, भूपतिं राजानं,
 युद्धोदयोगं युद्धाय उदयोगः चेष्टा तम्, अथवा स्वभूत्यागं पलायनं स्वराज्यापणं वा,
 निर्दिशति निरूपयति, उपदिशतीति यावत्, स किं कुम्भितः, अनुपयुक्त इत्यर्थः,
 सः अनुचरः, एतं सः किं कुम्भितः, मन्त्री मन्त्रणादायकः ; नेतादृशस्य वचनं
 यस्मिन्मिति भावः ।

(४२) “सहसा विग्रहो न विधिः” इति स्त्रीकं सनययितुं मनुसंहितायाः
 समाध्यायोक्तश्लोकद्वयमुपजीव्य आह, विजितुमिति ।—यस्मात् कारणात्, युध्य-
 मानयोः युद्धे प्रवर्तमानयोः द्वयोरपीत्यर्थः, विजयः जयलभः, अनित्यः अनिश्चितः,
 दृश्यते लक्ष्यते, तस्मात् कदाचन कदाचिदपि, युद्धेन समरेण उपायेन, चरौ न गतून्,
 विजितुं परामर्शितुं, न प्रयतेत न चेष्टेत । (श्लोकस्यास्य प्रथमार्धे मनुसंहितायां
 “पराजयस्य सङ्ग्रामे तस्मात् युद्धं विवर्जयेत्” इत्येवं परिहृत्या शेषार्धत्वेन, शेषार्धं न
 समासत्वेन विन्यस्तं दृश्यते) ।

(४३) साधेति ।—साम्ना प्रियवचनेन, अनुपयुक्तैरशीपायभेदेन इत्यर्थः,

हि—२३

यतः,—सर्व एव जनः शूरो ह्यनासादितविग्रहः ।

अदृष्टपरसामर्थ्यः सदपः को भवेन्न हि ? ॥ ४४ ॥

किञ्च,—न तथोत्थाप्यते ग्रावा प्राणिभिः दारुणा यथा ।

अत्योपायात् महासिद्धिरेतत् मन्त्रफलं महत् ॥ ४५ ॥

तच्च साम पञ्चविधं, तथा च,—“परस्परपकाराणां दर्शनं गुणकीर्तनम् । सत्त्वमय
ममाख्यानमायत्याः सम्प्रकाशनम् ॥ वाचा पेशयया साधु तवाहमिति चार्पणम् ।
इति सामविधानज्ञैः साम पञ्चविधं श्रुतम्” ॥ इति । दानेन धनादिप्रदानेन, वेदेन
शत्रुप्रकृतौनां परस्परम् अन्तर्विच्छेदं सदृष्टयित्वा आत्मसात्करणेन, सर्वस्य
एभिस्त्रिभिः युगपत्प्रयुक्तैः, अथवा पृथक् व्यसौवां, अरीन् शत्रून्, साधितुं वशीकर्तुं,
(“विजितुम्” इति मनुसंहितायाः सप्तमाध्यायोक्तपाठः) प्रयतेत चेष्टेत; इति
दृष्टरूपेण चतुर्थेन उपायेन, कदाचन न, प्रयतेतैति शेषः; ततः विजयसम्भावनायाः
अनित्यत्वादिति भावः । युद्धे अविजिगीष्वीरकतरपराभवस्यावश्यमाव्यक्तात् साम-
दिव्यैः शत्रून् वशीकर्तुं शक्नुयाच्चेत्, युद्धं न कुर्व्यादिति निष्कर्षः । (भारतशास्त्रिणां
राजधर्मव्याख्यानप्रकरणे अनयोरनुसूचितौ श्लोकौ यथा,—“वर्जनीयं सदा युवं राज्यः
कामेन धीमता । उपायैस्त्रिभिरादानमित्युवाच वृहस्पतिः ॥ सात्त्वेन तु प्रदानेन वेदेन
च नराधिपः । यमर्थं शक्नुयात् प्राप्तुं तेन तुष्यति पण्डितः” ॥ इति ।

(४४) युद्धम् एव गुरागुरयोः परीक्षास्थानम् इति वक्तुमाह, सर्वं इति—
अनासादितः अप्राप्तः, विग्रहः युद्धं येन सः, युद्धे अप्रवर्त्तमान इत्यर्थः, सर्वं एव वर-
गुरो हि गुरुरन्य एव, भवतीति शेषः, हि तथाहि, अदृष्टम् अपरिज्ञातं, एव
जवोः, सामर्थ्यं विक्रमः येन स तथोक्तः, शत्रुबलमजानन्, को जनः सदपः सर्वपः,
भवेत् ? अपि तु सर्व एव इत्यर्थः ।

(४५) नेति ।—ग्रावा प्रक्षरः, दारुणा काष्ठनिर्मितयन्त्रेण करणेन, (“कपि-
कल” इति प्रसिद्धेन) प्रक्षरनिम्ने काष्ठखण्डं दत्त्वा सवेगमुत्थापनेन इति वा, शस्त्रे-
नापीति भावः, यथा उत्थाप्यते उत्क्षिप्यते, उत्थापयितुं शक्नोते इत्यर्थः, प्राणि-
जन्तुभिः, ज्ञानसामर्थ्ययुक्तैरपीति भावः, तथा न, उत्थाप्यते इति शेषः, अतो
पायात् क्षुद्रादपि साधनात्, महती सिद्धिः महासिद्धिः महान् फललानः, महती
चेदिति शेषः; एतत् एव महत् उत्तमं, मन्त्रस्य फलं मन्त्रफलं मन्त्रपायाः प्रभापः
यथा तु मन्त्रपाया स्वरूपेणैव उपायेन महती सिद्धिः जायते, सर्वे मन्त्रपाया प्रभाप-
इति भावः ।

किन्तु (२) विग्रहमुपस्थितं विनोक्त्य व्यवहियताम् । यतः,—

यथा कालकृतोदयोगात् कृषिः फलवती भवेत् ।

तद्वन्नीतिरियं देव ! चिरात् फलति न क्षणात् ॥ ४६ ॥

परच,—दूरे भौरत्वमासन्ने शूरता महतो गुणः ।

विपत्तौ हि महान्तो धीरत्वमधिगच्छति ॥ ४७ ॥

प्रत्यूहः—प्रत्यूहः सर्वमिच्छीनामुत्तापः प्रथमः किल ।

अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न भूतलम् ? ॥ ४८ ॥

(१) विग्रह—युद्धम्, उपस्थितं—पठतमेव, विनोक्त्य—इत्येवं निश्चित्वैवेत्यर्थः, व्यवहियतां—कृतव्यं निरूप्यतामित्यर्थः उदयुज्यतामित्यर्थो वा ।

(४६) यथेति ।—काले यथासमये, कृतः सम्पादितः, उदयोगः इल्लचालनादि-
पेष्टा तस्मात्, कृषिः इल्लकषणं कर्म, यथा फलवती सफला, शस्योत्पादिका
इत्यर्थः, भवेत्, हे देव ! राजन् !, इयं नीतिः राजनीतिः, तद्वत् तथा, चिरात् बहोः
कालात् परं, फलति सिध्यति, सफला भवतीत्यर्थः, न क्षणात् न अल्पकालेन,
फलवतीत्यनुषङ्गः ; अतः युद्धारम्भात् प्रागेव उदयोगः करणीयः इति भावः ।

(४७) शूरत्वाशूरत्वप्रदर्शनयोः कालनियममाह, दूरे इति ।—दूरे भय-
कारणे दूरवर्तिनि सति, भौरत्वम् आशङ्क्य, भयहेतुपरिहारचेष्टा इत्यर्थः, आसन्ने
बनोपस्थे सति, भयकारणे इति शेषः, शूरता पराक्रमप्रदर्शनम्, इत्येव महतः प्राज्ञस्य,
गुणः, हि तथाहि, लोके जगति, महान् स्थिरधीः पुरुषः, विपत्तौ विपदि समुप-
स्थितायां, धीरत्वं धैर्यम्, अधिगच्छति अवलम्बते ; प्राज्ञस्तु अनागते भये भय-
कारणं यथा न समागच्छति तथा प्रतिविदधाति, उपस्थितं च शूरतां प्रदर्शयति,
यतो विपदि भौरतापरिहारपूर्वकं धैर्यावलम्बनमेव गुणः, अतो भवताऽपि तथा
परितव्यम् इति भावः ।

(४८) आदावेव शीर्यस्य दोषमाह, प्रत्यूह इति ।—उत्तापः उत्पलम्,
पविष्टपुनैत्यर्थः, क्रोधप्रदर्शनमिति भावः, सर्वमिच्छीनां सर्वकार्येषु असौष्टलाभ-
स्येत्यर्थः, प्रथमः प्रधानः, (“प्रथमस्तु भवेदादौ प्रधानेऽपि च नाप्यवत” इति मेदिनी)
प्रत्यूहः अन्तरायः, किल निश्चये । उत्तापस्य सिद्धिव्याघातकत्वं समर्थयितुं श्रेयस्य
कार्यसाधकतारूपं वैधर्म्यदृष्टान्तमाह, अम्भः जलम्, अतिशीतलम् अपि अतिश्रेय-
स्युत्तमपि, किं भूतलं पृथ्वीतलं, न भिनत्ति ? न विदारयति ?, मुनिं विधा-

विशेषतश्च, देव ! (ल) महाबलोऽसौ राजा चित्रवर्णः । यतः—

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।

तद् युद्धं हस्तिना सार्धं नराणां मृत्युमावहेत् ॥ ४८ ॥

अन्वयः—स मूर्खः कालमप्राप्य योऽपकर्त्तरि वर्त्तते ।

कलिर्बलवता सार्धं कीटपक्षोद्गमो यथा ॥ ५० ॥

कृत्वा नदीनदादिदृष्टेण किं न प्रवहति ? इत्यर्थः, अपि तु भिनत्त्येव ;— अतिशो-
गुणमपि अश्वः यदा भूमिं भेतुं शक्नोति, परन्तु उत्तापः तत्कर्मसम्पादने यत्नो
भवति, तदा कार्यसाधनाय धैर्याश्रयणमेव वरं, न तु उत्साहप्रकाशः, तस्य कार्यसि-
त्तकत्वदर्शनात्, अतः आपातत एव तजःप्रकाशनं न कर्त्तव्यमिति भावः । तथा,
अश्वः अतिशोतलमपि, भूतलम्, उत्तममिति शेषः, किं न भिनत्ति ? भिनत्त्येव इत्यर्थः,
तोम्रोत्तापेन सन्तप्तं भूतलं यथा शोतलजलप्राप्तमाद्यमेव भिद्यते, तथा क्रोधव-
शितं द्विषतां धैर्यवद्भावहारिणैव विफलं भवति, कार्यवैफल्यञ्च जायते, अतो धैर्य-
लम्बनमेव श्रेयः, न तु क्रोधः इति भावः ।

(ल) महाबलः,—महाप्रतापशाली ।

(४८) बलिनेति ।—बलिना स्वापेक्षया बलवता, सह सार्धं, योद्धव्यं समरे
प्रवर्त्तितव्यम्, इति एवम्प्रकारं, निदर्शनम् उदाहरणं, शास्त्रविधिरिति यावत्, न
अस्ति न विद्यते, तथा हि हस्तिना गजेन, बलवत्तरेणेति भावः, सार्धं सह, युद्धं
सङ्ग्रामः, भवति चेत् तर्हि इति शेषः, तत् युद्धं, नराणां मृत्युमावां, मृत्युं नरप-
मावहेत् प्रापयेत्, जनयेदित्यर्थः । (“तदयुद्धं हस्तिना सार्धम्” इत्यत्र “हस्तिना
सह युद्धं हि” इति पाठान्तरं सुगमम् । “न युद्धं हस्तिना सार्धं नराणां पादशुद्धयं”
इति पाठे—पादचारेण युद्धं यथा अकर्त्तव्यं, तथा हस्तिना सह युद्धं न युज्यते
इत्यर्थः) ।

(५०) “वहेदमित्रं स्नात्वेन यावन्न काल आगतः । तमेव चागते कति
मिन्यात् घटनिवाश्रमा” ॥ इति कामन्दकीययुक्तिनवस्तुश्रवणं, स इति ।—य-
कालं विद्योपयोगिसमयम्, अप्राप्य अन्वया, बलसहयमकृत्येव इत्यर्थः, अथकर्त्तरि
शत्रो, वर्त्तते तिष्ठति, शत्रून् विजितुम् उद्यच्छति इत्यर्थः, सः जनः, मूर्खः सन्दर्भः,
हिताहितविवेक एव तस्य नास्ति इत्यर्थः, बलवता स्वापेक्षया बलवत्तरेण, सार्धं सह,
कलिः कलहः युद्धं वा, (“कलिः स्त्री कलिकायां ना शूराऽऽजि कलहं युगे” इति
मेदिनी । पाणिः युद्धम्) । कीटपक्षोद्गमः यथा पिप्रीलिकादीनां पक्षोद्गमः ॥

विच.—कौर्मं सङ्कोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् ।

प्राप्तकालस्तु नीतिज्ञ उत्तिष्ठेत् क्रूरसर्पवत् ॥ ५१ ॥

शृणु देव !—

महत्त्वल्पेऽप्युपायज्ञः सममेव भवेत् क्षमः ।

समुन्मूलयितुं वृक्षांस्तृणानीव नदीरयः ॥ ५२ ॥

अतो दूतोऽयं शुकोऽत्र (व) आश्वास्य तावत् प्रियतां,
यावत् दुर्गं सज्जीक्रियते । यतः,—

तवत् आत्मविनाशायैव भवतीत्यर्थः ; यथा कीटादीनां पक्षोद्भूतः आत्मनाशकरः,
तथा बलवता विग्रहीऽपि, अतोऽयं साम्प्रतमसाम्प्रतमिति भावः ।

(५१) कौर्ममिति ।—नीतिज्ञः नीतिवेत्ता जनः, कौर्मं कच्छपसम्बन्धिनं,
सङ्कोचं मुखाद्याकुचनं, निषेधत्वमित्यर्थः, आस्थाय आश्रित्य, प्रहारं रिपुकृतपीडन-
मपि, मर्षयेत् सहेत, प्राप्तकालस्तु लज्जवैरनिर्घातनावसरः पुनः, स्वपक्षाभ्युदयपरपक्ष-
व्यवसायसं दृष्ट्वेत्यर्थः, क्रूरसर्पवत् दुष्टव्याख इव, उत्तिष्ठेत् वैरिभूतस्य प्रतिशोधार्थम्
उदयच्छेत्, अवसराभिज्ञाः खलु नीतिज्ञा इति भावः । (“प्राप्तकालस्तु नीतिज्ञः”
इत्यत्र “काले प्राप्ते तु मतिमान्” इति कामन्दकीयः पाठः । भारतशान्तिपर्वोऽ-
प्यपहर्षप्रकरणे अस्थानुरूपश्लोको यथा,—“नात्मच्छिद्रं रिपुर्विद्यात् विद्याःच्छिद्रं परस्य
व । गृहेत् कूर्मं इवाङ्गानि रचेत् विवरमात्मनः ॥ वक्वश्चिन्तयेदयान् सिद्धवच्च
पराक्रमेत् । वक्वश्चावलुप्येत शरवच्च विनिपत्येत्” ॥ इति) ।

(५२) महतीति ।—नदीरयः नदीवेगः, वृक्षान् विशालतरुन्, तथा वृक्षानि
द्वन्द्वानीव, उपायज्ञः सामान्युपायचतुष्टयवित् जनः, महति प्रवर्त्ते, तथा अल्पे
घुद्रेऽपि च, शत्रौ इति शेषः, शत्रुसमुन्मूलने इत्यर्थः, समुन्मूलयितुम् उच्छेत्तुं,
विनाशयितुमित्यर्थः, अन्यत्र—उत्पाटयितुं, समं तुल्यमेव, क्षमः समर्थो भवेत् । यद्वा,
—नदीरयः वृक्षानीव तुच्छसुखीन्मूलनीयघासानीव, वृक्षान् महाद्रुमान्, दुःखीन्मूल-
नीयान् इति भावः, अपीति शेषः, समुन्मूलयितुं क्षमः भवेत्, एवम् उपायज्ञोऽपि
महति तथा अल्पे च, शत्र्वाविति शेषः, सममेव तुल्यमेव, क्षमः विनाशसमर्थः, भवेत्,
यतः उपाय एव अवलम्बनीय इति भावः ।

(व) आश्वास्य—प्रियमधुरवाक्येन सन्तीत्यर्थः । प्रियतां—रक्ष्यतां, न
विमृश्यतामित्यर्थः । [छ + कर्मणि लोट्-तान्] ।

एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः ।

शतं शतसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विशिष्यते ॥ ५३ ॥

किञ्च,—अदुर्गविषयः कस्य नारः परिभवास्पदम् ?

अदुर्गोऽनाश्रयो राजा पीतच्युतमनुष्यवत् ॥ ५४ ॥

दुर्गं कुर्यान्महाखातमुच्चप्राकारसंयुतम् ।

सयन्त्रं सजलं शैलसरिन्मरुवनाश्रयम् ॥ ५५ ॥

विस्तीर्णताऽतिवैषम्यं रसधान्येधसङ्ग्रहः ।

प्रवेशश्चापसारश्च सप्तैता दुर्गसम्पदः ॥ ५६ ॥

(५३) मनुसंहितायाः सप्तमाध्यायीकश्लोकमुपन्यस्य दुर्गसञ्जीकरणे फलमाह, एक इति ।—प्राकारस्थः प्राचीरस्थः, दुर्गस्थः इति यावत्, धनुर्धरः योद्धा, एकः एकाकी एवेत्यर्थः, शतं शतसहस्रकं सैन्यं, योधयति युद्धं कारयति, शतेन सह योऽसमकचो भवतीत्यर्थः, तथा शतं शतसहस्रकः धनुर्धरः, शतसहस्राणि असहस्रानि ग्रीवाः, सैन्यानि योधयतीति शेषः, तस्मात् दुर्गं कीदृशं, विशिष्यते, राज्ञ इति शब्दः । (“शतमेको योधयति दुर्गस्थो यो धनुर्धरः । शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं प्रशस्यते” ॥ इति कालिकापुराणोक्तपाठान्तरम्) ।

(५४) दुर्गानाश्रये दोषमाह, अदुर्गविषयः इति ।—अदुर्गविषयः दुर्गावरः विरहितः, राजा इति शेषः, कस्य महतः क्षुद्रस्य वा इति यावत्, परः शत्रोः, परिभवास्पदम् ? न पराभवस्थानम् ? भवेदिति शेषः, अपि तु स सर्वैः अनाश्रये पराजितुं शक्य इत्यर्थः ; अदुर्गः दुर्गरहितः, अत एव अनाश्रयः आश्रयविहीनः, गन्धमूपतिः, पीतच्युतमनुष्यवत् समुद्रे पीतचष्टः मनुष्य इव, निमग्नो भवेदिति शेषः ; दुर्गरहितस्य विनाशः अवश्यमेव इति भावः ।

(५५) दुर्गलक्षणमाह, दुर्गमिति ।—महाखातं विस्तृतसुगभीरपरिखावेष्टितम्, उच्चप्राकारसंयुतम् उन्नतप्राचीरयुक्तं, यन्त्रं युद्धोपयोगि अस्त्रादिकं, तेन सङ्घितं, कर्तृपानाद्यर्थमुदकञ्च तेन सङ्घितं वर्तमानं, तथा शैलः पर्वतः, सरित् नदी, तटनिजलदेशः, वनम् अरण्यं, तानि आश्रयः संश्रयी यस्य तत् तादृशं, शैलादिवेष्टितमित्यर्थः, दुर्गं कीदृशं, कुर्यात् ।

(५६) प्रशस्तदुर्गलक्षणमाह, विस्तीर्णतेति ।—विस्तीर्णता प्रशस्तता, वैषम्यम् अतिशयेन वैषम्ययुक्तं, शत्रुभिर्दुराक्रम्यमित्यर्थः, रसः जलं, धान्यं ग्रीहिः, धान्यं

राजाऽऽह,—(श) “दुर्गानुसन्धाने को नियुज्यताम् ?” ।

सक्रवाको ब्रूते,—

“यो यत्र कुशलः कार्ये तं तत्र विनियोजयेत् ।

कार्येष्वष्टकमां यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुञ्चति ॥ ५७ ॥

तदाह्वयतां सारसः ।” तथाऽनुष्ठिते सति समागतं सारस-
मवलोक्य राजोवाच,—“भोः सारस ! त्वं सत्वरं दुर्गमनु-
सन्नेहि” । सारसः प्रणम्योवाच,—“देव ! दुर्गं तावदिदमेव
(ष) चिरात् सुनिरूपितमास्ते महत् सरः । किन्तु (स) एतन्मध्य-
द्वीपे भक्ष्यवस्तूनां सङ्ग्रहः क्रियताम् । यतः,—

धान्यानां सङ्ग्रहो राजन् ! उत्तमः सर्वसङ्ग्रहात् ।

निक्षिप्तं हि सुखे रत्नं न कुर्यात् प्राणधारणम् ॥ ५८ ॥

इदोऽत्र भक्ष्यभावस्त्रोपलक्षणम् ; इधं काष्ठ, तेषां सङ्ग्रहः सचयः, प्रवेशः प्रवेक्ष-
मार्गश्च, तथा अपसारः वह्निर्गमनमार्गश्च, सुरक्षितप्रवेशनिर्गममार्ग इत्यर्थः, अन्यैर्दुर्गैश्च-
प्रवेशनिर्गममार्ग इति वा भावः, एताः विस्तीर्णताऽतिवैषम्य जलादिसङ्ग्रह-धान्यसङ्ग्रह-
वाडसङ्ग्रह-प्रवेशमार्ग-अपसारणमार्गरूपाः, सप्त सप्तसङ्ख्याकाः, दुर्गसम्पदः दुर्गस्य
सम्पत्तयः, एतादृशगुणसम्पन्नं दुर्गं प्रशंसनीयमिति ज्ञातव्यम् इति भावः ।

(श) दुर्गानुसन्धाने—दुर्गरचचार्यं स्थाननिरूपणे ।

(५७) य इति ।—यो जनः, यत्र यस्मिन्, कार्ये कर्मणि, कुशलः दक्षः,
तं जनं, तत्र तस्मिन् कर्मणि, विनियोजयेत् नियुक्तं कुर्यात् ; यः जनः, षष्टकमां
कमांशो, गुरोरन्यस्य वा कार्यप्रणाल्यामदर्शनवान्, स्वयच्चाकृतकमां इत्यर्थः, अवहु-
र्दशो इति यावत्, स जनः, शास्त्रज्ञोऽपि विद्वानपि, कार्येषु कर्मसु, कार्यकारणकाले
इत्यर्थः, विमुञ्चति प्रमाद्यति, कर्त्तव्यविमूढो भवतीत्यर्थः, अतः दुर्गकर्मकुशल एव
प्रेषयितव्य इति भावः ।

(ष) चिरात्—बहोः कालात्, बहुकालावधि इत्यर्थः । सुनिरूपितं—
सम्यक् निहारितम् ।

(स) एतन्मध्यद्वीपे—एतस्य सरसः, मध्यद्वीपे मध्यवर्त्तितस्य भागे ।
भक्ष्यवस्तूनां—खाद्यद्रव्याणाम् ।

(५८) भक्ष्यसङ्ग्रहेषु धान्यसङ्ग्रहस्य उत्कर्षतामाह, धान्यानामिति ।—इ

किञ्च,—ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः ।

गृहीयात् तं विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते ॥ ५८ ॥

राजाऽऽह,—“सत्वरं गत्वा सर्वमनुष्ठीयताम्” । पुनः प्रविश्य (ह) प्रतीहारो ब्रूते,—“देव ! सिंहलक्ष्मीपादागतो मेघवर्णो नाम वायसः (क) सपरिवारो द्वारि वर्तते । स च देवपादान् द्रष्टुमिच्छति” । राजाऽऽह,—“काकः (ख) प्राज्ञः बहुदृष्ट्वा च, तद्भवति स (ग) सङ्ग्राह्यः” । चक्रवाको ब्रूते,—“देव ! अख्येवं, किन्त्वस्मद्विपक्षः काकः स्थलचरः, तेनास्मद्विपक्षपक्षे नियुक्तः कथं सङ्गृह्यते ? तथा चोक्तम्,—

आत्मपक्षं परित्यज्य परपक्षेषु यो रतः ।

स परैर्हन्यते मूढो नीलवर्णशृगालवत् ॥ ६० ॥

राजन् ! सर्वसङ्गृहात् सर्वेषां धनरत्नादीनां वस्तूनां सञ्चयात्, [निर्दारे ५३०] धान्यानां त्रीद्विधादीनां भक्ष्यद्रव्याणामित्यर्थः, सङ्गृहः सञ्चयः, उत्तमः उत्कृष्टः, सर्वथा कर्तव्य इत्यर्थः । कथं धान्यसङ्गृह उत्तमः इत्याह, हि यतः, रत्नं धनं, नुष्ठे निश्चितं दत्तमपि, प्राणधारणं प्राणरक्षां, न कुर्यात् कर्तुं न शक्नुयात्, न हिरत्नं भक्षयित्वा कीऽपि जीवतीत्यर्थः, अतः भक्ष्यद्रव्यमेव सङ्ग्राह्यमिति भावः ।

(५८) ख्यात इति ।—सर्वरसानां मधुरादीनां षष्ठां रसानां मध्ये, [निक्षीपणी] लवणः हि लवणरस एव, उत्तमः श्रेष्ठः, रसः आत्माद्यः, ख्यातः प्रसिद्धः, तेन लवणेन, विना अन्यरेण, व्यञ्जनं तेन, स्पृशकाद्युपकरणमित्यर्थः, गोमयायते गोमयवत् विरसं भवति, [गोमयशब्दात् क्यङ्प्रत्ययेन गोमयाय इति नामधेयं रथम्] । अतः तं लवणं, गृहीयात् सञ्चिनुयात् । (“गृहीयात् तम्” इत्यत्र “गृहीतञ्च” इति पाठे—तेन विना गृहीतं स्वीकृतं, भाक्ष्यमित्यर्थः, व्यञ्जनं गोमयायते) ।

(ह) प्रतीहारः,—द्वारपालः ।

(क) सपरिवारः,—परिवारसहितः ।

(ख) प्राज्ञः,—बुद्धिमान् । बहुदृष्ट्वा—बहुदर्शी [बहु + दृश् + कर्णि] ।

(ग) सङ्ग्राह्यः,—समादेयः, अस्मत्पक्षे नियोज्यः इति यावत् ।

(६०) आत्मपक्षमिति ।—यः जनः, आत्मपक्षं स्वगणं, परित्यज्य विपक्षं

राजोवाच,—“कथमेतत् ?” । मन्त्री कथयति,—

नीलवर्णशृगालकथा ।—

शृगालः कश्चित् स्नेच्छया (घ) नगरोपान्ते भ्रमन् (ङ) नील-
सन्धानभाण्डे निपतितः । पश्चात् (च) ततः उत्थातुमसमर्थः
प्रातरात्मानं मृतवत् सन्दर्श्य स्थितः । अथ नीलीभाण्डस्वामिना
मृत इति ज्ञात्वा तस्मात् समुत्थाप्य दूरे नीत्वा असौ परित्यक्तः ।
ततोऽसौ वनं गत्वाऽऽत्मानं नीलवर्णमवलोक्य अचिन्तयत्,—
“अहमिदानीम् (छ) उत्तमवर्णः, तदात्मनः किम् (ज) उत्कर्षं
न (झ) साधयामि ?” इत्यालोच्य शृगालानाङ्ग्य तेनोक्तम्,—
“अहं भगवत्या वनदेवतया स्वहस्तेनारण्यराज्ये (ञ) सर्वोषधि-

शालीयान् विहाय इत्यर्थः, परपक्षेषु अनात्मिण्येषु, शत्रुगणेषु इत्यर्थः, रतः अगुरक्तः,
[रत् + क्तः “अनुदात्तोपदेशवनतितनीत्यादीनामनुनासिकलोपो भ्रूणि क्ङिति” (६)
॥३० पा०.] इत्यनुनासिकलोपः] भवतीति शेषः, मूढः मन्दमतिः, स जनः,
नीलवर्णशृगालवत् नीलवर्णराक्षसः शृगाल इव, परैः विपक्षैः, इत्येते व्यापाद्यते,
यतः विपक्षपक्षस्यास्य नियोगः न कार्य इति भावः ।

(घ) नगरोपान्ते—नगरसमीपे; नगरप्रान्ते इत्यर्थः ।

(ङ) नीलसन्धानभाण्ड—संस्थापितनीलरसे पात्रे । सुरादिसन्धानानुगुण-
व्यापारी हि सन्धानं, सन्धानार्थं भाण्डं सन्धानभाण्डं, नीलस्य सन्धानभाण्डं
नीलसन्धानभाण्डं यस्मिन् पात्रे नीलद्रव्यान् संस्थाप्य तेभ्यः रसः निःसार्यते, तत्
पात्रम् इत्यर्थः । (“नीलीभाण्डे” इति पाठे—वस्त्ररञ्जनार्थं रजकानां नीलीरसपूर्णे
शवे इत्यर्थः ।

(च) ततः,—नीलीभाण्डात् ।

(छ) उत्तमवर्णः,—उत्तमः वर्णः यस्य तथासूतः, उत्कृष्टवर्णसम्पन्न
इत्यर्थः ।

(ज) उत्कर्षं—स्वआत्मपेक्षया श्रेष्ठत्वम् ।

(झ) साधयामि—सम्पादयामि ।

(ञ) सर्वोषधिरसेनः—सर्वासां निखिलानाम्, औषधीनां कुष्ठमांसोदरिद्रा-
निर्वाणोषधियुक्तानाम् । सुरावस्यककपूरमुक्षैः सर्वोषधिः सूतः ॥ इत्युक्तद्रव्याणां,

रसेनाभिषिक्तः ; (ट) पश्यन्तु मम वर्णम् । तदद्याऽऽरभ्य अस्म-
दाज्ञयाऽस्मिन्नरख्ये (ठ) व्यवहारः कार्यः” । शृगालाच्च तं
विशिष्टवर्णमवलोक्य (ड) साष्टाङ्गपातं प्रणम्योचुः,—यथाऽऽज्ञा-
पयति देवः” । इत्यनेनैव (ढ) क्रमेण सर्वेष्वरख्यवामिषु
(ण) आधिपत्यं तस्य बभूव । ततस्तेन (त) स्वज्ञातिभि-
रावृतेनाऽऽधिक्यं साधितम् । ततस्तेन सिंहव्याघ्रादीन्
(थ) उत्तमपरिजनान् प्राप्य सदसि शृगालानवलोक्य
(द) लज्जमानेनावज्ञाय (ध) दूरीकृताः सर्वे स्वज्ञातयः । ततो
(न) विषखान् शृगालानवलोक्य केनचित् वृद्धशृगालेन एतत्
प्रतिज्ञातम्,—(प) “मा विषीदत, यदनेन अनीतिज्ञेन वरं

“मुरा मांनो वचा कुष्ठं शैलेयं रजनौदयम् । शटीचम्पकमुत्तमं सधौषधिगणः शृतः” ।
इत्युक्तद्रव्याणां वा, रसेन निर्यासेन, तदाप्याभिषेकसाधनद्रव्यविशेषेण इति यावत् ।

(ट) पश्यन्तु मम वर्णम्—मम नीलवर्णत्वमेवात्र प्रमाणमित्यर्थः ।
(ठ) व्यवहारः,—स्थितिः, आचरणम् इति यावत् । (“व्यवहारः स्थितौ
पणे । द्रुमेदे—” इति हेमः) ।

(ड) साष्टाङ्गपातं—“पङ्गां कराभ्यां जानुभ्यामुरसा शिरसा दृशा । वरना
मनसा चैव प्रणामोऽष्टाङ्ग उच्यते” ॥ इति अष्टानाम् अङ्गानां पातः पतनं, तेषां
वर्तमानं तत् यथा तथा ।

(ढ) क्रमेण—अनुक्रमेण, प्रकारेणेत्यर्थः ।
(ण) आधिपत्यं—प्रभुत्वम् ।
(त) स्वज्ञातिभिः,—निजस्वजनवर्गैः । आवृतेन—वेष्टितेन । आधिपत्य-
शौल्क्यं, प्रभुत्वमित्यर्थः । साधितं—स्थापितं, सम्पादितमित्यर्थः ।

(थ) उत्तमपरिजनान्—उत्कृष्टजातीयामात्यादीन् । सदसि—सभायाम् ।
(द) लज्जमानेन—चपमाणेन, लज्जामनुभवतेत्यर्थः ।
(ध) दूरीकृताः,—निसारिताः, स्वसभात इति शेषः ।
(न) विषखान्—खिन्नान् ।

(प) मा विषीदत—न विषया भवत । [वि + सद + खीट्-त “पात्राणां खीट्-
दाण्डशक्तिशक्तिशदसदा—” (अ३।७८ पा०) इति सदी सीदादेशः] । अनौचित्यं

समञ्ज्ञाः परिभूताः, तद्वयथाऽयं नश्यति तथा (फ) विधेयम् ।
यतोऽमी व्याघ्रादयः (ब) वर्णमात्रविप्रलब्धाः शृगालमज्ञात्वा
राजानममुं मन्थन्ते, तद्वयथाऽयं (भ) परिचीयते तत् कुरुत ।
तत्रैवमनुष्ठेयं यथा वदामि,—सर्वे सन्ध्यासमये तत्सन्निधाने
(म) महाऽऽरावमेकदैव करिष्यथ ; ततस्तं शब्दमाकर्ण्य
(य) जातिस्वभावात् तेनापि शब्दः कर्त्तव्यः । यतः,—

यः स्वभावो हि यस्य स्यात् तस्यासौ दुरतिक्रमः ।

अथ यदि क्रीयते राज्ञा स किं नाश्नात्युपानहम् ? ॥६१॥

श्रेय—नौतिशास्त्रानभिज्ञेन, अविवेकिनेत्यर्थः । समञ्ज्ञाः,—रहस्यवैतारः, शृगालो-
पमिति जानन्तः इत्यर्थः । परिभूताः,—तिरस्कृताः ।

(फ) विधेयं—कर्त्तव्यम् । [विदधातेः कर्त्तव्यं यत्] ।

(ब) वर्णमात्रविप्रलब्धाः,—वर्णमात्रेण नोलवर्णं दृष्ट्वेत्यर्थः, विप्रलब्धाः,—
रक्षिताः ।

(भ) परिचीयते—प्रत्यभिज्ञायते, शृगालोऽयमिति ज्ञायते इत्यर्थः, व्याघ्रा-
दिमिरिति शेषः ।

(म) महाऽऽरावम्—उच्चैः निनादम् ।

(य) जातिस्वभावात्—शृगालजातीनां नैसर्गिकप्रकृतिवशादित्यर्थः ; शृगा-
लानामयं हि स्वभावो यत् केनापि एकेन शृगालेन रवे कृते सति तत्प्रतिशब्दः
श्रवतो दूरान् गच्छेत् तावद्दूरस्थाः सर्वे एव शृगालाः तदाकर्ण्य अवश्यमेवारावं
कुप्युः इति ।

(६१) प्रकृतेर्दुर्लभत्वं दर्शयति, य इति ।—यस्य जनस्य, यः यादृशः, स्वभावः
प्रकृतिः, स्यात् भवेत्, तस्य जनस्य, असौ स्वभावः, दुरतिक्रमः दुष्परिहरः, हि
निषेधे । [यस्य तस्य इत्यत्र सम्बन्धे षष्ठी, न कर्त्तरि, खलुप्रत्यययोगात्] न जातु
कश्चित् स्वभावं परित्यक्तुमलम् इत्यर्थः । अत्रोदाहरणमाह,—यदि या कुकुरः, राज्ञा
श्रेये, क्रीयते घनादिविनिमयेन गृह्यते, तदा स या, किम् उपानहं चर्मपादुकां,
[उप + नह + क्तिप् । उपसर्गस्य दीर्घत्वम् । यस्य रूपम्—उपानतु, उपानहौ,
उपानहः, उपानह्याम्, उपानह्यु इत्यादि] न पश्यति ? न भवति ?
अपि तु अज्ञात्वेव, स्वभावस्य तत्राप्यनुकरणत्वात् इति भावः ; न हि राजकीयः
या केवलं राजकीयमेवाश्नाति प्ररन्तु चर्मपादुकानपि अश्नाति इति लिख्यम् ।

ततः शब्दात् विज्ञाय व्याप्तेः हन्तव्यः” । तथाऽनुष्ठिते
सति तत् (२) वृत्तम् । तथा चोक्तम्,—

छिद्रं मर्मं च वीर्यञ्च सर्वं वेत्ति निजो रिपुः ।

दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कं वृक्षमिवानलः ॥ ६२ ॥

अतोऽहं ब्रवीमि,—‘आत्मपक्षं परित्यज्य’ इत्यादि” ।

[इति जीववर्णशृङ्गाख्ये] ।

राजाऽऽह,—“यद्यप्येवं तथाऽपि दृश्यतां तावत् अयं दूरा-
दागतः, (ल) तत्सङ्गहे विचारः कर्त्तव्यः” । नक्रवाको ब्रूत,—
“देव ! (व) प्रणिधिस्तावत् (श) प्रहितो दुर्गञ्च सज्जीकृतम्,
अतः शुकोऽप्यानीय प्रस्थाप्यताम् । किन्तु (प्र) योधवल्लैः सह
दूरादेव तमवलोकय । यतः,—

(“आ यदि क्रियते राजा” इति पाठान्तरे तु—आ कुकुरः, यदि राजा अधिपतिः,
क्रियते, तस्मै आधिपत्यं दीयते इत्यर्थः, जनेन इति शेषः । अतः सर्वं
पूर्ववत्) ।

(२) वृत्तं—सम्पन्नम् ।

(६२) रुद्रशब्दोः कसुपि अगोचरं ज्ञाप्नोति कामन्दकनीतेरष्टमसर्गो
वचनमनुसृत्य सदृष्टान्तमाह, छिद्रमिति ।—निजः आत्मीयः जनः, रिपुः शत्रुः, मर्मा-
र्हेण इति शेषः, तदा स छिद्रं रन्ध्रम्, अर्थादीनां कृच्छ्राकृच्छ्रतामिति यावत्,
मर्मं च तथ्यञ्च, गुप्तरहस्यमित्यर्थः, वीर्यं बलञ्च, सर्वं वेत्ति जानाति; तस्य
अप्रतिषिद्धप्रचारत्वादिति भावः; च किञ्च, अनलः दावाग्नयः इत्यर्थः, इदं
वृक्षमिव नीरसं तद्वमिव, अन्तर्गतः अभ्यन्तरोष्ठः सन्, स इति शेषः, दहति प्रली-
करोत्येव, अतिदाकृतोऽयं स्वजनशत्रुः मर्मज्ञत्वादिति भावः । (“छिद्रं कर्णं च
विषञ्च विजानाति निजो रिपुः । दहत्यन्तर्गतश्चैव शुष्कवृक्षमिवानलः” । इति
कामन्दकीयपाठः) ।

(ल) तत्सङ्गहे—तस्य अस्मत्प्रधानयने । विचारः,—विवेचना ।

(व) प्रणिधिः,—चरः, (“प्रणिधियांचने चरं” इति हेमः) ।

(श) प्रहितः,—प्रेरितः [प्र + हि + क्तः] ।

(प्र) योधवल्लैः,—योद्धृसेनैः, वीरपुरुषैरिति यावत् ।

नन्दं जघान चाणक्यस्तीक्ष्णदूतप्रयोगतः ।

तत् दूरान्तरितं दूतं पश्येद्वीरसमन्वितः ॥ ६३ ॥

ततः सभां कृत्वा आहूतः शुकः काकोऽपि । शुकः किञ्चित्
(स) उन्नतधिराः दत्तासने समुपविश्य ब्रूते,—“भो हिरण्यगर्भ !
तां महाराजाधिराजः श्रीमच्चित्रवर्णः समाज्ञापयति,—“यदि
वीवितेन (ह) श्रिया वा प्रयोजनमस्ति, तदा सत्वरमागत्यास्म-
न्नगौ प्रणम, नो चेदवस्थातुं स्थानान्तरं (क) परिचिन्तय” ।
एतच्छ्रुत्वा राजा सक्रोपमाह,—“आः !! सभायामस्माकं न
कोऽपि विद्यते, यः (ख) एनं गलहस्तयति ?” । ततः उत्थाय
सिधवर्णो ब्रूते,—“देव ! आज्ञापय, हन्मि चैनं दुष्टशुकम् ।”
सर्वज्ञो राजानं काकश्च सान्त्वयन् ब्रूते,—“भद्र ! मेवं, शृणु
तावत्,—

(६१) अथ प्रसिद्धदृष्टान्तेन दूतस्य अन्तिकावस्थापने दोषं प्रदर्शयन्नाह.
नन्दमिति ।—चाणक्यः कौटिल्यः, तदाख्यः चन्द्रगुप्तमाख्यः इत्यर्थः, तीक्ष्ण-
दूतप्रयोगतः चतुरदूतोपायेन, प्रचण्डदूतप्रयोगेणेति वा, नन्दं तदाख्यं वृपतिं, जघान
शतवान्, तत् तस्मात्, राजेति कर्त्तृपटमूढनीयम् ; वीरसमन्वितः योद्धृपुरुषवैद्यतः
सन्, दूरान्तरितं दूरावस्थितं, दूतं, यथा,—दूतं दूरान्तरितं दूरव्यवहितं यथा
तथा, पश्येत, वेदेशकं दूतं राजसमीपे सदृशा न स्थापयेदित्यर्थः । पुरा किल पितृ-
याहदिने याज्ञीयायां भोक्तुं समाहूतः चाणक्यः नन्देन राजा शिखाऽऽकर्षणेन
पथामनात् वहिष्कृतः । इत्यभपमानितः स पुनः नन्दवशं समूलघातं कर्तुं
कृतप्रतिज्ञः कृच्छवेशिना दूतेन नन्दं घातयित्वा तदंजीयान् अन्यांश्च सर्वान् घातयामास,
नन्दगुप्तं राजानं कृत्वा तेन राज्यमश्रासयश्च इति ।

(न) उन्नतधिराः,—ऊर्ध्वोन्नतमस्तकः । दत्तासने समुपविश्य—राजा दत्ते
पासने आसीन इत्यर्थः ।

(ह) श्रिया—ऐश्वर्येण, राज्येन इत्यर्थः । [करणे श्या०] ।

(क) परिचिन्तय—चिन्तया स्थिरीकृत इत्यर्थः, अनुसन्धेहि इति यावत्,
देशमभं परित्यज्य स्थानान्तरं गच्छ इति निष्कर्षः ।

(ख) एनं—शुकम् । गलहस्तयति—गले हस्य, तं करोतीति

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः

वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।

धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति

सत्यं न तत् यत् भयमभ्युपैति ॥ ६४ ॥

यतो राजधर्मश्चैषः,—

दूतो स्नेच्छोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुखो यतः ।

उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नान्यथा ॥ ६५ ॥

गलहस्तयति, गले हस्तं दत्त्वा निःसारयतीत्यर्थः । [“हस्त्यादिभ्यो यङ्गो” (पा०) इत्यनेन गलहस्तशब्दात् णिचि ‘गलहस्ति’ इति नामधातोः लाटि रूपम्] ।

(६४) दूतानामवध्यत्वं विवक्षुः सर्वज्ञो मन्त्रो भारतीदृशोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुखो यतः ।—यत्र सत्यं, वृद्धाः प्रवयसः, बहुदर्शिनी विद्वांसः इति यावत्, न सन्ति न विद्यन्ते, सभा न सभात्वेन न परिगणनीया, ये वृद्धाः, धर्मं धर्मसङ्गतवचनं, न वदन्ति न उपदिशन्ति, ते वृद्धाः न वृद्धत्वेन न परिगणनीयाः, यत्र धर्मः, सत्यं तथ्यं, शाश्वतं इत्यर्थः, अकाप्यम् इति यावत्, न अस्ति न वर्तते, स धर्मः न न धर्मपदवाच्यः, सत्यं, भयम् आशङ्का, संशयमित्यर्थः, (“भयम्” इत्यत्र “कुलम्” इति पाठः केषांश्चिन्नाभ्युपैति गच्छति, प्राप्नोतीति यावत्, संशयमिश्रितं यत् सत्यमित्यर्थः, तत् सर्वं संशययुक्तं सत्यं न सत्यत्वेन परिगणनीयमित्यर्थः ; एतेनैतत् सूचितं यत्,—यत्र धर्मसङ्गतं सत्यवचनं ब्रवीमि, महचनमवहितः शृणु इति । (“वृद्धा न ते” इति “न ते वृद्धाः” “धर्मः स नो” इत्यत्र “नासौ धर्मः” “सत्यं न तत् यत् भयमभ्युपैति” इत्यत्र “न तत् सत्यं यच्छस्त्रेणाभ्युपेतम्” इति भारतीदृशोऽप्यवध्यः पाठः) । उपजातिः वृत्तम् ।

(६५) दूतस्यावध्यत्वं दर्शयति, दूत इति ।—दूतः स्नेच्छोऽपि हीनजातीयोऽपि किमुत ब्राह्मण इति भावः, अवध्यः वधानहः, स्थात् भवेत्, यतः यस्मात्, राजा वदति, दूतमुखः दूत एव मुखं यस्य सः, दूतमुखेन स्नाभिप्रायप्रकाशका इत्यर्थः, वृद्धादिषु, उद्यतेषु हनुमुदिचतेषु अपि ; प्राणाल्ययेऽपीति भावः ; दूतः स्वविपरीतं, स्नाभिवाक्यमन्यरूपम् इत्यर्थः, न वदति न कथयति, अतो न इति भावः ।

स्वापकर्षं परोत्कर्षं दूतोक्तैर्मन्यते तु कः ? ।

सदैवावध्यभावेन दूतः सर्वं हि जल्पति ॥ ६६ ॥

ततो राजा काकश्च स्वां (ग) प्रकृतिमापन्नौ । शुको-
प्युत्थाय चलितः । पश्चाच्चक्रवाकेणाऽऽनौय (घ) प्रबोध्य
वनकालङ्कारादिकं दत्त्वा (ङ) सम्प्रेषितः स्वदेशं ययौ ।
शुकोऽपि विन्ध्याचलं गत्वा स्वस्य राजानं चित्रवर्णं प्रणतवान् ।
तमालोक्य चित्रवर्णी राजाऽऽह,—“शुक ! का (च) वार्त्ता ?
कोद्गोऽसौ देशः ?” । शुको ब्रूते,—“देव ! सङ्घेपादियं
वार्त्ता, सम्प्रति युद्धोद्द्योगः क्रियताम् । देशश्चासौ कर्पूरद्वीपः
(इ) स्वर्गैकदेशः, राजा च द्वितीयः स्वर्गपतिः, कथं
वर्णयितुं शक्यते” । ततः सर्वान् (ज) शिष्टानाह्वय राजा
सन्वयितुमुपविष्टः, आह च तान्,—“सम्प्रति यत् कर्त्तव्यं
तत् ब्रूत, विग्रहः पुनरवश्यं कर्त्तव्यः । तथा चोक्तम्,—

(६६) दूतस्य वाचांहरत्वनात्रं प्रकटयति, स्वापकर्षमिति ।—को जनः, दूतोक्तैः
स्वरचनैः, स्वस्य आत्मनः, अपकर्षः न्यूनता तं, परस्य शब्दोः, उत्कर्षः श्रेष्ठता तं, मन्यते
श्रूयति ? न कोऽपि तथा स्वीकरोति इत्यर्थः, हि यतः, सदैव नित्यकालमेव,
अवध्यभावेन अवध्यत्वात्, स्वमवध्यं मत्वा इत्यर्थः, दूतः सर्वं प्रियाप्रियादिरूपं
पुत्रपुत्रमुसन्देशमित्यर्थः, जल्पति वदति ; प्रायेण जगति प्राणदण्डादिरूपकठोर-
शासनभावेन परव्यवस्थादिकं न स्फुरति लोकानां, दूतस्य तु अवध्यत्वेन तद्व्या-
घातात् तदभावः इति भावः, अतः राजनीतिम् उल्लङ्घ्य तज्जलनीपरि कृतदोष-
व्यवहारेण भवता न हन्तव्योऽयमिति हृदयम् ।

(ग) प्रकृतिमापन्नौ—पूर्वावस्थां प्राप्नो, क्रोधात् विरतो इत्यर्थः ।

(घ) प्रबोध्य—सान्त्वयित्वा, प्रियवचसा प्रसाद्येत्यर्थः ।

(ङ) सम्प्रेषितः,—विसर्जितः ।

(च) वार्त्ता—वृत्तान्तः ।

(इ) स्वर्गैकदेशः,—स्वर्गैकाग्रः, स्वर्गतुल्य इत्यर्थः ।

(ज) शिष्टान्—विशुद्धान् ।

असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभुजः ।

सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः ॥ ६७ ॥

दूरदर्शी नाम गृध्रो मन्त्रौ ब्रूते,—“देव ! (भ) व्यसनितया विग्रहो न (ज) विधिः । यतः,—

मित्रामात्यसहायाश्च यदा स्पृष्टदभक्तयः ।

शत्रूणां विपरीताश्च कर्त्तव्यो विग्रहस्तदा ॥ ६८ ॥

अन्वयः,—भूमिर्मितं हिरण्यञ्च विग्रहस्य फलं त्वयम् ।

यदैतन्निश्चितं भावि कर्त्तव्यो विग्रहस्तदा” ॥ ६९ ॥

(६७) चाणक्यवचनमुपन्यस्य राज्ञां शमगुणाययणे दोषमाह, असन्तुष्ट इति ।—असन्तुष्टाः अप्रसन्नाः, दानादेरल्पप्राप्तिहेतोः दातरि अप्रीतमनसः इत्यर्थः, द्विजाः ब्राह्मणाः, नष्टाः हताः, दुःखभाज इत्यर्थः, महीभुजः राजानय, सन्तुष्टाः अल्पेनैव सन्तोषमनुभवन्तः, मया प्रजाभ्यः यः करः गृह्यते, यावांश्च देशमनाधिकारे अस्ति तेनैव अलनिति मन्यमानाः इत्यर्थः, नष्टाः दुःखभाज इत्यर्थः, (“सन्तुष्टा इव पार्थिवाः” “सन्तुष्टाः पार्थिवाः सदा” इति पाठान्तरद्वयम्); सलज्जा लज्जावत्यः, गणिका वारविलासिन्यः, नष्टाः अर्थाङ्गनासामर्थ्यात् दुःखभाजः इत्यर्थः, निर्लज्जाः लज्जाहीनाः, कुलाङ्गनाः कुलवध्वश्च, नष्टा निन्दनीयाः, तदिदानीं अवश्यमेव युद्धोद्द्योगः कर्त्तव्यः अतः उपायं स्थिरीकुरुत इति भावः ।

(भ) व्यसनितया—विपद्युक्तत्वात् क्रोधजदोषयुक्तत्वात् वा । (“व्यसं विपदि भंजे दोषे कामजकोपजे” इत्यमरः ।

(ज) विधिः,—कर्त्तव्यः ।

(६८) विग्रहकालं निर्दिशति, मित्रेति ।—यदा यस्मिन् काले, मित्राणि मित्रभावापन्नाः राजानः इत्यर्थः, अमात्याः सचिवाः, सहायाः सैन्यादिसपक्षलोकाश्चकारात् पौराश्च, दृढा अविचलिता, भक्तिः अमुरागां शेषां ते तद्योक्ताः, अतिव्रतं नातृकृत्वा इत्यर्थः, स्युः ; तथा शत्रूणाञ्च विपरीताः अदृढभक्तयः, प्रतिकृत्वा इति यावत्, मित्रामात्यसहाया इति शेषः, स्युः, तदा विग्रहः युद्धं, कर्त्तव्यः विधेयः ।

(६९) कामन्दकीयदशमसर्गोक्ते शोकमवलम्ब्य विग्रहस्य फलं कालञ्च निर्दिशति भूमिरिति ।—भूमिः राज्यं, मित्रं सुदृढं, वन्धुसङ्ग्रहः इत्यर्थः, हिरण्यं सुवर्णं, त्रिसङ्ग्रहमेतत्, विग्रहस्य युद्धस्य, फलं परिणामः, लाभ इत्यर्थः, यदा यस्मिन्

राजाऽऽह,—“मम (ट) बलानि तावदवलोकयतु मन्त्री,
(ठ) तदैतेषाम् (ड) उपयोगो ज्ञायताम् । (ढ) एवम्
साध्यतां (ण) मौहूर्त्तिकाः, स शुभलग्नं यात्रार्थं (त) विद-
धातु । मन्त्री वदति—“देव ! (थ) तथाऽपि सहसा यात्रा-
करणमयुक्तम् । यतः,—

विशन्ति सहसा मूढा येऽविचार्य द्विषद्वलम् ।

खड्गधारापरिष्वङ्गं लभन्ते ते सुनिश्चितम्” ॥ ७० ॥

राजाऽऽह,—“मन्त्रिन् ! मम (द) उत्साहभङ्गं सर्वथा

भावे, एतत् त्रयं, निश्चितं स्थिरं, भावि भविष्यति, तदा विग्रहः युद्धं, कर्त्तव्यः
निवेद्य, अन्यथा त्वन्यथैव इति भावः । (“यदैतन्निश्चितं भावि तदा विग्रहमाचरेत्”
शुक्लराक्षस कामन्दकीयः पाठः) ।

(ट) बलानि—सैन्यानि ।

(ठ) तदा—तर्हि, तथा सति इत्यर्थः ।

(ड) उपयोगः,—उपयुक्तता, कार्यक्षमत्वम् इत्यर्थः ।

(ढ) एवम्—उपयोगं ज्ञात्वैत्यर्थः ।

(ण) मौहूर्त्तिकाः,—मुहूर्त्तं लभ्यं वेत्तीति मौहूर्त्तिकाः, लभ्यनिर्णायकी
रेखाः ।

(त) विदधातु—करोतु, निरूपयतु इत्यर्थः ।

(थ) तथाऽपि—स्वपक्षाणामुपयुक्तत्वे सत्यपि ।

(७०) सहसा यात्राकरणे दोषमाह, विशन्तीति ।—ये मूढाः मूर्खाः, द्विषतः
द्वेषाः, बलं सैन्यं सामर्थ्यं वा, अविचार्य अविचिन्त्य, शत्रुबलावलम् अनिर्णयेत्यर्थः,
सहसा अविचिन्तितं यथा तथा, विशन्ति युद्धे प्रवर्त्तन्ते इत्यर्थः, ते मूढाः, सुनिश्चितम्
पश्यन्मेव, खड्गधारा खड्गस्य निश्चितमुखं, तीक्ष्णायभाग इत्यर्थः, (“धारा
सैनादिनिश्चितमुखे” इति मेदिनी) तथा परिष्वङ्गम् आलिङ्गनम्, आघातमिति
भावः, लभन्ते प्राप्नुवन्ति, अवश्यमेव विजयन्ते इत्यर्थः, अतः प्रागरिवलावलपरोक्ष-
मेव कर्त्तव्यमिति भावः ।

(द) उत्साहभङ्गम्—अध्ववसायनाशम् ।

(ध) मा कृथाः । (न) विजिगीषुर्यथा (प) परभूमिमा-
क्रामति, तथोपदिश" । गृध्रोऽब्रवीत्,—“देव ! तत् कथयामि,
किन्तु (फ) तदनुष्ठितमेव फलप्रदम् । तथा चोक्तम्,—

किं मन्त्रेणाननुष्ठाने शास्त्रवत् पृथिवीपतेः ? ।

न ह्यौषधपरिज्ञानात् व्याधेः शान्तिः क्वचिद्भवेत् ॥ ७१ ॥

राजाऽऽदेशश्चानतिक्रमणीय इति (ब) यथाश्रुतं निवेद-
यामि । शृणु देव !—

नद्याद्रिवनदुर्गेषु यत्र यत्र भयं नृप ! ।

तत्र तत्र च सेनानीर्यायात् व्यूहोक्तैर्वलैः ॥ ७२ ॥

(ध) मा कृथाः,—न कुरु [माङ्धीगे लुङ् अङागमाभावश्च] ।

(न) विजिगीषुः,—विजेतुमिच्छुः, विजयाकाङ्क्षी इत्यर्थः ।

(प) परभूमिं—शत्रुराज्यम् ।

(फ) तत्—कर्म । अनुष्ठितमेव—आचरितमेव ।

(७१) विनाऽनुष्ठानं केवलमन्त्रेण न काव्येसिद्धिरित्याह, किमिति ।—पद-
ष्ठाने शास्त्रानुयायिनः काव्येस्य असम्पादने सति, पृथिवीपतेः राज्ञः, शास्त्र-
केवलमभ्यस्तशास्त्रेणैव, मन्त्रेण मन्त्रणया, किम् ? किं फलम् ? शास्त्रज्ञानं यथा तदनु-
यायि अनुष्ठानं विना विफलं भवति, तद्वत् मन्त्रोऽपि तदनुयायिना काव्येण विना
फलप्रदो भवति इत्यर्थः, हि तथाहि, क्वचित् कुत्रापि, औषधपरिज्ञानात् औषधवा-
ज्ञानेन, प्रयोगेण विनेति भावः, व्याधेः रोगस्य, शान्तिरूपशमः, न हि नैव, सर्व-
थतोऽत्र मन्त्रणानुरूपमनुष्ठानव्यमेव इति भावः ।

(ब) यथाश्रुतं—यथाशास्त्रम् । (“श्रुतमाकर्णिते शास्त्रे” इति मेदिनी) ।

(७२) कामन्दकीयनीतेरेकोनविंशसर्गोक्तश्लोकानवलम्ब्य चतुर्भिः सङ्ग्रामवाक्य-
विधानमुपदिशति, नदीति ।—नृप ! हे राजन् ! नद्याद्रिवनदुर्गेषु नदी सरि-
ष्विः पर्वतः, वनम् अरण्यं, दुर्गं दुर्गमस्थानं सेनानिवासी वा, तेषु मध्ये, यत्र य-
त्र येषु स्थानेषु, भयं शङ्का, शत्रुभ्यः आक्रमणाशङ्का इति यावत्, विद्यते इति
शेषः, तत्र तत्र च तेषु तेषु च स्थानेषु, सेनानोः सेनापतिः, व्यूहोक्तैः रचितवर्गैः
यथाशास्त्रं विन्यस्यैरित्यर्थः, (“व्यूहस्तु बलविन्यासः” इत्यमरः) बलैः सैनैः स-
यायात् गच्छेत् ; युद्धानिमिति शेषः ।

बलाध्यक्षः पुरो यायात् प्रवीरपुरुषान्वितः ।

मध्ये कलत्रं स्वामी च कोषः फल्गु च यद्वलम् ॥ ७३ ॥

पार्श्वयोरुभयोरश्वा अश्वानां पार्श्वतो रथाः ।

रथानां पार्श्वतो नागा नागानाञ्च पदातयः ॥ ७४ ॥

पश्चात् सेनापतिर्यायात् खिन्नानाश्वासयन् शनैः ।

मन्त्रिभिः सुभटैर्युक्तः प्रतिगृह्य बलं नृपः ॥ ७५ ॥

समेयात् विषमं नागैर्जलाब्धञ्च महीधरम् ।

सममश्चैर्जलं नौभिः सर्वत्रैव पदातिभिः ॥ ७६ ॥

(७३) यात्रायां व्यूहमन्त्रिविशप्रकारमाह, बलाध्यक्ष इति ।—बलाध्यक्षः सेनाध्यक्षः, “बलाध्यक्ष” शब्देनात्र सेनापतेः सङ्कारोति सन्तव्यं, “पश्चात् सेनापति-यायात्” इत्युक्तेः ; प्रवीरपुरुषान्वितः वीरप्रधाननरैः सङ्घितः सन्, पुरः अग्रे, यायात् गच्छेत्, मध्ये मध्यदेशे, कलत्रं स्त्रीजनः, स्वामी राजा, कोषः धनं, यच्च फल्गु अक्षरं, होनबलमित्यर्थः, निर्वोध्यमिति यावत्, (“अक्षरं फल्गु” इत्यमरः) बलं सैन्यं, तत् यायादिति पूर्वेष्वान्वयः ।

(७४) पार्श्वयोरिति ।—उभयोः द्वयोः, पार्श्वयोः वातदक्षिणयोः भागयोः, अश्वः वाजिनः, अश्वानां पार्श्वतः पार्श्वे, रथाः स्रन्दनानि, रथानां पार्श्वतः पार्श्वे, नागाः इक्षिनः, नागानाञ्च पार्श्वतः पदातयः पादचाराः, पदातिसेनिका इत्यर्थः, गच्छेयुरिति शेषः [उभयत्र पार्श्वपदे सप्तम्याः तसिद्धप्रत्ययः] ।

(७५) पश्चादिति ।—सेनापतिः सेनानीः, खिन्नान् भीतान्, आन्तान्, पीडितान् वा, सेनापुरुषान् इति शेषः, आश्वासयन् आश्वासनान् कुर्वन्, पश्चात् पृष्ठतः, पूर्वोक्तानां सेनादीनानामिति शेषः, शनैः मन्दं मन्दं, यायात्, नृपः राजा, मन्त्रिभिः समाख्यैः, सुभटैः निपुणैर्धौर्बुदपुरुषैः, युक्तः सन्, बलं पूर्वोक्तप्रकारेण सञ्चितं सैन्यं, प्रतिगृह्य नौत्वा, यायादिति शेषः ; सर्वथा सुरक्षितेन रात्रौ गन्तव्यम्, अन्यथा सर्वमेव विफलं स्यादिति भावः ।

(७६) भारतशान्तिपूर्वोत्तरराजधर्मव्याख्यानप्रकरणोक्तश्रीकानुपजीव्य हाथ्यां स्नानभेदेन याननियममाह, समेयादिति ।—विषमम् उन्नतानतं, बन्धुरमिति यावत्, जलेः पाव्यं सम्पन्नं जलाब्धम् आनूपदेशं, जलाकीर्णं प्रदेशश्चेत्यर्थः, तथा महीधरं पर्वतं, (“जलाब्धं समहीधरम्” इति पाठे—जलप्रायं पर्वतसङ्कुलं विषमं

हस्तिनां गमनं प्रोक्तं प्रशस्तं जलदागमे ।

तदन्यत्र तुरङ्गाणां पत्तीनां सर्वदैव हि ॥ ७७ ॥

शैलेषु दुर्गमार्गेषु विधेयं नृप ! रक्षणम् ।

स्वयोधैः रक्षितस्यापि स्वपनं योगिनिद्रया ॥ ७८ ॥

नाशयेत् कर्षयेच्छत्रुं दुर्गकटकमर्दनैः ।

परदेशप्रवेशे च कुर्यादाटविकान् पुरः ॥ ७९ ॥

प्रदेशमित्यर्थः) नागैः हस्तिसेनैः, समेयात् समागच्छेत्, [सम् + आङ् + इन् + लिङ्-यात्] तत्र तत्र अश्वानां दुर्गमत्वादिति भावः, समं समतन्त्रम्, अवन्तुरं प्रदेश-मित्यर्थः, अश्वैः, तत्र तेषां सुगमत्वात् इति भावः, जलं जलमयं नद्यादिकं, नौभिः नौकाभिः, सर्वदैव सर्वान्शस्त्रेव स्थाने, पदातिभिः पादचारैः साधनः, पदातिसेनैरित्यर्थः, समेयात् इति सर्वत्र योजना ; तथा च यदभिगम्यं यत् स्थानं तत्र तेनैव यातव्यमिति हृदयम् ।

(७७) कालभेदेन याननियममाह, हस्तिनामिति ।—जलदागमे यथा, हस्तिनां गमनं हस्तिभिः साधनैः यात्रा, तदानीमश्वैः पिच्छले वर्तमानं दुष्करत्वात् गतिमान्द्येन गमनविलम्बाच्च इति भावः, तदन्यत्र जलदागमादन्यस्मिन् काले, यीष्मादौ इत्यर्थः, तुरङ्गाणाम् अश्वानां, पत्तीनां पदातीनां, गमनं सर्वदैव हि नित्यकालम् एव, प्रशस्तं श्रेष्ठं, शीघ्रं कथितम् ।

(७८) शैलेष्विति ।—नृप ! हे राजन् ! शैलेषु पर्वतेषु, पर्वतमयदेशेषु इत्यर्थः, दुर्गमार्गेषु दुर्गमपथेषु दुर्गपथेषु वा, रक्षणम् अवधानम्, आत्मरक्षणमित्यर्थः, विधेयं कर्तव्यम्, अथवा नृपरक्षणमिति एकपदं, नृपस्य रक्षणम् इत्यर्थः ; तथा स्वयोधैः स्वकीयथोद्वृषुषैः, रक्षितस्यापि कृतरक्षाविधानस्यापि, योगिनिद्रया योगिनां निद्रायां निद्रया, अग्रगदनिद्रया इत्यर्थः, योगिनो यथा कदाऽपि प्रगाढतया निद्रां व्रजन्ति तथा इति यावत्, स्वपनं निद्रा, रक्षितमिति शेषः, विजिगीषुभिः प्रतिषर्षं सावधानैर्भवितव्यमिति भावः ।

(७९) कामन्दकनीतरेकोनविंशसर्गोक्तश्लोकमवलम्ब्य रिपुवलीच्छेदप्रकारमाह, नाशयेदिति ।—दुर्गस्य कीदृश, सेनाऽऽवासस्य इत्यर्थः, कटकस्य राजधान्याः मर्दनैः पीडनैः, दुर्गस्थान् राजधानीस्थान् सेनापुरुषान् अवमर्द्य इत्यर्थः ; यथा,

यत्र राजा तत्र कौषो विना कौषं न राजता ।

सुभटेभ्यस्ततो दद्यात् को हि दातुर्न युज्यते ? ॥ ८० ॥

वतः—न नरस्य नरो दासः दासस्त्वयंस्य भूपते ! ।

गौरवं लाघवं वाऽपि धनाधननिबन्धनम् ॥ ८१ ॥

द्वौ वे कटकाः सेनाः, तेषां महंनैः, दुर्गस्थसैनिकान् पराजित्य इत्यर्थः,
(“कटकस्त्रिनिमित्तस्वे बाहुमुपये । सेनायां राजधान्याश्च” इति हेमः । “दुर्गकण्टक-
महंनैः” इति पाठे—दुर्गाणि कण्टकाः क्षुद्रशत्रवः, यात्रीपघातकरा इति भावः ;
(“कण्टको न स्त्रियां क्षुद्रशत्रौ मत्स्याटिकीकसे । नैयायिकादिदीपिकौ व्यात्
तोमाक्षद्रुमाङ्गयोः” ॥ इति मेदिनी) तेषां महंनैः) शत्रुं कर्षयेत् आक्रमेत्,
नोशयेत् इत्याश्च, परस्य शत्रोः, देशप्रवेगे राज्यप्रवेगे, आटविकान् अरण्यचरान्
शत्रुपुरुषान्, भिक्षिकिरातादीन् इत्यर्थः, पुरः अग्रे, कुख्यात् ; आटविकैः प्रदर्शितमार्गः
शत्रुराज्यं प्रविशेदित्यर्थः ।

(८०) यत्रेति ।—यत्र यस्मिन् स्थाने, राजा, तिष्ठेदिति शेषः, तत्र कौषः
पर्वधः, धनराशित्वयं, धनागारः इति यावत्, (“कौषोऽस्त्री कुञ्जले खड्गपिधाने-
ऽर्षोर्षादिव्यधोः” इति मेदिनी) रक्षणीय इति शेषः, कौषं विना धनराशिव्यति-
रेकेण, राजता राजत्वं, न, तिष्ठेदिति शेषः ; प्रसुत्वं हि धनमूलमिति भावः ;
ततः तस्माच्चनात्, ततः तस्मात्, कौषं विना राजताऽसम्भवादिति वा, सुभटेभ्यः
सुदक्षयोक्तृभ्यः, दद्यात् प्रयच्छेत्, धनमिति शेषः, हि यतः, को जनः, दातुः
धनदस्, दातृपक्षमवलस्येत्यर्थः, [सत्त्वन्धविवक्षया षष्ठौ] न युज्यते ?
परैः सह न विगृह्णाति ? अपि तु सर्वं एवेत्यर्थः, “अर्थेन सर्वे वशाः”
इति भावः ।

(८१) भारतीयभीष्मपर्वोक्तश्लोकमवलस्य धनप्रभावमाह, नेति ।—भूपते !
हे राजन् ! नरः मानवः, नरस्य मनुष्यस्य, दासः अधोनः, न, भवतीति शेषः,
तु किन्तु, अर्थस्य धनस्य एव, दासः, तथा हि, गौरवं सम्मानं, श्रेष्ठत्वमित्यर्थः,
वा अथवा, लाघवं लघुत्वमपि, हीनत्वमित्यर्थः, धनाधननिबन्धनं धनसङ्गाव-धनासङ्गाव-
मूलम् ; धनेन बलवान् लोका इति भावः । (“अर्थस्य पुरुषो दासा दासस्त्वर्थो
न कस्यचित् । इति सत्यं महाराज ! बहोऽस्माकमेव गौरवैः” ॥ इति
भारतभीष्मपर्वोपपाठः) ।

अभेदेन च युध्येत रत्नेच्चैव परस्परम् ।

फल्गु सैन्यञ्च यत्किञ्चिन्मध्ये व्यूहस्य कारयेत् ॥ ८२ ॥

पदातींश्च महीपालः पुरोऽनीकस्य योजयेत् ।

उपरुध्धारिमासीत राष्ट्रञ्चास्योपपीडयेत् ॥ ८३ ॥

स्यन्दनाञ्चैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा ।

वृक्षगुल्माऽऽवृते चापैरसिचर्माऽऽयुधैः स्थले ॥ ८४ ॥

(८२) कामन्दकनीतरेकीणविंशतिसर्गोक्तश्लोकमुपजीव्य सैन्यानां परस्पर-
कर्तव्यमाह, अभेदेनेति ।—परस्परम् अन्योन्यम्, अभेदेन ऐक्येन, मिलितेत्यर्थः,
सर्वेषामस्माकमेक एव स्थायं इति निश्चित्य अन्योऽन्यपार्थक्यबुद्धिं समुत्पृज्येति यावत्,
युध्येत युद्धं कुर्यात्, (“युध्येयुः” इति पाठः प्रामादिकः, कामन्दकीये “अभेदेन च
युध्येन् रत्नेयुश्च परस्परम्” इति पाठात्) रत्नेच्चैव नायेत एव च, परस्परं साहाय्यं
कुर्यादेवेत्यर्थः, यत् किञ्चित् फल्गु हीनवल्लभ, सैन्यं, विद्यते इति शेषः, तत्
व्यूहस्य सेनासन्निवेशविशेषस्य, मध्ये मध्यभागे, कारयेत् विदध्यात्, अन्यथा विपश्यते
इति भावः ।

(८३) पदातीनिति ।—महीपालः राजा, पदातीन् पादचारान्, सेनिकान्,
अनीकस्य रणस्य, रणक्षेत्रेत्यर्थः, यद्वा,—अनीकस्य सैन्यस्य, व्यूहसैन्यसहस्येत्यर्थः,
(“अनीकोऽस्त्री रणे सैन्ये” इति मेदिनी) पुरः अग्रे, योजयेत् स्थापयेत्, तथा
परिं शत्रुम्, उपरुध्य अवरुध्य, आसीत वर्तेत, अस्य अरिः, राष्ट्रं राज्यम्,
उपपीडयेत् राष्ट्रे उपद्रवं जनयेत् । श्लोकस्यास्य उत्तरार्द्धं मनुसंहितायां
सप्तमाध्याये दृश्यते ।

(८४) मनुसंहितायाः सप्तमाध्यायोक्तं श्लोकमुपन्यस्य समानूपादिस्थानभेदेन
इत्यत्रादिभिर्गुह्यनियममाह, स्यन्दनेति ।—समे समतलप्रदेशे, स्यन्दनानि रथाः,
अत्राः वाजिनश्च तैः, तथा अनूपे जलप्राये, (“जलप्रायमनूपं स्यात्” इत्यमरः)
[अनुगता आपोऽव इति अनु + अप् + “कृक्पुरञ्चुः—” (५।४।७४ पा०) इति
अः, “ऊदनोद्वेगे” (६।१।२८ पा०) इति अपस्य क्त] जलाकीर्णे देशे
इत्यर्थः, नौद्विपैः नौकाभिः हस्तिभिश्च, वृक्षगुल्माऽऽवृते तरुलताऽऽच्छन्नस्थाने, चापैः
धनुर्भिः, स्थले अन्यत्र देशे, असिचर्माऽऽयुधैः खड्गखेटकास्त्रैः करणैः, युध्येत् युद्धं
कुर्यात्, [युधेरात्मनेपदित्वात् “युध्येत्” इति प्रयोगः कथं सिध्यति ? इत्यत्राह

दूषयेच्चास्य सततं यवसानोदकेन्धनम् ।

भिन्द्याच्चैव तडागानि प्राकारान् परिखास्तथा ॥ ८५ ॥

बलेषु प्रमुखो हस्ती न तथाऽन्यो महीपतेः ।

निजैरवयवैरेव मातङ्गोऽष्टायुधः स्मृतः ॥ ८६ ॥

बलमश्वश्च सैन्यानां प्राकारो जङ्गमो मतः ।

तस्मादश्वाधिको राजा विजयी स्थलविग्रहे ॥ ८७ ॥

तथा ह्युक्तम्,—

शसनः,—“युध्येदिति युधः क्वचि” (५ अधि० २ अ० २८ सू०) युधः क्वचि,
युधमात्मन इच्छेत् युध्येदिति] ।

(८५) शत्रोर्भिन्याद्युपकरणनाशे मनुसंहितायाः सप्तमाध्यायोक्तश्लोकं प्रमाण-
यति, दूषयेदिति ।—अस्य शत्रोः, यवसं घासादिद्वेषम्, अश्वादिभोन्यमित्यर्थः, अन्नं
भोन्यम्, उदकं जलम्, इन्धनं काष्ठं, तेषां समाहारस्तत्, सततं नित्यमेव, दूषयेत्
द्रुषितं कुर्वात्, विषादिभिः अव्यवहार्यं कुर्वात् इत्यर्थः, तथा तडागानि सरांसि,
प्राकारान् प्राचीरवेष्टनानि, परिखाः खेयानि, दुर्गादिपरितः खातानि च इत्यर्थः,
भिन्द्यात् एव विनष्टं कुर्वादित्यर्थः ।

(८६) बलेष्विति ।—महीपतेः राज्ञः, बलेषु हस्त्यश्वरथपदात्याख्येषु सैन्येषु
मध्ये, हस्ती गजः, प्रमुखः मुख्यः, सर्वश्रेष्ठः इत्यर्थः, (“प्रमुखं प्रथमे मुखे” इति
हेमः) अन्यः अश्वादिः, तथा तद्वत् प्रमुखः, न । कुतः ? इत्याह,—मातङ्गः
हस्ती, निजैः अवयवैः स्वकीयैः पादचतुष्टयदन्तद्वयशृङ्खलपुच्छरूपैः अष्टाभिरङ्गैः एव,
अष्टायुधैः अष्टविधास्त्रवान्, स्मृतः कथितः, तथा च सर्वांश्चैव अङ्गानि प्रहरण-
रूपाणि शत्रुनाशयोग्यानि गजस्य इत्यर्थः ।

(८७) बलमिति ।—सैन्यानां मध्ये, अश्वः घोटकः, घोटकश्च इत्यर्थः,
यवस्य सैन्यं पुनः, तुरङ्गसैन्यमित्यर्थः, जङ्गमः गमनशीलः, प्राकारः प्राचीरं, दुर्गप्राकार-
रुद्वय इत्यर्थः, मतः सन्मतः, विदुषामिति शेषः, श्वावरो दुर्गप्राकारो यथा दुर्गाभ्यन्तरस्थं
सैन्यं विपश्चात् रक्षति, जङ्गमम् अश्वसैन्यमपि समन्तादवस्थितं सैन्यानीतराणि
तथा रक्षति इत्यतस्तेषां जङ्गमप्राकारत्वं बोध्यम् ; तेन हतेन आत्मरक्षा कर्तुं
शक्यते इति भावः, तस्मात् जङ्गमप्राकारत्वात्, अश्वाः अधिकाः यस्य स अश्वधिकः
अधिकशस्त्रसैन्यवान् इत्यर्थः, राजा भूपतिः, स्थलविग्रहं स्थलयुद्धे, विजयी

युध्यमाना ह्यारुढा देवानामपि दुर्जयाः ।
 अपि दूरस्थिता येषां वैरिणो हस्तवर्त्तिनः ॥ ८८ ॥
 प्रथमं युद्धकारित्वं समस्तबलपालनम् ।
 दिङ्मार्गाणां विशोधित्वं पत्तिकर्म प्रचक्षते ॥ ८९ ॥
 स्वभावशूरमस्त्रज्ञमविरक्तं जितश्रमम् ।
 प्रसिद्धक्षत्रियप्रायं बलं श्रेष्ठतमं विदुः ॥ ९० ॥

विजिता, भवेदिति शेषः, तथा च विजिगीषुणा प्रभूत एव अश्वसङ्ग्रहः क्वं
 इति भावः ।

(८८) अश्वजन्तानामौत्काष्यमाह, युध्यमाना इति ।—ह्यारुढाः हयान् गन्तुं,
 आरुढाः अधिष्ठिताः, अश्वसाधनाः इत्यर्थः, अश्वमारुह्येति भावः युध्यमानाः युद्धात्
 प्रवृत्तमानाः, सेनापुरुषाः इति शेषः, देवानामपि, [सम्बन्धविवक्षया षष्ठी, न कर्त्तुं
 “दुर्जयाः” इत्यस्य खलुप्रत्ययान्तत्वात्] किमुत नराणाम् ? इति भावः, दुर्जयाः
 दुर्जयाः, देवैरपि जेतुम् अशक्याः इत्यर्थः, येषाम् अश्वारुढानां सैनिकानां, दूरस्थाः
 विप्रकृष्टदेशस्थिता अपि, वैरिणः शत्रवः, हस्तवर्त्तिनः करतलस्थिताः, करतलाग्रतः
 अतीव सुशाला इति भावः, भवन्तीति शेषः, अतः विजयार्थिना अश्वः सङ्गृहीतव्यः
 इति भावः ।

(८९) पदातिकर्त्तव्यं निर्दिशति, प्रथममिति ।—समस्तबलपालनं हस्तशक्ति
 चतुरङ्गसेनारक्षणं, प्रथमं मुख्यं, युद्धकारित्वं युद्धनैपुण्यम् इत्यर्थः, तथा दिङ्मार्गाणां
 दिशां मार्गाणां प्रवेशनिर्गमद्वाराणाञ्च, विशोधित्वं निर्विघ्नत्वं, निर्बाधत्वमिति यावत्,
 पत्तिकर्म पादचाराणां कार्यं, प्रचक्षते आहुः, नीतिज्ञा इति शेषः । यद्वा,—अश्वसङ्ग्रह
 आदौ, युद्धारम्भे इत्यर्थः, युद्धकारित्वं सङ्ग्रामकरणं, समस्तबलपालनं सर्वेषां सैन्याणां
 रक्षाविधानमित्यर्थः, तथा दिङ्मार्गाणां दिशां तथा मार्गाणाम् अरिदेशगमनोप
 पथानां, यस्यां दिशि येन मार्गेण गमनं कर्त्तव्यं, तत्तद्दिशां मार्गाणाञ्च इत्यर्थः,
 विशोधितं विशोधकत्वं, मार्गावरोधविच्छादीनामपसारणेन विषमभूमिनां समोन्नमने
 च विमुह्यितासम्पादनमित्यर्थः, पत्तिकर्म पदातिसैनिकानां कार्यं, प्रचक्षते ।

(९०) स्वभावेति ।—स्वभावशूरः प्रकृत्या वीरम्, अस्त्रज्ञम् अस्त्रप्रयोगकुशलम्,
 अविरक्तं स्वार्थिना अनुरक्तं, सततं कर्त्तव्यकर्मणि उत्साहविशिष्टमिति यावत्, शि
 वायत्तोजितः, यमः क्लेशः येन तत् जितश्रमः क्लेशसहितः इत्यर्थः, प्रसिद्धक्षत्रिय

यथा प्रभुक्तताम्मानात् युध्यन्ते भुवि मानवाः ।

न तथा बहुभिर्दत्तैर्द्रविणैरपि भूपते ! ॥ ८१ ॥

वरमल्पबलं सारं न बह्वी मुण्डमण्डली ।

कुर्व्यादसारभङ्गो हि सारभङ्गमपि स्फुटम् ॥ ८२ ॥

अप्रसादोऽनधिष्ठानं देयांश्चहरणञ्च यत् ।

कालंयापोऽप्रतीकारस्तत्र वैराग्यकारणम् ॥ ८३ ॥

शरीरेण ख्यातचक्रियबहुलं, बलं सैन्यं, श्रेष्ठतमं मुख्यं, विदुः जानन्ति, विद्वांस इति श्रेष्ठः, तथा च नृपतिः ईदृगुणोपेतं सैन्यं कर्तुं यतेत इत्यर्थः ।

(८१) यथेति ।—भूपते ! हे राजन् ! भुवि भूतले, मानवाः सैनिक-पुरुषा इति यावत्, प्रभुक्ततात् स्वामिक्ततात्, मानात् समादरात्, स्वामिसकाशे सम्मानादिलाभात् हेतोः इत्यर्थः, यथा यादृशं, युध्यन्ते उत्साहेन विग्रहन्ति, तथा तादृशं, बहुभिः प्रभूतेः, द्रविणैः धनैः, दत्तैरपि समर्पितैरपि, न, युध्यन्ते इति श्रेष्ठः, मानधना हि महान्तः, अतः तेषां समादरो विधेय इति भावः ।

(८२) वरमिति ।—सारं बलवत्, प्रभूतबलविक्रमसम्पन्नमित्यर्थः, अल्पबलम् अल्पसङ्ख्याकमपि सैन्यं, (“बलं शक्तिबलं सैन्यं बलं स्यौख्यं बलां बली” इति श्रान्तः) यं श्रेयः, बह्वी प्रभूता, मुण्डमण्डली मल्लकश्रेणी, मुण्डगणनया प्रभूतसङ्ख्याका असाराः सैनिकपाशा इति भावः, न, वरमिति श्रेष्ठः । अत्र हेतुमाह,—हि यतः, असाराणां दुर्बलानां, भङ्गः पराङ्मुखत्वं, पलायनमित्यर्थः, सारभङ्गमपि साराणां सारवतां, बलवतां सैन्यानामपीत्यर्थः, भङ्गम् उत्साहभङ्गं, कुर्व्यात् जनयेत्, इति स्फुटं सुव्यक्तमेव ; बह्वनां पलायनदर्शनेन स्वपक्षपराजयश्च यथा इति भावः ।

(८३) अप्रसाद इति ।—अप्रसादः स्वसैन्यं प्रति स्नानिनः अप्रसन्नता, अनुग्रह-प्रदर्शनाभावो वा, (“प्रसादोऽनुग्रहे साव्यगुणस्त्रास्यप्रसन्तिषु” इति श्रिदिनी) अनधिष्ठानम् अनायकत्वं, सैन्यमध्ये अनवस्थानमिति वा, अन्तराऽन्तरा सैन्यमध्ये अवस्थाय तेषां शरीरे उत्साहाप्रदानमित्यर्थो वा, यच्च देयांश्च दातव्यस्य वेतनादः, हरणं सङ्गीचः, दानाभावः इत्यर्थः, कुण्डनप्राप्तघनस्य आत्मसात्करणं वा, कालंयापः आगुसम्पाद्ये कस्यापि अवयवाविलम्बः, शमी निशेष्ठतया अवस्थानं वा, अप्रतीकारः विपदः अभावादेवां अप्रतिविधानम्, एतत् सर्वं, तत्र बलीषु, वैराग्यस्य विरक्तैः, कारणं हेतुः ; अतस्त्वावि परिहरेदिति भावः ।

अपीडयन् बलं शत्रून् जिगीषुरभिषेणयेत् ।
 सुखसाध्यं द्विषां सैन्यं दीर्घयानप्रपीडितम् ॥ ८४ ॥
 द्वायादादपरो यस्मात् नास्ति भेदकरो द्विषाम् ।
 तस्मादुत्थापयेत् यत्नाद्वायादं तस्य विद्विषः ॥ ८५ ॥
 सन्धाय युवराजेन यदि वा मुख्यमन्त्रिणा ।
 अन्तःप्रकोपणं कार्यमभियोक्तुः स्थिरात्मनः ॥ ८६ ॥

(८४) अपीडयन्निति ।—जिगीषुः शिकेतुमिच्छुः वृत्तिः, बलं स्वसैन्यम्, अपी-
 डयन् अत्यथयन्, एकदा दीर्घपथपर्याटनेन तेषां पीडाम् अनुत्पादयन् इत्यर्थः,
 मन्दगमनेन विश्रामयन् इति भावः, शत्रून् अरीन्, अभिषेणयेत् सेनया अभिघायात्,
 सेनया शत्रोः अभिसुखं यायात् इत्यर्थः, (“यत् सेनयाऽभिगमनमरौ तदभिषेणनम्” इत्य-
 मरः) । [सेनया अभियानम् इति अभियानार्थे अभिपूर्वकात् सेनाशब्दात् “सत्पाप—”
 (१।१।२५ पा०) इति णिच्-प्रत्यये अभिषेणिरिति नामधातुः, ततः लट्-तिप् ।
 “उपसर्गात् सुनोति—” (८।१।६५ पा०) इति षत्वम्] । अत्र यतः इति पदमूत्रम् ;
 दीर्घयानप्रपीडितं दीर्घमार्गपर्याटनेन प्रपीडितं क्लान्तं, सैन्यं द्विषां शत्रूणां, सुखसाध्यं
 सुखेन उच्छेद्यम्, अनायासेन उन्मूलयितुं शक्यमित्यर्थः, [कर्त्तरि षष्ठी] अतः मन्दं
 मन्दं यायात् इति भावः ।

(८५) द्वायादादिति ।—यस्मात् यतः, द्विषां शत्रूणां, दायं धनम्, दाददति
 स्रक्कति इति तस्मात् द्वायादात् सपिण्डात्, जातरित्यर्थः, (“सपिण्डपुत्री दायादौ”
 इति शाश्वतः) [अन्यार्थशब्दयोगे पञ्चमी] अपरः अन्यः, भेदकरः परस्परं विषद-
 यिता, नास्ति, तस्माद्धेतोः, यत्नात् यत्नेन, तस्य विद्विषः शत्रोः, द्वायादं सपिण्डम्,
 उत्थापयेत् प्रकोपयेत्, तैः प्रकृतिवर्गान् भेदयितुम् उत्साहयेत् इत्यर्थः, अन्तर्भेदेन
 शत्रोरुन्मूलनस्य सुकरत्वादिति भावः ।

(८६) कामन्दकीयनवमसर्गोक्तं श्रीकमवलम्ब्य शचीरन्तःप्रकोपणीपायमाह
 सन्धयेति ।—युवराजेन यौवराज्यं अभिषिक्तेन राजपुत्रेण, यदिवा अथवा,
 मुख्यमन्त्रिणा प्रधानमन्त्रिणेन सह, सन्धाय सन्धिं स्थापयित्वा, तयोः राज्यकामुकत्वात्
 इति भावः ; स्थिरात्मनः निश्चिन्तस्य, उद्योगविहीनस्य इत्यर्थः, अभियोक्तुः अभिधीवं
 कर्तुः, आक्रमितुरित्यर्थः, विजिगीषोरिति यावत्, अन्तःप्रकोपणं प्रकृतिवर्गाना-
 मसन्तोषोत्पादनं, कार्यं कर्त्तव्यम् । (“युवराजेन सन्धाय प्रधानपुरुषेण वा ।
 यतः प्रकोपं जनयेदभियोक्तुः स्थिरात्मनः” ॥ इति कामन्दकीयपाठः) ।

क्रूरं मित्रं रणे चापि भङ्गं दत्त्वाऽभिघातयेत् ।

अथवा गीयहाऽऽकृष्ट्या तन्मुख्याऽऽश्रितवन्धनात् ॥ ८७ ॥

स्वराष्ट्रं वासयेद्राजां परदेशापहारणात् ।

अथवा दानमानाभ्यां वामितं धनदं हि तत् ॥ ८८ ॥

अथवा (भ) किं बहुना उदितेन,—

आत्मोदयः परग्लानिर्हयं नीतिरितीयती ।

तदूरोक्तस्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥ ८९ ॥

(८७) क्रूरमिति ।—क्रूरश्च खलश्च, कपटाचारमित्यर्थः, मित्रं मित्रभावापन्नं राजानं, रणे युद्धे, भङ्गं दत्त्वाऽपि मङ्गामात विरम्यापि, अभिघातयेत् नाशयेत्, अथवा किंवा, विनाशमस्ये विनाशायुक्तत्वे वा इत्यर्थः, गीयहाकृष्ट्या गीयहणतल्येन आकर्षणेन, सवलेनाकर्षणेनेत्यर्थः, तस्य विपक्षस्य, मुख्याः प्रधानानि, ये आश्रिताः सहायाः, सहायभृताः राजानः इत्यर्थः, तेषां बन्धनात् निरोधात्, गतिरोधेन संपचतानयनेन वा इति भावः ; अभिघातयेदिति शेषः । यथा,—गीयहाकृष्ट्या यवां गृहणं येन सः गीयहः पाशः, तस्य आकृष्ट्या आकर्षणेन, गीयहस्यरज्ज्वा-
कर्षणेन गवाकर्षणवत् इति भावः ; तन्मुख्याश्रितवन्धनात् तस्य मुख्याः प्रवराः, ये आश्रिताः अधीनाः, अमात्यभृत्यादयः, पुत्रकलत्रादयो वा इति यावत्, तेषां बन्धनात् बन्धनं कृत्वा इत्यर्थः, तेषां निरोधनेन तमाकृत्य वशीकुर्यादिति भावः ।
(कामन्दकीयाष्टादशसर्गे अस्यानुरूपश्लोको यथा,—“सुगयासम्प्रयुक्तं वा हन्याच्छत्रुं व्यपाश्रयः । अथवा गीयहाकृष्ट्या तल्लक्ष्यं मार्गेवन्धनात्” ॥ इति ।

(८८) स्वराष्ट्रमिति ।—राजा विजिगीषुर्नृपः, परदेशापहारणात् परस्य शत्रोः, देशः राज्यं, तस्य अपहारणात् अपचयसाधनात्, विविधीपद्रवेण शत्रुराज्य-
मुच्छिद्य इत्यर्थः, (“अपहारस्त्वपचयः” इत्यमरः) अथवा किंवा, दानमानाभ्यां दानं मानञ्च प्रदायित्वर्थः, स्वराष्ट्रं वासयेत् स्वराज्यं स्थापयेत्, शत्रोः प्रजाहन्दमिति शेषः,
हि यतः, वासितं प्रजानिः कृतावासं, तत् स्वराज्यं, धनदं धनप्रदम्, ऐश्वर्यसम्पन्न-
मित्यर्थः, भवेदिति शेषः ।

(भ) किमिति ।—बहुना उदितेन किम् ?—वाक्प्रपञ्चेनाहमित्यर्थः ।
[वदधातोः क्तप्रत्ययः, वारणाथक-किंशब्दयोर्गो द्वितीया] ।

(८९) स्ववक्तव्यमुपसंहरति, आत्मोदय इति ।—आत्मनः स्वस्य, उदयः उत्पत्तिः

राज्ञा विहस्योक्तम्,—“सर्वं सत्यमेतत् । किन्तु,—

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।

सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ?” ॥१००॥

तत उत्थाय राजा (म) मौहूर्त्तिकाऽऽवेदितलग्ने प्रस्थितः ।

अथ (य) प्रणिधिप्रहितश्चरो हिरण्यगर्भसमीपमागत्य

हृद्विरिति यावत्, परस्त्वानिः परस्य शब्दोः, स्वानिः हानिः, (“परज्यानिः” इति श्रियपालवधीकृतापठेऽपि तुल्य एवार्थः) इति एतत्, इयं विधा, इदं परिमाणमस्या इति इयती एतावती, एतदनधिका इत्यर्थः, नीतिः नयसङ्ग्रहः, एतद्व्यातिरिक्तो न कश्चित् नीतिपदार्थोऽस्तीत्यर्थः । यदन्वत् षाङ्गस्यादिवर्णनं तत् सर्वमस्यैव प्रपञ्चः इत्याह, तदिति ।—तत् स्वपरयोः उपचयापचयरूपं इयम्, ऊरौकृत्य अङ्गीकृत्य, मुखत्वेन स्वीकृत्य इत्यर्थः, कृतिभिः पण्डितैः, नीतिशास्त्रकुशलैरित्यर्थः, वाचस्पत्यं वाक्यं, प्रतायते वितन्वते, विस्तार्यते इत्यर्थः, [प्र + तन + कर्त्तृणि लट्-ते “तनीतेयं” (६।४।३४ पा०) इति आत्वम्] यादृशेनीदृशेन स्वपक्षाभ्युदयः परपक्षस्य चापक्षो भवेत्, तादृशमेवीदृशेन कृत्वा सत्वरमेव शत्रुर्यातव्यः, न तु विलम्बेन न वा अतदृशेन इति भावः । श्रीकोऽयं माघविरचितमहाकाव्यस्य द्वितीयसर्गे दृश्यते ।

(१००) नीतिसम्यतमपि भवदुक्तं न प्रवर्त्तयेत्, अस्मभ्यं रोचते इत्याह, अन्यदिति ।—उच्छृङ्खलं स्वेच्छाचारानुमतम्, उल्लङ्घितशास्त्रनियममित्यर्थः, प्रसन्नपौडनचनमिति भावः, सत्त्वं बलं, तेजः इत्यर्थः, अन्यत् अन्यविधं, शास्त्रनिर्वाणं मन्वादिशास्त्रेणोदाहृतं, शरीरव्यसने यातव्यमित्येवंरूपेण नियमितमित्यर्थः, सत्त्वं अन्यत् अन्यप्रकारं, नेदम् उपयुज्यते उभयोः नितरां विरुद्धत्वात् नैकशास्त्रमित्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह, सामानाधिकरण्यमिति ।—हि तथाहि, तेजः ज्योतिः, तिमिरमन्धकारः तयोः, परस्परविरुद्धस्वभावयोः इति भावः, सामानाधिकरण्यमेकवाक्यम्, कुतः ? न कुतोऽपि सम्भवेदित्यर्थः, उभयोः सहावस्थानविरोधादिति भावः । युक्तियुक्तं नयान्वितमपि भवतः वाक्यज्ञातं बलहीनविषयत्वात् नास्माकं प्रवृत्तानां प्रीतिप्रदमतोऽधुनैव गन्तव्यमिति निष्कर्षः । अयमपि विहपालवधस्य द्वितीयसर्गे दृश्यते ।

(म) मौहूर्त्तिकाऽऽवेदितलग्ने—देवज्ञानिरूपितशुभसमये ।

(य) प्रणिधिप्रहितः,—प्रणिधिना गुप्तचरेण, प्रधानचरं चेति यावत्, प्रहितः प्रेरितः । चरः,—पुरुषः, सङ्कारी गुप्तचरः इत्यर्थः ।

अस्यैवाच,—“देव ! समागतप्रायो राजा चित्रवर्णः, सम्प्रति

(१) मलयपर्वतोपत्यकायां (ल) समावासितकटको वर्तते ।

(व) दुर्गशोधनं प्रतिक्षणम् (श) अनुसन्धातव्यम् ; यतोऽसौ

युधो महामन्त्री । किञ्च केनचित् सह तस्य विश्वासकथा-

प्रसङ्गेन (ष) एतदिङ्कितम् अवगतं मया,—यदनेन प्रागेव

बोध्यस्मद्गुं नियुक्तः” । चक्रवाको ब्रूते,—“देव ! काक

स्वासी सम्भवति” । राजाऽऽह,—“न कदाचिदेतत् । यद्येवं,

तदा कथं तेन शुकस्य (स) अभिभवाय उद्योगः कृतः ?

अपरञ्च शुकस्याऽऽगमनात् तस्य विग्रहोत्साहः, स च चिरात्

प्राप्ताऽऽस्ते” । मन्त्री वदति,—“तथाऽपि (ह) आगन्तुकः शङ्क-

योगः” । राजाऽऽह,—“आगन्तुका अपि कदाचिदुपकारका

दृश्यन्ते । शृणु,—

परोऽपि हितवान् बन्धुबन्धुरप्यहितः परः ।

अहितो देहजो व्याधिर्हितमारुखमौषधम् ॥ १०१ ॥

(१) मलयेति ।—मलयाचलसन्निहितभूमौ ।

(ल) समावासितकटकः,—संस्थापितवस्त्रराजधानीकः, कृतशिविरसन्निवेशः वा, संस्थापितसैन्य इत्यर्थः । (“कटकस्वद्रिनितन्त्रे बाहुभूषणे । सेनायां राजधान्याच्च” इति हेमः) ।

(व) दुर्गशोधनं—दुर्गस्य संस्कारः । प्रतिक्षणं—सर्वदैव ।

(श) अनुसन्धातव्यम्—अन्वेष्य, सर्वदा सर्वथा सावहितः द्रष्टव्यमित्यर्थः ।

(ष) एतदिङ्कितम्—एतत् वक्ष्यमाणम्, इङ्कितं चेष्टाविशेषः इत्यर्थः ।

(स) अभिभवाय—निर्यातनाय ।

(ह) आगन्तुकः,—नवागतः, अज्ञातकुलश्रीलः इत्यर्थः ।

(१०१) आगन्तोरपि उपकारकत्वं प्रमाणयति, पर इति ।—हितवान् हितकारी, (“हितकृत” इति पाठान्तरम्) परः शत्रुरपि, बन्धुः मित्रम्, अहितः अहितकारी, बन्धुरपि मित्रमपि, परः शत्रुः, समयस्य भवतीति शेषः । अत्र देहजमाह,—देहजः स्वदेहात् उत्पन्नः, आत्मीय इत्यर्थः, व्याधिः रोगः, अहितः

अपरश्च,—आसीत् वीरवरो नाम शूद्रकस्य मञ्जीपतेः ।

सेवकः स्वल्पकालेन स ददौ सुतमात्मनः ॥ १०२ ॥

चक्रवाकः पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । राजा कथयति,—

शूद्रकवृत्ति-वीरवरनामकराजपुत्रकथा ।—

“अहं पुरा शूद्रकस्य राज्ञः क्रीडासरसि कर्पूरकेलिनाम्ने
राजहंसस्य पुत्राय कर्पूरमञ्जर्या सहानुरागवान् अभवम् ।
तत्र वीरवरो नाम राजपुत्रः कुतश्चित् देशादागत्य राजहंसा-
मुपगम्य (क) प्रतीहारमुवाच,—“अहं (ख) वर्त्तनार्थं
राजपुत्रः, मां राजदर्शनं कारय” । ततस्तेनासौ राजदर्शनं
कारितो ब्रूते,—“देव ! यदि मया सेवकेन प्रयोजनमस्ति तदा
(ग) अस्मद्वर्त्तनं क्रियताम्” । शूद्रकः उवाच,—“किं ते
वर्त्तनम् ?” । वीरवरणोक्तम्,—“प्रत्यहं (घ) सुवर्णशत-

लेशकरः, किन्तु आरुख्यं वनजातं, नितराम् असम्पृक्तमित्यर्थः, औषधं भेषजं, सि-
पथ्यं, स्वास्थ्यकरम् इत्यर्थः, उपकारापकारमूलकौ हि लोके निवासी
इति भावः ।

(१०२) तदेव कथाप्रसङ्गेन द्रष्टव्यं, आसीदिति ।—शूद्रकस्य तदाकाल-
मञ्जीपतेः राज्ञः, वीरवरो नाम सेवकः कश्चित् परिजनः, आसीत् वदन् ।
स्वल्पकालेन अचिरं, निधोगं प्राप्येव इत्यर्थः, आत्मनः स्वस्य, सुतं पुत्रं, सौ-
समर्पितवान्, सर्वमङ्गलायै राज्ञः राज्यरचायै जीवितायञ्च स्वपुत्रं वदित्वं
उपजहार इत्यर्थः ।

(क) प्रतीहारं—दौवारिकम् । [प्रति + ह + घञ् “उपसर्गस्य दीर्घता”
किप्-घञादौ कचिद् भवेत्” इति उपसर्गस्य दीर्घता] ।

(ख) वर्त्तनार्थं—जीविकार्थं, जीविकानिवाहार्थं धनप्रार्थो इत्यर्थः ।
(“आजीवो जीविका वार्त्ता हतिर्वर्त्तनजीवने” इत्यमरः) ।

(ग) अस्मद्वर्त्तनं क्रियतां—मम वृत्तिः निरूप्यतामित्यर्थः ।

(घ) सुवर्णशतचतुष्टयं—शतचतुष्टयसुवर्णमुद्राः । (“सुवर्णपञ्चशतानि”
पाठान्तरम्) ।

चतुष्टयम्” । राजाऽऽह,—“का ते (ङ) सामग्री ?” । वीरवरो
ब्रूते,—“हौ बाहू तृतीयश्च खड्गः” । राजाऽऽह,—(च) “नैत-
च्छक्यम्” । तच्छ्रुत्वा वीरवरः प्रणम्य चलितः ।

अथ मन्त्रिभिरुक्तम्,—“देव ! दिनचतुष्टयस्य वर्त्तनं दत्त्वा
त्रायतामस्य (छ) स्वरूपं, किमुपयुक्तोऽयम् एतावद्वर्त्तनं गृह्णाति
अनुपयुक्तो वा” इति । ततो मन्त्रिवचनादाह्वय (ज) तास्मूलं
दत्त्वा तद्वर्त्तनं दत्तवान् । यतः,—

तास्मूलं कटुतिक्तमुष्णमधुरं चारं कषायान्वितं
वातघ्नं कफनाशनं क्षमिहरं दौर्गन्ध्यदोषापहम् ।

वक्त्रस्याभरणं मलापहरणं कामाग्निमन्दोपनं

तास्मूलस्य सखे ! त्रयोदशगुणाः स्वर्गेऽप्यमौ दुर्लभाः ॥१०३॥

(ङ) सामग्री—द्रव्य. काव्यसाधनार्थमुपकरणम् इत्यर्थः ।

(च) नैतच्छक्यम्—एतत् प्रत्यहं सुवर्णचतुष्टयं वर्त्तनमित्यर्थः, न शक्यं
य समश्रणीयम्, एतावद्वर्त्तनं दातुं मया न शक्यते इत्यर्थः ।

(छ) स्वरूपं—स्वभावः, काव्यनैपुण्यनैपुण्यमित्यर्थः ।

(ज) तास्मूलं दत्त्वा—समादरसूचकत्वात् कास्मिन्नपि कार्ये केनापि कस्यापि
नियोगकाले तास्मूलदानस्य प्रथा पूर्वान्तादौदिदानौमपि वर्त्तते च ।

(१०३) तास्मूलस्य दुर्लभत्वेन तद्दानस्य समादरसूचकत्वं समश्रयितुं तद्गुणानाह,
तास्मूलमिति ।—तास्मूलं कटुतिक्तमुष्णमधुरं कटुतिक्तममुष्णवीर्यं तथा प्रियञ्च, मनो-
शुद्धेत्यर्थः, (“मधुरस्तु रसे विधे । मधुरं रमवरत्नादुपिवेषु मधुरोऽन्वयत्” ॥ इति विश्वः)
चारं चाररसयुक्तं, चाररसत्वात् कफानिःसारकमित्यर्थः, कषायान्वितं कषायरसयुक्तं,
वातघ्नं वातोपशमनं, कफनाशनं श्लेष्मदोषनिवारकं, क्षमिहरं क्षमिदोषनाशनं,
दौर्गन्ध्यदोषापहं दुर्गन्धहरं, सुखदुर्गन्धनाशनमित्यर्थः, वक्त्रस्य मुखस्य, आभरणं
शोभाजनकं, अक्षररत्नकत्वादिति भावः, मलापहरणं मलनिःसारकं, कामाग्नि-
मन्दोपनं कन्दोपानलवर्द्धनं, सखे ! हे मित्र !, तास्मूलस्य पण्यं, एते त्रयोदश गुणाः
धन्याः, सन्तीति श्रेयः, अमो गुणाः, एकस्मिन्नेव वस्तुनि इति भावः, स्वर्गेऽपि
सरलौकेऽपि, दुर्लभाः दुष्प्रापाः, देवदुर्लभमेतत् अतः सादरं दत्तम् इति भावः ।
गार्हपत्यविष्णोर्दत्तं वचम् ।

(भ) वर्त्तनविनियोगश्च राज्ञा (ज) सुनिभृतं निरूपितः । तदहं वीरवरेण देवेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दत्तं, (ट) स्थितस्य अहं दुःखितेभ्यः, तदवशिष्टं भोज्यविलासव्ययेन च । एतत् सर्वं नित्यकृत्यं कृत्वा राजद्वारमहर्निशं खड्गपाणिः सेवते । यदा च राजा स्वयं समादिशति, तदा खगृहमेव याति ।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्यां रात्रौ (ठ) सकरुणक्रन्दनध्वनिं स राजा श्रुत्वा । तच्छ्रुत्वा राजा ब्रूते,—“कः कोऽत्र द्वारं तिष्ठति ?” । तदा तेनोक्तम्,—“देव ! अहं वीरवरः” । राजोवाच,—(ड) “क्रन्दनानुसरणं क्रियताम्” । वीरवरोऽपि,—“यथा आज्ञापयति देवः” इत्युक्त्वा चलितः । राज्ञा चिन्तितम्,—“अयमेकाकी राजपुत्रो मया (ढ) सूचीभेद्ये तमसि प्रहितः, नैतदुचितम्, अहमपि गत्वा (ण) निरूपयामि किमेतत्” इति । ततो राजाऽपि खड्गमादाय (त) तदनुसरणक्रमेण नगरात् वह्निर्निर्जगाम । ततो गत्वा वीरवरेण रुदती रूपयौवनसम्पन्ना सर्वालङ्कारभूषिता काचित् स्त्री दृष्टा (थ) पृष्टा च,—“का त्वं,

(भ) वर्त्तनविनियोगः,—वर्त्तनस्य जीविकायाः, जीविकार्थं गृहीतस्यार्थ-
स्वेत्यर्थः, विनियोगः क्रियासु प्रयोगः, यथायथविभागेन व्यवः इत्यर्थः ।

(ज) सुनिभृतं—सुगुप्तं यथा तथा । निरूपितः,—निर्णीतः, ज्ञात इत्यर्थः ।

(ट) स्थितस्य—अवशिष्टस्य अहं स्य, दिशतस्वेत्यर्थः ।

(ठ) सकरुणक्रन्दनध्वनिं—शोकव्यञ्जकरोदनशब्दम् ।

(ड) क्रन्दनानुसरणं—रोदनानुगमनं, रोदनध्वनिं लक्ष्यीकृत्य गत्वा ज्ञायतां किमेतदित्यर्थः ।

(ढ) सूचीभेद्ये—अतिनिविडे इत्यर्थः । तमसि—अन्धकारे । प्रहितः,—
प्रेरितः ।

(ण) निरूपयामि—निश्चिनोमि ।

(त) तदनुसरणक्रमेण—राजपुत्रस्य पश्चात् गत्वा [प्रकृत्यादित्वात् द्वतीया] ।

(थ) पृष्टा—निज्ञासिता । [प्रच्छ + क्त + स्त्रियां टाप्] ।

किमर्थं रोदिषि ?” इति । स्त्रिया उक्तम्,—“अहमेतस्य शूद्र-
कस्य राजलक्ष्मीः, चिरादेतस्य (द) भुजच्छायायां महता सुखेन
विश्रान्ता । (घ) देव्या अपराधेन तृतीये दिवसे राजा पञ्चत्वं
गच्छति, अहमनाथा भविष्यामि, इदानीं नात्र स्थास्यामि,
इति रोदिमि” । वीरवरो ब्रूते,—“यत्र (न) अपायः सम्भवति
तोपायोऽप्यस्ति, तत् कथं पुनरिह (प) आवासो भग-
वता भवति ?” । लक्ष्मीरुवाच,—“यदि त्वमात्मनः पुत्रस्य
शक्तिधरस्य (फ) द्वात्रिंशलक्षत्रणोपेतस्य मस्तकं स्वहस्तेन छित्त्वा

(द) भुजच्छायायां—बाहुबलरूपच्छायायां, भुजबलेन रचिता सतीत्यर्थः ।

(घ) देव्याः,—महिष्याः, क्षताभिषेकायाः पद्मा इत्यर्थः (“देवी क्षता-
भिषेकायाम्” इत्यमरः) । अपराधेन—दोषेण ।

(न) अपायः,—नाशः, विपत्तिरित्यर्थः । उपायः,—प्रतीकारः ।

(प) आवासः,—अवस्थितिः ।

(फ) द्वात्रिंशलक्षत्रणोपेतस्य—महापुरुषस्य द्वात्रिंशलक्षत्रणयुक्तस्य । यदुक्तं
शुद्धिके.—“पञ्च सूत्राः पञ्च दीर्घाः सप्त रक्ताः षड्ब्रूतः । त्रिंशत्पृष्ठगम्भीरो द्वात्रिंश-
त्रणो महान्” ॥ इति । तथा च महापुरुषस्य अपाङ्ग-करचरणतल-तालीष्ठ-जिह्वा-
स्थानि इति सप्त रक्तानि ; वचः-स्तम्भ-नख-नासा-कटि-मुखानि इति षट् उन्नतानि ;
त्वक्-ललाटीरःस्थलानि इति त्रीणि पृष्ठानि ; शीवा-जहा खड्गानि इति त्रीणि
उन्नतानि ; नाभि-कण्ठस्वर-स्वभावाः त्रयो गम्भीराः ; भुज-नासा-नेत्र-जानु-कपोलानि
पि पञ्च दीर्घाणि ; त्वक्-केश-लोम-दन्ताङ्गुलिसन्धय इति पञ्च सूत्राः ; इत्येतानि
द्वात्रिंशलक्षत्रणानि । अन्यच्च यथा,—“रागः सप्तसु किञ्च षट्सुपि शिरोरङ्गेष्वलं तुङ्गवा
मिशारस्त्रिषु खर्वता त्रिषु तथा गम्भीरता च त्रिषु । देव्यै पञ्चसु किञ्च पञ्चसु सखे ।
रथेयते सूत्रता द्वात्रिंशदरलक्षणः कथमसौ गोपेषु सम्भाव्यते ?” ॥ इति श्रीहरिभक्ति-
व्यासतन्त्रिणः । “सप्तसु नेत्रान्तपादकरतलतालधरोष्ठजिह्वानखेषु । षट्सु वचःस्तम्भ-
नखनासिकाकटिमुखेषु । त्रिषु कटिललाटवचःसु । केचित् कटिस्थाने शिरः पठन्ति ।
त्रिषु शीवाजहामेहनेषु । पुनस्त्रिषु नाभिस्वरसन्धेषु । पञ्चसु नासाभुजनेत्र-
जानुषु । पुनः पञ्चसु त्वक्-केशरोमदन्ताङ्गुलिपर्वसु” । इति श्रीजीवगोखामिकता
श्रीवृद्धनी नाम्नी टीका ।

भगवत्याः सर्वमङ्गलाया (ब) उपहारं करोषि, तदा राजा
 (भ) शतायुर्भविष्यति, अहञ्च सुचिरं सुखं निवमामि” इत्युक्त्वा
 अदृष्ट्या अभवत् । ततो वीरवरेण स्वगृहं गत्वा (म) निद्राऽलमा
 स्वबधूः प्रबोधिता पुत्रश्च । तौ निद्रां परित्यज्य उत्थाय उपविष्टौ ।
 वीरवरस्तत् सर्वं लक्ष्मोवचनमुक्तवान् । तच्छ्रुत्वा शक्तिधरः
 मानन्दं ब्रूते,—“धन्योऽहम् एवम्भूतः, स्वामिराज्यरक्षार्थं यम्
 (य) उपयोगः । (र) तात ! कोऽधुना विलम्बः ? कदाऽपि तावत्
 देवविधे कर्मणि एतस्य देहस्य विनियोगः श्लाघ्यः । यतः,—

धनानि जीवितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।

तन्निमित्तो वरं त्यागो विनाशे नियते सति” ॥ १०४ ॥

शक्तिधरस्य माता ब्रूते,—“अस्मत्कुलोचितं यद्येवं न
 कर्तव्यं तदा गृहीतराजवर्त्तनस्य (ल) निस्तारः कर्तव्यः ।

(ब) उपहारं—बलिम् ।

(भ) शतायुः,—वर्षशतपरमायुः, दीर्घजीवी इत्यर्थः ।

(म) निद्राऽलसा—निद्रया अवशीभूताङ्गी । स्वबधूः,—निजभार्या । प्रबोधि
 —जागरिता ।

(य) उपयोगः,—कार्यकारिता ।

(र) तात !—पितः ! (“तातोऽनुकम्पेऽ जनके” इति मेदिनी) ।

(१०४) परार्थे देहत्यागस्य श्लाघ्यतां समर्थयन्नाह, धनानोति ।—प्राज्ञः
 पण्डितः, [प्रजानातीति प्रज्ञः “आतथोपसर्गे” (३।१।१३६ पा०) इति बटी
 क-प्रत्ययः । ततः “प्रज्ञादिभ्यश्च” (५।४।३८ पा०) इति स्वार्थे ञ्-प्रत्ययः] इत्युक्त्वा
 अर्थान्, जीवितञ्च प्राणाय, परार्थे अन्यनिमित्तमेव, उत्सृजेत् त्यजेत्, विनश्येदित्येवं
 विनाशे मरणे, नियते निश्चये सति, तन्निमित्तः परार्थः, (अथ “तन्निमित्ते” इति
 पाठे—सतां साधूनां निमित्ते, तेषाम् उपकारार्थमित्यर्थः) त्यागः वितरणं, रक्षणं
 श्रेयान् । [वरमित्यत्र विधेयप्राधान्यात् क्लोबत्वम्] । यदि अवश्यमावश्यकं तदा
 लगति, तदा लोकानामुपकारायैव मरणं श्लाघ्यं कर्तव्यञ्च इत्यर्थः ।

(ल) निस्तारः,—परिशोधः इत्यर्थः ।

प्रविष्यति ?” । इत्यालोच्य सर्वे (व) सर्वमङ्गलायतनं गताः ।
ततः सर्वमङ्गलां सम्पूज्य वीरवरो ब्रूते,—“देवि ! प्रसीद,
विजयतां शूद्रको महाराजः, गृह्यताम् अयम् उपहारः”
इत्युक्त्वा पुत्रस्य शिरश्चिच्छेद । ततो वीरवरश्चिन्तयामास,—
“गृहीतराजवर्त्तनस्य निस्तारः कृतः, अधुना निष्पुत्रस्य मे
जीवनं (श) विडम्बनम्” इति आलोच्याऽऽत्मनः शिरश्चिच्छेद ।
ततः स्त्रियाऽपि स्वामिपुत्रशोकार्तया (ष) तदनुष्ठितम् । एतत्
सर्वं श्रुत्वा दृष्ट्वा च शूद्रकः साश्चर्यं चिन्तयामास,—

“जायन्ते च म्रियन्ते च मद्बिधाः क्षुद्रजन्तवः ।

अनेन सदृशो लोके न भूतो न भविष्यति ॥ १०५ ॥

तत् (स) एतत्परित्यक्तेन मम राज्यनापि किं प्रयोज-
नम् ?” । ततः स्वशिरश्चिच्छेत्तुम् (ह) उल्लसितः खड्गः शूद्रके-
रापि । अथ भगवत्या सर्वमङ्गलया प्रत्यक्षभूतया राजा करे

- (व) सर्वमङ्गलाऽऽयतनं—सर्वमङ्गलायाः आयतनं चैत्वं, मन्दिरमित्यर्थः ।
(श) विडम्बनं—विफलमित्यर्थः ।
(ष) तदनुष्ठितम्—आत्मनः शिरश्चिच्छेदित्यर्थः ।
(१०५) जायन्ते इति ।—मद्बिधाः ममेव विधा प्रकारः येषां ते मादृशाः
सदृशः, क्षुद्रजन्तवः लघुचित्ताः प्राणिनः, जायन्ते उत्पद्यन्ते, (“जीवन्ति” इति
अकारम्) म्रियन्ते च मृत्युं प्राप्नुवन्ति च, परन्तु अनेन वीरवरेण, सदृशः तुल्यः,
सदृशसदृशचेता जनः इत्यर्थः, लोके जगति, न भूतः न जातः, न भविष्यति
इत्यर्थः ; अनन्यसाधारणोऽयं जन इति भावः । (नागानन्दे अस्वाशुषपञ्चोकी
श्रुते यथा,—“जायन्ते च म्रियन्ते च मादृशाः क्षुद्रजन्तवः । पराशं वदकक्ष्याणां
विशामुहूतः कुतः ?” ॥ इति) ।

- (स) एतत्परित्यक्तेन—इदं शमदापुरुषश्रुत्वेन ।
(ह) उल्लसितः,—उत्तापितः इत्यर्थः । (“समुत्थापितः” इति पादान्तरः
यः । “उल्लसितः” इत्यत्र “उल्लसितः” इति पाठकल्पना साध्या, उल्लसितः
उत्तापितः इत्यर्थः ।

धृतः, उक्तश्च,—“पुत्र ! प्रसन्नाऽस्मि ते, अलमलं (क) साहसेन,
 इदानीं ते राज्यभङ्गो नास्ति” । राजा साष्टाङ्गं प्रणम्य उवाच,
 —“देवि ! न मे राज्येन जीवितेन (ख) श्रिया वा प्रयोजनं
 मस्ति । यदि मयि (ग) अनुकम्पा क्रियते, तदा मम (घ) आयुः
 शेषेणापि अयं सदारपुत्रो राजपुत्रो जीवतु । अन्यथा अयं
 (ङ) यथाप्राप्तां गतिं गच्छामि” । भगवती उवाच,—“पुत्र !
 अनेन ते (च) सत्त्वोत्कर्षेण भृत्यवात्सल्येन च सर्वथा सन्तुष्टाऽसि,
 गच्छ, विजयी भव । अयमपि सपरिवारो राजपुत्रो जीवतु”
 इत्युक्त्वा देवी अदृश्याऽभवत् । ततो वीरवरः सपुत्रदारः प्राप्त-
 जीवनः स्वगृहं गतः । राजाऽपि तैः (छ) अलक्षितः सतां
 प्रासादपृष्ठं गत्वा तथैव (ज) सुप्तः । अथ वीरवरो द्वार-
 पुनर्भूपालेन पृष्ठः सन्नुवाच,—“देव ! सा रुदती स्त्री मामवशोक्तं
 अदृश्या अभवत् । न काऽपि अन्या वार्त्ता विद्यते” । तद्वक्तुं
 भाकर्ण्य सन्तुष्टो राजा साश्चर्यं चिन्तयामास,—(झ) “कथमां
 श्लाघतां महासत्त्वः ? यतः,—

(क) साहसेन—दण्डेन, आत्मनांशनेत्यर्थः, दुष्करकर्मणा वा, अविश्व-
 कारितया वा । (“साहसन्तु दमे दुष्करकर्मणि अविमृश्यकृतौ धार्म्ये” इति हेबे ।)

(ख) श्रिया—सम्पदा ।

(ग) अनुकम्पा—दया, अनुग्रहः इति यावत् ।

(घ) आयुःशेषेणापि—मदीयावशिष्टजीवितकालेनापि ।

(ङ) यथाप्राप्तां—यथाव्यवसितां, शिरस्केदनरूपाम् अवलम्बिताम् इति
 गतिं—दशाम् ।

(च) सत्त्वोत्कर्षेण—चित्तस्य प्राशस्त्येन, सत्त्वगुणप्राधान्येनेत्यर्थो वा, शोभ-
 तिग्रथ्येन इति यावत् । भृत्यवात्सल्येन—अनुजीविनां प्रति स्नेहेन ।

(छ) अलक्षितः,—अदृष्टः, प्रच्छन्न इत्यर्थः ।

(ज) सुप्तः,—शयितः, (“स्नापः शयनतिद्रुथीः” इति मेदिनी) ।

(झ) कथमां श्लाघतां महासत्त्वः,—महासत्त्वः उन्नतमयाः, मनसोन्नतः

प्रियं ब्रूयादक्षपणः शूरः स्यादविकल्पनः ।

दाता सत्पात्रवर्षी स्यात् प्रगल्भः स्यादनिष्टुरः ॥ १०६ ॥

एतत् (ज) महापुरुषलक्षणम् एतस्मिन् सर्वमस्ति । ततः

शराजा प्रातः (ट) शिष्टसभां कृत्वा सर्ववृत्तान्तं (ठ) प्रस्तुत्य
प्रसादात् तस्मै कर्णाटराज्यं ददौ ।

[इति शूद्रकनृपति-वीरवरनामकराजपुत्रकथा] ।

तत् किमागन्तुरेव (ड) विरुद्धः ? तत्रापि उत्तमाधम-
मध्यमाः सम्भवन्ति । चक्रवाको ब्रूते,—

महाबलौ वा, अयं वीरवरः, कथं केन प्रकारेण, ज्ञाचताम् ? आत्मगुणभावस्फुरांतु ?
समुत्तेन आत्मप्रशंसां करोतु इत्यर्थः ; नैतादृशं सविगर्हितं कथं उद्गारयेत् इति
बलिन् कथमपि सम्भवतीति भावः ।

(१०६) भारतशान्तिप्रवीथराजधर्मव्याख्यानप्रकरणोक्तं श्लोकमुपशोध्य महा-
वत्तानामनात्मज्ञाचिलं प्रदर्शयति, प्रियमिति ।—अक्षपणः दैत्यहोतः, अज्ञातरः
सन् इत्यर्थः, प्रियं मधुरं, ब्रूयान् कथयेत् ; प्रियं वक्तुं कापण्यं न काव्यम् इति
भावः ; शूरः विक्रान्तः, अविकल्पनः आत्मज्ञाधारहितः, स्यात् भवेत्, दाता
दानश्रेष्ठः सन्, सत्पात्रे गुणशालिनि जने, दानयोग्यं जने इति यावत्, वर्षतीति
वशोक्तः, स्यात्, सत्पात्रे एव प्रचुरं दद्यादित्यर्थः, प्रगल्भः साहसी सन् इत्यर्थः,
अनिष्टुरः सदयः, स्यात् भवेत् ; अयन्तु एवं सर्वलक्षणोपेतः महापुरुष इति भावः
यथा,—अक्षपणः अक्षुद्रः, उद्गारमना इत्यर्थः, जन इति शेषः, प्रियं मधुरं, ब्रूयात्
कथयेत्, अक्षपण एव प्रियं वक्तुं शक्नुयात् त क्षपण इति भावः ; शूरः वीरः,
अविकल्पनः आत्मज्ञाघावाजितः, स्यात्, शूरः कदापि आत्मज्ञाघावं न करोति इत्यर्थः,
दाता वदाम्, सत्पात्रवर्षी स्यात्, दाता सत्पात्रे एव दद्यात्, भासत्पात्रे इत्यर्थः,
प्रगल्भः प्रांतमासम्पन्नः, अनिष्टुरः निर्दयताविवर्जितः, स्यात् । (“दाता सत्पात्रवर्षी
स्यात्” इत्यथ “दाता नापात्रवर्षी स्यात्” इति महाभारतोद्यपाठः) ।

(ज) महापुरुषलक्षणम्—पुरुषश्रेष्ठचिह्नम् ।

(ट) शिष्टसभा—प्रखिद्यतसमाजम् ।

(ठ) प्रस्तुत्य—कीर्तयित्वा । प्रसादात्—अनुग्रहात्, प्रसन्नताहेतोरित्यर्थः ;

प्रसन्नः सन् इति यावत् ।

(ड) विरुद्धः—अपकारी । तत्रापि—आगत्युक्तमपि ।

“योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति स किंमन्त्री नृपेच्छया ।

वरं स्वामिमनोदुःखं तन्नाशो न त्वकार्यतः ॥ १०७ ॥

वैद्यो गुरुश्च मन्त्री च यस्य राज्ञः प्रियंवदः ।

शरीरधर्मकोषेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ १०८ ॥

शृणु देव !—

पुण्याल्लब्धं यदेकेन तन्ममापि भविष्यति ।

हत्वा भिक्षुं यतो मोहान्निध्यर्थी नापितो मृतः” ॥ १०९ ॥

राजा पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । मन्त्री कथयति,—

(१०७) दुष्टानाल्लब्धं सदमात्यक्तव्यञ्चाह, यः इति ।—यः मन्त्री, नृपेच्छया राजाभिप्रायानुसारण, राज्ञः चित्ततोषणार्थेऽर्थः, अकार्यम् अकार्यं, कर्तुं न योग्यमित्यर्थः, काव्येयत् कर्तव्यमिव, कर्तुं योग्यमिव इत्यर्थः, शास्त्र उपदिशति, स किंमन्त्री स निन्दनीयः सचिवः, स्वामिनः राज्ञः, मनोदुःखम् अभिप्रायानुसारं कार्याकरणात् चित्तदोषः, अपीति शेषः, वरं श्रेष्ठः, तु किन्तु, अकार्यतः अनुचितानुष्ठानात्, स्वामिनं तोषयितुं तदकार्यानुमोदनादित्यर्थः, तन्नाशः तस्य स्वामिनः नाशः ध्वंसः, न, वरमिति पूर्वेष्वन्वयः, न श्रेयान्, न युक्तियुक्त इति यावत्, अतः भवतां मनोऽनुकूलं भवतु न वा, मया तु अवश्यमेव हितं वक्तव्यम् इति भावः ।

(१०८) अमात्यादौ चाटुवादपरे राज्ञः अनिष्टं प्रदर्शयति, वैद्य इति ।—वैद्यः चिकित्सकः, गुरुः धर्मोपदेशकः, मन्त्री सचिवश्च, यस्य राज्ञः नृपतेः, प्रियंवदः अनुकूलभाषणपरः, अकार्यव्येऽपि विषये प्रभुचित्तविमोदनार्थं तदनुमोदक इत्यर्थः, भवेदिति शेषः, स राजा, शरीरधर्मकोषेभ्यः कायधर्मधनेभ्यः, [अपादाने पञ्चमो] क्षिप्रम् आश्वेव, परिहीयते भक्ष्यते, तस्य वैद्ये चाटुभाषिण शरीरनाशः, धर्मोपदेशके गुरौ तथाभूते धर्मनाशः, सचिवे च तथा सति सर्वधननाशश्च इति क्रमेण अवस्थापन इत्यर्थः । [कर्मकर्तारि प्रयोगः] ।

(१०९) नीतिविरुद्धस्य एकत्र कुत्रापि अव्यापत्कारितादर्शनेन सर्वत्र तथाविधत्वसंभावना, न श्रेयोमूला इति दृष्टान्तद्वारा समर्थयते, पुण्यादित्याद्यत् वस्तु, एकेन कर्मेण, पुण्यात् पुण्यवलात्, तपसरणादिनेति यावत्, लब्धं प्राप्तं, तत् वस्तु, मनः प्रकृतपुण्यलापीत्यर्थः, भविष्यति लब्धं भविष्यति, किम् ? इति शेषः, नैव भाव्यतात्यर्थः, अत इदंशी चिन्ता नैव विधेया इति भावः ; कुतो

नापित-भिच्छुक्रकथा ।—

“अस्ति अयोध्यायां पुरि चूडामणिर्नाम क्षत्रियः । तेन धनार्थिना मङ्गता क्लेशेन भगवान् (ठ) चन्द्रार्द्धचूडामणिः विरमाराधितः । (ण) ततः क्षीणपापोऽसौ स्वप्ने दर्शनं दत्त्वा (त) भगवदादेशात् (थ) यक्षेश्वरेण आदिष्टः,—“त्वं मद्य प्रातरेव क्षीरं कारयित्वा लगुडहस्तः मन् स्वगृहद्वारि (द) निभृतं स्थास्यसि । ततो यमैवागतं भिक्षुकं (ध) प्राङ्गणे पश्यसि, तं (न) निर्दयं लगुडप्रहारेण हनिष्यसि । ततोऽसौ भिक्षुकस्तत्क्षणात् सुवर्णकलसो भविष्यति । तेन त्वं यावज्जीवं सुखी भविष्यसि” । ततः तथा अनुष्ठिते सति तत् वृत्तम् । ततः क्षीरकरणाय आनीतेन नापितेन तत्सर्वमालोक्य चिन्तितम्,—“अहो ! (प) निधिप्राप्तेरयमुपायः, तदहमपि एवं किं न करोमि ?” । ततः प्रभृति स नापितः प्रतिदिनं तथाविधलगुडहस्तः सुनिभृतं भिक्षुकागमनमपेक्षते । एकदा तेन तथा प्राप्नो भिक्षुको लगुडेन आहत्य व्यापादितः । तेन अपराधेन सोऽपि

विधेया इति वक्तुं दृष्टान्तमाह, यतः सोऽहात् लोभान्धतया अज्ञानादित्यर्थः, निध्यर्थो धनावाङ्गी, नापितः कश्चित् क्षीरकारः, भिक्षुं कश्चित् भिक्षुकं, इत्यादिनाम्, सतः इतः, राजपुरुषैर्व्यापादितः इत्यर्थः ।

(ठ) चन्द्रार्द्धचूडामणिः,—चन्द्रस्य अर्धः चन्द्रार्द्धः सः चूडामणिः शिरोसूचकं यस्य सः, चन्द्रशेखरः इत्यर्थः । आराधितः,—उपासितः ।

(ण) ततः,—भगवद्वाराधनात् । क्षीणपापः,—पापमुक्तः ।

(त) भगवदादेशात्—भगवतः महादेवस्य, आदेशात् अनुज्ञातः ।

(थ) यक्षेश्वरेण—कुबेरेण । आदिष्टः,—आज्ञप्तः ।

(द) निभृतं—प्रच्छन्नं यथा तथा, तूष्णीमित्यर्थः ।

(ध) प्राङ्गणे—चत्वरे ।

(न) निर्दयं—निष्ठुरम् ।

(प) निधिप्राप्तेः,—धनसामर्थ्यम् ।

नापितो राजपुरुषैस्ताडितः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवौमि,—
‘पुण्याल्लब्धं यदेकेन’ इत्यादि” ।

[इति नापित-भिन्नुक्तकथा] ।

राजाऽऽह,—

“पुरावृत्तकथोद्धारैः कथं निर्णीयते परः ? ।

किं स्यान्निष्कारणो बन्धुः किं वा विश्वासघातकः ॥११०॥
यातु यातु. (फ) प्रस्तुतमनुष्ठेयताम् । (ब) मलयधि-
त्यकायां (भ) समावासितो वर्तते चित्रवर्णो नाम राजा ।
तदधुना किं (म) विधेयम् ? ” । मन्त्रो वदति,—“देव !
(य) आगतप्रणिधिमुखात् श्रुतं यन्महामन्त्रिणो गृध्रस्य उपदेशे
चित्रवर्णेन अनादरः कृतः ; अतोऽसौ भूदो जेतुं शक्यः । तथा
चोक्तम्,—

(११०) आगतपुरुषस्य विश्वस्तत्त्वाविश्वस्तत्त्वनिर्णये पुराणप्रसङ्गः न प्रमाणमिवाह,
पुरेति ।—पुरावृत्तस्य इतिहासस्य, कथायाः प्रबन्धस्य, उद्धारैः उद्धारणैः, उद्धार-
रित्यर्थः, ऐतिहासिकप्रसङ्गोत्कीर्तनैरिति यावत्, परः नवागतः, किं निष्कारणो बन्धुः
अज्ञविमर्शितः, किं विश्वासघातकः विश्वासघातः, वा स्यात् भवेत्, (“किं स्यान्नि-
ष्कारणो बन्धुः” इत्यत्र “स्यान्निष्कारणबन्धुत्वा” इति पाठान्तरम्) इति कथं केन
प्रकारेण, निर्णीयते ? अवधार्यते ? इतिहासकथानुशीलनेन न कथमपि अयं श्रुतिर्निर्णयः
वा इति निर्णेतुं शक्यते इत्यर्थः, एतदर्थे तव ऐतिहासिकप्रसङ्गोत्कीर्तनं निरर्थक-
मिति भावः ।

(फ) प्रस्तुतम्—उपस्थितम् । अनुष्ठेयतां—विधीयतां, यथाकर्तव्यं स्थि-
प्रियदामित्यर्थः ।

(ब) मलयधित्यकायां—मलयपर्वतस्थोपरि, (“उपत्यकाऽद्रेरासन्ना भूमिर्ध-
मधित्यका” इत्यमरः) । [“उपाधिभ्यां त्यक्ञ् आसन्नोऽर्थोः” (श. ३. ३४ पा०)
इति त्यक्ञ्] ।

(भ) समावासितः,—संस्थापितावासः, कृतशिविरसन्निवेशः इत्यर्थः ।

(म) विधेयं—कर्तव्यम् ।

(य) आगतप्रणिधिमुखात्—उपस्थितचारमुखात् ।

लुब्धः क्रूरोऽलसोऽसत्यः प्रमादो भीरुरस्थिरः ।

मूढो योधावमन्ता च सुखोच्छेद्यो रिपुः स्मृतः ॥१११॥

ततोऽसौ यावदस्मद्गुर्गावरोधं न विदधाति, तावत् नद्यद्वि-
वनवर्त्मसु तद्वलानि हन्तुं सारसादयो नियुज्यन्तां सेनापतयः ।

तथा चोक्तम्,—

दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तं नद्यद्विवनसङ्कुलम् ।

घोराग्निभयसन्तप्तं क्षुत्पिपासार्दितं तथा ॥११२॥

प्रमत्तं भोजनव्यग्रं व्याधिदुर्भिक्षपीडितम् ।

असंस्थितमभूयिष्ठं वृष्टिवातसमाकुलम् ॥ ११३ ॥

(१११) कामन्दकीयाष्टमसर्गोक्तं श्लोकं प्रमाणीकृत्य योधावमन्तृणां शत्रूणां
वृत्तिवत्तमाह, लुब्ध इति ।—लुब्धः लोभपरवशः, अत एव अदाहत्वात् अनाश्रयणीय
इति भावः ; क्रूरः कपटी, अत एव सतामनभिगमनीय इति भावः ; अलसः आलस्य-
परः, चिरक्रियः इत्यर्थः, स्वयमेव अवसादयस्त इति भावः ; (“अवशः” इति
पाठे—अनितेन्द्रियः, अजितेन्द्रियस्य रिपुभूयत्वादिति भावः) असत्यः मिथ्यावादी,
धतः यथाप्रतिज्ञाताकरणात् मण्डलेनैवोपेक्षणीय इति भावः ; प्रमादो अनवहितः,
प्राक्प्रवृत्तनिश्चय इति भावः ; भीरुः भयशीलः, दूरादेव पलायनपर इति भावः ;
स्थिरः अव्यवस्थितचित्तः, निःसहायत्वादाक्रमणमात्रसाध्य इति भावः ; मूढः
मन्दबुद्धिः, हिताहितविवेकशून्यः इत्यर्थः, अज्ञानबाहुल्यादवसन्न इति यावत्,
योधावमन्ता सेनिकावज्ञाता च, स्वयोधैरेव परित्यज्यमानत्वादिति भावः ; रिपुः
शत्रुः सुखोच्छेद्यः अनायासेन उन्मूलयितुं शक्यः, स्मृतः कथितः, विद्विष्टः इति शेषः ।

(११२) कामन्दकीनीतरेकोनविंशसर्गोक्तश्लोकानवलम्ब्य विशेषकण श्रुतिन्यातन-
प्रकारं दर्शयति, दीर्घेति ।—महोपायः एवमभूतं परसेनं विधातवेदिति वतीथ-
श्रीकेनान्वयः । कीदृशं तत् ?—दीर्घेण प्रकृष्टेन, वर्त्मना मार्गेण, पक्षिगमनेनेत्यर्थः,
परिश्रान्तं क्लान्तं, नद्यद्विवनसङ्कुलं नदी सरित्, अग्निः पर्वतः, वनम् अरण्य, तैः सङ्कुलं
क्षिप्तं, तैः रुद्धगति इत्यर्थः, घोराग्निभयसन्तप्तं भीषणवह्निभयव्याकुलं, तथा किञ्च,
व्याधौ दुःखव्या, पिपासया वृण्वया च, अर्दितं पीडितं, क्षुधार्तं वृषार्तञ्च इत्यर्थः ।

(११३) प्रमत्तमिति ।—पुनः किञ्चित् ?—प्रमत्तं मद्यपानादिना विगत-
चेतनं, भोजनव्यग्रम् आहारासक्तं, व्याधिः रोगः, दुर्भिक्षम् अन्नाभावः, व्याधौ

पङ्कपांशुजलाच्छन्नं सुव्यस्तं दस्युविद्रुतम् ।

एवम्भूतं महीपालः परसैन्यं विघातयेत् ॥११४॥

अथ च,—अवस्कन्दभयाद्वाजा प्रजागरकृशं तथा ।

दिवासुप्तं सदा हन्यान्निद्राव्याकुलसैनिकम् ॥११५॥

अतस्तस्य (र) प्रमादिनो वलं गत्वा (ल) यथाऽवकाशं दिवानिशं निघ्नन्त्वस्त्रस्तेनापतयः” । तथाऽनुष्ठिते चित्रवर्णस्य सैनिकाः सेनापतयश्च बहवः निहताः । ततश्चित्रवर्णो विपक्षः स्वमन्त्रिणं दूरदर्शिनमाह,—“तात ! (व) किमिति त्वया

पीडितं क्लिष्टम्, असंस्थितम् अनिविष्टम्, इतस्ततो विचित्रमिति यावत्, अनाश्रयम् इत्यर्थो वा, भूयिष्ठम् अतिशयेन बहु न भवतीति अभूयिष्ठम् अल्पसङ्ख्याकम्, [अतिशयेन बहु इति बहु + “अतिशयेने तमविष्ठमौ” (५।३।५५ पा०) इति इष्टमि कृते “वहोर्लोपो भू च वहोः” (६।४।१५८ पा०) इति वहोः स्थाने मूरादेशे “इष्टस्य घिट् च” (६।४।१५९ पा०) इति इष्टस्य इकारलोपः शिङ्गात्] वृद्ध्या वर्षेण, वातेन प्रचण्डवायुना, संमाकुलम् अतीव कातरम् ।

(११४) पठेति ।—पुनः किम्भूतम् ?—पङ्कः कट्टमः, पांशवः रजांसि, कलं वारि, तैः आच्छन्नं व्याप्त, पङ्कादिपूर्णमार्गे पथ्यटनात् खिन्नमित्यर्थः, सुव्यस्तम् इतस्ततो विचित्रं, विपदि पतित्वा तद्द्वारार्थं व्याकुलचित्तमिति वा, दस्युविद्रुतं तस्कराद्युपद्रुतं, महीपालः राजा, एवम्भूतम् ईदृशं, परसैन्यं शत्रुबलं, विघातयेत् नाशयेत्, सर्वथा उपद्रुतानि एव पराभवेदित्यर्थः ; अतः दीर्घवत्संभ्रमणपरिश्रान्तत्वात् गव-द्रिवनसङ्कुलत्वञ्च अवसरोऽयमस्माकं तानि निहन्तुमिति भावः ।

(११५) कामन्दकीयैकोनविंशतिसर्गोक्तश्लोकमुपजीव्य शत्रुनिर्व्यातने प्रवाराय-रमाह, अवस्कन्देति ।—राजा नरपतिः, अवस्कन्दभयात् आक्रमणशङ्का, नैशान्वकारे सुगुप्तमाक्रान्तिभयादिति भावः, प्रजागरकृशं रात्रिजागरणकृशम् अत एव दिवा दिवसे, सुप्तं निद्रितं, तथा निद्राव्याकुलसैनिकं निद्रामिमूतसैनिकं सदा नित्यकालं, हन्यात् व्यापादयेत् ।

(र) प्रमादिनः,—अनवहितस्य, अमात्यवाक्ये अदत्तावधानस्येत्यर्थः ।

(ल) यथाऽवकाशम्—अवसरक्रमेण ।

(व) किमिति—कथम् ।

(श) अस्मदुपेक्षा क्रियते ? किं वा कापि अस्माकम् (ष) अविनयो-
ऽस्ति ? । तथा चोक्तम्,—

न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसाम्प्रतम् ।

श्रियं ह्यविनयो हन्ति जरा रूपमिवोत्तमम् ॥११६॥

पञ्च,—दक्षः श्रियमधिगच्छति पथ्याशौ कल्यतां सुखमरोगौ ।

उदयोगी विद्याऽन्तं धर्मार्थयशांसि च विनीतः” ॥११७॥

मृधोऽवदत्,—“देव ! श्रूयताम्,—

अविद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेदया ।

परां श्रियमवाप्नोति जलासन्नतरुर्यथा ॥११८॥

(३) अस्मदुपेक्षा—अस्मान् प्रति औदासीन्यम् ।

(४) अविनयः,—चौडत्यम्, अविनीतभावः इत्यर्थः ।

(११६) भारतीदृशगपर्वीयवचनं प्रमाणीकृत्य अविनयस्य दोषमाह, नेति ।—
पथ्यं राष्ट्रं, प्राप्तं लब्धम्, अधिगतमिति यावत्, इति, सत्येति ग्रंथः, असाम्प्रतम्
पुन्यम्, अनुचितं यथा तथा इत्यर्थः, (“युक्ते हे साम्प्रतं स्थाने” इत्यमरः) नैव
वर्तितव्यम् अवस्थातव्यम्, आचरितव्यमित्यर्थः, नोद्धतं व्यवहृतंमिति यावत्, कुतः ?
माह,—हि यतः, जरा वार्षकम्, उशनम् उत्कृष्टं, रूपमिव सौन्दर्यमिव,
अविनयः औद्धत्यं, श्रियं सम्पदं, हन्ति नाशयति, अविनयी सम्पदो वञ्च्यते
इति भावः ।

(११७) विनीतस्तु सुखमाप्नीतीति दर्शयति, दक्ष इति ।—दक्षः कार्यकुशलः
वनः, श्रियं सम्पदं, पथ्यं हितं, हितमौज्यमित्यर्थः, अत्रातीति पथ्याशौ हितभोजी,
कल्यतां नीरोगत्वं, (“कल्यो नीरोगदक्षयोः” इति शाश्वतः), अरोगी रोगहीनः,
सर्वं मनःप्रसादम्, उदयोगो उद्यमवान्, विद्याऽन्तं सर्वशास्त्रपारं, विनीतश्च विनय-
वन्धवः, धर्मः सदनुष्ठानजनितं पुण्यम्, अर्थः धनं, यशः कीर्तिः तानि, अधि-
गच्छति लभते, विनयी तु धार्मिकः धनवान् यशस्वी च भवतीत्यर्थः ।

(११८) विद्वत्संसर्गस्य गुणमाह, अविद्वानिति ।—भूपालः राजा, अविद्वान्
शास्त्रज्ञानविहीनोऽपि, विद्यायां ज्ञानेन, वृद्धाः श्रेष्ठाः, विद्वद्गणा इत्यर्थः, तेषाम् उप-
सेदया परिचर्येया, विदुषां सङ्गं लब्ध्वा इत्यर्थः, जलासन्नतरुः यथा जलाशयसन्निहित-
तरुः इव, पराम् उत्तमां, धर्मं सम्पदम्, अवाप्नोति लभते, जलसमीपस्थः इव, युषां

अथ च,—पानं स्त्री मृगया द्यूतमथेदूषणमेव च ।

वाग्दण्डयोश्च पारुष्यं व्यसनानि महीभुजाम् ॥ ११९ ॥

किञ्च,— न साहसैकान्तरसानुवर्तिना
न चाप्युपायोपहतान्तरात्मना ।
विभूतयः शक्यमवासुमूर्जिता
नये च शौर्ये च वसन्ति सम्पदः ॥ १२० ॥

आसन्नजलाशयस्थं जलमाकृत्य प्रवहमानः सन् शोभां दधाति, तथा मूर्खोऽपि
नृपतिः ज्ञानवृद्धपरिचरणपरः इति समुदिताश्रं; भवता खलु न तथा कृतमित्य-
निष्टमापतितमिति भावः ।

(११९) मन्वादिनीतिशास्त्रप्रदर्शितं राज्ञां विपत्तिनिमित्तं दर्शयति,
पानमिति ।—पानं मद्यसेवनं, स्त्री अत्यर्थं स्त्र्यासक्तिः, परदारविक्रमं वा, मृगया
आखेटः, पश्चाद्वह्मनमित्यर्थः, मृगयायामत्यासक्तिरिति यावत्, द्यूतम् अचक्रीडादि,
अथेदूषणञ्च अन्यायतः प्रजाभ्यः अर्थग्रहणं न्यायतो देयस्य अदानञ्च, अपरिमित-
व्ययिता वा, वाक् च दण्डश्च तयोः वाग्दण्डयोः पारुष्यञ्च कर्कशता च, खलेऽपराधे
अपराधाभावे वा कठोरवाक्यप्रयोगः कठोरदण्डप्रयोगश्चेत्यर्थः, एतानि सर्वाणि
महीभुजां राज्ञां, व्यसनानि कामजकोपजदोषाः, विपत्कारणानि इत्यर्थः; (“असनं
विपादि भंशे दोषे कामजकोपजे” इत्यमरः), एवकारो निश्चये; एतेरेव राजा
राज्यवष्टो भवति इति भावः ।

(१२०) नीतिपूर्वकशौर्यप्रदर्शनस्य सम्पत्तिजनकत्वमाह, नेति ।—साहसं
दोषगुणावविचार्य सहसा कार्योद्देश्यः एव, एकान्तः मुख्यः, रसः भावाश्रयः,
तम् अनुवर्तन्ते यः स तेन, यद्वा,—साहसे बलात्कारकृतकर्माणि एव, शौर्यप्रदर्शने
एव इत्यर्थः, एकान्तः दृढः, रसः अनुरागः, तम् अनुवर्तन्ते अनुगच्छति, आश्रयतोऽप्यर्थः,
यः स तेन, नीतिवर्जितशौर्यप्रदर्शनपर्येत्यर्थः, न, उपायेन साधनेन, नीतिशास्त्रोक्त-
सामादिरूपेणेत्यर्थः, उपहतः आक्रान्तः, अन्तरात्मा अन्तःकरणं, मनः इत्यर्थः, यस्य
सः तेन अपि, ऊर्जिताः महत्यः, विभूतयः ऐश्वर्याणि, अवासुं प्राप्तुं, न च तैव,
शक्यं चमा इत्यर्थः, तथा हि नये च नीतौ च, शौर्ये च विक्रमे च, नीतिपूर्वके
एव शौर्ये इत्यर्थः, सम्पदः सम्पत्तयः, वसन्ति तिष्ठन्ति । [ननु “शकिसहोव”
(३।१।६९ पा०) इति सूत्रेण कर्माणि यत्र कृते “सह्यं शक्यम्” इति रूपम्]

त्वया स्वब्रह्मोत्साहमवलोक्य (म) साहसैकरमिकेन मया
(इ) उपन्यस्तेषु अपि मन्त्रेषु (क) अनवधानं वाक्पारुष्यञ्च
कृतम् । अतो दर्शयतेः (ख) फलमिदमनुभूयते । तथा चोक्तम्,—

दुर्मन्त्रिणं कमपयान्ति न नीतिदोषाः ?

मन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः ? ।

कं श्रौर्न दर्पयति ? कं न निहन्ति मृत्युः ?

कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति ? ॥१२१॥

तेन सह "विमुक्तयः" इति भिन्नलिङ्गवचनस्य सामानाधिकरण्यं कृतः ? इति चेत् ;
१, "अथ च अमांसादिभिरपि चतुः प्रतिहन्तुम्" (भा०) इति महाभाष्यवचनात्
"अस्मिन्ति कर्प कर्माभिधायां विलिङ्गवचनस्यापि सामान्यीपक्षमात्" (काव्या०
१० ह० ५ अ० २ अ० २३ सू०) इति काशिकायां वामनवचनाच्च सिद्धम् इति दिक् ।
तुल्यसम्पन्नस्य शूरस्य च भोग्या एव सम्पद इत्यर्थः । वंशस्थविले इत्तम् ।

(म) साहसैकरमिकेन—साहसमावावलम्बित्वा, न तु नीतिमार्गानुरागे
प्रेतं भावः ।

(इ) उपन्यस्तेषु—वक्तुमुपक्रान्तेषु, कौर्त्तिनेषु इत्यर्थः ।

(क) अनवधानम्—अनादरेः । वाक्पारुष्यं—कठोरवाक्यप्रयोगः, वाक्या-
धीरपम् इत्यर्थः ।

(ख) फलं—सैन्यनाशरूपः परिणामः ।

(१२१) मन्त्रिणं कमपयतिः—दोषमाह, दुर्मन्त्रिणमिति ।—नीतिदोषाः
नैव्यमाननाश्रयाः अपराधाः, कं दुर्मन्त्रिणं दुष्टमात्यं दुष्टमन्त्रणाशीलं वा, समन्त्रा-
भ्यद्वन्द्वमित्यर्थः, न उपयान्ति ? न आश्रयन्ति ? अपि तु सर्वत्रैव दुष्टमन्त्रणाशीले
सर्वे एव नीतिदोषाः सम्भवन्ति इत्यर्थः, रोगाः व्याधयः, अपथ्यभुजं अहिताग्निं,
कं जनं, न मन्तापयन्ति ? न क्षियन्ति ? अपि तु सर्वत्रैवत्यर्थः, श्रोः सम्पत्, कं जनं,
न दर्पयति ? गर्वितं न करोति ? अपि तु सर्व एव ऐश्वर्येण मत्ता भवन्तीत्यर्थः,
मृत्युः अनाकः, कं न निहन्ति ? न विनाशयति ? को न मृत्युवशं गतः ? इति भावः ;
स्त्रीकृताः स्त्रीजनसम्पादिताः, स्त्रीव्यवस्थिता इत्यर्थः, विषयाः रूपादय इन्द्रियाणां,
योगासक्तय इति यावत्, कं जनं, न परितापयन्ति ? न चोमयन्ति ? रमणीरूपाद्युप-
योगयोगोहाः सर्वत्रैव क्षियन्ति इत्यर्थः । वस्तुतत्त्वज्ञं इत्तम् ।

अपरं,—मुदं विषादः शरदं हिमागमः

तमो विवस्वान् सुकृतं कृतघ्नता ।

प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः

श्रियं समृद्धामपि हन्ति दुर्नयः ॥ १२२ ॥

ततो मयाऽपि आलोचितम्,— (ग) प्रज्ञाहीनोऽयं राजा,
नी चेत् कथं (घ) नीतिशास्त्रकथाकौमुदी (ङ) वागुल्काभिः
(च) तिमिरयति ? यतः,—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ? ।

लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति ? ॥ १२३ ॥

(१२२) दुर्नीतिपरायणताया व्यापत्तिनाह. मुदमिति ।—विषादः नमोदः,
मुदं हृषे, हिमागमः हिमर्गः, शरदं शरत्कालं, शरदः शोभामित्यर्थः, विवस्वान् सूर्यः,
तमः अन्धकारं, कृतघ्नता उपकारास्वीकारः, सुकृतं पुण्यं, प्रियोपपत्तिः इष्टकामः,
शुचं शोकं, नयः नीतिः, आपदं विपत्तिं, दुर्नयः दुर्नीतिः, समृद्धा विपुलामपि, श्रियं
लक्ष्मीं, हन्ति नाशयति । वंशविलं वृत्तम् ।

(ग) प्रज्ञाहीनः,—विवेकरहितः, मन्दमतिरित्यर्थः ।

(घ) नीतिशास्त्रकथाकौमुदी—नीतिशास्त्रस्य अर्थशास्त्रस्य, कथा उपदेश-
वचनमेव, कौमुदी ज्योत्स्ना, कर्तव्यमार्गप्रदर्शकत्वात् अज्ञानतमोनिरासकत्वात्
चन्द्रिकास्वरूपा इत्यर्थः, ताम् ।

(ङ) वागुल्काभिः,—वाचः वाक्यानि, सक्रोधभाषणानि इत्यर्थः, 'उल्का
अग्निशिखाः इव ताभिः ।

(च) तिमिरयति—अन्धकारं करोति, आच्छादयति इत्यर्थः, दारुणा उल्का
हि यथा स्वप्रभया चन्द्रप्रभां समभिभूय पतति, तथा तव क्रोधसन्तप्तः वाक्कथोऽ
पि नीतिसारभूतं मदीयवाक्यजातं चन्द्रिकाविशदं समभिभूय प्रावर्तत तदानीमिति
भावः ।

(१२३) मूर्खे नीत्युपदेशो विडम्बनमिति दर्शयितुं चाणक्यवचनमुपन्यस्यति,
यथेति ।—यस्य जनस्य, स्वयम् आत्मना, आत्मन इत्यर्थः, प्रज्ञा बुद्धिः, नास्ति, शास्त्रं
शास्त्रोपदेश इत्यर्थः, तस्य जनस्य, किं करोति ? किं कर्तुं शक्नोति ? बुद्धिहीनो
शास्त्रोपदेशः विफल एव इति भावः ; लोचनाभ्यां नेत्रद्वयेन, विहीनस्य विरहितवक्षः

तंनाहमपि (क) तूष्णीं स्थितः” । अथ राजा (ज) बद्धा-
लिराह,—“तात ! अस्ययं समापराधः । इदानीं यथाऽह-
मवशिष्टबलसहितः प्रत्यावृत्य विन्ध्याचलं गच्छामि तथोपदिश” ।

शुभ्रः (क) स्वगतं चिन्तयति,—“कर्त्तव्याऽत्र प्रतीकारः । यतः,—
देवतासु गुरौ गोषु राजसु ब्राह्मणेषु च ।

नियन्तव्यः सदा कापा बालवृद्धाऽऽतुरेषु च” ॥ १२४ ॥

ब्रूते च विहस्य,—“देव ! मा भैषाः, (ज) समाश्वसिहि ।

शृणु देव !—

मान्त्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सान्निपातिके ।

कर्मणा व्यज्यतं प्रज्ञा सुखे को वा न परिहृतः ? ॥ १२५ ॥

सखेल्यर्थः, दर्पणः सुकुरः, दर्पणदर्शनमिति भावः, किं करिष्यति ? किमन्वस्य
संपद्ये ? इत्यर्थः, अतो न मया किञ्चिदुपदेष्टव्यमिति भावः । उक्तचान्वयः,—
“उपदेशं हि मूर्खाणां प्रकीर्णाय न शान्तये” इति ।

(क) तूष्णीं—मौनम् ।

(ज) बद्धाञ्जलिः,—कृतान्जलिः ।

(क) स्वगतम्—आत्मगतम् । प्रतीकारः,—प्रतिविधानम् ।

(१२४) भारतीद्वययोगपूर्वीयवचनमवलम्ब्य नृपादिकं प्रातःक्रोधस्य उपसंहारं
योग्यतयाह, देवतास्मात् ।—देवतासु इन्द्रादिदेवेषु, गुरौ पूजनाय जने, गोषु
धेनुषु, राजसु नृपेषु, ब्राह्मणेषु विप्रेषु च, बालः शिशुः, वृद्धः स्वविरः, आतुरः रोग्यः
वेषु च, सदा सर्वदा, कापः क्रोधः, नियन्तव्यः उपसहर्तव्यः, न कथमपि अचरं
गोपयितव्य इति यावत्, अतोऽत्र क्रोधः परिहरणीय इति भावः । (अत्र प्रथम-
पराधे “देवतेषु च यत्नेन” तथा “क्रोधः” इत्यत्र “क्रोधः” इति महाभारतीय-
पाठः) ।

(ज) समाश्वसिहि—आश्वसो भव । [सम् + आ + श्वा + लोट् + हि] ।

(१२५) काव्यदर्शनेन बुद्धेः उत्कृष्टांपदपूर्वीं प्रकाशितौ भवतः इति दर्शयति,
मान्त्रिणामिति ।—भिन्नस्य भेद गतस्य, प्रकृतिधर्मस्येति भावः, सन्धाने पुनः संयोजने,
सपञ्चमप्रकृतौनां पुनर्मेलनसम्पादने इत्यर्थः, मान्त्रिणाम् अनात्मना, तथा सान्निपातिके
शापापहर्त्रेणां वैषम्यजानते विकारे, कृच्छ्रसाधौ रोगविशेषे इति यावत्, भिषजां

अपरच, —आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च ।

महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ १२६ ॥

देव ! ततो भवत्प्रतापादेव दुर्गे (ट) भङ्क्ता कौर्त्ति-
प्रतापसहितं त्वामचिरैव कालेन विभ्र्याद्रि नयामि” ।

राजाऽऽह,—“कथमधुना स्वल्पबलेन तत् सम्प्रद्यते ?” ।

गृध्रो वदति,—“देव ! सर्वं भविष्यति, यतः विजिगीषोः

(ठ) अदोघसूत्रता (ड) विजयसिद्धेः अवश्यम्भावि लक्षणम् ।

तदद्य सहसैव दुर्गद्वारावरोधो विधीयताम्” ।

चिकित्सकानां, कर्मणा क्रियया, तत्प्रतीकारार्थकर्मणः साधुत्वासाधुत्वदर्शनेत्यर्थः,
प्रज्ञा बुद्धिः, प्रज्ञायाः साधुत्वमसाधुत्वं वा इत्यर्थः, व्युज्यते प्रकाशयते, निर्भीयते शतं
यावत्, सुखे प्रकृतिस्थे, अनपेक्षितबुद्धिचातुर्ये विषये इत्यर्थः, को वा जनः, अमात्रा-
दीनां मध्ये इति शेषः, न पण्डितः ? न विज्ञः, न पण्डितमन्यः इत्यर्थः, भवतीति
शेषः, अपि तु सर्व एव इत्यर्थः, यो हि प्रज्ञावलेन विपद उद्धर्तुं शक्नोति, स एव
पण्डितः नान्य इति भावः ।

(१२६) सङ्केपतः मूर्खविदुषोर्लक्षणमाह, आरभन्ते इति । —अज्ञाः नन्द-
मतयः, अल्पमेव तुच्छमेव, कार्यभिर्मात्रं शेषः, आरभन्ते उपजानन्ते, अत्यायाससाधे
एव कार्ये प्रवर्तन्ते इत्यर्थः, परन्तु कामम् अत्यर्थं, व्यग्राः तत्साधनार्थं व्याकुलाश्च,
अवन्ति जायन्ते, अधोरा भवन्तीत्यर्थः, कृतधियः बुद्धिमन्तो ज्ञानाः, महान् अधिकः
आरम्भः कार्योद्द्योगः येषां ते तथोक्ताः, भवन्तीति शेषः, महत् कार्यं साधयितुं
प्रवृत्ता भवन्तीत्यर्थः, परन्तु निराकुलाः अव्ययाश्च, तिष्ठन्ति वर्तन्ते, न काश्चिद्दोषं
व्यग्रतां प्रकटयन्ति इत्यर्थः ; निराकुली भवान् तिष्ठतु, सर्वमेवाहं ते सत्पादयान्तीति
भावः । श्रीकौण्डिन्यं शिष्यपालवधस्य द्वितीयसर्गे दृश्यते ।

(ट) भङ्क्ता—विभिद्य, विनिज्य इत्यर्थः । कौर्त्तिप्रतापसहितं—युद्धशक्तौक्ता
सह, अस्त्रानद्या कौर्त्त्या अखण्डेन प्रतापेन च सहैत्यर्थः ।

(ठ) अदोघसूत्रता—दोषं चिरेण साध्य, सूत्रम् आरब्धं कर्म यस्य, दोषं
चिरकालसाध्यं, सूत्रं व्यवस्था यस्य इति वा, (“सूत्रं तन्व्यवस्थयोः” इति विश्वः)
स न भवतीति अदोघसूत्रकृतस्य भावः, अचिरात्कृत्यता, निप्रकारिता इत्यर्थः ।
(“दोघसूत्राचिरात्कृत्यः” इत्यमरः) ।

(ड) विजयसिद्धेः,—जयलाभस्य ।

अथ प्रणिधिना वकेनाऽऽगत्य हिरण्यगर्भस्य कथितम्,—
 दिव ! स्वल्पबल एवायं राजा चित्रवर्णो गृध्रस्य (ठ) वचनोप-
 ष्ठात् आगत्य दुर्गद्वारावरोधनं करिष्यति” । राजहंसो
 त्—“भोः सर्वज्ञ ! किमधुना विधेयम् ?” । चक्रवाको वक्ति,
 —“स्वले (ण) सारासारविचारः क्रियताम् । तज्ज्ञात्वा
 पुण्यवस्त्रादिकं (त) यथाहं (थ) प्रसादप्रदानञ्च क्रियताम् ।
 अथा चोक्तम्,—

यः काकिनीमप्यपथप्रपन्नां
 समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम् ।
 कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्त-
 स्तं राजसिंहं न जहाति लक्ष्मोः ॥ १२७ ॥

- (ठ) वचनोपष्टम्भात्—वाक्यवत्तात्, उपदेशमनुसृत्य इत्यर्थः ।
 (ण) सारासारविचारः,—उत्कृष्टापकृष्टपरीक्षणम् ।
 (त) यथाहं—यथायोग्यम् ।
 (थ) प्रसादप्रदानम्—अनुग्रहवितरणं, पुरस्कारार्पणम् इति यावत् ।
 (१२७) अवश्यकसंव्यवहारे अनुष्ठितस्य अनपायसम्पन्नागित्वाद्, य इति ।—
 अथ, अपथप्रपन्नान् असन्मार्गगताम्, अस्थानपतितामित्यर्थः, अकार्यं व्यथिता-
 न्ति यावत्, काकिनीं कपदंकमपि, पणचतुर्थांशमपि वा, (एक पयसा ।
 मोदमानगण्डानां तुल्यांशेऽपि च काकिनी” इति रभसः । “वराटकानां
 सत्त्वं यत् सा काकिनी” इति लीलावती च । “काकिनी” इत्यपि भवति ।
 सप्तसहस्रतुल्यां निष्कं षोडशमाषकपरिमितसुवर्णानामष्टाधिकशतं, तेषां सप्तस-
 हस्रम् अष्टसहस्राधिकलक्षसुवर्णतुल्यमित्यर्थः, यद्वा,—निष्कं दीनारः, सांव्यवहारि-
 त्तममित्यर्थः, (टाका) तेषां सप्तसहस्रतुल्यं सप्तसहस्ररौप्यमुद्रातुल्यमित्यर्थः, (“साष्टे
 रौप्यमुद्राणां हेमुरोभूषणे पले । दीनारोऽपि च निष्कोऽस्त्री” इत्यमरः),
 तेषां सप्तसहस्रतुल्यं सप्तसहस्ररौप्यमुद्रातुल्यमित्यर्थः, कालेषु समयेषु, उपयुक्त-
 मने समुपस्थिते सतीत्यर्थः, कोटिषु कोटिसङ्ख्याकेषु अपि, बहुसङ्ख्याकेषु अपि
 कालेषु, घनेषु इति शेषः, मुक्तहस्तः अवलम्बितः, प्रसूतव्ययशील इत्यर्थः, भवेदिति

हि—२७

अन्यच्च,—क्रतौ विवाहे व्यसने रिपुक्षये

यशस्करे कर्मणि मित्रसङ्ग्रहे ।

प्रियासु नारौष्वधनेषु बन्धुषु

ह्यतिव्ययो नास्ति नराधिपाष्टसु ॥ १२८ ॥

यतः,—मूर्खः स्वल्पव्ययत्रासात् सर्वनाशं करोति हि ।

कः सुधीः सन्यजेद्ग्राह्यं शुल्कस्यैवातिसाध्वसात् ? ॥ १२९ ॥

अर्थः, तं तादृशं, राजसिंहं वृषयेष्टं, [राजा सिंह इव इति “उपमितं व्याघ्रादि-
सामान्याप्रयोगे” (२१।५६ पा०) इति उपमितकर्मधारयः] (“शुक्लरत्ने
व्याघ्रपङ्कवर्षभकुञ्जराः । सिंहशार्ङ्गलनागाद्याः पुंसि येषां वाचकाः” ॥ इत्यमरः),
लक्ष्मीः श्रीः, न जहाति न त्यजति, यथोचितव्ययशीलस्य सत्पत् न कदापि
परिहीयते इति भावः । उपजातिः वृत्तम् ।

(१२८) कुच कुव सुकृदन्तता न दोषायेत्याह, क्रताविति ।—नराधिपः
राजन् ! क्रतौ यज्ञे, यागाद्यनुष्ठाने इत्यर्थः, विवाहे परिणयकर्मणि, व्यस-
ने विपदि, रिपुक्षये शत्रुविनाशे, शत्रुविनाशार्थमुपायानुष्ठाने इत्यर्थः, यशस्करे कर्म-
साधने, कर्मणि क्रियायां, मित्रसङ्ग्रहे सहृदयजनविषये, सपक्षवद्विवाहपरिवारे
इत्यर्थः, प्रियासु वल्लभासु, पतिच्छन्दानुसारिणीषु इति यावत्, नारौषु क्रीषु, त-
द्वधनेषु दरिद्रेषु, बन्धुषु स्वजनेषु च, तादृशबन्धूनां साहाय्यार्थमित्यर्थः, [सर्वेषां
विषयसतमी] अष्टसु एतेषु अष्टसु स्थानेषु, अतिव्ययः अमितव्ययिता, नास्ति
विद्यत, हि निश्चये, एतदर्थम् अतिसाध्वसोऽपि कर्तव्य एव इत्यर्थः । वंशस्तरि
वृत्तम् ।

(१२९) मूर्खः इति ।—मूर्खः मन्दबुद्धिर्जनः, स्वल्पव्ययत्रासात् अल्पव्ययपर-
मयात्, अल्पव्ययापि धनस्य क्षयमाशङ्क्य इत्यर्थः, हि निश्चितं, सर्वनाशं सर्वलोक-
करोति विदधाति, पश्चात् तस्य सर्वमेव नश्यति इत्यर्थः, कः सुधीः बुद्धिमान्, परिचित-
श्रेयः, शुल्कस्य घडादिषु राजप्रदयकरस्यैव, (“शुल्कं घडादिदेयं स्यात् वरारक्षक-
शस्त्रधाम्” इति मैत्रिणी) अतिसाध्वसात् अतिभयात्, भाण्डं मूलधनं, एतद्व-
जार्तामिति यावत्, (“भाण्डं पात्रे वाणिज्यमूलधने भृष्टाऽन्वभूषयोः” इति तैत्तिरी-
यसंहिता) सन्यजेत् ? परिहरेत् ? राज्ञे करप्रदानशङ्कया कः मूलधनं जलादौ तिष्ठति ?
इत्यर्थः, न कोऽपि स्वल्पं हिताः बहु हातुमिच्छतीति भावः ।

राजाऽऽह,—“कश्मिह समयेऽतिव्ययो युज्यते ? उक्तञ्च,—
“आपदर्थे धनं रक्षेत्” इति ।

मन्त्री ब्रूते,—

“श्रीमतां कथमापदः ?” ।

राजाऽऽह,—

“कदाचित् कुपिता लक्ष्मीः ?”

पुनर्मन्त्री ब्रूते,—

“सञ्चितार्थो विनश्यति ॥१३०॥

तदेव ! (द) कार्पण्यं परित्यज्य (ध) स्वसुभटाः दान-

रागाभ्यां पुरस्कृत्यन्ताम् । तथा चोक्तम्,—

परस्परज्ञाः संहृष्टाः त्यक्तुं प्राणान् सुनिश्चिताः ।

कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्ते द्विषां बलम् ॥१३१॥

(१३०) समयविशेषे अतिव्ययोऽपि करणीय इत्यभिप्रायेण राजमन्त्रिणीकृति-
राज्ञो आह, आपदिति ।—आपदर्थे आपन्निवारणाय, धनं वित्तं, रक्षेत्
रक्षयन्त । राजा एवम् उक्ते सति तत्प्रत्युत्तरेण मन्त्री ब्रूते,—श्रीमतां धन-
मिमांसा कमानाम्, आपदः विपत्तयः, कथम् ? कुतः सम्भवन्ति ? ऐश्वर्यशानिनां
विपत्तिर्नास्ति इति भावः । कदाचित् कटाऽपि, लक्ष्मीः श्रीः, कुपिता अप्रसन्ना,
रुद भवेत् ? इति शेषः, इति राजा उक्ते तत्प्रत्युत्तरेण मन्त्री पुनः ब्रूते,—तदा
सञ्चितार्थो रक्षितमपि धनं, विनश्यति नष्टः भवति ; कमलाया विरागभाजनानां
सञ्चितान्वपि धनानि “निर्जंगाम यदा लक्ष्मीर्गजभुक्तकपित्ववत्” इति न्यायेन
विनश्यन्ति ; अतः अवश्यकर्तव्यः व्ययः करणीय एव इति भावः ।

(द) कार्पण्यं—चुद्रतां, व्ययकृण्वतामित्यर्थः, जपयतानिति यावत् ।

(ध) स्वसुभटाः,—स्वकीयविक्रान्तयोद्धृपदवाः ।

(१३१) भारतशान्तिपर्वीयराजधन्यव्याख्यानप्रकरणोक्तं श्रीकमललम्बा स्वबली
प्रकारप्रदानस्य गुणं प्रदर्शयति, परस्परिति ।—परस्परम् अन्योन्यं, जानन्तीति
परस्परज्ञाः अन्योन्यमवस्थाभिज्ञाः, परस्परसहायका इति यावत्, ऐकमत्त्वसास्थिता
इति भावः, संहृष्टाः प्रसादलाभेन स्वामिनि हृष्टचित्ताः, प्राणान् जीवितं, त्यक्तुं

अप्ररश्च,—सुभटाः शीलसम्पन्नाः संहताः कृतनिश्चयाः ।

अपि पञ्चशतं शूरा सृजन्ति रिपुवाहिनोः ॥ १३२ ॥

किञ्च,—शिशैरप्यविशेषज्ञ उग्रश्च कृतनाशकः ।

त्यज्यते किं पुनर्नान्यैर्यश्चाप्यात्मभरिर्नरः ॥ १३३ ॥

यतः,—सत्यं शीर्यं तथा त्यागो नृपस्यैते त्रयो गुणाः ।

एतैस्त्वक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम् ॥ १३४ ॥

विसृष्टं, सुनिश्चिताः कृतसङ्ख्याः, स्वजीवितेनापि स्वामिनी मङ्गलसाधनम्
कृतनिश्चयाः इत्यर्थः, कुलौनाः सत्कुलोत्पन्नाः, पूजिता योग्यपदप्रदानादिव
समाहृताः, स्रसैनिका इति शेषः, द्विषां शत्रूणां, बलं सैन्यं, सस्यक् सर्वतोभावे,
विजयन्ते पराभवन्ति, [“विपराभ्यां जेः” (१।३।१८ पा०) इत्यात्मनेपदम्] ।

(१३२) भारतशान्तिपर्वणि राजधर्मव्याख्यानप्रकरणोक्तं श्लोकमुपज्ञो
सुभटानामत्येनापि काव्येसिद्धिरित्याह, सुभटा इति ।—शीलसम्पन्नाः सस्वभावाः,
संहताः परस्परं मिलिताः, एकमत्यमाश्रिता इत्यर्थः, कृतनिश्चयाः स्थिरसङ्कल्पाः,
प्राणान्त्येन अपि शत्रून्विजित्य न रथात् निवर्त्तमाने इति प्रतिज्ञावदाः इत्यर्थः,
पञ्चशतं पञ्चशतसङ्ख्याका अपि, शूराः विक्रमवन्तः, सुभटाः निपुणयोद्धारः, रि-
वाहिनोः शवीरतुरङ्गसेनाः, सृजन्ति मर्दयन्ति, नाशयन्ति इत्यर्थः ।

(१३३) आत्मसुखनिरतस्य अकृतज्ञस्य नरपतेः सर्वत्याग्यतानुपपन्नवि-
शिष्टैरिति ।—अविशेषज्ञः दोषगुणयोर्विश्लेषणे अनभिज्ञः, आत्मपरमेष्ठिज्ञाने मु-
दा, उग्रः सदा उद्धतप्रकृतिः, च तथा, कृतस्य नाशकः कृतनाशकः कृतघ्नः, च वि-
यः नरः लोकाः, आत्मभरिरपि, स्वार्थपरोऽपि, भवतीति शेषः, सः शिशैरपि विजि-
रपि, धीरैरपीत्यर्थः, त्यज्यते परिहोयते, अन्येः अपरेः, अशिष्टैरित्यर्थः, किं पुनर्न
त्यज्यते इत्यनुपपन्नः, अपि तु सर्वथा त्यज्यते एवेत्यर्थः ।

(१३४) कामन्दकीतिशतुर्थसर्गोक्तश्लोकमवलम्ब्य राज्ञां प्रधानगुणानां
संयमिति ।—सत्यं सत्यनिष्ठता, शीर्यं वीरता, पुरुषकार इति यावत्, तथा त्यागः
सत्यावे विनिर्योगः, एते त्रयः विसङ्ख्याकाः, नृपस्य राज्ञः, गुणाः शौल्क्यांशार-
धन्माः, स्यात्तुमुचिता इति शेषः, एतैः सत्यादिभिः गुणैः, त्यक्तः रक्षितः, महीपालः
राजा, खलु निश्चितं, वाच्यतां निन्दनीयत्वं, प्राप्नोति लभते । (“त्यागः सत्यं
शीर्यश्च त्रय एते महागुणाः । प्राप्नोति हि गुणान् सर्वानेतेर्युक्तो नराधिपः” ।
इति कामन्दकीयपाठः) ।

अमात्यास्तावदवश्यमेव पुरस्कर्त्तव्याः । तथा चोक्तम्,—

यो येन प्रतिबद्धः स्यात् सह तेनोदयी व्ययी ।

स विश्वस्तो नियोक्तव्यः प्राणेषु च धनेषु च ॥ १३५ ॥

अतः,—धूर्त्तः स्त्री वा शिष्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।

अनीतिपवनक्षिप्तोऽकाय्याब्धौ स निमज्जति ॥ १३६ ॥

शृणु देव !—

हर्षक्रोधौ यतौ यस्य क्रोधः स्वल्पव्ययेन च ।

नित्यं भृत्यान्ववेक्षा च तस्य स्यान्नदा धरा ॥ १३७ ॥

(१३५) पुरस्कारहेतुमाह, य इति ।—यो जनः, येन जनेन सह, प्रतिबद्धः

सहद्धः, एकविधकार्यकरणादिना परस्परसम्बन्धयुक्त इत्यर्थः, स्यात् भवेत्, तथा तेन येन सह प्रतिबद्धः तेन सहेत्यर्थः, उदयो अभ्युन्नतः, तस्य अभ्युदये अभ्युदयवान् इत्यर्थः, व्ययी चयो च, तस्य विपाद विपन्नः इत्यर्थः, स तादृशः, विश्वस्तः विश्वामपात्रः, समानसुखदुःखभागीत्यर्थः, जन इति शेषः, प्राणेषु जीवितेषु, जीवनरचायश्च इत्यर्थः, धनेषु धनरचायश्च, निथोक्तव्यः निधातव्यः ; समसुखदुःखभागित्वात् धनप्राणरक्षणे अधिकृतत्वाच्च प्रीतिज्ञापनार्थं ते अवश्यमेव पुरस्कर्त्तव्याः, तेन च तेषां प्रभुकार्यसम्पादने आग्रहाधिक्यं भवतीति भावः ।

(१३६) धनप्राणरक्षार्थं विश्वस्तमन्त्रिणीगप्रस्तावे अनुपयुक्तमन्त्रिणी दीवमाह,

धूर्त्त इति ।—यस्य महीपतेः राज्ञः, धूर्त्तः शठः, स्त्री नारीजनः, वा अथवा, शिष्य-बालकः, इति त्रयः मन्त्रिणः मन्त्रणादातारः, स्युः भवेयुः, स महीपतिः, अनीति-पवनक्षिप्तः अनीतिर्दुर्नय एव, पवनः वायुः, तेन क्षिप्तः इतस्ततः चालितः सन्, कर्त्तव्यात् भटः सन्नित्यर्थः, अकार्यमेव दुष्कर्म एव, अन्विः सागरः तस्मिन्, पुनारारसमुद्रे, (“काय्याब्धौ” इति पाठान्तरम्) निमज्जति निमग्नो भवति, विश्वस्तोत्यर्थः, अतः परिहर्त्तव्या एते इति भावः । (“यत्र स्त्री यत्र कितवी गच्छी यवानुशासिता । मज्जन्ति तेऽवशा राजन् ! नद्यामश्मत्तवा इव” ॥ इति भारतीद्वयोपनीयपाठः) ।

(१३७) हर्षेति ।—यस्य राज्ञः, हर्षक्रोधौ सम्बद्धोपो, यतौ निवसितौ, विपदि धैर्यम्, सन्नतो च चमेत्यर्थः, इष्टप्राप्तौ न हृष्यति, अनिष्टप्राप्तौ च न उष्यतीत्यर्थो वा, सुखदुःखयोः समभाव इति भावः ; स्वल्पव्ययेन परिनिवर्त्ययेन

येषां राज्ञा सह स्यातामुच्चयापचयौ ध्रुवम् ।

अमात्यान् नीतिमान् राजा नावमन्येत कर्हिंचित् ॥ १३८ ॥

यतः,—महीभुजो मदान्धस्य मज्जतोऽकार्यसागरे ।

खलतो हि करालम्बः सुशिष्टैरेव दीयते ॥ १३९ ॥

अथाऽऽगत्य प्रणम्य मेघवर्णो ब्रूते,—“देव ! (न) दृष्टि-
प्रसादं कुरु । एष युद्धार्थी विपक्षो दुर्गहारि तिष्ठति ; तद्देव-

च, कोषः धनागारः, यतः इति शेषः, [त्रिभक्तिविपरिणामेनान्वयः] नित्यं सर्वदा,
भृत्येषु अनुजोविषु, अन्ववेक्षा परिदर्शनं, भृत्यानां सुखदुःखपथ्यवैचक्षणित्वं,
सुखसंविधाने दुःखमोचने च तत्पर इति भावः, तस्य राज्ञः, धरा पृथिवी, राज्यमिति
यावत्, धनदा रत्नप्रसविनी, स्यात् भवेत्, सर्वाः सम्पत्तयः तस्य एव कारयता इति
भावः । (“हर्षक्रोधी समौ यस्य शास्त्रार्थे प्रत्ययस्तथा । नित्यं भृत्यानुपेक्षा च तस्य
आह्वनदा धरा” ॥ इति पाठान्तरम्) ।

(१३८) येषामिति ।—येषाम् अमात्यानाम्, उच्चयापचयौ अभ्युदयापचयौ,
उन्नतिरवनतिय इत्यर्थः, राज्ञा नृपेण सह, ध्रुवं निश्चितं, स्यातां भवेतां, रूप-
स्याभ्युदये येषाम् अमात्यानाम् अभ्युदयः, चये च हानिः स्यात् इत्यर्थः, नीतिमान्
राजनीतिकुशलः, राजा नृपतिः, कर्हिंचित् कदाचिदपि, अमात्यान् तादृशान्
समसुखदुःखभागिनः सचिवानित्यर्थः, न अवमन्येत न अवजानीयात्, तेषामव-
मानने स्वस्य अवमानं राज्यभंगश्च अवश्यम्भावीति भावः ।

(१३९) कथं ते नावमन्येत्याः ? इत्याह, महीभुज इति ।—मदान्धस्य मदं
गर्वेण, ऐश्वर्यमनतया इत्यर्थः, अन्धस्य प्रज्ञाचक्षुरहितस्य, विवेकविहीनस्येत्यर्थः,
अत एव अकार्यसागरे दृक्प्रियासमुद्रे, मज्जतः निमग्नस्य, नीतिविगर्हितकर्माचरणेन
विपत्तिपारावारो निमग्नोभवत् इत्यर्थः, महीभुजः राज्ञः सम्बन्धे, खलतः
तीरादेव, निमज्जनीपक्रमे एवेत्यर्थः, (अत्र “खलतः” इति पाठे—अत एव
भग्नतः इत्यर्थः) सुशिष्टैरेव सुपण्डितैरेव, अमात्यैरिति शेषः, करालम्बः
हस्तावलम्बनम्, उद्धारायमिति भावः, दीयते समर्प्यते, ईदृशा विहास एव
सदुपदेशेन तादृशं विपदः उद्धरन्तीत्यर्थः । (अत्र द्वितीयपादे “सङ्कोचं
दन्तिनः” तथा चतुर्थपादे “सहस्रचिवचेष्टितम्” इति पाठान्तरम्) ।

(न) दृष्टिप्रसादं—दृष्ट्या नेत्रेण, दृष्टिप्रदानेनेत्यर्थः, प्रसादम् अनुग्रहं,
प्रसन्नदृष्टिपातम्, अनुग्रहदृष्टिप्रदानमित्यर्थः ।

पादादेशात् वह्निर्निःसृत्य स्वविक्रमं दर्शयामि ; तेन (प) देव-
प्रसादस्य (फ) आनृण्यमुपगच्छामि” । चक्रवाको ब्रूते,—
(व) “मैवं, यदि वह्निर्निःसृत्य योद्धव्यं, तदा दुर्गाऽऽश्रयणमैव
निष्पद्योजनम् । अपरञ्च,—

विषमोऽपि यथा नक्रः सलिलान्निःसृतोऽवशः ।

वनाद्भिर्निर्गतः शूरः सिंहोऽपि स्याच्छृगालवत्” ॥१४०॥

वायसो ब्रूते,—“देव ! स्वयं गत्वा युद्धं दृश्यताम् । यतः,—

पुरस्कृत्य बलं राजा योधयेदवलोकयन् ।

स्वामिनाऽधिष्ठितः श्वाऽपि किं न सिंहायते ध्रुवम् ?” ॥१४१॥

(प) देवप्रसादस्य—राजानुग्रहस्य ।

(फ) आनृण्यम्—कृणुमुक्तिम् ।

(व) मैवं—वह्निर्निःसृत्य विक्रमप्रदर्शनं न कर्तव्यमित्यर्थः ।

(१४०) दृष्टान्तमुखेन दुर्गपरित्यागस्य दोषं प्रदर्शयति, विषम इति ।—
विषमः भीषणः, नक्रोऽपि कुम्भीरोऽपि, सलिलात् जलात्, निःसृतः निर्गतः, यथा
अवशः अप्रभुः, जलचरत्वेन स्थलविवरणे अभ्यासाभावात् आत्मरक्षणेऽपि असमर्थः
इत्यर्थः, भवतीति शेषः, शूरः विक्रान्तः, सिंहोऽपि पशुराजोऽपि, यथा वा वनात्
परिखात, शृङ्गादिति भावः, विनिर्गतः निःसृतः सन्, (“वनात् विनिर्गतः शूरः”
इत्यत्र “वनात् प्रच्युतः सत्यम्” इति पाठान्तरम्) शृङ्गालवत् जम्बुक इव, हीनविक्रम
इति भावः, स्यात् भवेत्, तथा दुर्गात् वह्निःस्थितः महाबलोऽपि योद्धा हीनबलः
सादिति भावः । (“नक्रः स्वस्थानमाश्रित्य गजेन्द्रमपि कर्षति । स एव प्रच्युतः
स्थानात् युनाऽपि परिभूयते” ॥ इत्यनु रूपः श्लोकः । एतदभिप्रायेण कश्चित् पठति,—
“वानानि रे सप ! तव प्रभावं कण्ठस्थितो गर्जसि शङ्करस्य । स्थानं प्रधानं न बलं
प्रधानं स्थानस्थितः कापुरुषोऽपि सिंहः” ॥ इति ।

(१४१) युद्धे राजोपस्थितैर्गुणमाह, पुरस्कृत्येति ।—राजा वृषः, बलं सैन्यं,
पुरस्कृत्य अये कृत्वा, अवलोकयन् बलानां बलाबलं पश्यन् सन्, स्वयम् उपस्थाय
तेषां युद्धीत्याहं प्रवर्तयेन् इत्यर्थः, योधयेत् युद्धं कारयेत् । तथाहि बलानां सविशेषः
उत्साहो जायते इत्याह,—स्वामिना प्रमुखा, अधिष्ठितः कृताधिष्ठानः, अवस्थानेन
प्रवर्तितोऽपि इति भावः ; आ कुकुरः अपि, ध्रुवं निश्चितं, किं न सिंहायते ?

अनन्तरं ते सर्वे दुर्गद्वारं गत्वा (भ) महाऽऽह्वं कृतवन्तः ।

(म) परैर्यवि चित्रवर्णो राजा गृध्रमुवाच,—“तात ! स्वप्रति-
ज्ञातमधुना विधीयताम्” । गृध्रो ब्रूते,—“देव ! शृणु तावत्,—

अकालसहस्रमत्यल्पं मूर्खव्यसनिनायकम् ।

अगुप्तं भीरुयोधश्च दुर्गव्यसनमुच्यते ॥ १४२ ॥

तत् तावदत्र नास्ति,—

उपजापश्चिरारोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।

दुर्गस्य लङ्घनोपायाश्चत्वारः कथिता इमे ॥ १४३ ॥

सिंह इव न आचरति किम् ? अपि तु आचरत्येवेत्यर्थः ; अत उक्ताहदानांमपि
तत्रभवतां गमनमुचितमिति भावः ।

(म) महाऽऽह्वं—घोरसङ्ग्रामम् ।

(न) परैर्यवि—परस्मिन् अहनि, युद्धारम्भात् परदिने इत्यर्थः । [पर+
एयवि, “सद्यःपरत्—” (५।३।२२ पा०) इति सूत्रस्य “परस्मादेव्यहनि” (वा०)
इति निपातनात् साधुः । “परे त्वाङ्ग परैर्यवि” इत्यमरः ।]

(१४२) सुखेन जितव्यस्य दुर्गस्य लक्षणमाह, अकालसहस्रमिति ।—अकाल-
सहस्रं कालं सहते यत् तत् कालसहं, तत्र भवति इति अकालसहं कालविलम्ब-
सहनाद्यर्थं, खाद्यपानीयाद्यभावात् दीर्घावरोधसहनाद्यर्थमित्यर्थः, अत्यल्पं सुद्रुम,
अदृढम् अप्रशस्तं वा इत्यर्थः, मूर्खः शास्त्रज्ञानविहीनः, व्यसनी पानादि-
व्यसनासक्तश्च, नायकः सेनाध्यक्षः यस्मिन् तत्, अगुप्तम् असुरक्षितं, भीरुः
भयशैलाः, योधाः सैनिका यस्मिन् तच्च, दुर्गव्यसनं दुर्गदूषणं, दुर्गविपत्तिः इति
यावत्, उच्यते कथ्यते, नीतिज्ञैरिति शेषः ; एतादृशं दुर्गं सुजीयम् इति निष्कर्षः ।

(१४३) दुर्गजयोपायमाह, उपजाप इति ।—उपजापः भेदः, दुर्गस्थसैन्यस्य
भेदसहटनमित्यर्थः, चिरं दीर्घकालं व्याप्य, आरोधः अवरोधनं, दुर्गं समक्तात्
सैन्यसमावेशं कृत्वा दीर्घकालमवस्थानमित्यर्थः, तेन च निर्गमप्रवेशप्रतिषेधात्
स्थानान्तरतः खाद्यपानीयाद्यानयनाद्यमवस्थायां दुर्गस्थखाद्यादीनां क्रमशः निःशेषतया
च दुर्गजयस्य सुखकरत्वादिति भावः ; अथवा चिरम् आरोधः असम्यक्, अप्रशस्तः
इत्यर्थः, रोधः नीतिमुल्लङ्घ्य अप्रिदानादिना सहसा दुर्गस्य निर्गमनमागं प्रतिषेध-
इत्यर्थः, [अप्राशस्त्यं नञर्थः] अवस्कन्दः सहसा आक्रमणं, तीव्रपौरुषम् अत्यर्थ-

अत्र च (य) यथाशक्ति क्रियते यत्नः । चित्रवर्णः कथयति,
—“एवमेव” । ततः अनुदितं एव भास्करे चतुर्ष्वपि दुर्गद्वारेषु
प्रवृत्ते युद्धे दुर्गाभ्यन्तरे गृहे गृहे काकौरेकदा अग्निः
(२) निक्षिप्तः । ततः (ल) “गृहीतं गृहीतं दुर्गम्” इति
कोलाहलं श्रुत्वा अनेकगृहेषु च (व) पावकं प्रदीप्तं प्रत्यक्षेण
अवलोक्य राजहंसस्य सैनिका बहवो दुर्गनिवासिनः सत्वरं
ह्रदं प्रविष्टाः । यतः,—

सुमन्त्रितं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायितम् ।

प्राप्तकाले यथाशक्ति कुर्यान्न तु विचारयेत् ॥१४४॥

राजहंसस्य सुखिस्वभावात् मन्दगतिः सारसद्वितीयः चित्र-
वर्णस्य सेनापतिना कुक्कुटेन आगत्य वेष्टितः । द्विरण्यगर्भः
सारसमाह,—“सेनापते सारस ! (श) ममानुरोधादात्मानं

साहसप्रदर्शनञ्च, इमे चत्वारः उपजापादयः, दुर्गस्य कीदृश्यं, लङ्घनोपायाः लङ्घनस्य
अतिक्रमणस्य, अधिकारस्य इत्यर्थः, उपजायाः साधनानि, भवन्तीति शेषः ।

(य) यथाशक्ति—साध्यानुसारेण । [अनतिक्रमाद्ये अन्यथीभावः] ।

(२) निक्षिप्तः,—दत्तः इत्यर्थः ।

(ल) गृहीतम्—आयत्तीकृतमित्यर्थः, जितमिति भावः ।

(व) पावकं—वज्रम् । प्रदीप्तं—प्रज्वलितम् । प्रत्यक्षेण—साक्षात् ।

(१४४) भारतशान्तिपर्वोपापञ्चमप्रकरणोक्ता श्रीकमलस्य राजहंसपक्षीयाणां
पलायनं समर्थयितुमाह, सुमन्त्रितमिति ।—प्राप्तकाले उचितावसरे, यथाशक्ति
सामर्थ्यानुसरणं, सुमन्त्रितं सुमन्त्रणां, सुविक्रान्तं सुविक्रमं, सुयुद्धं सुयोधनं, भीषण-
धमरमित्यर्थः, सुपलायितं सम्यक् पलायनञ्च, [सर्वत्र भावे क्तः] कुर्यात् विदध्यात्,
न तु मेव, विचारयेत् विचिन्त्य कालक्षेपं न कुर्यादित्यर्थः ; युद्धकाले समागते
पलायने सह सुमन्त्रणां कृत्वा यथाशक्ति विक्रमं प्रदर्श्य दारुणं समरं कुर्यात्,
देवप्रातिकूल्यात् पराजितश्चेत् भवति तदा सत्वरं पलाय्य आत्मरक्षां कुर्यात्, तत्र न
कोऽपि विचारः करणीयः, अन्यथा विपत्तिरिव स्यादिति निश्चयः । (“आपदास्यद-
वालेन कुर्वीत न विचारयेत्” इति उचरार्हस्य भारतीयपाठः) ।

(श) ममानुरोधात्—ममानुवर्त्तनात्, ममानुगमनं कृत्वा इत्यर्थः, मम

कथं व्यापादयसि ? अधुनाऽहं गन्तुमममर्थः, त्वं गन्तुमधुनाऽपि
समर्थः, तन्नत्वा जलं प्रविश्यात्मानं परिरक्ष । मत्पुत्रं चूडा-
मणिनामानं (ष) सर्वज्ञस्य सन्मत्या राजानं कारिष्यसि ।
सारसो ब्रूते,—“देव ! न वक्तव्यमेवं दुःसहं वचः । यावत्
चन्द्राकौ विद्येते तावत् विजयतां देवः । अहं देव !
(स) दुर्गाधिकारी, तन्मम (ह) मांसाष्टग्विलिप्तेन द्वारवर्त्मना
तावत् प्रविशतु शत्रुः । अपरञ्च देव !—

क्षमी दाता गुणग्राही स्वामी भाग्येन लभ्यते” ।

राजाऽऽह,—“अस्ति एवं, किन्तु,—

शुचिर्दक्षोऽनुरक्तश्च जाने मृत्योऽपि दुर्लभः” ॥१४५॥

सारसो ब्रूते,—“शृणु देव !—

यदि समरमपास्य नास्ति मृत्यो-

र्भयमिति युक्तमितीत्यतः प्रयातुम् ।

जीवनं रक्षितुमिति यावत् । (“अनुरोधोऽनुवर्त्तनम्” इत्यमरः) । व्यापादयसि ?—
घातयसि ? ।

(ष) सर्वज्ञस्य—मन्त्रिण्यशकं वाक्यम् ।

(स) दुर्गाधिकारी—दुर्गाध्यक्षः, सेनापतिरित्यर्थः ।

(ह) मांसाष्टग्विलिप्तेन—मांसञ्च अष्टक् च मांसाष्टजी, ताभ्यां विलिप्तेन
दिग्धेन, मां हृत्वेत्यर्थः ।

(१४५) प्रभोजीवनरक्षार्थं स्वजीवनत्यागस्यापि कर्त्तव्यतां प्रतिपादयितुं
गुणवत्प्रभोः दौर्लभ्यमाह, क्षमीति ।—क्षमी क्षमावान्, दाता दानशीलः, गुणग्राही
गुणज्ञः, गुणवति कृतादरः इत्यर्थः, स्वामी प्रभुः, भाग्येन दिष्ट्वा, पुण्यबल-
इत्यर्थः, लभ्यते प्राप्यते, एतादृशः सूर्यगुणसम्पन्नः प्रभुर्भवान् मया बहुपुण्येन लब्धः
अतो भवज्जीवनरक्षार्थं प्रयासः मया करणीय एव इति भावः । राजाह,—शुचिः
विशुद्धप्रभावः, दक्षः कार्यकुशलः, अनुरक्तः प्रभुपरायणः, मृत्योऽपि सेवकोऽपि,
दुर्लभः दुष्प्रापः, इति जाने इत्यहं जानामि, एतादृशगुणसम्पन्नस्य सुधृत्यस्य
तवापि प्राणरक्षार्थं मया प्रयत्नो विधेय इति भावः ।

(१४६) वीराणां रणक्षेत्रात् पलायनमतीव अवशस्कारम् अतः सर्वथा क्षमी

अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः

किमिति मुधा मलिनं यशः क्रियेत ? ॥ १४६ ॥

अथ च,—भवेऽस्मिन् पवनोद्भ्रान्तवीचिविभ्रमभङ्गुरे ।

जायते पुण्ययोगेन परार्थे जौवितव्ययः ॥ १४७ ॥

त्वच्च देव ! स्वामी सर्वथा रक्षणीयः । यतः,—

स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रञ्च दुर्गे कोषो बलं सुहृत् ।

राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च ॥ १४८ ॥

रक्षमित्याह, यदीति ।—यदि सगरं युद्धम्, अपास्य त्यक्त्वा, समरक्षेत्रात् पलाय्ये-
त्यर्थः, स्थितस्य इति शेषः, स्वयोः मरणात्, भयं भीतिः, नास्ति न विद्यते, इति
एवं मन्यते चेदित्यर्थः, तदा इतः अस्मात् समरस्थानात्, अन्ततः अन्यस्मिन् स्थाने,
प्रयातुं गन्तुं, पलायितुमित्यर्थः, युक्तम् उचितम्, अथ इति प्रयायकमव्ययम्,
एतत्तु पृच्छानीत्यर्थः, विकल्पायकसव्ययं वा, पञ्चान्तरे इत्यर्थः, (“अथाथो—
विकल्पानन्तरप्रत्यकारस्वार्थसमुच्चये” इति मेदिनी), यदि जन्तोः प्राणिनः, मरणं
सत्यम्, अवश्यमेव नियतमेव, भविष्यतीति शेषः, तदा किमिति कथं, मुधा वृथा,
यशः कौत्सः, मलिनं कलुषितं, क्रियेत ? विधीयत ? अथ भङ्गुरेऽस्मिन् जगति
यशः एव पालनीयं न तु जौवितमिति भावः । श्लोकोऽयं वेणीसंहारनाटकेऽपि
दृश्यते । पुष्पिताया वृक्षम् ।

(१४७) परोपकारार्थं स्वदेहदानसौभाग्यं न सर्वदा घटते इति वक्तुमाह,
भवे इति ।—पवनेन वायुना, उद्भ्रान्ताः विताडिता इत्यर्थः, चालिताः इति
यावत्, वीचयः तरङ्गाः, तेषां विभ्रमः विस्मयः, तद्वत् भङ्गुरे विनश्यते, अणोः
त्यादविनाशे इत्यर्थः, अस्थिर इति यावत्, अस्मिन् भवे इह संसारे, जन्मानि वा,
परार्थे परोपकाराय, जौवितव्ययः प्राणीत्यर्थः, पुण्ययोगेन सुकृतवलेन, सौभाग्येन
इत्यर्थः, जायते सम्पद्यते, अवश्यविध्वंसनां प्राणानां परार्थे उत्सर्गः पुण्यवलादेव
घटते इति भावः ।

(१४८) राज्याङ्गत्वात् स्वामी सर्वथा रक्षणीय इति वक्तुं प्रथमतः राज्याङ्गा-
त्याह, स्वामीति ।—स्वामी राजा, अमात्यः मन्त्री, राष्ट्रं राज्यं, दुर्गे कौटं,
सागरपर्वतादिभिरगम्यप्रदेश इत्यर्थः, कोषः धनागारः, बलं सैन्यं, सुहृत् मित्रं,
मित्रभावापन्नः राजा इति यावत्, पौराणां नागरिकाणां, श्रेणयोऽपि च समूहाश्च,

अपि च,—प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा समृद्धाऽपि न जीवति ।

अपि धन्वन्तरिवैद्यः किं करोति गतायुषि ? ॥ १४८ ॥

अपरच,—नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति निमीलति ।

उदेत्युदीयमाने च रवाविव सरोरुहम् ॥ १५० ॥

अत्रापि प्रधानाङ्गं राजा” ।

राज्याङ्गानि एतानि अष्टौ राज्यस्य राजकर्मणः, अङ्गानि उपायाः, राज्यरक्षायाः प्रधानसाधनानि इत्यर्थः, प्रकृतयः प्रकृतिसंज्ञकाः, उच्यन्ते इति शेषः, परस्पर-मिलिता एते राज्यं प्रकटं कुर्वन्ति इत्यर्थः; सम्पद्युक्ता एता अष्टौ प्रकृतयः वृष्टं प्रकटतया प्रतिष्ठितं कुर्वन्ति इति भावः । (“स्वाम्यनात्यय राष्ट्रं दुर्गं कौशो बलं सुदृढम् । परस्पररोपकारीदं समाङ्गं राज्यमुच्यते । पौरयेष्टा सङ्घाष्टाङ्गमपि राज्यं प्रकौर्त्तितम्” ॥ इति कामन्दकीयपाठः । श्लोकोऽयम् अमरकोषशब्दरत्नावल्यादिविविधग्रन्थेषु विविधपाठान्तरेण पठितो दृश्यते) ।

(१४८) प्रकृतिरिति ।—प्रकृतिः अमात्यादि राज्याङ्गम् इत्यर्थः, अमात्यादिषु समसु मध्ये एकाऽपि प्रकृतिरिति भावः, स्वाम्यादिषु अष्टसु प्रकृतिषु मध्ये श्लोकेऽस्मिन् स्वामिशब्दस्य पृथक् ग्रहणात् प्रकृतिशब्देनाव राज्यतिरिक्तप्रकृतीनां ग्रहणमिति बोद्धव्यम् ; समृद्धाऽपि सर्वगुणसम्पन्नाऽपि, स्वामिनं राजानं, मूलप्रकृतिमिति यावत्, प्रधानतममङ्गमिति भावः ; त्यक्त्वा परित्यज्य, स्वामिविहीना सतीत्यर्थः, न जीवति न चिरं तिष्ठति इत्यर्थः, क्षियते इति यावत्, वैद्यः चिकित्सकः, धन्वन्तरिरपि स्वयं सकलचिकित्सकशिरोमणिरपि, गतं क्षयितम्, आयुः जीवनकालो यस्य तस्मिन्, आसन्नमृत्यौ जने, किं करोति ? किं कर्तुं शक्नोति ? धन्वन्तरिरपि तत्र विफलप्रयत्नो भवेदित्यर्थः ; परमायुरिव जीवनस्य प्रकृतेरपि राजा एव मूलम् इति भावः ।

(१५०) राज्ञः सुखदुःखभागित्वं प्रजानामवश्यमाव्यमित्याह, नरेशे इति ।—रवौ सूर्ये, सरोरुहं पद्ममिव, सूर्ये अक्षमिते सरोरुहं यथा सङ्कुचति, उदीयमाने च यथा प्रस्फुटति तथा इत्यर्थः, नरेशे राजनि, निमीलति मृते सति, विप्रे सति इति वा, अयं जीवलोकाः सर्वः एव जनः, निमीलति क्षियते, विपद्यते वा, उदीयमाने च प्रकाशमाने च, अभ्युदयं गच्छति च इत्यर्थः, उदेति अभ्युदयं गच्छति, शोभायं लभते इत्यर्थः ; राज्ञः अभ्युदये प्रजानामभ्युदयः राज्ञः क्षये च प्रजानां क्षयो जायते इति निष्कर्षः ।

अथ कुक्कुटेनागत्य राजहंसस्य शरीरं (क) खरतरनखाघातः
 कृतः । ततः सत्वरमुपसृत्य सारसेन (ख) खदेहान्तरितो
 राजा । अनन्तरं कुक्कुटेन नखमुखप्रहारैः (ग) जर्जरीकृतेन
 सारसेन स्वाङ्गेनाच्छाद्य राजा जले प्रक्षिप्तः । कुक्कुटोऽपि
 देवापतिना सारसेन स्वचक्षुप्रहारेण विभिद्य व्यापादितः ।
 त्वात् सारसोऽपि बहुभिः पक्षिभिः (घ) सम्भूय व्यापादितः ।
 अथ चित्रवर्णो दुर्गं प्रविश्य दुर्गावस्थितं द्रव्यं (ङ) ग्राहयित्वा
 (च) वन्दिभिः जयशब्देन आनन्दितः स्वस्वम्भवारं जगाम ।
 अथ राजपुत्रैस्तुतं,—“तस्मिन् राजहंसबले पुण्यवान्
 सारस एव, येन खदेहदानेन स्वामी रक्षितः । यतः,—
 जनयन्ति सुतान् गावः सर्वानेव गवाक्षतीन् ।
 विषाणोल्लिखितस्कन्धं कच्चिदेव गवां पतिम्” ॥ १५१ ॥

- (क) खरतरनखाघातः,—तौक्ष्णनखप्रहारः ।
 (ख) खदेहान्तरितः,—निजशरीरेण आच्छादितः ।
 (ग) जर्जरीकृतेन—जीर्णोक्ततेन, विशेषतः विक्षतेन इत्यर्थः ।
 (घ) सम्भूय—मिलित्वा ।
 (ङ) ग्राहयित्वा, स्वसैनिकैरिति शेषः ।
 (च) वन्दिभिः,—स्तुतिपाठकैः । जयशब्देन—जयति चित्रवर्णो राजा इति
 इत्येवधारणेन इत्यर्थः ।

(१५१) जगति महत्त्वं दुर्लभमित्याह, जनयन्तीति ।—गावः सौरभेयः,
 सर्वानेव सकलानेव, सुतान् वत्सान्, गवाक्षतीन् धेत्वाकारयुक्तान्, जनयन्ति
 इत्यादिशक्तिः, किन्तु तेषु मध्ये इति ऊह्यम् ; विषाणोल्लिखितस्कन्धं विषाणाभ्यां
 यथाभ्याम्, उल्लिखितः विदारितः, स्कन्धः इक्ष्वाकुः, मूलनारभ्य शाखावर्धभागः
 इत्यर्थः, (“पक्षी प्रकाण्डः स्कन्धः स्यात् मूलाच्छाखाऽवधिसरः” इत्यमरः), येन
 तं तादृशं, वीर्यवन्तमित्यर्थः, गवां पतिं महापशुं, महोचमिति यावत्, कच्चिदेव
 बहुषु एकमेवेत्यर्थः, जनयन्तीति पूर्वेष्वन्वयः, बहुषु गोवत्सेषु वीर्यवान् पशो यथा
 कदाचित् अत्यल्प एव जायते, तथा बहुषु मनुष्येषु स्वामिप्राणरक्षायेनात्मीकृष्टा
 महापुरुषः कदाचिदेव सम्भवति इति निष्कर्षः ।

विष्णुशर्मणा उक्तं,—“स तावत् (छ) सत्त्वक्रीतान्
(ज) अक्षयलोकान् विद्याधरीपरिजनोऽनुभवतु महासत्त्वः ।
तथा चोक्तम्,—

आहवेषु च ये शूराः स्वाम्यर्थं त्यक्तजीविताः ।

भर्तृभक्ताः कृतज्ञाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १५२ ॥

यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः ।

अक्षयान् लभते लोकान् यदि क्लैब्यं न गच्छति ॥ १५३ ॥

विग्रहः श्रुतो भवद्भिः ?” ।

राजपुत्रैरुक्तं,—“श्रुत्वा सुखिनो (भ) भूता वयम्” ।

विष्णुशर्माऽब्रवीत्,—“अपरमपि एवमस्तु,—

(छ) सत्त्वक्रीतान्—सत्त्वेन बलेन, बलरूपमूल्यदानेन इत्यर्थः, क्रीतान्—
कृतक्रयान्, शौर्थ्योपार्जितान् ।

(ज) अक्षयलोकान्—नित्यस्थानानि, स्वर्गादिलोकान् इत्यर्थः । विद्याधरी-
परिजनः,—विद्याधरीपरिहृतः इत्यर्थः । महासत्त्वः,—महाबलः ।

(१५२) स्वानिहितार्थं युद्धे जीवनदानस्य फलमाह, आहवेष्वित्यादि
वाक्यान् ।—ये शूराः वीराः, आहवेषु युद्धेषु, स्वाम्यर्थं प्रसुद्धितेच्छया, त्यक्तजीवि-
तान् उल्लृष्टप्राणाः, स्वामिरान्वरत्तार्थं सताः इत्यर्थः, भर्तृभक्ताश्च ये च प्रमुपरागाः,
कृतज्ञाश्च ये च कृतवेदिनः, कृतमुपकारं स्वीकुर्वन्तश्च ये इत्यर्थः, ते नराः,
स्वर्गगामिनः स्वर्गवासिनः इत्यर्थः, भवन्तीति शेषः, ते अवश्यमेव स्वर्गं यास्यन्ति इति
निष्कर्षः । [“सावश्यकाधमर्थ्यधीर्णिनिः” (३।३।१७० पा०) इति सावश्य-
विनिः] ।

(१५३) अवेति ।—शत्रुभिः परिमः, परिवेष्टितः समन्तात् वेष्टितः, यः
वीरपुरुषः, यदि क्लैब्यं भोक्तुं, युद्धे विमुद्धभावमित्यर्थः, न गच्छति न प्राप्नोतीति,
युद्धात् न परासुखो भवति इति यावत्, तदा यत्र तत्र यस्मिन् कश्चिन्नपि देशः, तत्र
आहतः, सतः इति यावत्, तादृशः सन्, अक्षयान् सत्त्वयान्, शत्रुवात् इत्यर्थः,
लोकान् स्वर्गादिलोकानित्यर्थः, लभते प्राप्नोति ।

(भ) भूताः,—सञ्जाताः ।

विग्रहः करितुरङ्गपत्तिभिर्नो कदाऽपि भवतां महीभृताम् ।
नीतिमन्त्रपवनैः समाहृताः संश्रयन्तु गिरिगह्वरं द्विषः ॥ १५४ ॥

इति द्वितीयोपदेशे विग्रहो नाम द्वितीयः

कथासङ्ग्रहः ॥ ३ ॥

सन्धिः ।

पुनः कथाऽऽरम्भकाले राजपुत्रैरुक्तं,— (क) “आर्य्य !
विग्रहः श्रुतोऽस्माभिः, (ख) सन्धिरधुनाऽभिधीयताम्” ।

(१५४) कथाऽवसाने आशिषा संवर्द्धयति, विग्रह इति ।—महो विभ्रतीति
महीभृतः राजानः तेषां, कदाऽपि कस्मिंश्चिदपि काले, करितुरङ्गपत्तिभिः
इत्यप्यपदातिभिः बलैः, विग्रहः समरः, नो भवतां न भवतु । [“आत्मनेपदमिच्छन्ति
परस्वपदिनां क्वचित्” इति आत्मनेपदम् । “भवतामहीभृताम्” इति पाठश्च
शङ्कोरान् । तत्र “तु” स्थाने तातिः] । यद्वा,—महीभृतां, भवतां युष्माकं,
करितुरङ्गपत्तिभिः कदाऽपि विग्रहः नो, भवतु इति शेषः । तर्हि कथं शत्रवो
निरसनीयाः ? इत्याह,—द्विषः शत्रवः, युष्माकमिति शेषः, नीत्या नयेन सह, मन्त्राः
मन्त्रणाः नीतिमन्त्राः नयसङ्गतसुमन्त्रणाः इत्यर्थः, त एव पवनाः वाताः तैः,
समाहृताः ताडिताः, परिभूता इति यावत्, तादृशाः सन्तः, गिरिगह्वरं पर्वतगुहां,
संश्रयन्तु संसेवन्तां, पलाय्य तत्र तिष्ठन्तु इत्यर्थः ; नीतिकौशलेन मन्त्रणाकौशलेन च
भवन्तः द्विषतः निराकुर्वन्तु, तदर्थं दारुणे रणकर्मणि प्रहतेरावश्यकता युष्माकं
वा भूदिति निष्कर्षः । रथोद्धता इत्यम् ।

इति श्रीमज्जीवानन्द-विद्यासागर-भट्टाचार्य्यकृता विग्रहव्याख्या ॥ ३ ॥

(क) आर्य्य !—पूज्य !, अथवा,—“कर्त्तव्यमाचरन् कार्य्यमकर्त्तव्यमनाचरन् ।
पश्यन् समुदाचारि स वा आर्य्य इति श्रुतः” इत्युक्तलक्षणः । [ऋषातोः “ऋषो-
जित्” (१।१।१२४ पा०) इति श्रुत-प्रत्ययः] ।

(ख) सन्धिः,—वस्त्रालङ्कारादिदानेन परैः सह मैत्रीसम्पादनं, राज्ञः राज्य-

विष्णुशर्मणा उक्तम्,—“श्रूयतां, सन्धिमपि कथयामि; यस्य
अयमाद्यः श्लोकः,—

वृत्ते महति सङ्ग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः ।

स्थेयाभ्यां गृध्रचक्राभ्यां वाचा सन्धिः कृतः क्षणात्” ॥१॥

राजपुत्रा ऊचुः,—“कथमेतत् ?” । विष्णुशर्मा कथयति,—
“ततस्तेन राजहंसेनोक्तं,—“केन अस्मद्दुर्गे निक्षिप्तोऽग्निः ?
किं (ग) पारक्ष्येण, किं वा अस्मद्दुर्गवासिना केनचित् विपक्ष-
प्रयुक्तेन ?” । चक्रवाको वदति,—“देव ! भवतो (घ) निष्कारण-
बन्धुः (ङ) असौ मेघवर्णः सपरिवारो नात्र अवलोक्यते, तत्
मन्ये, तस्यैव (च) विचेष्टितमिदम्” । राजा क्षणं विचिन्त्य
आह,—“अस्ति तावदेवं, मम दुर्भाग्यमेतत् । तथा चोक्तम्,—

रक्षणातुक्कूलः पङ्क्त्यान्तर्गतगणविशेषः इत्यर्थः, परस्परमेतन्नमिति यावत्, तमव-
लम्ब्य विरचितः प्रयत्नोऽपि सन्धिरुच्यते उपचारात् । तथा च इतः प्रवृत्ति
सन्धिविषयिणी कथा प्रस्तूयताम् इत्यर्थः । [सम् + धा + भावे कि-प्रत्ययः] ।

(१) विग्रहकथानुसारिकथां प्रस्तौति, वृत्ते इति ।—निहता विनष्टा, सेना
बलं यथोक्तयोः, राज्ञोः वृषयोः, हिरण्यगर्भ-चित्रवर्णयोः इत्यर्थः, महति प्रवृत्ते,
सङ्ग्रामे युद्धे, वृत्ते अतीते, निष्पन्ने सति इत्यर्थः, स्थेयाभ्यां विवादनिर्णयेभ्यः,
मध्यस्थाभ्यामिति यावत्, (“स्थेयां विवादपक्षस्य निश्चेतरि पुरोहिते” इति
मेदिनी), गृध्रचक्राभ्यां दूरदृशि-सर्वजनाभ्यां सन्धिभ्यामित्यर्थः, क्षणात् स्वल्पकाले-
नैव, वाचा वाक्येन, सन्नवृपाय उपदेशं दत्त्वा इत्यर्थः, सन्धिः राज्ञोः परस्परं
मेघोसंस्थापनं, कृतः सम्पादितः ।

(ग) पारक्ष्येण—परकीयेण, विपक्षपक्षीयेण इत्यर्थः । विपक्षप्रयुक्तेन—प्रयु-
नियुक्तेन चरेण ।

(घ) निष्कारणबन्धुः,—अज्ञातमित्रम् अहेतुकमित्रं वा ।

(ङ) असौ—स इत्यर्थः, यद्वा,—दुर्गदाहादिरूपायास्तत्कीर्तयतामेतदपि
विद्यमानत्वात् तस्यापि प्रत्यक्षाव्यमाणावस्थोत्तनाद्यं असौ इति निर्देशः । सपरिवार-
—सपरिजनः ।

(च) विचेष्टितं—विरुद्धचेष्टितं, दुष्काव्यम् इत्यर्थः । [भावे क्तः] ।

अपराधः स दैवस्य न पुनर्मन्त्रिणामयम् ।

कार्यं सुघटितं यत्नात् दैवयोगाद्बिनश्यति ॥ २ ॥

मन्त्री ब्रूते,—“उक्तमेवैतत्,—

विषमां हि दशां प्राप्य दैवं गर्हयते नरः ।

आत्मनः कर्मदोषांस्तु नैव जानात्यपण्डितः ॥ ३ ॥

तत्र,—सुहृदां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति ।

स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठात् भ्रष्टो विनश्यति ॥ ४ ॥

राजाऽऽह,—“कथमेतत् ?” । मन्त्री कथयति,—

कूर्म-इत्यवयवकथा ।—

“अस्ति भगवदेशे (छ) फुल्लोत्पलाभिधानं सरः । तत्र

(२) स्वबुद्धिदोषादपतितस्थानिष्टस्य दैवमेव मूर्खं मत्वा आह, अपराध इति ।—यथात ब्रह्मायामेन, सुघटितं निश्चितत्वेन साधितम्, अपीति श्रेष्ठः, कार्यं सर्वं, दैवयोगात् विधिवशात्, दैवद्विपाकवशात् इति यावत्, विनश्यति ध्वसते, इति तत् सः कार्यध्वंसरूपः, अपराधः दोषः, दैवस्य विधेरिव, अयम् अपराधः, मन्त्रिणां वाक्यसङ्घासानां सचिवानां, पुनः न नैव, (“स्युरेवं तु पुनर्वैवेत्यवधारणवाचकाः” इत्यमरः) । न कोऽपि दैवस्य हाराणि पिधातुं शक्नोति इति भावः ।

(३) निर्वैधस्य प्रकृतिमाह, विषमामिति ।—अपण्डितः मूढः, नरः मानवः, विषमां विपरीतां, श्लेशबहुलामित्यर्थः, दशान् अवस्थां, प्राप्य लब्ध्वा, दैवं हि विधिमेव, भाग्यमिति यावत्, गर्हयते मन्दति, तु किन्तु, आत्मनः स्वस्य, कर्मदोषान् सकार्यजनितपराधान्, मन्दबुद्धिजनितकार्यापाटवानित्यर्थः, नैव जानाति न हि पश्यते, न स्वीकरोतीत्यर्थः, त्वन्तु तद्यविधौ मूर्ख इति भावः ।

(४) मित्रवाक्याग्रहणस्य परिणाममाह, सुहृदामिति ।—यः जनः, हित-कामानां हितैषिणां, सुहृदां बन्धूनां, वाक्यं वचनं, न अभिनन्दति न समद्विषते, समादरपूर्वकं न शृणोतीत्यर्थः, स दुर्बुद्धिः मन्दमतिः, काष्ठात् दारुखण्डात्, ईशायां नोयमानादित्यर्थः, भ्रष्टः पतितः, खलित इति यावत्, कूर्मः कच्छपः इव, विनश्यति म्रियते, अवज्ञात-मित्र-हितोपदेशस्य अवश्यभाविनी विपत्ति-रिति भावः ।

(छ) फुल्लोत्पलाभिधानं—फुल्लानि विकसितानि, [“विं फला विस्तरणे”

(ज) चिरात् सङ्कटविकटनामानौ हंसौ निवसतः । तयोर्मैत्रं कम्बुग्रीवनामा कूर्मश्च प्रतिवसति । अथैकदा (भू) धीवरैरागल्य तत्रोक्तं यत्,—“अत्र अस्माभिरयं (ज) उषित्वा प्रातर्मत्स्यकूर्मादयो व्यापादयितव्याः” । तदाकर्ण्य कूर्मो हंसावाह,—“सुहृदौ! श्रुतोऽयं धीवरास्त्रापः ? अधुना किं मया कर्तव्यम् ?” । हंसो आहृतुः,—“ज्ञायतां पुनः (ट) तावत्, पश्चात् यदुचितं तत् कर्तव्यम्” । कूर्मो ब्रूते,—(ठ) “मैवम् ; यतो (ड) दृष्टव्यतिकरोऽहमत्र । तथा चोक्तम्,—

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा ।

द्वावेतौ सुखमेधेते यज्ञविष्णो विनश्यति” ॥ ५ ॥

तावाहृतुः,—“कथमेतत् ?” । कूर्मः कथयति,—

इति धातोः “जीतः क्तः” (३।२।१८७ पा०) इति क्तः, “बादितश्च” (अ२।१६ पा०) इति इडभावः “ति च” (७।४।८६ पा०) इति अकारस्य उकारः, “अनुपसर्गात् फुल्लचोव—” (८।२।५५ पा०) इति निपातनात् निष्ठा-तस्य लत्वम् । यद्वा,—“फुल्ल विक्रमने” इति धातोः पचाद्यच्, उत्पलानि पद्मानि यस्मिन् तत् अभिधानं नाम यस्य तादृशम् ।

(ज) चिरात्—बहुकालावधि ।

(भू) धीवरैः,—कैवर्तैः, मत्स्योपजीविभिरित्यर्थः ।

(ज) उषित्वा—अवस्थाय । [वस + क्त्वा “वसतिक्षुधोरिट्” (अ२।१२ पा०) इति इट्] ।

(ट) तावत्—साकाल्येन, विशेषेणेत्यर्थः । (“यावत्तावच्च साकाल्येऽधीमानेऽवधारणे” इत्यमरः) ।

(ठ) मैवम्—एवं पश्चात् यदुचितं तत् कर्तव्यमित्येवंरूपं न कथय इत्यर्थः ।

(ड) दृष्टव्यतिकरः,—दृष्टः प्रत्यचीकृतः, व्यतिकरः व्यसनं देन च तथोक्तः, (“अथ व्यतिकरः पुंसि व्यसनव्यतिषङ्गयोः” इति मेदिनी) अङ्गत्वरसि मत्स्यवयस्य या विपत् घटिता सा मया प्रत्यचीकृतेत्यर्थः ।

(५) व्यतिकरं दर्शयति, अनागतेति ।—अनागतस्य अनुपस्थितस्य, आविर्गोऽनिष्टस्येत्यर्थः, विधाता प्रतिविधानकर्ता, तथा प्रत्युत्पन्नमतिश्च प्रत्युत्पन्न

* मत्स्यत्रयकथा ।—

“पुरा एतस्मिन् एव सरसि एवंविधेषु एव धीवरेषु उपस्थितेषु मत्स्यत्रयेण (ढ) आलोचितम् । तत्र अनागतविधाता नाम एको (ण) मत्स्यः । तेनोक्तम्,—“अहं तावत् जलाशयान्तरं गच्छामि” इत्युक्त्वा स क्रदान्तरं गतः । अपरेण प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाभिहितं,—(त) “भविष्यदर्थे प्रमाणाभावात् कुत्र मया गन्तव्यम् ? तदुत्पन्ने कार्ये यथाकार्यमनुष्ठेयम् । तथा चोक्तम्,—

उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान् ।

वणिजो भाव्यया जारः प्रत्यक्षे निष्कृतो यथा” ॥ ६ ॥

प्रतिभान्विता, तत्कालोचिता इत्यर्थः, कार्यमाधनानुगृह्णा इति यावत्, मतिः बुद्धिर्यस्य सः, एतौ द्वौ, मत्स्यौ इति शेषः, सुखं सुखेन, एधेते वृद्धेते, कुशलेन वर्त्तते इत्यर्थः, यज्ञविष्यः यत् भविष्यन् अवश्यभावं तत् भविष्यत्येव इति ज्ञानं यस्य सः [सु+शब्द “लुट् सञ्ज्ञा” (३।३।१४ पा०) इति शब्द-लुट् प्रश्नोदरादित्वात् तकार-लोपश्च] यज्ञविष्याऽऽख्यः देवनिर्भरशीलः तृतीयः नक्ष इत्यर्थः, विनश्यति स्थिते । (भारतशान्तिपूर्व्यापहर्षन्यायज्ञानप्रकरणे “श्रद्धाविष्यः” इत्यत्र “दीर्घमूढः” इति पाठान्तरम् । श्लोकोऽयं बृहद्वाणकेऽपि दृश्यते) ।

(ढ) आलोचितं—विवेचितं, परस्परं जल्पितमित्यर्थः ।

(ण) मत्स्यः, आसीदिति शेषः ।

(त) भविष्यदर्थे प्रमाणाभावात्—भविष्यन् भावी, बीडः विषयः तस्मिन्, प्रमाणस्य प्रमातुः, यः किं भविष्यति इत्यस्य निःसंशयं प्रमाणकर्तुरित्यर्थः, अभावात् । उत्पन्ने—उपस्थिते । यथाकार्यं—कार्यानुसारेण ।

(६) प्रत्युत्पन्नमतेः प्रशंसामाह, उत्पन्नमिति ।—यस्तु जनः, उत्पन्नान् उपस्थितान्, आपदं विपत्तिं, समाधत्ते प्रतिकरोति, स एव बुद्धिमान् प्राज्ञः, यथा येन प्रकारेण, यथा बुद्ध्या इत्यर्थः, वणिजः कस्यचित् साधवाहस्य, पण्णजीवस्य इति यावत्, भाव्यया स्त्रिया, प्रत्यक्षे पत्युः चङ्गोचरे एव, जारः उपपत्तिः, निष्ठुवः

* कथेयं महाभारतीयशान्तिपूर्व्यापहर्षप्रकरणे कन्दोनिबद्धा ।

यज्ञविध्यः पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । प्रत्युत्पन्नमतिः
कथयति,—

वणिग्-वणिग्बधू-भृत्यकथा ।—

“अस्ति विक्रमपुरे समुद्रदत्तो नाम वणिक् । तस्य रत्न-
प्रभानाम्नी बधूः केनापि स्वसेवकेन समं सर्वदा रमते । यतः,—

न स्त्रीणामप्रियः कश्चित् प्रियो वाऽपि न विद्यते ।

गावस्तृणमिवारण्ये प्रार्थयन्ते नवं नवम् ॥ ७ ॥

अथैकदा सा रत्नप्रभा तस्य सेवकस्य मुखे चुम्बनं ददती
समुद्रदत्तेन आलोकिता । ततः सा (थ) बन्धकी सत्वरं भर्तुः
समोपमुपगम्य आह,—“नाथ ! एतस्य सेवकस्य महती
(द) निर्वृतिः, यतोऽयं (घ) युष्मदर्थं नोद्यमानं कर्पूरम्
(न) अश्नाति ; कर्पूरगन्धः प्रत्यक्षोऽस्य मुखे मया आघ्रातः” ।

तथा चोक्तम्,—

अपलापितः, गोपित इत्यर्थः, नाथं मे जारः इति स्वामी विश्वासतः इति यावत् ।

(“अपलापस्तु निङ्गवः” इत्यमरः)

(७) नेति ।—स्त्रीणां रमणीयान्, अप्रियः अनभिमतः, कश्चित् कोऽपि
पुरुषः, न, वा अथवा, प्रियोऽपि अनुरागभाजनमपि, कश्चित् न विद्यते न शक्तिः
तथा हि गावः सौरभेयः, अरण्ये वने, दृष्टामिव शस्त्रं यथा, नवं नवं नित्यमभिनवं,
पुरुषमिति शेषः, प्रार्थयन्ते वाञ्छन्ति, गावो यथा नित्यं नूतनं दृष्टमभिलषन्ति,
तथा स्त्रियोऽपि प्रत्यहं पुरुषान्तरं कामयन्ते इत्यर्थः, “स्त्रियाश्चरितं पुरुषस्य भाग्यं
देवा न जानन्ति कुतो मनुष्याः” इति भावः ।

(थ) बन्धकी—कुलटा ।

(द) निर्वृतिः,—सुखं, सुखाभिलाषः इत्यर्थः । (“निर्वृतिः स्वस्थितावर्त
गमने च सुखे स्त्रियाम्” इति मेदिनी) ।

(घ) युष्मदर्थे—त्वन्निमित्तम् । नोद्यमानं—प्राप्यमाणम्, आपणादानीय-
मानमित्यर्थः, (“युष्मदर्थं नोद्यमानम्” इत्यत्र “चौरिकां कृत्वा” इति
पाठान्तरम्) ।

(न) अश्नाति—भक्षयति ।

ततः प्रातर्जालेन बद्धः प्रत्युत्पन्नमतिः (भ) सृतवदात्मानं
सन्दर्श्य स्थितः । ततो जानात् (म) अपसारितः स्थलादुत्प्लुत्य
गभोरं नोरं प्रविष्टः । यद्भविष्यच्च धीवरैः प्राप्तो व्यापादितः ।
अतोऽहं ब्रवीमि,—‘अनागतविधाता’ इत्यादि ।

[इति मत्स्यत्रयकथा] ।

तत् यथाऽहमन्यं क्रुद्धं प्राप्नोमि, तदद्य विधीयताम्” ।
हंसावाहृतः,—“जलाशयान्तरे प्राप्ते तव कुशलं, स्थले गच्छ-
तस्ते (य) को विधिः ?” । कूर्मो ब्रूते,—“यथाऽहं भवद्भ्यां मह
(र) आकाशवर्त्मना यामि स उपायो विधीयताम्” । हंसौ
ब्रूतः,—“कथमुपायः सम्भवति ?” । कच्छपो वदति,—“युवाभ्यां
चञ्चुष्टं काष्ठखण्डमेकं मया सुखेन (ल) अवलम्बितव्यम्,
अतो भवतोः (व) पक्षबलेन मयाऽपि सुखेन गन्तव्यम्” । हंसौ
ब्रूतः,—“सम्भवति एष उपायः । किन्तु,—

उपायं चिन्तयन् प्राज्ञस्त्वपायमपि चिन्तयेत् ।

पश्यतो वक्मूर्खस्य नकुलैर्भक्षिताः सुताः” ॥१०॥

कूर्मः पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । हंसौ कथयतः,—

गदो रोगः यन्मातृ सः औषधं, किं कथं, न पीयते ? न सेव्यते ?, जमेरिव
शेषः, भाग्ये यदस्ति तत् भविष्यत्येव, तदद्यमुद्देगी निष्पृथीजनः एव निश्चि-
चिन्ता परिहरणीयेति भावः ।

(भ) सृतवत्—गतप्राणमिव ।

(म) अपसारितः,—उन्मीचितः । उत्प्लुत्य—उत्प्लुक्त्य ।

(य) को विधिः ?—किं विधानम् ? का व्यवस्था इत्यर्थः, जलचरस्य ते
स्थले रक्षायाः क उपायो भविष्यतीति निष्कर्षः ।

(र) आकाशवर्त्मना—नभोमार्गेण ।

(ल) अवलम्बितव्यं—यद्दीप्तव्यमित्यर्थः ।

(व) पक्षबलेन—पक्षसाहाय्येन ।

(१०) उपायमिति ।—प्राज्ञः बुद्धिमान् जनः, उपायं साधनं, चिन्तयन्

वक्-सर्प-नकुलकथा ।—

“अस्ति (श) उत्तरापथे गृध्रकूटो नाम पर्वतः । तत्रैव
(ष) रेवातीरे न्यग्रोधपादपे वका निवसन्ति । तस्य वटस्य
(स) अधस्तात् विवरे सर्पस्तिष्ठति, स च वकानां बाला-
पत्यानि खादति । ततः शोकार्त्तानां वकानां विलापं श्रुत्वा केन-
चित् वृद्धवकेन उक्तं,—“भोः ! (ह) एवं कुरुत यूयं,—मत्स्यान्
प्राणीय नकुलविवरादारभ्य सर्पविवरं यावत् (क) पङ्क्तिक्रमेण
एकैकशो विकिरतः ; ततः (ख) तदाहारवर्त्मना नकुलैरागत्य
सर्पः द्रष्टव्यः, (ग) स्वभावहेषात् व्यापादयितव्यश्च” । तथा
अनुष्ठितं सति तद्वृत्तम् । अथ नकुलैर्हृद्योपरि पक्षिशावकानां

उद्गाढयन्, अपायं विपदमपि, अनन्तरभाव्यमित्यर्थः, चिन्तयेत् आध्यात, प्राशङ्केत इत्यर्थः, एतत्काव्यसम्पादने अयमुपायो भवितुमर्हति, परन्तु अत्र ईदृशी विपत्तिः सङ्गटेत चेत् कन्तव्य प्रतीकारः ? एवं चिन्ताऽपि काव्या इति समुदितायः, तु-शब्दोऽत्र पूरणाशङ्कः ; तथा हि, नकुलैः वधुभिः, सर्पैरञ्जित-
विशेषैरित्यर्थः, पश्यतः प्रत्यक्षमवलोकयतः, वकमुखस्य मुखस्य वक्तव्य, पश्यन्तं
वक्त्रम् अनादृत्येत्यर्थः, [“वल्ली चानादरे” (२३३८ पा०) इति वक्ता] अपाय-
चिन्तामकुर्वत इति यावत्, सुताः तनयाः, भविताः खादिताः ।

(श) उत्तरापथे—कुश्चिन्नायुत्तरप्रदेशे । गृध्रकूटः,—गृध्रः पक्षिविशेषः,
कूटे शिखरे यस्य सः ।

(ष) रेवातीरे—नर्मदातटे । न्यग्रोधपादपे—वटवृक्षे ।

(स) अधस्तात्—तल्लक्ष्णे । विवरे—गर्ते । बालापत्यानि—शिशुसन्तानान् ।

(ह) एवं—वक्ष्यमाणं समोपदेशानुयायि कथं ।

(क) पङ्क्तिक्रमेण—श्रेणीवद्धरूपेण, अविविक्तभावेन इत्यर्थः । विकिरत—
विक्षिपत, स्थापयत इत्यर्थः ।

(ख) तदाहारवर्त्मना—तेषां मत्स्यानाम्, आहाराय भोजनाय, तान्
भोक्तृमित्यर्थः, यत् वक्तुं मार्गः तेन, यस्मिन् मार्गे मत्स्या विक्षिप्ताः, तं
मार्गमनुसृत्येत्यर्थः ।

(ग) स्वभावहेषात्—सङ्गजवैरात्, अहिनकुक्षधीः नैसर्गिकशत्रुभावादित्यर्थः ।

(घ) रावः श्रुतः । पश्चात् तैः वृक्षमारुह्य वकशावकाः खादिताः ।
अत आवां ब्रूवः,—‘उपायं चिन्तयन्’ इत्यादि ।

[इति वक्-सर्प-नकुलकथा] ।

आवाभ्यां नीयमानं त्वां दृष्ट्वा लोकैः किञ्चित् वक्तव्यमेव ।
तदाकर्ण्य यदि त्वमुत्तरं ददासि, तदा तव मरणं भविष्यति ।
तत् सर्वथा अत्रैव स्वीयताम्” । कूर्मो वदति,—“तत् किम-
हमन्नः ? नाहमुत्तरं दास्यामि ; न किमपि मया वक्तव्यम्” ।
तत एवमनुष्ठिते सति आकाशे नीयमानं तं कूर्ममालोक्य सर्वे
गोरक्षकाः पश्चात् धावन्ति, वदन्ति च,—“अहो महदाश्चर्यम् !!
पक्षिभ्यां कूर्मः (ङ) समुह्यते” । तत्र कश्चिदाह,—“यदि
अयं कूर्मः पतति, तदा अत्रैव पक्षा खादितव्यः” । कोऽपि
(च) निगदति,—“गृहं नेतव्यः” । कश्चित् वदति,—“सरसः
समीपे पक्षा भक्षितव्यः” । तत् (छ) परुषवचनमाकर्ण्य
क्रोधात् (ज) विस्मृतसंस्कारः कूर्मोऽवदत्,—“युष्माभिर्भक्ष
भक्षितव्यम्” इति वदन्नेव काष्ठात् पतितः (झ) गोरक्षकै-
र्व्यापादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि,—‘सुहृदां हितकामानाम्’
इत्यादि” ।

[इति कूर्म-हंसद्वयकथा] ।

- (घ) रावः,—कूजनं, शब्द इत्यर्थः ।
(ङ) समुह्यते—सन्नीयते, आकाशवस्त्राणां अभीष्टस्थानं प्राप्यते इत्यर्थः ।
[सम् + वह + क्त्वाणि लट्-ते] ।
(च) निगदति—वदति ।
(छ) परुषवचनं—कर्कशवाक्यम् ।
(ज) विस्मृतसंस्कारः,—विस्मृतः स्मरणवद्भिर्भूतः, संस्कारः न मया किञ्चित्
प्रकृत्यमिति दृढज्ञानविशेषः येन स तथोक्तः ।
(झ) गोरक्षकैः,—गोपालैः ।

अथ प्रणिधिर्वकस्तत्राऽऽगत्योवाच,—“देव ! प्रागेव मया निवेदितं, दुर्गशोधनं प्रतिक्षणं कर्तव्यमिति । तच्च युष्माभिर्न कृतम्, अतः (ज) तदनवधानस्य फलमिदमनुभूतम् । दुर्गदाहस्य इयं मेघवर्णनाम्ना वायसेन गृध्रप्रयुक्तेन कृतः” । राजा तिस्रस्याऽऽह,—

“प्रण्यादुपकाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु ।

स सुप्त इव वृक्षाग्रात् पतितः प्रतिबुध्यते” ॥ ११ ॥

अथ प्रणिधिरुवाच,—“इतो दुर्गदाहं विधाय यदा गतो मेघवर्णः, तदा चित्रवर्णेन (ट) प्रमादितेन उक्तम्—“अयं मेघवर्णोऽत्र कर्पूरद्वीपराज्ये अभिषिच्यताम् । तथा चोक्तम्,—

कृतकृत्यस्य भृत्यस्य कृतं नैव प्रणाशयेत् ।

फलेन मनसा वाचा दृष्ट्या चैनं प्रहर्षयेत् ॥ १२ ॥ इति” ।

(ज) तदनवधानस्य—तस्य प्रसादस्य ।

(११) प्रण्यादिति ।—यः जनः, प्रण्यात् सौहार्दात्, कपटताप्रयुक्तादित्यर्थः, वृक्षाग्रात् हिताचरणाद्वा, यद्वा,—शत्रुणा सह प्रणयं संश्लेष्य शत्रोरुपकारं कृत्वा वा इत्यर्थः, शत्रुषु वैरिषु, विश्वसिति प्रत्येति, मनायं वस्तुरिति दृढं जानातोत्यर्थः, स जनः, वृक्षाग्रात् वृक्षोपरिभागान्, वृक्षाग्रमारुह्य इत्यर्थः, सुप्तः निद्रितः सन्, पतित इव पट इव, प्रतिबुध्यते जागर्ति, चैतन्यं लभते इत्यर्थः, विपन्नः सन् तं जानातीति शत्रुः, यः वृक्षशाखानधिष्ठाय स्वस्थः निद्राति, स यथा निपत्य आहतः स्वस्थ निद्रितो विजानाति, तथा यः शत्रोरुपकारं कृत्वा तेन सौहार्दं कृत्वा वा तं निवृत्त्य निश्चिन्तो वर्तते, स तेन प्रवर्चितः सन् आत्मनो दुर्द्विषमं विज्ञातुं शक्नोतीति समुदितायः । (“योऽरिणा सह सन्धाय सुखं रूपति विश्वसन् । स त्वासे प्रसुप्तो वा पतितः प्रतिबुध्यते” ॥ इति महाभारतशान्तिपर्वोपाख्यान-वृक्षोक्तपाठः) ।

(ट) प्रमादितेन—प्रसादः अनयदः सज्जातः अस्य तेन, जातानुपदेश, सज्जातसन्तोषेणेत्यर्थः । [तारकादित्वादितच्] । यद्वा,—प्रसादितेन—अनुगृहि-
तेन, तेष्वर्थं कर्तुं कसन्तोषितेनेत्यर्थः ।

(१२) कृतकृत्यः सेवकः संस्था पुरस्कायं इत्याह, कृतेति ।—कृतं संपादितं,

चक्रवाकी ब्रूते,—“देव ! श्रुतं यत् प्रणिधिः कथयति ?” ।
 राजा आह,—“ततस्ततः” । प्रणिधिरुवाच,—“ततः प्रधान-
 मन्त्रिणा गृध्रेण उक्तं,—“देव ! न इदमुचितं, (ठ) प्रसादा-
 न्तरं किमपि क्रियताम् । यतः,—

अधिकारेण यो युक्तः कथं तस्यास्ति खण्डनम् ।

नीचेपपङ्कतं राजन् ! बालुकास्त्रिव सुद्रितम् ॥ १३ ॥

कृत्यं स्वकर्तव्यं येन तस्य, संसाधितस्त्रियोगस्य इत्यर्थः, भृत्यस्य अनुजीविनः,
 कृतं साधितं कर्म, नैव प्रणाशयेत् नैव अपलपेत्, नेदं कार्यमनेन सत्पादित-
 मित्याद्युक्ता तस्य कार्ये नैव अस्वीकुर्यादित्यर्थः, दानमानादिकमकृत्वा नैव विफलो-
 कुर्यात् इत्यर्थो वा ; प्रत्युत फलेन पुरस्कारादिप्रदानेन, मनसा हृदयतन्तोषसा-
 प्रकटनेन, वाचा मधुरवाक्येन, दृष्ट्या प्रसन्नावलोकनेन च, एनं भृत्यं, प्रहर्षयेत्
 सन्तोषयेत्, सर्वथा तस्य चित्ततोषं विदध्यादित्यर्थः ; अन्यथा न पुनरन्विष्टुं
 प्रवर्त्तेत इति भावः ।

(ठ) प्रसादान्तरम्—अन्यविधमनुग्रहम्, अन्यं पुरस्कारम् इत्यर्थः ।

(१३) अधिकारानुरूपः पुरस्कारः दातव्यः, न त्वनुरूपः इति दर्शयति,
 अधिकारेणेति ।—यः जनः, अधिकारेण शासनादि कर्मणा, युक्तः नियुक्तः, यस्मिन्
 यस्य कार्यस्य भारोऽस्तीत्यर्थः, तस्य जनस्य, कथं केन प्रकारेण, खण्डनं स्वकार्यस्य
 विध्वंसनम्, अकरणमित्यर्थः, तस्य कार्यस्य असत्पादनमिति यावत्, अस्ति ? भवति ?
 न कदापि युज्यते इत्यर्थः, यो यस्मिन् कार्ये नियुक्तः, तेन तत् कार्यमवश्यमेव
 सत्पादनीयं, न तदर्थं स पुरस्कारमर्हति, तथाऽप्यनुजीविनामुत्साहवर्द्धनायै ददाति
 चेत् पदानुरूपमेव देयं, न तु तदधिकं, यतः सामान्यभृत्येषु अधिकदानं दोषाद्यैव
 भवति इति भावः ; तथा हि, हे राजन् ! नीचेषु नीचवंशेषु, क्षुद्रभृत्येषु इति यावत्,
 विषये, उपपङ्कतमुपकारः, येन दानेन तस्य महानुपकारो भवति एवम्भूतं राज-
 पदादिदानरूपमिति भावः ; बालुकासु सिकतासु, सुद्रितमङ्कितमिव, भवतीति
 शेषः, बालुकासु रेखापातो यथा अचिरेणैव विलुप्तो भवति, तथा नीचेषु उपकारी-
 ऽपि क्षुद्राशयत्वेन उपकारविक्षरणात् निष्फलो भवतीत्यर्थः, नीचभृत्योऽयं यावत्
 कदापि राजपददानेन नोपकर्तव्यः, स्वभावतः एव नीचाशयत्वादिति भावः ;
 यथा,—यः अधिकारेण स्वामित्वभृत्यत्वादिदृष्टेण, युक्तः, तस्य खण्डनं निरस्यं,

महताम् (ड) आस्यदे नीचः कदाऽपि न कर्त्तव्यः । तथा चोक्तम्,—

नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति ।

मूषिको व्याघ्रतां प्राप्य सुनिं हन्तुं गतो यथा” ॥ १४ ॥
चित्रवर्णः पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । गृध्रः कथयति,—

• मुनि-मूषिकशावककथा ।—

“अस्ति (ढ) गौतमारण्ये महातपा नाम मुनिः । तेन आश्रमसन्निधाने मूषिकशावकः काकमुखाङ्गुष्ठो दृष्टः । ततो दयायुक्तेन तेन मुनिना (ण) नीवारकणैः संवर्द्धितः । तच्च मूषिकं खादितुमनुधावन् विडालो मुनिना दृष्टः । पश्चात्

स्वाधिकारविभंश इति यावत्, कथम् अस्ति ? स्वामी स्वाधिकारे भृत्यश्च भृत्याधिकारे एव स्थास्यति, स्वाधिकारखण्डनं कदापि न युज्यते, अतः भृत्योऽयं भृत्याधिकारे एव स्थापयितव्यः, न राज्याधिकारे इति भावः ।

(ड) आस्यदे—पदे, अधिकारे इति यावत्, (“आस्यदं पदकृत्ययोः” इति मेदिनी) ।

(१४) अपात्रे महादानस्य अनिष्टकरत्वं बोधयितुं भारतशान्तिपर्वोत्तराज-
पर्वव्याख्यानप्रकरणोक्तं श्लोकं प्रमाणयति, नीच इति ।—नीचः चुद्रो जनः, श्लाघ्य-
पदम् उच्चाधिकारं, श्लाघ्यस्य प्रशंस्य, महतः इत्यर्थः, पदम् अधिकारमित्यर्थो वा,
प्राप्य खड्गा, स्वामिनं प्रभुं, यत्प्रसादेन श्लाघ्यपदं प्राप्तवान् तमेव इत्यर्थः, हन्तुं
नाशयितुम्, इच्छति काङ्क्षति । तच्च दृष्टान्तमाह,—यथा यद्वत्, मूषिकः कश्चित्
चुद्रः चन्दुरः, व्याघ्रतां शार्दूलत्वं, प्राप्य आसाद्य, सुनिं स्वभाग्यविधातारं तापसं,
हन्तुं विनाशयितुं, गतः उद्यतः इत्यर्थः, आसीदिति शेषः, नीचाः प्रायश एव
कृतघ्ना भवन्ति, अतो नायं नीचो वाग्रजः राजपदमर्हतीति भावः ।

(ढ) गौतमारण्ये—गौतमस्य मुनेः तपोवने ।

(ण) नीवारकणैः,—नीवाराः लघ्वान्विशेषाः, तेषां चुद्रांशैः । (“कणो
धान्यांशश्लेषयोः” इति मेदिनी) ।

* कथेयं महाभारतोद्योगशान्तिपर्वोत्तराजपर्वव्याख्यानप्रकरणाय विष्णुशर्मा
किञ्चित् परिवर्त्य सङ्गृहीता ।

तपःप्रभावात् तेन मुनिना स मूषिको बलिष्ठो विडालः कृतः ।
 स विडालः कुङ्कुरात् विभेति । ततोऽसौ कुङ्कुरः कृतः ।
 कुङ्कुरस्य व्याघ्रात् स इन्द्रयम् । तदनन्तरं स व्याघ्रः कृतः ।
 अथ तं व्याघ्रमपि मुनिः (त) मूषिकनिर्विशेषं पश्यति । अतः
 सर्वे तत्रस्था जनास्तं व्याघ्रं दृष्ट्वा वदन्ति,—“अनेन मुनिना
 मूषिकोऽयं व्याघ्रं नीतः” । एतत् श्रुत्वा स व्याघ्रः
 (य) सव्यथोऽचिन्तयत्,—“यावदनेन मुनिना जीवितव्यं,
 तावदिदं मम (द) स्वरूपाख्यानम् (ध) अकीर्तिकरं (न) न
 पलायिष्यते” इति समालोच्य मुनिं हन्तुं समुद्यतः । मुनिस्तस्य
 (प) चिकीर्षितं ज्ञात्वा “पुनर्मूषिको भव” इत्युक्त्वा मूषिक
 एव कृतः । अतोऽहं ब्रवीमि,—“नौचः श्लाघ्यपदं प्राप्य” इत्यादि ।

[इति मुनि मूषिकशावककथा ।]

अपरञ्च देव ! (फ) सुकरमिदमिति न मन्तव्यम् । शृणु,—
 भक्षयित्वा बहून् मत्स्यानुत्तमाधममध्यमान् ।
 अतिलौच्यात् वको मूर्खो मृतः कर्कटसङ्गहात्” ॥१५॥

(त) मूषिकनिर्विशेषं—मूषिकात् नास्ति विशेषः आतिशयं यस्मिन् तद-
 यथा तथा, मूषिकतुल्यमित्यर्थः ।

(य) सव्यथः,—दुःखितान्तःकरणः ।

(द) स्वरूपाख्यानं—मूषिकोऽयमिति यथाश्रुतान्तकीर्तनम् ।

(ध) अकीर्तिकरम्—अयशस्करम् ।

(न) न पलायिष्यते—न अपयास्यति । समालोच्य—विनिच्य ।

(प) चिकीर्षितं—कर्तुमिष्टम्, अभिप्रायम् इत्यर्थः । [कृ + सृ + क्तः] ।

(फ) सुकरं—सुखसाध्यम्, अनायासेनैव संप्राप्तमित्यर्थः । इदं—हिरण्यममलं
 राज्यापहरणं कृत्वा वायसाय तत्समपण्यरूपं कार्थ्यमित्यर्थः ।

(१५) असुकरत्वं बोधयितुं वककुलौरकयोरुपाख्यानमवतारयति, भक्षयि-
 त्वेति ।—मूर्खो निर्बोधः, वकः पक्षिविशेषः, उत्तमाधममध्यमान् इन्द्रज्यमन्त्रा-
 कृतीन्, बहून् अनेकविधान्, मत्स्यान् मीनान्, भक्षयित्वा खादित्वा, अतिलौच्यात्

चित्रवर्णः पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । मन्त्रौ कथयति,—

वृद्धवक्त्र-मत्स्य-कुलीरककथा ।—

“अस्ति (व) मालवविषये पद्मगर्भाभिधानं सरः । तत्रैको वृद्धवक्त्रः सामर्थ्यहीनः (भ) उद्दिग्गमिवात्मानं दर्शयित्वा स्थितः । स च केनचित् (म) कुलीरकेण दूरादेव दृष्टः पृष्ठश्च,—“किमिति भवान् अत्र आहारपरित्यागेन तिष्ठति ?” । वक्त्रेन उक्तं,—“मत्स्या मम (य) जीवनहेतवः ; मत्स्याश्च अत्र अवश्यमेव कैवर्त्तैर्यापादयितव्या इति (र) नगरोपान्ते कैवर्त्तालापः आकर्णितः । तत् (ल) इतो वर्त्तनाभावादेव अस्मन्मरणमुपस्थितमिति ज्ञात्वा आहारेऽपि अनादरः कृतः” । ततः सर्वैर्मत्स्यैरालोचितम्,—“इह समये तावदुपकारक एवायमुपलक्ष्यते अस्माकम् । तदयमेव यथाकर्त्तव्यं पृच्छ्यताम् । तथा चोक्तम्,—

भतिलोभात्, कर्कटसङ्ग्रहात् कुलीरकं सङ्गृह्य, श्रीमातिशयेन परिणाममविधिच्येव कर्कटकं तीक्ष्णदंष्ट्रं गृहीत्वैत्यर्थः, [ल्यब्लोपे प्रसौ] सतः पक्षत्वं गतः, राजहंसस्य राज्ये त्वया लोभो न कर्त्तव्य एव, कृते तु तवापि कर्कटकस्य दशा भविष्यति इति भावः । (“भतिलोभात् वक्त्रः पश्चात् सतः कर्कटकसङ्ग्रहात्” इत्युत्तरादेष पाठान्तरम्) ।

(व) मालवविषये—मालवदेशे ।

(भ) उद्दिग्गमिव—आकुलचित्तमिव, कपटेन दुःखितमिवेत्यर्थः ।

(म) कुलीरकेण—कर्कटकेन । (“स्यात् कुलीरः कर्कटकः” इत्यमरः) ।

पृष्ठः,—जिज्ञासितः । [प्रच्छ + क्तः] ।

(य) जीवनहेतवः,—प्राणरक्षणनिमित्तानि, मत्स्यान् भक्षयित्वैव यत् जीवनोत्पत्त्यर्थः ।

(र) नगरोपान्ते—नगरप्रान्ते । कैवर्त्तालापः,—धीवराणां परस्परकथनम् ।

(ल) इतो,—अस्मिन् स्थाने । [समस्यस्तसिल्] इतः,—अस्मादारभ्य इत्यर्थो वा । [पक्षस्यास्तसिल्] । वर्त्तनाभावात्—जीविकाविरहात्, मत्स्याभावादित्यर्थः । (“यात्रोपो जीविका वातां वृत्तिवर्त्तेन जीवने” इत्यमरः) ।

उपकर्त्ताऽरिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा ।

उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः” ॥ १६ ॥

मत्स्या ऊचुः,—“भो वक ! कोऽत्र अस्माकं रक्षणोपायः ?”
वको ब्रूते,—“अस्ति रक्षणोपायो जलाशयान्तराश्रयणम् ।
तत्राहमेकैकशो युष्मान् नयामि” । मत्स्यैरपि भयादुत्तमम्,—
“एवमस्तु” इति । ततोऽसौ दुष्टवक्त्रस्तान् मत्स्यान् एकैकशो
नीत्वा कस्मिंश्चिद्देशे स्थादित्वा पुनरागत्य वदति,—“ते मया
जलाशयान्तरं स्थापिताः” । अनन्तरं कुलीरस्तमुवाच,—“भो
वक ! मामपि तत्र नय” । ततो वकोऽपि (वं) अपूर्वकुलीर-
मांसार्थी सादरं तं नीत्वा स्थले धृतवान् । कुलीरोऽपि
(श) मत्स्यकण्टकाकीर्णां भूमिं दृष्ट्वा अचिन्तयत्,—“हा

(१६) ननु मित्रमेव सन्धेयं नामित्रमिति हि नीतिः, तत् कथं सहजा-
मित्रमस्माकमयं वकः सन्धाय प्रष्टव्यः ? इत्याशङ्क्याऽऽह, उपकर्त्तेति ।—उपकर्त्ता
उपकारकैव, अरिणा शत्रुणा, अपीति शेषः, सन्धिः मेलनं, कर्त्तव्य इति शेषः,
यावज्जीवमनपायिन्याः बलीयस्याः कृत्स्नमित्रताया उत्पन्नत्वादिति भावः ; अप-
कारिणा अहितकारिणा, मित्रेण सुहृदाऽपि, न, कर्त्तव्य इति शेषः, यावज्जीवमन-
पायिन्याः गरीयस्याः कृत्स्नमशत्रुताया उत्पन्नत्वात् इति भावः ; ननु अरिणा सन्धिः
मित्रेण विरोधः इति कथम् ? इत्याशङ्क्य क्रियया तदैपरीत्याददीय इत्याह, हि
यतः, एतयोः मित्रामित्रयोः, उपकारापकारौ हिताहिताचरणे एव, लक्षणं चिह्नं,
स्वरूपमिति यावत्, लक्ष्यं द्रष्टव्यम् । उपकारेण अपकारेण च मित्रामित्रौ परिज्ञायेते
इत्यर्थः, उपकर्त्तेव मित्रम् अपकर्त्तेव शत्रुरिति निष्कर्षः । अस्मदुपकारकत्वात् सहज-
शत्रुत्वेऽपि कृत्स्नमित्रमयं सन्धेय एव इति भावः । श्लोकोऽयं शिशुपालवधस-
रथ सर्गेऽपि दृश्यते ।

(व) अपूर्वकुलीरमांसार्थी—अपूर्वम् अनास्तादितपूर्वम्, यत् कुलीरमांसं कर्कटा-
मिषं, तददृश्यते अभिलषति यः स तथोक्तः । सादरं—सायहम् । स्थले—भूमौ,
यत्र मत्स्यान् निक्षिप्य स्थादितवान् तत्र प्रदेशे इत्यर्थः, जलचरस्य स्थले विस्तारभावात्
इति भावः । धृतवान्—स्थापितवान् ।

(श) मत्स्यकण्टकाकीर्णां—मौनास्थिसङ्कुलाम् ।

इतोऽस्मि मन्दभाग्यः । भवतु, इदानीं (ष) समयोचितं व्यवहरामि । यतः,—

तावद्भयात्तु भेतव्यं यावद्भयमनागतम् ।

आगतन्तु भयं दृष्ट्वा प्रवृत्तव्यमभौतवत् ॥ १७ ॥

परच,—अभियुक्तो यदा पश्येन्न किञ्चिद्विमतमात्मनः ।

युध्यमानस्तदा प्राज्ञो म्रियते रिपुणा सह ॥ १८ ॥

इत्यालोच्य स कुलीरस्तस्य वकस्य ग्रीवां चिच्छेद । अथ स वकः पञ्चत्वं गतः । अतोऽहं ब्रवीमि,—‘भक्षयित्वा बहून् मत्स्यान्’ इत्यादि” ।

[इति हृदयक-मत्स्य-कुलीरककथा] ।

ततः पुनरपि स राजा चित्रवर्णोऽब्रवीत्,—“शृणु तावन्महामन्त्रिन् ! मयैतदालोचितं, यदत्र अवस्थितेन अनेन मेघवर्णेन राज्ञा यावन्ति वस्तूनि कर्पूरद्वीपस्य उत्तमानि,

(ष) समयोचितं—कालोपयुक्तम्, अवस्थानुरूपम् इत्यर्थः । व्यवहरामि—चरुतिष्ठामि ।

(१७) “समयोचितं व्यवहरामि” इत्युक्तं, कीदृशः स व्यवहार इत्याह, प्रावदिति ।—यावत् यत्कालपथ्यन्तं, भयं भयकारणम्, अनागतम् अनुपस्थितं, तावत् तत्कालपथ्यन्तं, भयात् भौतिहेतोः, भेतव्यं व्रसितव्यं, तु किन्तु, भयम् आगतम् उपस्थितं, दृष्ट्वा अवलोक्य, अभौतवत् निर्भोकेण इव, प्रवृत्तव्यम् प्रावृत्तव्यं, समयोचिताचरणमेव प्राज्ञलक्षणम् इति भावः । (अत्र “वीक्ष्य प्रतिकुप्यात् वषाययम्” इति पाठे—वीक्ष्य दृष्ट्वा, ज्ञात्वा इत्यर्थः, यथायथं यथोचितं, प्रतिकुप्यात् प्रतिविदध्यात् इत्यर्थः । “प्रवृत्तव्यम्” इति पाठस्तु व्याकरणविरुद्ध-वादसाधुरिति मन्तव्यम्) ।

(१८) आत्मरक्षाया उपायान्तराभावे यथा कर्त्तव्यं तदाह, अभियुक्त इति ।—प्रायः पण्डितो जनः, अभियुक्तः आत्मानः सन्, यदा यस्मिन् काले, आत्मनः स्वस्थ, किञ्चित् स्वल्पमपि, हितं कल्याणं, न पश्येत् नेचेत्, परन्तु अनिष्टमेव इति भावः, तदा रिपुणा शत्रुणा सह, युध्यमानः विग्रहन् सन्, क्षियते प्राणांस्त्यजति ; आपुनपवत् मरणमपेक्ष्य शीघ्रं प्रकटय्य मरणमेव श्रेयः इति भावः ।

तावन्ति अस्माकम् (स) उपनेतव्यानि । तेन महता
(ह) विलासेन अस्माभिविन्ध्याचले स्थातव्यम्” । दूरदर्शी
विहस्याऽऽह,—“देव !—

अनागतवतीं चिन्तां कृत्वा यस्तु प्रहृष्यति ।

स तिरस्कारमाप्नोति भग्नभाण्डो द्विजो यथा” ॥१८॥

राजा आह,—“कथमेतत् ?” । दूरदर्शी कथयति,—

ब्राह्मण-शक्तुशरावकथा ।—

“अस्ति देवकीदृशान्ति नगरे देवशर्मा नाम ब्राह्मणः । तेन
(क) महाविषुवसङ्क्रान्तौ शक्तपूर्णशरावः प्राप्तः । ततस्तमादाय
असौ (ख) भाण्डपूर्णकुम्भकारमण्डपिकायां (ग) रौद्रेण
आकुलितः सुप्तः । ततः शक्तुरक्षार्थं हस्ते दण्डमादाय अचिन्त-

(स) उपनेतव्यानि—उपहृतव्यानि, उपायनत्वेन प्रेषयितव्यानि इत्यर्थः ।

(ह) विलासेन—भोगसुखेनेत्यर्थः ।

(१८) दृष्टान्तेन भाविमुखकल्पनया प्रसक्तस्य विह्वलतां प्रदर्शयति, अनागत-
वतीमिति ।—यस्तु जनः, अनागतवतीम् आगामिनीं, भविष्यद्विषयिणीमित्यर्थः,
चिन्तां ध्यानं, कल्पनया भाविसुखस्वरणमित्यर्थः, कृत्वा प्रहृष्यति प्रमोदते, प्राज्ञ-
मात्रमवलम्ब्य आत्मानं निश्चितं सुखभाजनं मन्यते इत्यर्थः, सः अनागतचित्तकः,
भग्नभाण्डः खण्डितमृदाजनः, द्विजो यथा विप्र इव, तिरस्कारं परिभवन्,
आप्नोति लभते ।

(क) महाविषुवसङ्क्रान्तौ—मेषसङ्क्रान्त्यां, चैत्रमासस्य अन्तिमदिने इत्यर्थः ।
तस्यां पितृनुद्दिश्य विप्रेभ्यः जलपूर्णघटसहितशक्तुदानमावश्यकम् । यदाह
कुलार्णवे,—“यो ददाति हि मेषादौ शक्तूनम्बुघटान्वितान् । पितृनुद्दिश्य विप्रेभ्यः
सर्वपापैर्हिमुच्यते” ॥ इति । “मेषादौ शक्तवो दद्या वारिपूर्णां च गर्गरी”
इति च ।

(ख) भाण्डपूर्णकुम्भकारमण्डपिकायां—कुम्भकारस्य मृत्पात्रपूर्णचन्द्रग्रहे ।

(ग) रौद्रेण—घर्मोण, सूर्योत्तापेनेत्यर्थः । (“रौद्री घर्मो रसे चष्णां को
तोत्रे मौषणे विषु” इति मेदिनी) । सुप्तः,—शयितः । (“स्नापः शयननिद्रयोः”
इति मेदिनी) ।

वृत्—“यदि अहमिमं शक्तशरावं विक्रीय दश कपर्दकान्
 प्राप्नोमि, तदा अत्रैव तैः कपर्दकैर्घटशरावादिकम् (घ) उपक्रोय
 (ङ) अनेकधा वृद्धैस्तेर्धनैः पुनःपुनः (च) पूगवस्त्रादिक-
 मुपक्रोय विक्रीय बाणिज्यं कृत्वा लक्षसङ्ख्यकधनानि उत्पाद्य
 विवाहचतुष्टयं करोमि । ततस्तासु पत्नीषु या रूपयौवनवती
 तस्यामधिकानुरागं करोमि । तदनन्तरं (छ) सञ्जातेर्यास्ताः
 (ज) सपत्न्यः यदा अन्योऽन्यं (झ) द्वन्द्वं करिष्यन्ति, तदाऽहं
 (ञ) कोपाऽऽकुलः ताः सर्वाः लगुडेन ताडयिष्यामि” । इत्य-
 भिधाय तेन लगुडः प्रक्षिप्तः । तेन शक्तशरावशूर्णितो भाण्डानि
 च बहूनि भग्नानि । ततो भग्नभाण्डशब्दश्रवणादागत्य कुम्भ-
 कारेण गच्छे हस्तं दत्त्वा ब्राह्मणस्तिरस्कृतो मण्डपिकाया
 वहिष्कृतश्च । अतोऽहं ब्रवीमि,—‘अनागतवतीं चिन्ताम्’
 इत्यादि” ।

[इति ब्राह्मण-शक्तशरावकथा] ।

ततो राजा (ट) रहसि गृध्रं मन्त्रिणं पप्रच्छ,—“तात !
 यथाकर्तव्यं तथा उपदिश” । गृध्रो वदति,—

- (घ) उपक्रोय—क्रीत्वा, [उप + क्री + ल्यप्] ।
 (ङ) अनेकधा वृद्धैः,—पुनः पुनः अधिकतया क्रयविक्रयेण बहुशः वृद्धिः ।
 (च) पूगवस्त्रादिकं—गुवाकफलवसनालङ्कारादिकम् ।
 (छ) सञ्जातेर्याः,—सञ्जाता उत्पन्ना, ईर्ष्या विद्वेषभावः यासां ताः, एकस्याः
 प्रतिवाज्यासां हिण्यतया इति भावः ।
 (ज) सपत्न्यः,—समानः पतिर्यासां ताः, [“नित्यं सपत्न्यादिषु” (४।१।२५
 पा०) इति पति-शब्दस्य नः, समानस्य स-भावो निपात्यते] ।
 (झ) द्वन्द्वं—कलहम् ।
 (ञ) कोपाऽऽकुलः,—कोधाभिभूतः ।
 (ट) रहसि—निर्जने ।

“मदीकृतस्य नृपतेः प्रकीर्णस्येव दन्तिनः ।

गच्छन्त्यन्मार्गयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम् ॥ २० ॥

शृणु तावत् देव ! किमस्माभिः (ठ) बलदर्पात् दुर्गे भग्नम् ?
(ड) किं वा भवतः (ढ) प्रतापाधिष्ठितेन उपायेन ?” । राजा
आह, — “भवताम् (ण) उपायेन” । गृध्रो ब्रूते, — “यद्यस्म-
च्चनं क्रियते तदा स्वदेशे गम्यताम् ; अन्यथा (त) आसन्ने

(२०) कामन्दकीयचतुर्थसर्गोक्तं श्लोकमवलम्ब्य उन्मार्गगे नृपतौ उपदेशदान-
मपि द्रोषायेत्याह, मदीकृतस्येति । — मदीकृतस्य चरद्वागजलतया उत्कटस्य, मदसत्-
त्यर्थः, अत एव प्रकीर्णस्य विक्षिप्तस्य, मदसत्त्वादस्थिरचेतस इत्यर्थः, [यत्र
“सङ्कीर्णस्य” इति पाठे—स एवायं ;] उन्मार्गयातस्य मार्गे परित्यज्य कण्टकाश-
कीर्णपथे गतस्य, दन्तिनः हन्तिन इव, मदीकृतस्य मदगर्वितस्य, अत एव प्रकीर्णस्य
गर्वीकृतत्वान् विक्षिप्तचेतस इत्यर्थः, उन्मार्गयातस्य असत्यप्रवृत्तस्य, नृपतेः राज्ञः,
नेतारः नायकाः, एकव, — हन्तिपक्षाः, अन्यव, — सन्निधयः, खलु निश्चितं, वाच्यतां
निन्दनीयतां, गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति, निन्दनीया भवन्तीत्यर्थः ; यद्वा, — मदीकृतस्य दन्तिन
इव, तथा उन्मार्गयातस्य प्रकीर्णस्य अश्वस्य इव, (“प्रकीर्णकं चानरे स्थात् विस्तारं वा
तुरङ्गमे” इति विश्वः) मदीकृतस्य उन्मार्गयातस्य नृपतेः नेतारः खलु वाच्यता-
मेति ; अतः त्वयि उपदेशोऽपि अकर्तव्य एव इति भावः । (“प्रकीर्णस्य”
इत्यत्र “सङ्कीर्णस्य” “उन्मार्गयातस्य” इत्यत्र “अन्यायवृत्तस्य” इति कामन्दकीय-
पाठः) ।

(ठ) बलदर्पात्—पराक्रमात्, सामर्थ्यमात्रमवलम्ब्य इत्यर्थः ।

(ड) “किं वा” इत्यत्र “नो वा” इति पाठे—अस्माभिः बलदर्पात् दुर्गे
भग्नं किम् ? वा भवतः प्रतापाधिष्ठितेन उपायेन दुर्गे भग्नं किम् ? नो पक्षद्वयो-
रेकोऽपि नेत्यर्थः ।

(ढ) प्रतापाधिष्ठितेन उपायेन—प्रभावातिशयरूपेणोपायेन, कीषदस्य-
तेजःसहचरितेन सामादीनामन्यतमेन उपायेन इत्यर्थो वा ।

(ण) उपायेन—कौशलविशेषेत्यर्थः, सप्तोपायान्तर्गतेन मायाऽऽख्येन पक्षो-
पायेन इति यावत् ।

(त) आसन्ने—समीपवर्तिनि, अचिरभाविनि इत्यर्थः ।

वर्षाकाले (थ) तुल्यबलेन सह पुनर्विग्रहे सति अस्माकं
(द) परभूमिष्ठानां स्वदेशगमनमपि दुर्लभं भविष्यति । तत्
(ध) सुखशोभार्थं सन्धाय गम्यताम् । दुर्गं भग्नं, कीर्त्तिश्च
लभ्येव । सम सन्मतं तावदेतत् । यतः,—

यो हि धर्मं पुरस्कृत्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रियम् ।

अप्रियाख्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ २१ ॥

परञ्च,—सन्धिमिच्छेत् समेनापि सन्दिग्धो विजयो युधि ।

न हि संशयितं कुर्यादित्युवाच बृहस्पतिः ॥ २२ ॥

(थ) तुल्यबलेन—सदृशपराक्रमेण, समानप्रतिद्विनेति यावत् । विग्रहे
—युद्धे ।

(द) परभूमिष्ठानां—शत्रुराज्यस्थितानाम् । दुर्लभं—दुःसाध्यम् ।

(ध) सुखशोभार्थं—सुखं मनःशान्तिः, शोभा राज्यस्य निरुपद्रवजनितं गौरवं,
ते श्रेयः प्रयोजनं यस्मिन् तत् ; यद्वा,—सुखाय शान्दाय, शोभा इच्छा, (“शोभा
वाकोच्छयोर्मता” इति मेदिनी) तदर्थं तन्निमित्तं, प्रीतिलाभायैत्यर्थः । सन्धाय—
सन्धिं कृत्वा ।

(२१) कौटिल्यः सहायो राज्ञां प्रशस्त इति वक्तुं भारतीद्वयगपर्वोक्तद्वयोक्तं
प्रमाणयति, य इति ।—यो मन्त्री, भर्तुः स्वामिनः, प्रियाप्रियं इत्याह्वयम्, [अत्र
समाहारवृत्त्यादिकवचनं] (“प्रियाप्रिये” इति महाभारतीयपाठः) हित्वा
वृत्ता, वचनमिदं भर्तुः प्रीतिजननमप्रीतिजननं वा भविष्यति इत्यविगण्य इत्यर्थः,
यस्य न्यायं, (“धर्माः पुण्यासन्धायस्वभावाचारसोमपाः” इत्यमरः) पुरस्कृत्य अये
कृत्वा, न्यायानुसारित्वेत्यर्थः, अप्रियाणि अह्वयान्यपि, असन्तोषकराण्यपीत्यर्थः, पथ्यानि
हितानि, हितवचनानीत्यर्थः, आह उपदिशति, तेन तादृशेन सन्धिणा,
राजा वृपतिः, सहायवान् प्रशस्तसहायसम्पन्नः, स एव राज्ञः प्रकृतमन्त्री इत्यर्थः,
हि निश्चये ।

(२२) सन्धिमिति ।—युधि युद्धे, विजयः जयलाभः, सन्दिग्धः संशयाऽऽबद्धः,
यनिश्चित इति यावत्, अतः समेनापि तुल्यबलेनापि, किमुताधिकबलेनेति भावः ;
सन्धिं मेखनम्, इच्छेत् अभिलषेत्, कुर्यात् इत्यर्थः, हि तथाहि, संशयितं सन्दिग्धं,
सिद्धिः भवेन्न वा इत्येवं संशयविषयीभूतमित्यर्थः, काव्यमिति शेषः, न कुर्यात् न

अन्यत्र,—सुहृद्वत् तथा राज्यमात्मानं कीर्त्तिमेव च ।

युधि सन्देहदोलास्थं को हि कुर्यादवालिशः ॥ २३ ॥

अपि च,—युद्धे विनाशो भवति कदाचिदुभयोरपि ।

सुन्दोपसुन्दावन्योऽन्यं समवीर्यौ हतौ न किम् ? ॥ २४ ॥

राजा उवाच,—“कथमेतत् ?” । मन्त्री कथयति,—

* सुन्दोपसुन्दनामकदैन्यद्वयकथा ।—

“पुरा दैत्यौ सहोदरौ सुन्दोपसुन्दनामानौ महता काय-
क्षेत्रेन (न) त्रैलोक्यराज्यकामनया चिरात् (प) चन्द्रशेखरम्

विदधीत, इति एतत्, ब्रह्मस्यतिः नीतिशास्त्रप्रणेता देवशुक्लः, उवाच वभाषे, एत
एव सन्धिरेव कर्त्तव्य इति निष्कर्षः ।

(२३) “सन्धाय गम्यताम्” इति श्लोक्तं समर्थयितुं कामन्दकीयनवमसर्गोक्त-
श्लोकान् समुद्धृत्य श्लोकाद्वयेन युद्धस्य सन्दिग्धविजयत्वमाह, सुहृदिति ।—को हि
अवालिशः अमूर्खः, पण्डित इति यावत्, जनः इति शेषः, युधि युद्धे, सुहृत् मित्रं,
तत्सहितं बलं सैन्यम्, [इति मध्यपदलोपी समासः] सुहृदं बलञ्च इत्यर्थः, यद्वा,—
सुहृदेव बलं भित्तरूपं सैन्यं, (“सुहृद्वत्” इति कामन्दकीयपाठः) तथा राज्ञं
राष्ट्रम्, आत्मानं स्वजीवनं, च किञ्च, कीर्त्तिमेव आत्मनोऽपि अधिकं यशोऽपि,
सन्देहदोलास्थं सशयदोलाऽऽरुढं, कुर्यात् ? न कोऽपीत्यर्थः ।

(२४) युद्धे सङ्ग्रामे कदाचित् कदाऽपि, उभयोरपि युध्यमानयोस्तुल्यबलयो-
ररिविजिगीष्विद्वोरपि, विनाशः निधनं, भवति जायते, (“युद्धे विनाशो भवति”
इत्यत्र “नाशो भवति युद्धेन” इति कामन्दकीयपाठः) अन्योऽन्यं परस्परं, समं तुल्यं,
वीर्यं पराक्रमः यत्रोक्तौ समवीर्यौ समकक्षौ, सुन्दोपसुन्दौ तदाप्यौ द्वौश्वरो,
युध्यमानौ इति शेषः, किं न हतौ ? न विष्टौ किम् ? अपि तु विनष्टौ एव, युद्धे
उभयोरपि विनाशसम्भावनाया युद्धात् सन्धिरेव श्रेयान् इति निष्कर्षः ।

(न) त्रैलोक्यराज्यकामनया—त्रिभुवनाधिपत्यकामेच्छया । चिरात्—दीर्घ-
कालं व्याप्य ।

(प) चन्द्रशेखरं—चन्द्रशौर्द्धिं शिवम् ।

* कथंयं भारतादिपर्वान्तर्गतराज्यलाभपर्वणि विस्तरतया विवर्णिता ।

प्राधातवन्तौ । ततस्तयोर्भगवान् परितुष्टः सन्,—(फ) “वरं वरयतम्” इति उवाच । अनन्तरं तयोः (ब) कण्ठाधिष्ठितायाः सरस्वत्याः प्रभावात् तौ अन्यदत्तकामौ अन्यदभिहितवन्तौ,—“यदि आवयोर्भगवान् परितुष्टस्तदा स्वप्रियां पार्वतीं परमेश्वरो ददातु” । अथ भगवता क्रुहेन वरदानस्य (भ) आवश्यकतया मूढतया च पार्वती प्रदत्ता । ततस्तस्याः (म) रूपलावण्यलुब्धाभ्यां (य) जगद्धातिभ्यां मनसा (र) उत्सुकाभ्यां (ल) पापतिमिराभ्यां “मम” इति (व) अन्योऽन्य-

(फ) वरम्—अभौषितं, काम्यविषयमित्यर्थः । (“वरो वृत्तौ । विटे नामातरि श्रेष्ठे देवतादेरभौषिते” इति हैमः) । वरयतम्—इष्यत, प्रायेवेद्याया-मित्यर्थः, [“वर इप्से” इति चौरादिकस्य वरयतेः खोटि रूपम्] ।

(ब) कण्ठाधिष्ठितायाः,—कण्ठाविष्टायाः । सरस्वत्याः,—दुष्टनरस्यस्या-इत्यर्थः । अन्यत्—अन्यप्रकारं, वक्तुकामौ—वक्तुं कथयितुं, कामः अभिलाषः ययोः तौ, विवच् इत्यर्थः, यं वरमुद्दिश्य तौ भगवन्तन्नाराधितवन्तौ तमनुज्ञा इति यावत् ।

(भ) आवश्यकतया—तपश्चरणेन सिद्धिलाभात् अवश्यकफलतया । मूढतया—कोपेन कसंच्यनिर्णयाच्चमतया । [“मूढतया” इत्यत्र “विचारमूढयोः” इति पाठे—वशोरित्यस्य विशेषणम् । विचारमूढयोः,—अविवेकिनां, जगज्जनन्याः पार्वत्याः कामुकत्वादिति भावः] ।

(म) रूपलावण्यलुब्धाभ्यां—सौन्दर्यकान्तिविशेषलुप्यटाभ्याम् ।

(य) जगद्धातिभ्यां—भुवनविनाशकाभ्यां, विभुवनपीडकाभ्यामित्यर्थः ।

(र) उत्सुकाभ्याम्—इष्टार्थसम्पादनाय उद्युक्ताभ्यां, पार्वतीलाभार्थ-मुत्कण्ठिताभ्यामित्यर्थः । (“इष्टार्थोद्युक्त उत्सुकः” इत्यनरः) ।

(ल) पापतिमिराभ्यां—पापमेव दुष्कृतमेव, भुवनवर्धाहंसादिरूपदृष्टा-परममेवेत्यर्थः, तिमिरम् अन्धकारम्, अन्धकारमङ्गलमित्यर्थः, ज्ञानदृष्ट्यवरोधकत्वा-दिति भावः ; ययोस्ताभ्यां, पापीपङ्क्तप्रज्ञाभ्यामित्यर्थः ।

(व) अन्योऽन्यकलहाभ्याम्—अन्योऽन्यं परस्परं, कलहः विवादः, इयं मम न तव इत्येवं वाग्बुद्धमित्यर्थः, ययोस्ताभ्यां, परस्परं विवादमानाभ्यां, देत्याभ्या-मिति शेषः ।

कलहाभ्यां (श) “प्रमाणपुरुषः कश्चित् पृच्छताम्” इति
(ष) मतौ कृतायां स एव (स) भट्टारको वृद्धद्विजरूपः समा-
गत्य तत्र उपस्थितः । अनन्तरम् “आवाभ्याम् इयं (ह) स्वबल-
लब्धा, कस्य इयमावयोर्भवति ?” इति ब्राह्मणमपृच्छताम् ।
ब्राह्मणो ब्रूते,—

“ज्ञानश्रेष्ठो द्विजः पूज्यः क्षत्रियो बलवानपि ।

धनधान्याधिको वैश्यः शूद्रस्तु द्विजसेवया ॥ २५ ॥

तत् युवां क्षत्रियधर्माणौ, युद्धमेव युवयोः (क) नियमः” ।
इति अभिहिते सति “साधूक्तमनेन” इति कृत्वा अन्योऽन्यतुल्य-

(श) प्रमाणपुरुषः,—प्रमादजनः, विवादनिर्णायक इत्यर्थः, मध्यस्थः इति
यावत् । पृच्छतां—जिज्ञास्यताम्, आवाभ्यामिति शेषः । [प्रच्छ + कर्त्ता
लोट्-ताम्] ।

(ष) मतौ—बुद्धौ, प्रमाणपुरुषं पृच्छामि इत्येवकृपायाम् इत्यर्थः । कृतायां
—निश्चितायाम् ।

(स) भट्टारकः,—देवः, महेश्वरः इत्यर्थः (“भट्टारको नृपे नाय्यवाचा देवे
तपोधने” इति मेदिनी) ।

(ह) स्वबललब्धा—स्वयोः आत्मनोः, बलीन तपःशक्त्या इत्यर्थः, लब्धा प्राप्ता,
निजतपःप्रभावेण प्राप्ता इत्यर्थः ।

(२५) युद्धाय प्ररोचयितुं ब्राह्मणादिषु कौटुम्भः जनः श्रेष्ठ इत्याह, ज्ञानश्रेष्ठ
इति ।—ज्ञानेन विद्यया इत्यर्थः, श्रेष्ठः प्रधानः, द्विजः ब्राह्मणः, पूज्यः पूजनीयः,
भवति इति शेषः, बलधान् विक्रान्तः, क्षत्रियोऽपि राजन्योऽपि, धनधान्याधिकः
धनेन अर्थेन, धान्येन व्रीहिणा, पशुद्रव्येण इति यावत्, अधिकः श्रेष्ठः, सर्वज्ञः
इत्यर्थः, वैश्यः दत्तोद्यवर्णः, द्विजसेवया तु ब्राह्मणादिवर्णत्रयशून्यया एव. शूद्रः
अवरवर्णः, सर्वत्र पूज्य इत्यनेनान्वयः, विप्रसु ज्ञानी क्षत्रियसु बलवान् वैश्ये
सर्वज्ञिमान् शूद्रेषु द्विजसेवक एव श्रेष्ठ इत्यर्थः । (“विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठं क्षत्रियाणाम्
बोध्यतः । वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः” ॥ इति सनूक्तः पाठः) ।

(क) नियमः,—व्रतः, अत एव युद्धं क्रियतां युद्धविजयो एव इमां प्राप्स्यति
इति भावः ।

वीर्यौ (ख) समकालमन्योऽन्यघातेन विनाशमुपगतौ । अतोऽहं
ब्रवीमि,—‘सन्धिमिच्छेत् समेनापि’ इत्यादि” ।

[इति मुन्दोपमुन्दनामकदैत्यव्यवस्था ।]

राजा आह—“तत् किं प्रागेव नेदम् उपदिष्टम् ?” ।
मन्त्री वदति,—“तदा किं मम वचनम् (ग) अवमानपर्यन्तं
श्रुतं भवद्भिः ? तदाऽपि मम सम्प्रत्या नायं विग्रहार्थः ; यतः
(घ) सन्धेयगुणयुक्तोऽयं हिरण्यगर्भो न विग्राह्यः । तथा
चीकम्,—

सत्याख्यौ धार्मिकोऽनाख्यौ भ्रातृसङ्घातवान् बली ।

अनेकयुद्धविजयी सन्धेयाः सप्त कौर्त्तिताः ॥ २६ ॥

सत्योऽनुपालयन् सत्यं सन्धितो नैति विक्रियाम् ।

प्राणवाधेऽपि सुव्यक्तमाख्यौ नाऽऽयात्यनाख्यताम् ॥ २७ ॥

(ख) समकालं—युगपत्, एकदैव इत्यर्थः । अन्योऽन्यघातेन—परस्पर-
वधारेण ।

(ग) अवमानपर्यन्तं—परिसमाप्तिपर्यन्तम् ।

(घ) सन्धेयगुणयुक्तः,—सर्वथा सन्धिस्थापनाङ्गुणसम्पन्नः, सत्याख्यादिगुण-
विभूषितः इत्यर्थः । विग्राह्यः,—युद्धयोग्यः ।

(२६) के कथं सन्धेया इति वक्तुं कामन्दकमतम् अष्टाभिः श्लोकैः प्रदर्शयति,
सन्धेति ।—सत्यः सत्यपरायणः, आख्यः महाकुलसम्भूतः, सदाचारः इति यावन् ।
धार्मिकः धर्मपरायणः, अनाख्यः हीनकुलसम्भूतः, भिक्षुकिराताद्यसम्भजाति-
रित्यर्थः, भ्रातृसङ्घातवान् सौमित्रेण परस्परं मिलितः, बहुधातक इत्यर्थः ।
बली प्रभुत्वबलबोध्यसम्पन्नः, अनेकेषु बहुषु, युद्धेषु रणेषु, विजयते यः स तथोक्तः ।
बहुयुद्धजेता, सप्त एते सत्यादयः सप्तसङ्ग्रहाः पुरुषाः, सन्धेयाः सन्धातुं योग्याः,
कौर्त्तिताः कथिताः, नीतिज्ञैरिति शेषः, एते खलु न जातु विग्राह्या इति भावः ।

(२७) सत्य इति ।—सत्यः सत्यपरायणः जनः, सन्धितः कृतसन्धिः सन्,
[सन्धाशब्दात् जातार्थे तारकादित्वादितच्-प्रत्ययः] यथवा सन्धितः सन्धिं स्वीकृत्य,
[ल्यङ्लोपे पञ्चम्याक्तसिङ्] सत्यं ग्रपथं, (“सत्यं कृते च ग्रपथे तथ्ये विष त
वदति” इति मेदिनी) अनुपालयन् अनुसरन्, विक्रियां विकारं, न एति न याति, न
वदति” इति मेदिनी) अनुपालयन् अनुसरन्, विक्रियां विकारं, न एति न याति, न

धार्मिकस्याभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।

प्रजानुरागाद्वर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः ॥ २८ ॥

सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते ।

विना तस्याश्रयेणार्यः कुर्यान्न कालयापनम् ॥ २९ ॥

संहतत्वादयथा वेणुर्निविडः कण्टकैर्हतः ।

न शक्यते समुच्छेत्तुं भ्रातृसङ्घातवांस्तथा ॥ ३० ॥

वैपरीत्यमाचरति इत्यर्थः, तथा आर्यः सज्जनः, येष्ठाचारः इत्यर्थः, प्राणवाधेऽपि प्राणनाशेऽपि, अनाद्येतां नीचाश्रयतां, न आयाति न गच्छति, सुव्यक्तं स्फुटम्, एतत् सर्वजनविदितमित्यर्थः, प्राणसङ्कटे उपस्थितेऽपि आर्यः कदाचिदपि सन्निभं कृत्वा विनासघातकतां नाचरतीति समुदायार्थः; “अङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपाचयन्ति” इति भावः ।

(२८) दुःखोच्छेद्यत्वेन धार्मिकस्य सन्धेयत्वमाह, धार्मिकस्तेति ।—अभियुक्तस्य शत्रुभिराक्रान्तस्य, धार्मिकस्य धर्मपरायणस्य, राज्ञः इति शेषः, सर्व एव सकल एव जनः, स्रपचीयः मित्रपचीयश्च योधवर्ग इत्यर्थः, हि निश्चयेन, युध्यते विग्रहाति, तत्पश्चादवलम्बनं कृत्वा युद्धं करोतीत्यर्थः, हि तथाहि, धार्मिकः धर्मपरायणः, राजा इति शेषः, प्रजानाम् अनुरागात् स्वामिनि भक्त्या, धर्माच्च न्यायाच्च, न्यायपरायणत्वाच्च इत्यर्थः, प्रजापालनरूपात् स्वधर्माचरणाच्चेत्यर्थो वा, दुःखेन संश्लिष्यते यः स तथोक्तः, दुर्दिनाशः, दुर्जनः इति यावत्, भवतीति शेषः, धार्मिकेण सह युद्धस्य सन्दिग्धविजयत्वात् स सन्धेय एव इति भावः ।

(२९) सन्धिरिति ।—अनार्येण किराताद्यसन्धेनापि सह, सन्धिः नैवर्तनं, कार्यः कर्तव्यः; कथं कर्तव्य इत्याह, विनाशं विनाशकारणे इत्यर्थः, सैन्यादिचररूपे, रात्र्यादिनाशरूपे वा सर्वनाशे इति यावत्, समुपस्थिते समुत्पन्ने सति, आर्यः सन्धः राजा, तस्य अनार्यस्य, आश्रयः आश्रयणं, तद्वद्विनाशोन्मत्तेन अवस्थानमित्यर्थः, तेन विना, कालयापनं समयातिपातम्, आत्मरक्षायै पुनर्वलसद्व्यायं च कालप्रतीक्षणमित्यर्थः, न कुर्यात् न कर्तुं शक्नुयात् । श्रीरामचन्द्रस्य कपिसेनाश्रयणं तथा चितौराधिपतेः महाराणेत्पुत्राधिकस्य प्रतापकिण्डादेः भिन्नाशये कालयापनञ्च अत्र दृष्टान्त इति ज्ञेयम् ।

(३०) संहतेति ।—निविडः घनसन्निविष्टः, कण्टकैः दुर्मात्रैः, कण्टकवत्

बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम् ।

प्रतिघातं न हि घनः कदाचिदुपसर्पति ॥ ३१ ॥

जमदग्नेः सुतस्येव सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।

अनेकयुद्धजयिनः प्रतापादेव भुज्यते ॥ ३२ ॥

अनेकयुद्धविजयी सन्धानं यस्य गच्छति ।

तत्प्रतापेन तस्याशु वशमायान्ति शत्रवः ॥ ३३ ॥

सूत्रावायवविग्रहेरित्यर्थः, कश्चिकाभिरिति यावत्, इतः व्यापः, वेणुवैगः, संहतत्वात् परस्परं नीरन्ध्रतया सम्मिलितत्वात्, समुच्छेत्तुं कर्तितुं, निर्मूलयितुमिति यावत्, यथा न शक्यते न चस्यते, तथा आहतमहातवान् आहूतिः सह सौमित्रेण दृढतया मिलितः, बहुधाहमहायः जनः इत्यर्थः, न समुच्छेत्तुं शक्यते इति योजना, अतः तेषामपि सन्धिः विधेय इति भावः ।

(३१) बलिनेति ।—बलिना आत्मनीऽधिकवलीन शत्रुणा सह, योद्धव्यं विग्रहीतव्यम्, इति एवं, निदर्शनम् आगतः, दृष्टान्तः इत्यर्थः, नास्ति न विद्यते, कुवापीति शेषः । हि तथाहि, घनः मेघः, कदाचित् कालपि, प्रतिघातं बोधोः प्रतिकूलं, यस्या दिशो वायुः प्रवहति तां दिशमित्यर्थः, बाधोरभिमुखमिति दावत्, [प्रातिकूल्ये अव्ययीभावः] न उपसर्पति न चलति, वायुणा सह मिलित्वैव घातोत्पत्तिः ; बाध्याभिमुखीनः मेघो यथा अचिरमेव क्लृप्तो भवति, तथा प्रवल्-विपचाभिमुखीनः नृपोऽपि, अतः सोऽपि सन्धेयः इति निष्कर्षः ।

(३२) जमदग्नोरिति ।—जमदग्नोः तदाप्यस्य भृगवंशस्य ऋषेः, सुतस्येव सुतस्येव, परशुरामस्येव इत्यर्थः, अनेकयुद्धजयिनः बहुषु युद्धेषु लब्धजयस्य, राज्ञः इति शेषः, प्रतापात् प्रभावादेव, तन्नामः सामर्थ्यादेवेत्यर्थः, सर्वः जनः, सर्वत्र सर्वान् म्याने, सर्वदा सर्वकाले च, भुज्यते स्वयमेव राज्यसुखं मुङ्क्ते, प्रवल्-प्रराकान्तस्य राज्ञः मित्रत्वात् निरुद्धेनैव सुखं मुञ्जानमिच्छतीत्यर्थः, [मुञ्ज+कथंकर्त्तरि लट्-ते] । (“मिच्छते” इति कानन्दकौयपाठः) “हृत्कहायः काव्यान् चोदीयानपि गच्छति” इति भावः ।

(३३) अनेकेति ।—अनेकयुद्धविजयी बहुषु युद्धेषु लब्धजयः राजा, यस्य राज्ञः, [सत्त्वन्धविवक्षया ६४०] सन्धानं सहजं, सन्धिना मेलनमित्यर्थः, मित्रता-मिति यावत्, (“सन्धानं स्यादभिववे तथा सहजनेऽपि च” इति मेदिनी) गच्छति

तदत्र बहुभिर्गुणैः (ङ) उपेतः सन्धेयोऽयं राजहंसः ।
चक्रवाकोऽवदत्,—“प्रणिधे ! सर्वम् (च) अवगतम् । ब्रज,
पुनरागमिष्यसि” ।

अथ हिरण्यगर्भश्चक्रवाकं पृष्टवान्,—“मन्त्रिन् ! असन्धेयाः
कति ? तान् विज्ञातुमिच्छामि” । मन्त्री ब्रूते,—“देव !
कथयामि । शृणु,—

“बालो वृद्धो दीर्घरोगी तथा ज्ञातिवहिष्कृतः ।

भौरुको भौरुकजनो लुब्धो लुब्धजनस्तथा ॥ ३४ ॥

विरक्तप्रकृतिस्यैव विषयेष्वतिसक्तिमान् ।

अनेकचित्तमन्त्रश्च देवब्राह्मणनिन्दकः ॥ ३५ ॥

प्राप्नोति, येन सह सन्धिं करोति इत्यर्थः, तत्प्रतापेन तस्य अनेकयुद्धविजयिनः,
प्रतापेन प्रभावेणैव, तस्य कृतसन्धेः राज्ञः, शत्रवः वैरिणः, आशु शीघ्रं, वशम्
अधीनताम्, आयाजानि प्राप्नुवन्ति ; अवलोऽपि बलवत्सहायः प्रबल इति भावः ।

(ङ) उपेतः,—अन्वितः ।

(च) अवगतं—ज्ञातम्, अस्माभिरिति शेषः ।

(३४) सम्प्रति पञ्चभिः श्लोकैः कामन्दकीकृतान् विंशतिप्रकारान् असन्धेयानाह,
बाल इति ।—बालः शिशुः, वृद्धः प्रवयाः, दीर्घरोगी चिररुग्णः, तथा ज्ञातिभिः
स्वजनैः, वहिष्कृतः त्यक्तः, भौरुकः स्वयं भौरुस्वभावः, भौरुकजनः भौरुकः भोत-
स्वभावः, जनः अमात्यादिर्यस्य सः, तथा लुब्धः स्वयम् अर्थलोलुपः, लुब्धजनः लुब्धः
अर्थलोलुपः, जनः सैन्याद्यनुजोविजनः यस्य तादृशः ; अमी अष्टौ ; एतैः सन्धिं न
कुर्वीत इति परीणान्वयः ।

(३५) विरक्तेति ।—विरक्ताः अननुरक्ताः, स्वामिनि विरक्तिमापन्नाः इत्यर्थः,
प्रकृतयः प्रजाः यस्य सः, विषयेषु स्वच्छन्दनादिभोगेषु, अतिसक्तिमान् अत्यासक्तः,
अनेकेषां वङ्गनां, चित्ते मनसि, मन्त्रः मन्त्रणा यस्य सः अगोपितमन्त्रः इत्यर्थः, न
एकम् एकाधिकम्, अस्थिरमित्यर्थः, चित्तं मनः, मन्त्रे यस्य तादृश इति वा,
चापल्याददृढमन्त्र इत्यर्थः, देवब्राह्मणनिन्दकः देवानाममराणां, ब्राह्मणानां
विप्राणाञ्च, निन्दकः कुत्सयिता, देवे ब्राह्मणे च अभक्तः य इत्यर्थः । अमी
चत्वारः ।

दैवोपहतकश्चैव दैवचिन्तक एव च ।

दुर्भिक्षव्यसनोपेतो बलव्यसनसङ्कुलः ॥ ३६ ॥

अदेशस्थो बहुरिपुर्गुक्तः कालेन यस्य न ।

सत्यधर्मव्यपेतस्य विंशतिः पुरुषा अमी ॥ ३७ ॥

एतैः सन्धिं न कुर्वीत विगृह्णीयात् तु केवलम् ।

एते विगृह्यमाणा हि क्षिप्रं यान्ति रिपोर्वशम् ॥ ३८ ॥

[इति कुलकम्] ।

बालस्याल्पप्रभावत्वान्न लोको योद्धुमिच्छति ।

युद्धायुद्धफलं यस्मात् ज्ञातुं शक्नो न बालिशः ॥ ३९ ॥

(३६) दैवोपहतक इति ।—दैवेन विधिना, उपहतकः विफलोक्तसर्वचेष्टः, प्रतिशूलदैव इत्यर्थः, दैवचिन्तकः दैवं भाग्यं, चिन्तयति यः स तादृशः, भाग्ये यदस्ति तद्वै भविष्यति इति चिन्तया निचेष्टः, दैवनिर्भरः इत्यर्थः, पौरुषवर्ज्यत इति यावत्, दुर्भिक्षव्यसनोपेतः दुर्भिक्षरूपविपदा अभिभूतः, दुर्भिक्षपीडितप्रजालोक इत्यर्थः, यथा दुर्भिक्ष-व्यसनाभ्याम् अन्नाद्यभाव-तादतरविपद्भ्याम्, उपेतः युक्तः, बलस्य सैन्यस्य, व्यसनेन अष्टचत्वारिंशत्सङ्ख्यकश्लोकस्य टीकायां वक्ष्यमाणोपरुद्धपरिचिन्तादि-रूपया तयस्त्रिंशद्विधया विपत्त्या, सङ्कुलः व्याप्तः, आक्रान्त इत्यर्थः । इमे चत्वारः ।

(३७) अदेशेति ।—अदेशस्थः अदेश अस्थाने, परचितस्थाने इत्यर्थः, तिष्ठति यः स तादृशः स्वसैन्यचालनायोग्यस्थाने अवस्थित इत्यर्थः, बहुरिपुः बहुशत्रुः, यस्य कालेन युद्धोचितसमयेन, न युक्तः न उपेतः, अकालयोधी असम्पूर्णोद्देशो वा, युद्धयोग्यकाले नियुक्तसैन्यः इत्यर्थः, सत्यात् धर्मात् च व्यपेतः च्युतः, सत्यमष्टः अधार्मिकेत्यर्थः, एते चत्वारश्च, अमी बाली बृहः इत्यादिना उक्ताः एतैः विंशतिः विंशतिविधाः, पुरुषाः, असन्धेयाः इति शेषः ।

(३८) एतैरिति ।—एतैः दृढशैः दिग्गथा शत्रुभिः सह, सन्धिं मेलनं, न कुर्वीत न विदधीत, तु परन्तु, केवलं विगृह्णीयात् युध्येत, हि यतः, एते बालादयः, विगृह्यमाणाः युध्यमानाः सन्तः, क्षिप्रं शीघ्रं, (“ध्रुवम्” इति कामन्दकीयपाठः) रिपोः शत्रोः, वशं वश्यतां, यान्ति गच्छन्ति ; सुश्रयाः खलु एते बालादय इति भावः । इति कुलकम् ।

(३९) कामन्दकीयमवलम्ब्य एषां विद्याद्यत्वे कारणं दर्शयति चतुर्दशभिः

उत्साहशक्तिहीनत्वात् वृद्धो दीर्घामयस्तथा ।

स्वैरेव परिभूयेते द्वावप्येतावसंशयम् ॥ ४० ॥

सुखोच्छेद्यश्च भवति सर्वज्ञातिवहिष्कृतः ।

त एवेनं विनिघ्नन्ति ज्ञातयश्चात्मसात्कृताः ॥ ४१ ॥

भौर्युद्धपरित्यागात् स्वयमेव प्रणश्यति ।

तथैव भौरुकजनः सङ्ग्रामे तैर्विमुच्यते ॥ ४२ ॥

श्लोकैः बालस्येति ।—बालस्य बालकस्य, अल्पप्रभावत्वात् स्वल्पप्रतापत्वात्, शासन-
विचारादिशक्तेरभावात् प्रतिपक्षभावाद्वा इत्यर्थः, श्लोकः स्वपक्षीयशृङ्गवर्गः इत्यर्थः,
शृङ्गं विग्रहीतुं, तदर्थमिति भावः, न इच्छति न अभिलषति, यस्मात् यतः, बालिशः
अनभिज्ञः, बालराजा इति शेषः, युद्धायुद्धफलं विग्रहाविग्रहयोः परिणामं,
कः कौटुशं पराक्रमं प्रादशयत्, स कौटुशीं पूजामर्हति, को वा समरचेत्वात्
पृथग्पदशंनमकरोत्, स वा कौटुशं दण्डमर्हति इत्यादिरूपमिति भावः, ज्ञातं
वेदतुं, न शक्तः न समर्थः; अनुरागाभावेण स्वपक्षीयसेनानां युद्धे आग्रहाभावात्
बालः सुजय इति भावः ।

(४०) उत्साहेति ।—वृद्धः स्थविरः, तथा दीर्घामयः चिररोगी, राजयक्षादि-
पीडितः जनः इति यावत्, एतौ द्वौ अपि उत्साहशक्तिहीनत्वात् बाहुं कजनि-
दौर्वल्येन चिररोगजनितदौर्वल्येन च विक्रमत्रलाभावात्, (उक्तं हि कौटिल्येन, —
“विक्रमवलमुत्साहशक्तिः” इति) असंशयं निश्चितं, स्वैरेव स्वपक्षीयैरेव, निजसैन्या-
दिभिरेवंल्यर्थः, परिभूयेते अवमन्येते, पराजीयेते इत्यर्थः; अतः एतावपि सुजयौ
इति भावः ।

(४१) सुखोच्छेद्य इति ।—सर्वज्ञातिवहिष्कृतः सर्वैः सकलैः, ज्ञातिभिः स्वजनैः,
वहिष्कृतश्च परित्यक्तश्च, (“च” इत्यत्र “हि” इति कामन्दकीयपाठः) रिपु रिति शेषः,
सुखोच्छेद्यः अनायासेन उन्मूलयितुं शक्यः, भवति सम्पद्यते, यतः आत्मासात्कृताः
स्वायत्तीकृताः, विजिगीषुणा इति शेषः, तदुच्छेदार्थं स्वयमेव विजिगीषुमनुगच्छन्
इति यावत्, ते ज्ञातयः यान्त्रवा एव, शत्रुभावमापन्ना इति यावत्, एनं स्वजन-
वहिष्कृतं, विनिघ्नन्ति नाशयन्ति ।

(४२) भौरुरिति ।—भौरुः भयशीलः, कापुरुष इति यावत्, राजा इति
शेषः, युद्धपरित्यागात् युद्धपरासुखत्वात्, स्वयमेव आत्मनैव, निजदीषादेवेत्यर्थः;

लुब्धस्यासंविभागित्वात् युध्यन्तेऽनुजीविनः ।

लुब्धानुजीवकैरेष दानहीनैर्निह्न्यते ॥ ४३ ॥

सन्त्यज्यते प्रकृतिभिविरक्तप्रकृतिर्युधि ।

सुखाभियोज्यो भवति विषयेष्वतिसक्तिमान् ॥ ४४ ॥

अनेकचित्तमन्त्रस्तु हेथो भवति मन्त्रिणाम् ।

अनवस्थितचित्तत्वात् कार्ये तैः स उपेक्ष्यते ॥ ४५ ॥

अप्यति विनष्टो भवति, अनुधावनपर-रिपुमैत्रहस्तेन इति भावः ; तथा किञ्च, लोकाजनः भयशूलानामादिसहायः, राजा इति श्रेयः, तैः स्वपक्षीयैः जनैरेव, सुहृदं युद्धे विमुच्यते त्यज्यते, अतः इमावपि सुजयौ इति भावः । (“स्वयमेव” इत्यत्र “क्षिप्रमेव” “तथैव भीरुकजनः” इत्यत्र “वीरोऽप्यवीरपुरुषः” इति कामन्दकीयः पाठः) ।

(४३) लुब्धस्येति ।—असंविभागित्वात् अयथायथविभागशून्यत्वात्, युद्धे वृष्टितद्रज्याणां सैन्येभ्यः यथायथम् अंशप्रदानादित्यर्थः, लुब्धस्य लोभपरवशं स्वस्वामिनः, अनुजीविनः अनुचराः, स्वसैनिका इत्यर्थः, न युध्यन्ते युद्धं न कुर्वन्ति । लुब्धाः धनलोभपाः, अनुजीवकाः सेवकाः, सैनिकादयः इत्यर्थः, तैः धनलोभिसैनिकै-रित्यर्थः, (“लुब्धानुजीविकैः” इति पाठस्तु अव्युत्पन्नत्वात् न विशुद्धः । “लुब्धानुजीवौ तैरेव दानभिन्नैर्निह्न्यते” इति कामन्दकीयः पाठः सुगमार्थः साधुश्च । लुब्धो अनुजीविनः सैनिका यस्य तादृशः राजा, दानभिन्ने विजिगीषुणा दानेन भेदं प्रापितैः, तैरेव लुब्धैरनुजीविभिरेव, निह्न्यते) दानहीनैः अपरस्कृतैः सद्भिः, एषः स्वामी, निह्न्यते विनाशयते । अत एतावपि विग्रहमात्रेणैव सुजयौ इति भावः ।

(४४) सन्त्यज्यते इति ।—विरक्ताः विकृतिमापन्नाः, स्वामिनि अपरक्ता इत्यर्थः, अदण्डादण्डनाद्याचरणादिति भावः, प्रकृतयः अमात्यादयः यस्य सः तथामृतः राजा, युधि युद्धे, प्रकृतिभिः अमात्यादिभिः, सन्त्यज्यते हीयते । विषयेषु सक्चन्दनवनिताद्युपभोगेषु, अतिसक्तिमान् अत्यासक्तः, सुखाभियोज्यः सुखेन अनायासेन, अभियोज्यः परामभवनीयः, (“सुखाभियोगः” इति कामन्दकीयः पाठः) भवति । अत एतयोरपि सुजयत्वात् नास्ति सन्देहः प्रयोजनम् इति वदयम् ।

(४५) अनेकेति ।—अनेकचित्तमन्त्रः बहुजनज्ञातमन्त्रः सन्त्रयायामास्थिरचित्त इति वा, वृत्तिरिति शेषः, मन्त्रिणां सचिवानां, हेथः विद्वेषभाजनम्, अप्रिय इत्यर्थः,

सदा धर्मबलीयस्त्वाद्देवब्राह्मणनिन्दकः ।

विशौख्यते स्वयं ह्येव दैवोपहतकस्तथा ॥ ४६ ॥

सम्पत्तेश्च विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम् ।

इति दैवपरो ध्यायन् नात्मानमपि चेष्टयेत् ॥ ४७ ॥

दुर्मिच्छव्यसनी चैव स्वयमेवावसीदति ।

बलव्यसनयुक्तस्य योद्धुं शक्तिर्न जायते ॥ ४८ ॥

यथोक्तायवशादिति भावः, भवति, अतः अनवस्थितचित्तत्वात् अस्थिरमतितात्, कार्ये मन्त्रणाविषये, तैः मन्त्रिभिः, स राजा, उपेक्ष्यते अनाद्रियते, त्यज्यते इत्यर्थः, न गच्छते इति यावत् ; अत एवोऽपि सृजय इति भावः । (“समुपेक्ष्यते” इति कामन्दकीयः पाठः) ।

(४६) सदेति ।—सदा नित्यकालं, धर्मबलीयस्त्वात् धर्मस्य बलवत्त्वात्, “यतो धर्मः ततो जयः” इति स्थितेः इत्यर्थः, (“सदाऽधर्मबलीयस्त्वात्” इति कामन्दकीयपाठे,—अधर्मपरत्वात्, प्रबलाधर्माचरणादित्यर्थः) देवब्राह्मणनिन्दकः, देवताविप्राणां कुत्साकारो, अधार्मिक इत्यर्थः, तथा दैवोपहतकः प्रतिकूलविधिविङ्ग्वितः, हतभाग्य इत्यर्थः, स्वयमप्रनतः सन् कृतारम्भोऽपि नियतिवशात् व्यर्थमवचेष्ट इति यावत्, राजा स्वयमेव आत्मनैव, हि निययेन, विशौख्यते अवसीदति, विनाऽप्यभियोगं निजकर्मवशात् स्वयमेव चयमाप्नोतीत्यर्थः ।

(४७) सम्पत्तेरिति ।—दैवपरः दैवमात्रावलम्बी, अदृष्टमात्रनिर्भरशील इति यावत्, राजा इति शेषः, सम्पत्तेश्च सम्पदश्च, विपत्तेश्च विपदश्च, दैवं भाग्यम् एव, कारणं हेतुः, इति ध्यायन् चिन्तयन्, आत्मानमपि स्वमपि, न हि चेष्टयेत् नैव कार्येषु नियोजयेत्, प्रत्युत नियेष्टः तिष्ठति इत्यर्थः ; स तु नितरां कापुरुष इति गूढाशयः । (“सम्पत्तेश्च विपत्तेश्च” इत्यत्र “सम्पत्तौ च विपत्तौ च” तथा “नात्मानमपि चेष्टयेत्” इत्यत्र “आत्माना न विचेष्टते” इति कामन्दकीयनीतिः । न विचेष्टते न पौरुषमारभते इत्यर्थः) ।

(४८) दुर्मिचेति ।—दुर्मिच्छव्यसनी दुर्मिच्छश्च अन्नाभावश्च, व्यसनश्च विविधा विपश्य, विद्येते यस्य सः, दुर्मिच्छरूपविपत्नीडित इति वा, नृपः, स्वयमेव आत्मनैव, अवसीदति दुर्बली भवति । बलव्यसनयुक्तस्य बलव्यसनस्य “उपरुद्धं परिचिन्तं विमानितममानितम् । अभूतं व्याधितं श्रान्तं दूरायातं नवागतम् ॥ परिचीं

अदेशस्थो हि रिपुणा स्वल्पकेनापि हन्यते ।

ग्राहोऽल्पीयानपि जले गजेन्द्रमपि कर्षति ॥ ४८ ॥

प्रतिहतं प्रहतायजवं तथा । आशानिवेद्यभूमिष्ठमवृतप्राप्तमेव च ॥ कलत्रगर्भ-
तिचिप्तमन्तःशल्यं तथैव च । भिन्नगर्भं छपसृतमवमुक्तं तथैव च ॥ क्रुद्ध-
नौलारिमित्रश्च निविष्टश्चापि विहिषा । दूष्ययुक्तं स्त्रविचिप्तं मित्रविचिप्तमेव च ॥
विच्छिन्नबोधवाऽऽसारं गून्मूलं तथैव च । अस्त्रामिसङ्गतश्चैव भिन्नकूटं तथैव च ॥
दुष्पाण्णं ग्राहमन्त्रश्च वलव्यसनमुच्यते ॥ इति कामन्दकीतलचणा त्रयास्त्रंशदिधा
हेन्यव्यापत्तिः, यथा व्यापत्त्या तानि थीक्षुमसमर्थानि भवन्ति; तत्र—परिचिप्त
सर्वतः परिर्वष्टतम् । अमानितं दानादिना असत्कृतम् । अमृतम् अप्राप्तवेतनम् ।
परिचौषम् आहवान्तरं हतमुख्यवीरम् । प्रतिहतं प्रथमाक्रमणे एव भयम् । प्रहताय-
जवं निहतायवीरम् । आशानिवेद्य आशाभङ्गयुक्तम् । अभूमिष्ठम् अयुद्धधीन्य-
भूमिप्राप्तम् । अवृतप्राप्तम् उपयुक्तायुधवाहनादिविहीनम् । कलत्रगर्भं युद्धा-
नहंस्त्रीकर्मकरवर्गयुक्तम् । अतिचिप्तं शत्रुमित्राद्यनेकराज्यान्तरितम् । अन्तःशल्यं
गुप्तभावेन अन्तःप्रविष्टं शत्रुरूपं शल्यम् । भिन्नगर्भं परस्पर भेदं प्राप्तम् । अपसृतं शत्र-
राज्येन एकान्तरितम् । अवमुक्तम् अपसृतमुख्यवीरम् । क्रुद्धनौलं कुपितपितृपैतामहं
सैन्यम् । अरिनिव्रं युद्धयात्रायां शत्रुभिः सहैकत्र स्थितं मित्रवलम् । विहिषा निविष्ट
शत्रोः समीपे निविष्टम् । दूष्ययुक्तं दुष्टप्रकृतिलोकाधिष्ठितम् । स्त्रविचिप्तं स्वदेशे
शत्रुतो विचिप्तम् । मित्रविचिप्तम् असाध्यसधनार्थं मित्रेषु दत्तम् । विच्छिन्न-
बोधवासारं स्वदेशात् पृष्ठतः धान्यादीनां प्राप्तिर्विवधः, सहस्रलम् आसारः, तदुभय-
विच्छिन्नम् । गून्मूलं मौलसैन्याविरहितम् । अस्त्रामिसङ्गतम् आपाद स्त्रामिना
भगधिष्ठितम् । भिन्नकूटम् अनायकम् । दुष्पाण्णं ग्राहं दुष्टपृष्ठरचकवलम् । अन्त्रम्
उपदेष्टविरहितम् । एषां विकारस्तु अस्त्रदीयकामन्दकीधनीतिसारं अभिनवसंस्कृतं
वटीकं स्रग्व्यः इति; तेन युक्तस्य समान्वतस्य, सैन्यव्यसनेन विपन्नस्य, वृपस्येति
शेषः, यांहुं विग्रहीतुं, शक्तिः सामर्थ्यं, न जायते न भवति । (“विद्यते” इति
कामन्दकीयः पाठः) ।

(४८) अदेशस्थ इति ।—अदेशस्थः स्वसैन्यचालनाद्योग्ये देशे स्थितः, राजा
इति शेषः, स्वल्पकेनापि क्षुद्रेणापि, रिपुणा शत्रुणा, हन्यते वध्यते । अत्र
दृष्टान्तमाह,—अल्पीयान् अतिक्षुद्रः, दुर्बल इत्यर्थः, ग्राहोऽपि जलजन्तुविशेषोऽपि,
जले जलान्तर्ये इत्यर्थः, ग्राहस्य भिजदेशे इति भावः, पतितम् इति शेषः, गजेन्द्रमपि

बहुशत्रुस्तु सन्धस्तः श्येनमध्ये कपोतवत् ।

येनैव गच्छति पथा तेनैवासौ विपद्यते ॥ ५० ॥

अकालसैन्ययुक्तस्तु हन्यते कालयोधिना ।

कौशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः ॥ ५१ ॥

सत्यधर्मव्यपेतेन न सन्दध्यात् कदाचन ।

स संहितोऽप्यसाधुत्वादचिरात् याति विक्रियाम् ॥ ५२ ॥

मत्तगजमपि, अदेशस्थं महाकायमपीति भावः, कर्षति आकर्षति, आकृष्य स्थाप्यं करोतीत्यर्थः, हनोति भावः, सत्यप्राणिनस्तु कर्षत्येवेति अपिकारस्य साधकम् ।
(“कर्षति” इत्यनन्तरं “शाहशान्नीरदेशस्थः शुनाऽपि परिभूयते” इत्यधिकः पाठः कामन्दकी) स्थानं प्रधानं न बलं प्रधानम् इति भावः ।

(५०) बह्विति ।—बहुशत्रुस्तु बहुवैरी नृपतिः पुनः, (बह्वन्निवस्तु ” इति कामन्दकीयपाठः) श्येनमध्ये शशादपक्षिमध्ये, “वान” इति ख्यातपक्षिणामन्यकरे इत्यर्थः, कपोतवत् पारावत इव, सन्धस्तः अतीव भीतः सन्, प्रकीर्तितबहुमखलतया इति भावः, येनैव पथा मार्गेण, गच्छति निर्गन्तुमिच्छतीत्यर्थः, असौ बहुशत्रुर्नृपः, तेनैव पथा, विपद्यते विपन्नो भवति, चियते इत्यर्थः, (“असौ विपद्यते” इत्यथ “आयु विनश्यति” इति कामन्दकीयपाठे—शीघ्र विनाशनाप्नोतीत्यर्थः) बहुशत्रुरपि मुखेन जेतुं शक्यः इति सोऽपि विद्याद्य इति भावः ।

(५१) अकालेति ।—अकाले युद्धस्थानुचितसमये, आत्मनः न्यूनतादिदोषे सत्यपि इत्यर्थः, सैन्यानि सेनाः, युक्तानि युद्धाय नियुक्तानि येन सः, सम्पूर्णद्वयोन-मकृतैव कृतयुद्धारम्भ इत्यर्थः, नृप इति शेषः, (“अकालयुक्तसैन्यस्तु” इति कामन्दकीयः पाठः साधुः) कालयोधिना यथोचितकाले युध्यते यः तेन बलसम्बद्धं कृत्वा कृतयुद्धारम्भेण, वैरिणा इति शेषः, निशीथे रात्रौ, (“निशीथस्तु पुमानहंरात्रे स्थात् रात्रिमात्रकं” इति मेदिनी) हतज्योतिः हतं विनष्ट, ज्योतिः दृष्टिः दर्शन-शक्तिरित्यर्थः, यत्न तादृशः, (“ज्यांतरयो दिवाकरे । पुमान्नपुंसकं दृष्टौ स्वाश्रय-प्रकाशयोः” इति मेदिनी) विनष्टदर्शनशक्तिः, वायसः काकः, कौशिकेन सल्लोकेन, पंचकेन इव इत्यर्थः, (“महेंद्रगुणलुक्कल्याणदिपु कौशिकः” इत्यमरः) हन्यते विनश्यते, अभावासेनेव पराभूयते इत्यर्थः ।

(५२) सत्येति ।—कदाचन कर्काशेदपि काले, आपदि अपि इत्यर्थः,

अपरमपि कथयामि, (छ) सन्धिविग्रहयानासनसंश्रयद्वैधीभावाः

सत्यधर्मव्यपेतेन सत्यात् धर्माच्च भटेन, राज्ञा सह इति श्रवः, न सन्दध्यात् सन्धिं न कुर्यात् ; कथं न सन्दध्यात् ? इत्याह, स सत्यधर्मव्यपेतः, संहितः सन्धिना भिन्नितोऽपि, ("स संहितोऽपि" इत्यत्र "ससंहितोऽपि" इति कामन्दकीयः पाठः) वसाधुत्वात् दुष्टत्वभावत्वात्, अस्थिरप्रकृतित्वादिति भावः ; अचिरात् ग्रीष्ममेव, क्रियां विकारं, सन्धिमय्यादामुल्लङ्घ्य पुनः विद्वेषभावम् इति यावत्, याति प्राप्नोति ; केनचित् ह्यज्ञना सन्धिं विघटयति इत्यर्थः ।

(छ) सन्धीति । — सन्धिः, — पणवन्धः, घनादिदानेन शत्रुणा सह मैत्रीस्थापन-
नित्यर्थः, स च कपालादिभेदेन पीड्यश्रवधी ज्ञेयः ; विग्रहः, — युद्धं, परमण्डले दाह-
बुद्धनच्छेदादिरूपं परस्परपकारणमिति यावत्, स च प्रकाशादिभेदेन विविधः ;
गानं—युद्धयात्रा, "उत्कृष्टवलवोय्यस्य विजिगीषोजयैषिणः । गुणानुरक्तप्रकृतेः यात्रा
गानमिति श्रुतम्" ॥ इति कामन्दकीयः कृतमूलराष्ट्ररचकस्य उपचितशक्तेः शत्रोरव-
क्रन्दनाय यात्रा इति यावत्, तच्च विग्रहयानादिभेदेन पञ्चविधं ज्ञेयम् ; आननं—
"परस्परस्य सामर्थ्याविघातादासनं श्रुतम् । अरेय विजिगीषोश्च—" इति कामन्दकीयः
"नाहमिदानीं योद्धुं समर्थः" इति युद्धं स्थगयित्वा कालावपेक्षया दुर्गादीन् वृत्तयतः
पवस्थानं, यदा शत्रुर्विजिगीषोः विजिगीषुश्च शत्रोः विग्रहे सानर्थ्यमुपसोदुं समर्थः,
यदा यदुपेक्ष्य तदासनमिति यावत्, तदपि विग्रहयानादिभेदेन पञ्चविधं ज्ञेयम् ;
संश्रयः— "उच्छिद्यमानो बलिना निरुपायप्रतिक्रियः । कुलोद्धतं सत्यमायमाश्रयेत्
बलोक्तम् ॥ ददत् बलं वा कीषं वा भूमिं वा भूतिसम्भवाम् । आश्रयेदभियोक्तां
विसन्धिरनपाश्रयः" ॥ इति कामन्दकीयः प्रवर्त्तारिपुणा उच्छिद्यमानस्य हीनशक्तेर्यत्
बलवत्त्वमविजयिसमाश्रयणं तदाश्रयः, तस्यैव वा प्रवर्त्तशत्रोः सेवया बलकोषादि-
दानेन वा आश्रयग्रहणम्, एवञ्च द्विविधः संश्रयः ; द्वैधीभावः, — "बलिर्नोर्ध्वतोर्मध्ये
वाचाऽऽत्मानं समर्पयन् । द्वैधीभावेन वर्त्तत काकाक्षिबदलक्षितः ॥ यापयेदश्व-
मास्थाय सन्निवृष्टतरक्तयोः । उभयोरपि सम्पाते संवेत बलवत्तरम् ॥ यदा
शत्रोर्वापि नेच्छतां संश्लेषं जातसंविदौ । तदोपसर्पेच्छत्तुमधिकं वा समा-
श्रयेत्" ॥ इति कामन्दकीयः बलिर्नोर्वैरिणीर्मध्ये काकाक्षिबदलक्षिततया स्थितः
"इदं राज्यमहञ्च तवैव" इति उभयत्र वाचा आत्मानं समर्पयन् द्वैधीभावेन दुर्ग-
माश्रित्य वर्त्तनं, शत्रुण्येव वा सन्धिविग्रहसमुदायहेतोर्दुर्गाश्रयव्यापारः, इति
द्विविधो द्वैधीभावः ; तदुक्तं कौटिल्ये, — "सहायसाध्ये कार्ये द्वैधीभावं गच्छेत्" इति ।

षाड्गुण्यम् । (ज) कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देश-कालविभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गो मन्त्रः । (झ) साम-दान-भेद-दण्डाद्यत्वार उपायाः ।

अग्रमपि स्वतन्त्रपरतन्त्रभेदेन द्विविधो ज्ञातव्यः,—“पार्श्वस्थो वा बलस्थथोरासन्नभवात् प्रतिकुर्वीत, दुर्गापायथो वा द्वैधोभूतस्मिहेत् सन्धिविग्रहं हनुमिवां चष्टेत्” इति च । केचित्तु,—“बालना सह सन्धिः अवलेन सह विग्रहः, शत्रूणां मूलप्रकर्षाभिः सह सन्ध्याय शत्रुणा सह विग्रहः” इत्यपरं द्विविधं द्वैधोभावमाहुः । षड्गुणा एव षाड्गुण्यं [चातुर्वर्ण्यादित्वात् व्यञ्ज] ।

(ज) कर्मणामिति ।—कर्मणां—विग्रहादीनाम्, आरम्भोपायः,—तदुपयोगि-सहायसङ्ग्रहः । पुरुषद्रव्यसम्पत्—पुरुषद्रव्ययोः बलकोषयोः, सम्पत् उत्कर्षः, प्रवीर-पुरुषप्रभूतधनयोः सङ्ग्रहः इत्यर्थः । देशकालविभागः,—प्रारब्धकर्मणः साधनार्थं तदुपयोगिनोः उत्कृष्टस्थानकालयोर्निर्णयः । विनिपातप्रतीकारः,—आरब्धकर्मणि देवस्य मानुषस्य च विघ्नस्य आश्रयैः सामादिभिरुपायैः प्रतिविधानम् । कार्यसिद्धिः,—कार्यस्य आरब्धकर्मणः, सिद्धिः निष्पत्तिः, फलदर्शनम् इत्यर्थः, एतेषां पञ्चानां सौष्ठवसम्पादनमेव मन्त्रणाफलमिति निष्कर्षः । कामन्दकीये तु,—“सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः । विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्ग इत्यन्ते” ॥ इति पञ्चाङ्गो मन्त्रः पठितः । व्याख्यातस्तु टीकाकृता शङ्करार्येण,—“अत्र दुर्गकर्मणि सहायाः सुख्याः शूद्राश्च पुरुषाः । साधनोपायाः दुर्गस्वारम्भं प्रत्युपायाः कुदाल-कुठार-करपत्रादयः । विभागा देशकालयोरिति तत्र जनपदान्ते जनपदमध्ये चेति देशविभागः ; वर्षासु काष्ठादिकर्मणो योषे हेमन्ते च इष्टकादिकर्म इति कालविभागः । विपत्तेश्चेति आरब्धे दुर्गकर्मणि देव्या मानुष्याशोत्पन्नाया विपदः अश्वर्वाभिरुपायैः सामादिभिरुपायैः प्रतीकारः । सिद्धिरिति कार्यस्येति शेषः” इति ।

(झ) सामेति ।—साम—प्रियवाक्येन वैरघ्नः क्रोधोपशमनं, तच्च पञ्च-विधम् ; दानं—स्वधनस्य परैभ्यः प्रतिपादनं, धनादिना वैरप्रतीकारः इत्यर्थः, तच्च पञ्चविधम् ; भेदः,—उपजापः, शत्रोरमात्यादीनां परतो विशिष्य उपायेनात्मसात्करण-मित्यर्थः, स च त्रिविधः ; दण्डः,—विग्रहः, शास्त्रित्यर्थः, सोऽपि त्रिविधः ; एषां भेदान्मुनीतिशास्त्रे विशदीकृताः । केचित्तु,—“मायोपेचेन्द्रनालश्च सतीपायाः प्रकीर्तिताः” इति मायादिभिः त्रिभिः सह सामादयश्चत्वारः सप्त उपायाः कथ्यन्ते ।

(ज) उत्साहशक्तिः, मन्त्रशक्तिः प्रभुशक्तिश्चेति शक्तित्रयम् ।
एतत् सर्वम् आलोच्य नित्यं विजिगीषवो भवन्ति महान्तः ।

यतः,—

या हि प्राणपरित्यागमूख्येनापि न लभ्यते ।

सा श्रीनीतिविदां वेश्म चञ्चलाऽपि प्रधावति ॥ ५३ ॥

तथा चोक्तम्,—वित्तं यदा यस्य समं विभक्तं

गूढश्च चारो निभृतश्च मन्त्रः ।

न चाप्रियं प्राणिषु यो ब्रवीति

स सागरान्तां पृथिवीं प्रशस्ति ॥ ५४ ॥

(ज) उत्साहेति ।—उत्साहशक्तिः—विक्रमबलम् । मन्त्रशक्तिः—सन्ध्यादीनां
सामादीनाञ्च यथावस्थापनम् ; पञ्चाङ्गमन्त्री मन्त्रशक्तिरित्यर्थः । प्रभुशक्तिः—कीर्ति-
दण्डबलम् ।

(५३) नयमूला हि सत्यम् इत्याह, येति ।—प्राणपरित्यागः जीवनीकर्णः
एव, मूल्यं पणः तेनापि, प्राणविसर्जनरूपमूल्यदानेनापि, या श्रीः, न हि लभ्यते
नैव प्राप्यते, प्राणपणेनापि या न सुखभा इत्यर्थः, सा श्रीः राजन्मन्त्रीः, चञ्चलाऽपि
स्वभावचपलाऽपि, नीतिविदां नयज्ञानां, नीतिशास्त्रानुसारेण कार्यं कुर्वतामित्यर्थः,
जनानामिति शेषः, वेश्म गृहं, प्रधावति सत्वरमेव गच्छति, अस्थिराऽपि सा तत्र
सुचिरं सुस्थिरा तिष्ठतीत्यर्थः, प्रभाधोत्साहशक्तिरित्येव मन्त्रशक्तिः गरीयसीति भावः ।
यदुक्तं कामन्दकीये,—“प्रभाधोत्साहशक्तिभ्यां मन्त्रशक्तिः प्रशस्यते” इति ।

(५४) नीतिसङ्गतकार्यस्य फलमाह, वित्तमिति ।—यदा यस्मिन्
समये, (“यदा” इत्यत्र “सदा” इति पाठकल्पना साध्या) यस्य राज्ञः,
वित्तं धनं, समं तुल्यं, तुल्यभावेन इत्यर्थः, विभक्तम् अन्तर्जीविभ्यः विभक्त्य
दत्तं, भवतीति शेषः, चारश्च प्रणिधिश्च, गूढः गुप्तः, गुप्तभावेन परेषां मन्त्रभेदतत्परः,
परन्तु रिपवः यस्य प्रचारं सुणात्तरन्यायेनापि न विजानन्ति तादृश इत्यर्थः, मन्त्रश्च
मन्त्रणाकार्यश्च, निभृतः निगूढः, नान्यसन्निधौ प्रकाशितः इत्यर्थः, यश्च प्राणिषु
जनेषु, अप्रियं पदं, न ब्रवीति न कथयति, तदा स राजा, सागरान्तां ससागरां,
पृथिवीं धरणीं, राज्यमित्यर्थः, प्रशस्तिं पालयति ; सः सदा भवतीत्यर्थः ।

किन्तु देव ! यद्यपि महामन्त्रिणा गृध्रेण (ट) सन्धानम्
(ठ) उपन्यस्तं, तथाऽपि तेन राजा सम्प्रति (ड) भूतजयदर्पात्
न मन्तव्यम् । तत् (ढ) एवं क्रियताम्—अस्त्राच्चित्रं सिंहल-
द्वीपस्य महाबली नाम सारसो राजा (ण) जम्बुद्वीपे कोपं
जनयतु । यतः,—

सुगुप्तिमाधाय सुसंहतेन बलीन वीरो विचरन्नरातिम् ।

सन्तापयेत् येन समं सुतप्तस्तप्तेन सन्धानमुपैति ततः” ॥५५॥

(ट) सन्धानं—सैन्यं, सन्धिरित्यर्थः ।

(ठ) उपन्यस्तम्—उपक्रान्तम्, उपदिष्टमित्यर्थः ।

(ड) भूतजयदर्पात्—भूतः मञ्जानः, अस्त्राकं विमर्द्दनेन इत्यर्थः, यदा,—भूतः
पतीतः, यो जयः विजयलाभः, तस्मात् यो दर्पः गर्वः तस्मात् । नन्तव्यं—स्वीकर्तव्य-
मित्यर्थः ।

(ढ) एवं—वक्ष्यमाणम् ।

(ण) जम्बुद्वीपे—विष्वक्कर्षस्य राज्ये इति यावत् । कोपं—प्रकृतीनामसन्तोष-
मित्यर्थः, राज्यमाक्रम्य तत्रत्यप्रजाविमर्द्दनादिति भावः ।

(५५) कामन्दकीयमनुसृत्य समवल्लभोः सुसन्धेयत्वं प्रदर्शयति, सुगुप्तिमिति ।—
वीरः विक्रान्तो राजा, पूर्वं परामृततया स्वयमुत्तम इति भावः, (“वीरः” इत्यत्र
“धीरः” इति कामन्दकीयपाठः साधुः) सुगुप्तिं गूढभावनम्, आधाय अवलम्ब्य,
अतीव रहसि इत्यर्थः, सुसंहतेन सुदृढेन, विक्रान्तेनेत्यर्थः, बलीन सैन्येन, अरातिं शत्रुं,
विचरन् गच्छन्, आक्रमन् इत्यर्थः, तदन्तः प्रवेशं कृत्वा वा, (“सुगुप्तिम्”
इत्यत्र “स्वगुप्तिम्” इति कामन्दकीयपाठे—धीरः सुसंहतेन सुदृढेन, परस्य असेयेन
इत्यर्थः, बलीन स्वगुप्तिम् आत्मरक्षां, विधाय सम्पाद्य) सन्तापयेत् पीडयेत्, येन
पीडनेन, समं तुल्यं, स्वसदृशमित्यर्थः, सुतप्तः उपद्रुतः इत्यर्थः, भवतीति शेषः ।
(“समं सुतप्तः” इत्यत्र “सुसम्प्रतप्तः” इति कामन्दकीयपाठः) ततः किम् ? इत्याह,
—तथा हि तप्तः सन्तापपीडितः, विद्रुत इत्यर्थः, तप्तेन सत्तप्तेन सह, सन्धानं सैन्यं,
सन्धिम् इत्यर्थः, उपैति कृमते, तप्तेन धातुना तप्तधातुखण्डमिव इति भावः ;
अथमभिप्रायः,—हीनबली नरपतिः प्रबलीन विद्विषा निपीडितः सन्धानमिच्छेत्
स यदयदभिकाङ्क्षति, हीनबलीन तप्तदेव दातव्यं भवेत्, अतस्तदा सन्धिं विधेयः

राजाऽऽह,—“एवमस्तु” । इति (त) निगद्य तेन विचित्रो
 नाम वक्ताः सुगुप्तलेखं दत्त्वा सिंहलद्वीपं प्रस्थापितः । अथ
 प्रणिधिः पुनरागत्य उक्तवान्,—“देव ! श्रूयतां तावत्
 (थ) तत्त्वप्रस्तावः । एवं तत्र गृध्रेणोक्तं,—“देव ! मेघ-
 वर्णस्तत्र चिरम् (द) उषितः ; स वेत्ति किं सन्धेयगुणयुक्तो
 हिरण्यगर्भो राजा न वा” इति । ततोऽसौ मेघवर्णाश्चतुर्वर्णन
 राज्ञा समाह्वय पृष्टः,—“वायस ! कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भो
 राजा ? चक्रवाको मन्त्री वा कीदृशः ?” । मेघवर्णो ब्रूते,—
 “देव ! स हिरण्यगर्भो राजा युधिष्ठिरसमो (ध) महाऽऽशयः
 सत्यवाक् । चक्रवाकसदृशो मन्त्री न क्वापि अवलोक्यते” ।
 राजाऽऽह,—“यद्येवं तदा कथमसौ त्वया वञ्चितः ?” । मेघवर्णो
 विहस्य ब्रूते,—“देव !—

विश्वासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ? ।

अङ्गमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम् ? ॥ ५६ ॥

एतन् स्नाभ्युदयप्रतीक्षया विविधापदेशेन काकोऽतिवाङ्मयितव्यः । अत्ररि चार्त्तान्
 तथोपायो विधातव्यः यथा सोऽपि स्नातृरूपः विपन्नो भवेत्, एवञ्च उभयोरव
 श्यव्यापत्तया विद्रुतधातुखण्डेन विद्रुतधातुखण्डस्यैव सान्धः सुकरः स्वादिति ।
 उपजातिः वृत्तम् ।

(त) निगद्य—कथयित्वा । सुगुप्तलेखं—निगूढपत्रिका ।

(थ) तत्त्वप्रस्तावः,—तत्त्वः तत्स्थानीयः, प्रस्तावः प्रसङ्गः, तत्त्वत्वा वाचां इत्यर्थः ।

(द) उषितः,—अवस्थितः, वासं कृतवानित्यर्थः । [वस + “गत्यथा-
 कर्मक—” (३।४।७२ पा०) इति कसंरि क्तः । “वसतिचुधोरिट्” (७।२।५२
 पा०) इति इट् । “वाचस्वपि—” (६।१।१५ पा०) इति सम्प्रसारणम् ।
 “शासिवसि—” (८।३।६० पा०) इति षत्वम्] ।

(ध) महाशयः,—महान् उदारः, आशयः अन्तःकरणं यस्य सः मनस्वी
 इत्यर्थः । सत्यवाक्—सत्यवादी ।

(५६) विश्वासेति ।—विश्वासप्रतिपन्नानां प्राप्तविश्वासानां, सर्वभूतेषु विश्वासं

शृणु देव ! तेन मन्त्रिणा अहं प्रथमदर्शन एव विज्ञातः,
किन्तु महाऽऽशयोऽसौ राजा, तेन मया (न) विप्रलब्धः ।
तथा चोक्तम्,—

आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जनं सत्यवादिनम् ।

स एव वक्ष्यते तेन ब्राह्मणच्छागतो यथा” ॥ ५७ ॥

राजाऽऽह,—“कथमेतत् ?” । मेघवर्णः कथयति,—

ब्राह्मण-च्छाग-धूर्त्तचयकथा ।—

“अस्ति गौतमारख्ये (प) प्रस्तुतयज्ञः कश्चित् ब्राह्मणः ।
स च यज्ञार्थं ग्रामान्तरं गत्वा छागमुपक्रीय स्कन्धे नीत्वा
गच्छन् धूर्त्तत्रयेण अवलोकितः । ततस्ते धूर्त्ताः,—“यदि एष
छागः केनापि उपायेन लभ्यते, तदा (फ) मतिप्रकर्षो भवति”

कृतवतामित्यर्थः, जनानामिति शेषः, वक्ष्यते प्रतारणे, का विदग्धता ? किं पाण्डित्यम् ?
किं नैपुण्यम् ? इत्यर्थः, सर्वप्राणिषु नितरां विश्वासकारकी हि सत्येनैवोपायेन
प्रतारयितुं शक्यते इत्यर्थः, हि तथाहि, अहं क्रीडम्, आरुह्य आश्रित्य, सुप्तं निद्रितम्,
अतीव कृतविश्वासमित्यर्थः, जनमिति शेषः, इत्वा विनाशय, किं पौरुषम् ? कः
पुरुषकारः ?, नाम सम्भावनायां, न किमपि पौरुषं सम्भावयामीत्यर्थः, अतोऽत्र
धार्मिके मया वचना कर्तुमशक्यत इति भावः ।

(न) विप्रलब्धः,—प्रतारितः ।

(५७) न सर्वत्र विश्वासस्थापनं विज्ञसम्मतम् इति दृष्टान्तेनाह, आत्मौपम्ये-
नेति ।—यो जनः, आत्मनः स्वस्य, उपमा इव औपम्यं [स्वार्थं व्यञ्ज-प्रत्ययः]
आत्मौपम्यं तेन आत्मतुलनया, दुर्जनम् असज्जनं, मिथ्यावादिनमिति यावत्,
सत्यवादिनं यथार्थभाषिणं, वेत्ति जानाति, दुर्जनवाक्येषु विश्वसिति इत्यर्थः, स जनः,
छागतः छागलात्, [अपादाने पञ्चमी] यद्वा,—छागमुपलब्धौकृत्य इत्यर्थः,
[ल्यब्लोपे पञ्चमी] ब्राह्मणः यथा ब्राह्मण इव, तेन एव दुर्जनेनैव, वक्ष्यते प्रताप्यते,
नातः दुर्जनवाक्यं विश्वसनीयम् इति भावः । (अत्र द्वतीयचरणे “स एव
वक्षितस्तेन” “स तथा वक्ष्यते धूर्त्तैः” इति च पाठान्तरद्वयम्) ।

(प) प्रस्तुतयज्ञः,—आरम्भयागः ।

(फ) मतिप्रकर्षः,—बुद्धिचातुर्यम् । भवति—प्रकाशितो भवतीत्यर्थः ।

इति आलोच्य (व) प्रान्तरवृक्षत्रयतले क्रोशान्तरेण तस्य ब्राह्मणस्य आगमनं प्रतीक्ष्य वर्त्मनि उपविश्य स्थिताः । तत्र एकेन धूर्त्तेन गच्छन् स ब्राह्मणः अभिहितः,—“भो ब्राह्मण ! किमिति त्वया कुकुरः स्कन्धेन उह्यते ?” । विप्रेण उक्तं,—“नायं श्वा, किन्तु यज्ञच्छागः” । अनन्तरं पुनः द्वितीयेन धूर्त्तेन क्रोशमावस्थितेन तदेव उक्तम् । तदाकर्ण्य ब्राह्मणश्चागं भूमौ निधाय मुहुर्मुहुः निरीक्ष्य पुनः स्कन्धे कृत्वा (भ) दोलायमानमतिञ्चलितः । यतः,—

मतिर्दोलायते नूनं सतामपि खलोक्तिभिः ।

ताभिर्विश्वासितो योऽसौ म्रियते चित्रकर्णवत्” ॥ ५८ ॥

राजा पृच्छति—“कथमेतत् ?” । स कथयति,—

सिंह-काक-व्याघ्र-शृगालोद्वेगः ।—

“अस्ति कस्मिंश्चित् वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः । तस्य अनुचरास्तयः, काको व्याघ्रः शृगालश्च । अथ तैर्भ्रमद्भिः

(व) प्रान्तरवृक्षत्रयतले—प्रान्तरे दूरगन्धेऽध्वनि, क्वायाजलादिविवर्जिते बहुदूरगन्धे मार्गे इत्यर्थः, (“प्रान्तरं कीटरेऽरख्ये दूरगन्धपथेऽपि च” इति हेमः) यत् वृक्षत्रयं त्रयः पादपाः, तस्य तले पक्षीदेशे । क्रोशान्तरेण—परस्परं क्रोश-परिमितमार्गव्यवधानेनेत्यर्थः । वर्त्मनि—ब्राह्मणस्य गमनमार्गे ।

(भ) दोलायमानमतिः,—चलञ्चितः, संशयितबुद्धिरिति यावत् । [दोला + कण्ड-शानच्, दोला + अय + शानच् इति वा] ।

(५८) पिशुने विश्वासी महाऽनघंकर इत्याह, मतिरिति ।—सतां धीराणा-मपि, सुधियामपीत्यर्थः, (“सन् साधौ धीरशक्तयोः । मान्ये सत्ये विद्यमाने त्रिषु साध्वीमथोः स्त्रियाम्” इति मेदिनी) मतिः बुद्धिः, खलोक्तिभिः दुर्जनानामापात-मधुरैः वचनैः, नूनं निश्चितं, दोलायते विचलति, अस्थिरौभवतीत्यर्थः, यः जनः, ताभिः खलोक्तिभिः, विश्वासितः सञ्जातविश्वासः, खलवचसि कृतविश्वासः इत्यर्थः, भवति इति शेषः, असौ जनः, चित्रकर्णवत् चित्रकर्णनामा उष्ट्र इव, म्रियते पक्षत्वं याति, अतो दुर्जनवाक्यं न श्रद्धेयमिति भावः ।

(म) सार्यभट्टः कश्चित् उद्गो दृष्टः पृष्टश्च,—“कुतो भवान्
 आगतः ?” । स च आत्मवृत्तान्तम् अकथयत् । ततस्तैर्नीत्वा
 असौ सिंहाय समर्पितः । तेन च (य) अभयवाचं दत्त्वा
 चित्रकर्ण इति नाम कृत्वा स्थापितः । एवं काले गच्छति
 कदाचित् सिंहस्य (र) शरीरवैकल्यात् भूरिवृष्टिकारणाच्च
 आहारमलभमानास्ते व्यस्ता बभूवुः । ततः (ल) काक-
 व्याघ्रगोमायुभिः आलोचितं,—“चित्रकर्णमेव यथा स्वामी
 व्यापादयति तथा अनुष्ठेयताम् । किमनेन (व) कण्टकभुजा
 अस्माकम् ?” । व्याघ्रो ब्रूते,—“स्वामिना अभयवाचं दत्त्वा
 गृहीतोऽयं, तत् कथमेवं सम्भवति ?” । वायसो वदति,—
 “इह समये (श) परिक्षीणः स्वामी पापमपि करिष्यति ।
 यतः,—

त्यजेत् क्षुधात्तां महिलाऽपि पुत्रं

खादेत् क्षुधात्तां भुजगौ स्वमण्डम् ।

(म) सार्यभट्टः,—सार्थात् सहात्, सजातीयसमूहादित्यर्थः, (“सहसार्थो न
 जन्तुभिः” इत्यमरः) यद्वा,—सार्थात् वणिक्समूहात्, (“सार्थो वणिक्समूहे
 स्यादपि सहातमात्रके” इति मेदिनी) उद्गो दृष्टे भारं सन्तरोष्य वणिजः
 वाणिज्याश्रम् इतस्ततो विचरन्ति अत उद्गो वणिक्सहायत्वम् ; यद्वा,—सार्थात्
 युष्मात्, (“सहसहातपुत्रौचसाश्रयूथकदम्बकाः” इति भागुरिः) भट्टः विद्युतः ।

(य) अभयवाचम्—अरण्येऽस्मिन् निर्भयं तिष्ठ, न कुतोऽपि ते भयसम्भावना
 इत्येवमाश्वासवाक्यम् ।

(र) शरीरवैकल्यात्—शरीरस्य देहस्य, वैकल्यात् विकलतायाः, अस्वास्थ-
 यतोः इत्यर्थः । भूरिवृष्टिकारणात्—प्रचुरवर्षाद्वृष्टीः । व्यस्ताः,—व्याकुलाः ।

(ल) काकव्याघ्रगोमायुभिः,—काकव्याघ्रशगलैः ।

(व) कण्टकभुजा—कण्टकमयवृक्षभोजिना ।

(श) परिक्षीणः,—अत्यर्थं कृशः, व्याधिना क्षुधया च कातर इत्यर्थः ।

(५८) त्यजेदिति ।—महिला स्त्री, पुत्रगतजीवना इति भावः, क्षुधात्तां

बुभुक्षितः किं न करोति पापं ?

क्षीणा नरा निष्कारुणा भवन्ति ॥ ५८ ॥

एवञ्च,—मत्तः प्रमत्तश्चोत्त आर्तः क्रोधो बुभुक्षितः ।

लुब्धो भीरुस्त्वेरायुक्तः कामुकश्च न धर्मवित् ॥ ६० ॥

इति निश्चित्य सर्वे मिहान्तिकं जग्मुः । सिंहेनोक्तम्,—
“आह्वारार्थं प्राप्तं किञ्चित् ?” । काको ब्रूते,—“देव ! यद्वाटपि
न प्राप्तं किञ्चित्” । सिंहः अवदत्,—“कोऽधुना जीवनोपायः ?” ।
काको वदति,—“देव ! (ष) स्वाधीनाहारपरित्यागात् सर्व-
नाशः अयम् उपस्थितः” । सिंहेन उक्तम्,—“अत्राहारः कः
स्वाधीनः ?” । काकः कर्णे कथयति,—“चित्रकर्णः” इति ।
सिंहो (स) भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णो स्पृशति, ब्रूते च,—“मया अस्मै
अभयवाग् दत्ता, तत् कथमेवं सम्भवति ? तथा हि,—

पुष्पाकातरा सती. पुत्रमपि स्वतनयमपि, स्वगर्भजमतौवस्त्रिधमन्यज्यमपीति भावः,
यजेत परिहरेत् ; भुजगौ सर्पौ. क्षुधातां स्वं स्वकीयम्, अण्डं डिम्बम्, अपीति शेषः,
खादन् भक्षयेत् ; बुभुक्षितः क्षुधातुरो जनः, किं पापं दृष्ट्वा, न करोति ? न
शांरति ? अपि तु सर्वमेव ; तथा हि क्षीणाः कृशाः. क्षुद्याभ्यादिभिः निपीडित-
वादिति भावः, नराः पुरुषाः. (“नराः” इत्यत्र “जनाः” इति पाठान्तरम्)
निष्कारुणाः कृपाविवर्जिताः, भवन्ति, बुभुक्षितानां नास्ति किमपि अकार्यमिति
भावः । उपजातिः वृत्तम् ।

(६०) अधार्मिकान् निहिंशति. मत्त इति ।—मत्तः मद्यादिना गर्वेण वा
विकृतचित्तः, प्रमत्तः कर्तव्यकार्येषु अनवहितः, उन्मत्तः वातुलः, आर्तः विपन्नः,
क्रोधो कोपनस्वभावः. बुभुक्षितः क्षुधातुरः. लुब्धः लोलपः, भीरुः भयशीलः, त्वरायुक्तः
विसृज्यकारी, कामुकः इन्द्रियपरायणश्च, लोभः इति शेषः, धर्मवित् धार्मिकः,
न भवतीति शेषः, परन्तु एते पापरता एव भवन्तीति भावः ।

(ष) स्वाधीनाहारपरित्यागात्—स्वाधीनः निजामत्तः, अथवासुलभः इत्यर्थः, य
थाहारः भक्ष्यं, तस्य परित्यागात् परिहारात्, स्वहस्तस्यभोज्यद्रव्यस्यावहेलनात् ।
सर्वनाशः,—विपत्तिः ।

(स) भूमिमिति ।—अधर्मावाक्यश्रवणेन आत्मानमधर्मासृष्टं मत्वा पावित्र्य-

न भूप्रदानं न सुवर्णदानं न गोप्रदानं न तथाऽन्नदानम् ।

यथा वदन्तीह महाप्रदानं सर्वप्रदानेष्वभयप्रदानम् ॥ ६१ ॥

अन्वयः—सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत् फलम् ।

तत् फलं लभते सम्यक् रक्षिते शरणागते ॥ ६२ ॥

काको ब्रूते,—“नासौ स्वामिना व्यापादयितव्यः, किन्तु अस्माभिरेव तथा कर्त्तव्यं यथा असौ खटेहृदानमङ्गीकरोति” । तच्छ्रुत्वा सिंहस्तूष्णीं स्थितः । ततः (ह) असौ लब्धावकाशः

सम्पादनार्थं भूमिकर्षोः स्वर्गः कृतः, तथोः पवित्रत्वात् ; दृश्यते च लोके सम्पादनादिकाले कारणविशेषेण अपवित्रीभूतमात्मानं शोधयितुं दक्षिणकर्णे स्पृशतीति । यथा,—तादृशवाक्यश्रवणेनैव आत्मशोधनार्थं भूमिस्पर्शः पुनः श्रवणभयात् कर्णाच्छादनचेति ।

(६१) सर्वदानेष्वभयदानस्य उत्कर्षे व्यापयति, नेति ।—इह जगति, सर्वप्रदानेषु सर्वविधेषु दानेषु मध्ये, [निर्द्वारे सप्तमी] अभयप्रदानम् अभयदानं, न कुतोऽपि ते भयमस्तीत्युक्त्वा आश्रयदानमिति यावत्, यथा यद्वत्, महाप्रदानं महापुण्यजनकं दानं, वदन्ति कथयन्ति, आननन्ति इत्यर्थः, विहांस इति शेषः, सुप्रदानं भूमिदानं न, सुवर्णदानं कनकदानं न, गोप्रदानं धेनुदानं न, अन्नदानं भोजनदानं न, तथा तादृशं पुण्यजनकमित्यर्थः, वदन्तीत्यनेनान्वयः, सर्वोत्कृष्टत्वात् अभयदानस्य तत् कृत्वा नाधुना एव हन्तुं शक्यते इति भावः, (महाभारते स्त्रीपर्वणि अस्त्रानुरूपश्लोको यथा,—“न तत् क्रतुमहस्तेषां नोपवासैश्च नित्यशः । अभयस्य हि दानेन यत् फलं प्राप्नुयान्नरः” ॥ इति) । उपजातिः वृत्तम् ।

(६२) शरणागतरक्षणस्य फलमाह, सर्वेति ।—सर्वैः सर्वप्रकारैः, कानिः अभिलषितैः, समृद्धस्य सम्पन्नस्य, सर्वाभीष्टप्रदस्य इत्यर्थः, अश्वमेधस्य तदाख्ययागस्य, यत् फलं परिणामः, स्वर्गादिरूपमिति भावः, जायते इति शेषः, शरणागते शरणमापन्ने, आश्रिते इत्यर्थः, आर्त्ते इति शेषः, रक्षिते वाते, पालिते सतीत्यर्थः, आपदः भीषिते सति इति यावत्, तत् फलं तादृशं पुण्यं, सम्यक् विशेषण, सम्पूर्णरूपेत्यर्थः, लभते प्राप्नोति, रक्षकः इति शेषः, अतः नेतत् कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ।

(ह) असौ—काकः । लब्धावकाशः,—लब्धः प्राप्तः, अवकाशः अवसरः, तूष्णीमवस्थानात् सिंहस्य सम्पत्तिवचनमनुमाय स्वाभीष्टपूरणयोग्यकाल इत्यर्थः ।

कूटं कृत्वा सर्वान् आदाय सिंहसमीपम् आगतः । अथ काकेन उक्तं,—“देव ! यत्नात् अपि आहारो न प्राप्तः, अनेकोपवास-
क्षिप्तश्च स्वामी, तत् इदानीं मदीयमांसम् उपभुज्यताम् ।
यतः,—

स्वामिमूला भवन्त्येताः सर्वाः प्रकृतयः खलु ।

समूलेषु हि वृक्षेषु प्रयत्नः सफलो नृणाम्” ॥ ६३ ॥

सिंहेन उक्तं,—(क) “भद्र ! वरं प्राणपरित्यागो न पुनः
दृष्टो कर्मणि प्रवृत्तिः” । जम्बूकेन अपि तथोक्तम् । ततः
सिंहेन उक्तं,—“मैवम्” । अथ व्याघ्र उवाच,—“मदेहेन
जीवतु स्वामी” । सिंहेन उक्तं,—“न कदाचित् एवम्

न सः । कूटं—कैतवं, छलमिति यावत् । (“मायानिश्चयकृते कैतवान्वराशिषु ।
पयोघने शैलशृङ्गे सौराङ्गे कूटमस्त्रियाम्” ॥ इत्यमरः) ।

(६३) स्वदेहदानाय च द्र प्ररोचयितुमाह, स्वामिमूला इति ।—एताः परिदृश्य-
मानाः, सर्वाः सकलाः, प्रकृतयः अमात्यादि राज्याङ्गानि, (“स्वाम्यमात्यसुहृत्कोष-
पादुर्गवस्त्वानि च । राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च” ॥ इत्यमरः) खलु
निश्चितं, स्वामिमूलाः स्वामी प्रभुरेव, मूलम् आद्यं, प्रधानकारणमित्यर्थः, स्थिति-
कारणमिति यावत्, यासां ताः तादृशाः, भवन्ति वर्तन्ते इत्यर्थः, राजानि जीवन्ति
सर्वाणि एव राज्याङ्गानि वर्तन्ते इति भावः । हि तथाहि, वृक्षेषु तद्वत्, शाखा-
पत्रवाद्यङ्गयुक्तेष्वपीति भावः, समूलेषु मूलसहितेषु सत्सु चेत्, न तु छिन्नमूलेष्विति
भावः, नृणां नराणां, तद्विरक्षिषूणामिति भावः, प्रयत्नः तद्रक्षणप्रयासः इत्यर्थः,
सफलः फलप्रदः, भवतीति शेषः, पत्रपुष्पादिसमन्वितस्यापि वृक्षस्य मूलानि चेत्
क्षिणानि भवन्ति, तदा तद्रक्षणप्रयासो यथा विफलो भवति, तथा सतीष्वपि
अमात्यादिषु सप्तसु प्रकृतिषु अविकृतासु मूलप्रकृतिः स्वामी व्यापन्नी भवति चेत् न
एकाऽपि प्रकृतिः अवस्थातुं शक्नोति, अतः मूलोभूतः स्वामी सर्वथैव रक्षणीय इति
वहिरभिप्रायः ।

(क) भद्र !—साधो ! । (“भद्रः शिवे खञ्जरीटे—। त्रिषु श्रेष्ठे च साधो च
नृपसि करणान्तरे” ॥ इति मेदिनी) ।

उचितम्” । अथ चित्रकर्णोऽपि (ख) जातप्रत्ययः तथा एव आत्मदेहदानमाह । तद्वदन् एव असौ (ग) द्वीपिना कुन्तिं विदार्थ्य व्यापादितः सर्वैः भक्षितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि,— ‘मतिर्दोलायते नूनम्’ इत्यादि ।

[इति सिंह-काक-व्याघ्र-शृगाखोदकथा] ।

तदनन्तरं पुनः तृतीयधूर्त्तवचनं श्रुत्वा स विप्रो भ्रमं निश्चित्वा छागं त्यक्त्वा स्नात्वा गृहं गच्छति । छागश्च नीत्वा धूर्त्तः स्वादितः । अतोऽहं ब्रवीमि,— ‘आत्मौपम्येन यो वेत्ति’ इत्यादि” ।

[इति ब्राह्मण-च्छाग-धूर्त्तत्रयकथा] ।

राजा आह,— “मेघवर्ण ! कथं त्वया शत्रुमध्ये (घ) सुचिरम् उषितं, कथं वा तेषाम् अनुनयः कृतः ?” । मेघवर्ण आह,— “देव ! (ङ) स्वामिकाय्यार्थितया स्वप्रयोजनवशात् वा किं किं न क्रियते ? पश्य,—

लोको वहति किं राजन् ! न मूर्ध्ना दग्धुमिन्धनम् ? ।

क्षालयन्त्यपि हृच्चाङ्गु नदीवेला निक्षन्तति ॥ ६४ ॥

(ख) जातप्रत्ययः,—काकादीनां वचसः प्रत्युत्तरेण सिंहस्य अभिप्रायं ज्ञात्वा आत्मनो जीवनविषयेऽपि सज्जातविश्वासः ।

(ग) द्वीपिना—व्याघ्रेण । कुचम्—उदरम् ।

(घ) सुचिरं—दीर्घकालम् । उषितं—वासः कृतः । अनुनयः,—सान्त्वनं, चित्तसन्तोषविधानमित्यर्थः, हृन्दानुवर्त्तनम् इति यावत् ।

(ङ) स्वामिकाय्यार्थितया—स्वामिनः प्रभोः, कार्यं कार्यसिद्धिमित्यर्थः, अर्पयते कामयते यः स तस्य भावः तत्ता तथा, प्रभुकार्यासिद्धहेतोरित्यर्थः । (“स्वामिकाय्यार्थिना” इति पाठान्तरम्) ।

(६४) लोकोऽस्य सनयनाय दृष्टान्तमाह, लोक इति ।—राजन् ! हे नरपते ! लोकः जनः, दग्धं दाहयन्, इत्यनं काष्ठ, रन्ध्रकाष्ठमित्यर्थः, किं मूर्ध्ना शिरसा, न वहति ? न धारयति ?, यत्तु कुच्छमक्षरपेण परिण्यते, स्वप्रयोजनवशात् तदुत्तमाङ्गेनापि धृत्वा गृहं नयति इति भावः । अन्यदापि उदाहरणं प्रदर्शयति,—

तथा चोक्तम्,—

स्कन्धेनापि वहिच्छत्रं कार्यमासाद्य बुद्धिमान् ।

यथा वृद्धेन सर्पेण मण्डूका विनिपातिताः ॥ ६५ ॥

राजा आह,—“कथमेतत् ?” । मेघवर्णः कथयति,—

वृद्धसर्प-मण्डूककथा ।—

“अस्ति जीर्णोद्याने मन्दविषो नाम सर्पः । सः (च) अति-
जीर्णतया स्वाहारमपि अन्वेष्टुमक्षमः सरस्तीरे पतित्वा स्थितः ।
ततो दूरादेव केनचित् मण्डूकेन दृष्टः पृष्ठम्,—“किमिति
भवान् आहारं न अन्विष्यति ?” । सर्पो ब्रूते,—“भद्र ! गच्छ,
किं ते मम मन्दभाग्यस्य (क) वृत्तान्तप्रश्नेन ?” । ततः
(ज) सञ्ज्ञातकौतुकः स मेकः,—“सर्वथा कथ्यताम्” इति तं
सर्पमाह । सर्पो ब्रूते,—“भद्र ! अत्र ब्रह्मपुरे कौण्डिन्यान्तः

नदीवेला नदीस्रोतः, वृक्षाङ्गिं वृक्षमूलं चरणम्, (“अङ्गिर्नां पादमूलयोः” इति
मैदिनी) चालयन्ती प्रचालयन्त्यपि, घौतं कुर्वन्त्यपीत्यर्थः, पादसेवां कुर्वन्त्यपीति भावः,
निकृन्तति उत्पाटयति, आदौ यस्य चरणं चालयति पश्चात् तमेव समूलं विनाशयति,
ततः स्वार्थसाधनार्थं सर्वम् एव क्रियते लोकोरिति भावः ।

(६५) दृष्टान्तान्तरमाह, स्कन्धेनेति ।—बुद्धिमान् प्राज्ञो जनः, कार्यं कर्तव्यं
कर्म, आसाद्य प्राप्य, स्वकार्यसाधनार्थमित्यर्थः, शत्रून् शरीन्, स्कन्धेन अपि अंसेनापि,
वहेत् नयेत् । तत्र दृष्टान्तमाह, यथेति ।—वृद्धेन जीर्णेन, सर्पेण फणिना, यथा
वहत, मण्डूकाः मेकाः, सकला इति शेषः, विनिपातिताः निहताः । “अपमानं
प्रकृत्य मानं कृत्वा च पृष्ठतः । स्वकार्यमुद्धरेत् प्राज्ञः कार्यध्वंसेन मूर्खता” ॥
इति भावः । (कामन्दकदशमे अस्त्रानुरूपी यथा,—“स्कन्धेनापि वहिच्छत्रं प्रियाणि
समुदाहरन् । सम्प्राप्ते चैव काले तु भिन्द्यादृष्टनिवाश्रमि” ॥ इति । शक्रनीती
वैतीयेऽध्याये भारतशान्तिपर्वणि आपदसंख्याख्याने च एतदनुसूचीको दृश्यते ।)

(च) अतिजीर्णतया—अतिवृद्धतया । अन्वेष्टुम्—अनुसन्ध्यातुम्, [अनु + इष्ट +
तुमुन्] । सरस्तीरे—जलाशयकूले ।

(क) वृत्तान्तप्रश्नेन—वात्तांजिज्ञासया ।

(ज) सञ्ज्ञातकौतुकः,—कौतूहलान्नान्तः ।

(भ) श्रीत्रियस्य पुत्रो विंशतिवर्षदेशीयः सर्वगुणसम्पन्नो दुर्देवात् मया (ज) दृशंसेन दष्टः । ततस्त्वं सुशीलनामानं पुत्रं मृतमवलोक्य कौण्डिन्यः शोकेन मूर्च्छितः पृथिवीतले लुलोठ । अनन्तरं ब्रह्मपुरवासिनः सर्वे बान्धवास्तस्य तत्र आगत्य उपविष्टाः । तथा चोक्तम्,—

उत्सवे व्यसने युद्धे दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।

राजहारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥ ६६ ॥

ततः कपिलो नाम (ट) ज्ञातकोऽवदत्,—“अरे

(भ) श्रीत्रियस्य—कान्दसस्य, वेदविदः इत्यर्थः । (“श्रीत्रियश्चान्दसौ समौ” इत्यमरः) । [कन्दस्+घः कन्दोऽधीते इति “श्रीत्रियश्चान्दोऽधीते” (५।२।८४ पा०) इति वा श्रीत्रियसिपात्यते । पक्षे,—“तदधीते—” (४।२।५८ पा०) इत्यण्] । विंशतिवर्षदेशीयः,—विंशतिवर्षे प्रायः, विंशतिवर्षात् किञ्चिद्गूढ इत्यर्थः । [“ईषदसमाप्तौ कल्पन्देष्टदेशीयरः” (५।३।६७ पा०) इति देशीयः] ।

(ज) दृशंसेन—क्रूरः । (“दृशंसी घातुकः क्रूरः पापः” इत्यमरः) ।

(६६) पन्थुलक्षणमाह, उत्सवे इति ।—उत्सवे विवाहाद्यानन्दजनककार्यं, व्यसने विपदि, युद्धे सङ्ग्रामे, शत्रुणा सङ्घ इति शेषः, दुर्भिक्षे अज्ञाभावसमये, राष्ट्रविप्लवे राष्ट्रस्य राज्यस्य, विप्लवे उपद्रवे, राजहारे विचारालये, श्मशाने शवदाहस्थाने, अन्येष्टिकर्मणि इति यावत्, यः तिष्ठति वर्तते, अन्तर्बुद्धयति इत्यर्थः, स बान्धवः प्रकृतो वन्तुः । श्लोकार्थं निबन्धने ५४ पृः १२४ श्लोके व्याख्यातः ।

(ट) ज्ञातकः,—आप्तव्रतौ, वेदाध्ययनानन्तरं साहस्यया कृतसमावर्तनाङ्गः ज्ञानः इति यावत् । (“ज्ञातकस्याप्तव्रतौ” इत्यमरः) तय ज्ञातकस्य त्रिविधः,—विद्या-ज्ञातकः, व्रतज्ञातकः, विद्याव्रतज्ञातकश्चेति । तथा च सारीतः,—“वयः ज्ञातकाः भवन्ति—विद्याज्ञातको व्रतज्ञातको विद्याव्रतज्ञातकश्चेति । यः समाप्य वेदम् असमाप्य व्रतानि समावर्तते स विद्याज्ञातकः । यः समाप्य व्रतम् असमाप्य वेदं समावर्तते सः व्रतज्ञातकः । उभयं समाप्य समावर्तते यः स विद्याव्रतज्ञातकः” । राजवल्कीऽप्याह,—“वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा” इति । यद्यपि विद्याव्रतज्ञातक इति भावः ।

क्रीडिष्ये ! (ठ) मूढोऽसि, येन एवं विलपसि । शृणु,—

क्रीडीकरोति प्रथमं यदा जातमनित्यतां ।

धात्रीव जननी पश्चात् तदा शोकस्य कः क्रमः ? ॥ ६७ ॥

तथा च,—क्री गताः पृथिवीपालाः ससैन्यबलवाहनाः ।

वियोगसाक्षिणी येषां भूमिरद्यापि तिष्ठति ॥ ६८ ॥

तथा च,—जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥ ६९ ॥

(ठ) मूढः,—मूर्खः ।

(६७) शोकापनोदनार्थं विंशत्या श्लोकैः देहस्य अनित्यतां प्रदर्शयति, क्रीडीति ।—यदा यद्भि, अनित्यता विनश्यता, प्रथमं पूर्वं, जननी गर्भधारिणी, पश्चात् अनन्तरं, धात्री उपमाता इव, जातं सद्यःप्रसूतं बालं, क्रीडीकरोति एकत्र,—आयत्तीकरोति, अन्यत्र,—अङ्गमारीपयति, यदा जातस्य मरणम् अवश्यभावीत्यर्थः, यदा,—यदा अनित्यता धात्रीव जातं प्रथमं, जननी पश्चात् क्रीडीकरोति इत्यन्वयः, भूमिष्ठमात्रं शिशुं धात्री यथा क्रीडे गृह्णाति, तथा अनित्यता अपि जन्म-मात्रमेव जीवं स्थाययीकरोति, पश्चाच्च जननीति समुदायायः ; तदा शोकस्य दृष्टिवियोगदुःखस्य, कः क्रमः ? किम् आक्रमणम् ? कथं जनः शोकाक्रमणेन व्याकुलो भवतीत्यर्थः, “जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः” इति शास्त्रात् अवश्यभाविनि विषये शोकं मा कार्षीरिति भावः ।

(६८) क्वेति ।—सैन्यानि सेनाः, बलं शक्तिः रूपं वा, सैन्यबलं प्रभृतसेना-जनितपराक्रम इति वा, सैन्यानां बलमिति वा, (“बलं गन्धर्वासे रूपे स्थानानि स्थौल्य-सैन्ययोः” इति मेदिनी) वाहनानि गजाश्चर्यादियानानि, तैः सह वर्तमानाः सैन्य-बलवाहनसहिताः, पृथिवीपालाः राजानः, क्व कुत्र, गताः प्रस्थिताः ? मृता इत्यर्थः, येषां पृथिवीपालानां, वियोगसाक्षिणी मृत्योः साक्षाद्भिनी, भूमिः पृथिवी, तत्तत् राज्यमिति यावत्, अद्यापि अधुनाऽपि, विजृम्भसकलचिह्नेऽपि काले इति भावः, तिष्ठति वर्तते ; इतोऽपि दृष्टान्तात् विनश्यत्त्वमाकलय्य जगतां शोको न काव्यं इति भावः ।

(६९) जातस्येति ।—जातस्य उत्पन्नस्य, प्राणिनः इति शेषः, मृत्युर्मरणं, ध्रुवः निश्चितः, अवश्यभावीति यावत्, तथा मृतस्य च पश्चत्वं गतस्य च, जन्म

अपरच,—कायः सन्निहितापायः सम्पदः पदमापदाम् ।

समागमाः सापगमाः सर्वसुत्यादि भङ्गुरम् ॥ ७० ॥

प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।

आमकुम्भ इवाश्वःस्थो विशीर्णः सन् विभाव्यते ॥ ७१ ॥

आसन्नतरतामेति मृत्युर्जन्तोर्दिने दिने ।

आघातं नीयमानस्य बध्यस्येव पदे पदे ॥ ७२ ॥

उत्पत्तिः, भुवं निश्चितमेव, आसुतोः जीवस्य पुनः पुनः संसरणशीलत्वादिति भावः ; तथा हि, अथ वा अस्मिन् दिवसे वा, अष्टशतान्ते वा शतवर्षान्तरे वा, बहुवर्षान्ते इत्यर्थः, प्राणिनां जीवानां, मृत्युः नाशः, भ्रवः निश्चितः एव, वै इति पूरणार्थक-मन्यग्रम्, अतो मरणे खेदः जनने च हर्षो न ज्ञानिभिर्विधेय इति भावः ।

(७०) काय इति.—कायः देहः, सन्निहितापायः सन्निहितः आसन्नः, अपायः विनाशः यस्य तादृशः, आसन्नध्वंसः इत्यर्थः, भवतीति शेषः, सम्पदः ऐश्वर्याणि, आपदां विविधविपत्तीनां, पदं स्थानं, सम्पत्तौ सत्यां विपत्तिः अवश्यम्भाविनीति भावः ; [पदमित्यत्र विधेयप्राधान्यात् क्लीबत्वम् एकवचनञ्च] समागमाः पुत्रादिभिः इष्टजनैः सह मेलनानि, सापगमाः अपगमेन विधोगेन सह वर्तमानाः, विधोगो-दकाः इत्यर्थः, तथा सुत्यादि जायमानं, सर्वं निश्चिन्नमेव वस्तु, भङ्गुरं विनश्यत्, इत्यवेहि इति शेषः, अतः पुत्रविरहे कथं शुच्यते भवता ? इति भावः ।

(७१) प्रतिक्षणमिति.—अश्वःस्थः जलमध्यस्थितः, आमकुम्भः वज्रिदाहामाकेन अपरिपक्वः घटः इव, प्रतिक्षणं प्रतिमुहूर्तं, क्षीयमाणः क्षयं प्राप्नुवन्नपि, अयं कायः शरीरं, न लक्ष्यते न विभाव्यते, तथात्वेन न दृश्यते इत्यर्थः, लोकेरिति शेषः, परन्तु विशीर्णः विगलितः सन्, विभाव्यते ज्ञायते, नातः पूर्वम् ; जलाल-निमग्नः आमघटी यथा प्रतिक्षणमेव किञ्चित् किञ्चित् क्षयमाप्नोति, परन्तु तावत् तदक्षयं न ज्ञातुं शक्नुवन्ति मूढाः यावत् निःशेषतया न क्षिणोति, एवं देहोऽपि प्रतिक्षणमेव, अतः प्रतिक्षणं क्षीयमाणस्य देहस्य कृते शोकः न कार्य इति भावः ।

(७२) आसन्नेति.—आघातम् आहत्यते अत्र इति व्युत्पत्त्या बधस्याव-मित्यर्थः, नीयमानस्य प्राप्यमाणस्य, बध्यस्य बधाईस्य, बधदण्डप्राप्तस्य इत्यर्थः, पदे पदे इव प्रतिपदमिव, प्रतिपदविच्छेपे इवेत्यर्थः, मृत्युः अन्तकः, दिने दिने प्रतिदिनं, यथा यथा दिनं याति तथेत्यर्थः, जन्तोः प्राणिनः, आसन्नतरतां क्रमशः सान्निध्यम्

यतः,—अनित्यं यौवनं रूपं जीवितं द्रव्यसञ्चयः ।

ऐश्वर्यं प्रियसंवासो मुह्येतन्न न पण्डितः ॥ ७३ ॥

यथा काष्ठञ्च काष्ठञ्च समेयातां महोदधौ ।

समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥ ७४ ॥

यथा हि पथिकः कश्चिच्छायामाश्रित्य तिष्ठति ।

विश्रम्य च पुनर्गच्छेत् तद्वद्भूतसमागमः ॥ ७५ ॥

एति प्राप्नोति, प्रतिदिनसंवायुः शीघ्रते इत्यर्थः; राजदण्डाज्ञाप्राप्तौ बध्यो बधस्थानं प्रति यथा यथा अग्रेसरीभवति तथा तथा यथा सत्योरासन्नतरो भवति एवं यथा यथा एकैकं दिनमतिक्रान्तिं जीवोऽपि तथा तथा सत्योरासन्नतरो भवति इति निष्कर्षः ।

(७३) अनित्यमिति ।—यौवनं तारुण्यं, रूपं सौन्दर्यं, जीवितं प्राणाः, द्रव्यसञ्चयः धनसङ्ग्रहः, (“द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्त्यसक्तं धनं वसु” इत्यमरः) ऐश्वर्यं सम्पत्, प्रियसंवासः प्रियजनैः पुत्रकलत्रादिभिः सह एकत्रावस्थितिः, एतत् सर्वमेव अनित्यम् अस्थिरं, क्षणस्थायि इत्यर्थः, [पदमेतत् सर्वत्र विभक्ति-विपरिणामेन चत्वारि] तत्र तेषु यौवनादिषु विषये, पण्डितः विवेकी जनः, न मुह्येत् न मोहं गच्छेत्, तत्र नात्यासक्तो भवेत् इत्यर्थः; एतेषां विद्योगे न ग्रीचेत् इति भावः । (भारतवनपर्वणि द्वितीयाध्याये “द्रव्यसञ्चयः” इत्यत्र “रत्नसञ्चयः” “मुह्येत्” इत्यत्र “गृध्येत्” तथा शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मव्याख्याने पञ्चाधिकविंशत-तमाध्याये विंशदधिकविंशततमाध्याये च “ऐश्वर्यम्” इत्यत्र “आरोग्यम्” “मुह्येत्” इत्यत्र “गृध्येत्” इति पाठभेदाः) ।

(७४) यथेति ।—महोदधौ महासमुद्रे, काष्ठञ्च काष्ठञ्च दारुखण्डद्वयं, क्षीतसा नीयमाने द्वे काष्ठे इत्यर्थः, यथा यद्वत्, समेयाताम् आत्मनैव सङ्गच्छेयातां, समेत्य च क्षणं मिलित्वा च, व्यपेयातां पुनः विशुद्ध्येयातां, [कर्मकर्तारि प्रयोगः] भूतसमागमः भूतेः पुत्रादिभिः प्राणिभिः सह, भूतानां प्राणिनामिति वा, समागमः परस्परमेलनम्, अपीति शेषः, तद्वत् तथा, क्षणेन भवति याति च इत्यर्थः । (श्रीक्रीडं भारतशान्तिपर्वणि राजधर्मव्याख्याने २८ अध्याये मोक्षधर्म-व्याख्याने च १७४ अध्याये दृश्यते) ।

(७५) यथेति ।—यथा यादृक्, कश्चित् कोऽपि, पथिकः भ्रष्टः, क्षायाम् अनातपम्, आश्रित्य अवलम्ब्य, तिष्ठति वसन्ते, विश्रम्यति इत्यर्थः, विश्रम्य च

अथ,—पञ्चभिर्निर्मिते देहे पञ्चत्वञ्च पुनर्गते ।

स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते तत्र का परिदेवना ? ॥ ७६ ॥

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान् ।

तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्खवः ॥ ७७ ॥

नायमत्यन्तसंवासी लभ्यते येन केनचित् ।

अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ? ॥ ७८ ॥

विश्रामं कृत्वा च, परिश्रमम् अपनोय च इत्यर्थः, पुनः भूयः, गच्छेत् यायात्, आभीष्टदेशमिति भावः, तदन्तर्गता, भूतसमागमः भूतानां प्राणिनां, समागमः संसारं प्रागननमित्यर्थः, अथ विश्रामभूयं संसारः, न तु चिरं स्थातुमिति भावः ।

(७६) पञ्चभिरिति ।—पञ्चभिः चित्वादिपञ्चभूतैः, निर्मिते आरब्धे, सृष्टे इत्यर्थः, पुनः भूयः, पञ्चत्वं पञ्चस्वरूपं, प्रकृतिभूताच्चित्वादिभावमित्यर्थः, देहभक्त-भूतानां स्वस्वांगस्य स्वेषु स्वेषु भावेषु प्रवेशरूपमिति यावत्, गते प्राप्ते, देहे शरीरे, स्वां स्वां स्वस्वकर्मणांरूपां, योनिं जन्म, उत्पत्तिमित्यर्थः, यदा,—स्वां स्वां योनिं स्वस्वोत्पत्तिकारणं चित्वादिकमित्यर्थः, देहस्य चित्तिभागः चित्तो अवग्रहः अप्सु तेजोऽंशस्तेजसि इति भावः, अनुप्राप्ते च लब्धे च सति, तत्र तांस्वनु, तथाविधे देहे इत्यर्थः, तच्छरीरनिर्मितमिति यावत्, का परिदेवना ? विस्मापः ? “नरथं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिः जीवितम्” इति विचिन्त्य तदर्थं शोकः न कर्तव्यः इति निष्कर्षः ।

(७७) यावत इति ।—जन्तुः प्राणी, यावतः यावत्सङ्ख्याकान्, मनसः चेतसः, प्रियान् अनुकूलान्, हृद्यामित्यर्थः, सम्बन्धान् सम्पर्कान्, स्नेहवन्धनानि इति यावत्, कुरुते विदधाति, यावतः जनान् सिद्ध्यति इत्यर्थः, अस्य जन्तोः, हृदये मनसि, तामनः तत्सङ्घाताः, शोकशङ्खवः मन्थुरूपकोलानि, निखन्यन्ते विध्वन्यन्ते, स्नेहानुरूपनैवानुतापं भजन्ते इत्यर्थः ।

(७८) नायमिति ।—येन केनचित् येन केनापि भावेन, किमधिकं, स्वेन अस्वकीयेन, शरीरेणापि देहेनापि, नित्यसम्बन्धेन इत्यर्थः, अयं जीवः, अत्यन्तसंवासी चिराग्रथः, दीर्घाग्रथत्वेनेत्यर्थः, न लभ्यते न प्राप्यते, अन्येन अपरेण, केनचित् जनेन, पुत्रादिना दूरसम्बन्धेनेत्यर्थः, किमुत ? किं वक्तव्यम् ? न कथमपि सम्भाव्यते इत्यर्थः, निजदेहमपि चिराग्रथत्वेन न प्राप्नोति देहस्य विनश्वरत्वात्, अन्यं

वपिच,—संयोगो हि वियोगस्य संसृचयति सम्भवम् ।

अनतिक्रमणीयस्य जन्म मृत्योरिवागमम् ॥ ७९ ॥

आपातरमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह ।

अपथ्यानामिवान्नानां परिणामोऽतिदारुणः ॥ ८० ॥

त्परच,—व्रजन्ति न निवर्तन्ते स्त्रोतांसि सरितां यथा ।

आयुरादाय मर्त्यानां सदा रात्रग्रहणी तथा ॥ ८१ ॥

वदितुं न आश्रयत्वेन खभते इत्यत्र किमु वक्तव्यमिति सरलायः । (भारतशान्ति-
पर्वणि राजधर्मव्याख्याने “येन” इत्यत्र “जातु” इति पाठान्तरम् । मीचधर्म-
व्याख्याने च एतदनुरूपश्लोकान्तरं दृश्यते यथा,—“पथि सङ्गतमेवेदं दारैरन्वैष
यन्मुभिः । नायमत्यन्तसंवासी खल्वपूर्थो हि केनचित्” ॥) इति ।

(७९) संयोग इति ।—जन्म उत्पत्तिः, अनतिक्रमणीयस्य अलङ्घनीयस्य,
अवश्यम्भाविनः इत्यर्थः, मृत्योः मरणस्य, आगमम् उपास्थितिर्भावः, संयोगः मेलनं,
वियोगस्य विच्छेदस्य, अवश्यम्भाविन इति भावः, सम्भवम् उत्पत्तिं, संसृचयति
प्रापयति, हि निययेन, मरणवत् विधीनोऽपि अवश्यम्भावीति मत्वा न शोचितव्य-
मिति भावः ।

(८०) आपातेति ।—आपातरमणीयानां तत्कालप्रीतिप्रदानां, तत्तत्समये
सुखकराणामित्यर्थः, अपथ्यानाम् अहितकराणाम्, अन्नानां भोज्यवस्तूनां, परिणतिः
एव परिणाम इव, प्रियैः सह पुत्रादिप्रियजनैः सह, संयोगानां मेलनानां, परि-
णामः परिणतिः, अतिदारुणः अतिभीषणः, असुखजनक इत्यर्थः, भवतीति शेषः,
तस्य विरहपथ्येवसानत्वादिति भावः, अपथ्यसेवनमापाततः रसनाद्वृत्तिसाधन-
मपि रोगाद्युत्पादकत्वेन यथा परिणामे दारुणस्तेषां भवति, तथा प्रियसम्बन्ध-
नत्वात्प्रीतिजननमपि अवश्यम्भाविविच्छेदोदकात् परिणामे मरणाधिकयातना-
प्रदं भवतीति निष्कर्षः ।

(८१) व्रजन्तीति ।—सरितां नदीनां, स्त्रोतांसि प्रवाहाः, यथा यद्वत्,
व्रजन्ति नियतमेव गच्छन्ति, न निवर्तन्ते न कदाचित् प्रत्यागच्छन्ति, तथा तद्वत्,
मर्त्यानां प्राणिनाम्, आयुः जीवितं, जीवनकालमित्यर्थः, आदाय गृह्णीताः,
रात्रग्रहणी रात्रिः दिवा च, सदा सर्वदा, व्रजतः न निवर्तते इति विभक्तिविपरि-
णामात् पूर्वेष्वन्वयः ; कालेन सर्वसंहारकेण जीवानामायुषः प्रतिनिमेषमेव

सुखास्वादपरो यस्तु संसारे सत्समागमः ।

स वियोगावसानत्वात् दुःखानां धुरि युज्यते ॥ ८२ ॥

अत एव हि नेच्छन्ति साधवः सत्समागमम् ।

यद्वियोगासिलूनस्य मनसो नास्ति भेषजम् ॥ ८३ ॥

सुकृतान्यपि कर्माणि राजभिः सगरादिभिः ।

अथ तान्येव कर्माणि ते चापि प्रलयं गताः ॥ ८४ ॥

अपक्रियमाणत्वादिति भावः । ("स्रवन्ति न निवर्तन्ते स्त्रीतांसि सरितामिव ।
आयुरादाय मर्त्यानां रात्र्यहानि पुनः पुनः" ॥ इति भारतशान्तिपर्वीयमोक्ष-
धर्मोक्तपाठः) ।

(८२) सुखेति ।—संसारे अस्मिन् विश्वे, यः सत्समागमः साधुसङ्गः,
सुखास्वादपरः परमसुखास्वादमित्यर्थः, स तु स सत्समागमीऽपि, वियोगावसान-
त्वात् विच्छेदपर्यन्तत्वात्, वियोगोदकत्वादित्यर्थः, दुःखानां दुःखजनकानां भावानां,
धुरि अग्रे, युज्यते गण्यते, सोऽपि चरन्ती अतीव दुःखदायकी भवतीत्यर्थः, अन्येषाम्
सुतरामिव इति भावः ; साधुसमागमी यथा परमानन्दप्रदः, तद्वियोगः ततोऽधिक-
दुःखप्रदः इति निष्कर्षः ।

(८३) अत इति ।—अत एव समागमस्य वियोगावसानत्वेन अतीव दुःख-
त्वादेव, साधवः विवेकिनः, सत्समागमं साधुसङ्गम्, अपोति शेषः, न इच्छन्ति
नाभिलषन्ति, हि यस्मात्, यस्य साधोः, वियोगः विच्छेदः एव, असिः खड्गः, तेन
लूनस्य छिन्नस्य, साधुवियोगात्तत्त्वित्यर्थः, मनसः चित्तस्य, भेषजं प्रतीकारसमर्थम्
औषधं, नास्ति न विद्यते, जगत्सिन्धुं धनादिविनाशप्रभवः शोकः कालेनापगच्छति
परन्तु साधुवियोगी न कदाऽपि केनाप्युपायेन, अत एव तत्त्वदर्शनः सन्निरपि
अत्यन्तसङ्गं नेच्छन्ति, एवञ्च अधीतसङ्गवेदेन त्वया अत्र अत्यन्तासक्तिः नैव काश्चिं
इति भावः ।

(८४) सुकृतानीति ।—सगरः सूर्यवंशीयो वृषतिविशेषः, स एवादिवंश-
तैः सगरप्रभृतिभिः, महाबलसम्पन्नैः धार्मिकैरेति भावः, राजभिः नरपतिभिः,
कर्माणि अश्वमेधाद्यनुष्ठानानि, सुकृतानि अपि सुसम्पादितान्यपि, यथाशक्तं
सम्यगनुष्ठितानि सन्त्यपीत्यर्थः, तानि पूर्वोक्तानि सुकृतानि, कर्माणि अनुष्ठानानि,
तेऽपि च राजानीऽपि च, अथ कार्त्तविराट्, एव निःशेषतयैवेत्यर्थः, ("नङ्गलानन्तरारथ-

सच्चिन्त्य सच्चिन्त्य तमुग्रदण्डं
 मृत्युं मनुष्यस्य विचक्षणस्य ।
 वर्षांश्चुसित्ता इव चर्मबन्धाः
 सर्वे प्रयत्नाः शिथिलीभवन्ति ॥ ८५ ॥
 यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति
 गर्भे निवासं नरवीरलोकः ।
 ततः प्रभृत्यस्खलितप्रयाणः
 स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति ॥ ८६ ॥

प्रत्यकार्त्तं पृथोऽथ" इत्यमरः) प्रत्ययं नाशं, गताः प्राप्ताः ; मादृशान्ता का कथा ? इति भावः ।

(८५) सच्चिन्त्येति ।—उग्रदण्डम् उत्कटशस्त्रं, तं प्रसिद्धं, मृत्युं कृतान्तं, सच्चिन्त्य सच्चिन्त्य पुनः पुनर्मनसि ध्यात्वा, स्थितस्य इति शेषः, विचक्षणस्य विदुषः, अपीति शेषः, मनुष्यस्य मानवस्य, सर्वे प्रयत्नाः निखिलप्रयासाः, वर्षांश्चुसित्ताः वर्षाजलाद्राः, चर्मबन्धाः इव चर्मयन्त्र इव, चर्ममयबन्धनानीवेत्यर्थः, शिथिलीभवन्ति मन्दीभवन्ति, कार्यसाधने पूर्ववत् सुदृढप्रयत्नो न वर्तते इत्यर्थः, चर्मबन्धपक्षे—अट्टदीभवन्ति, जलेनाद्रोभावात् बन्धनयन्त्रिः स्फटदृतां परित्यजतीत्यर्थः ; आसन्नमृत्युभयेन चित्तवैकल्यादिति भावः ; प्राप्ताः मृत्योरवश्यम्भाषितं विचिन्त्य पार्थिवे वस्तुनि नात्यधिकं समादरयुज्यो भवन्ति, यतः तवापि एतदर्थं शोकवैकल्यं न युज्यते इति हृदयम् । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

(८६) यामिति ।—नरवीरलोकः नरेशु मनुष्येषु मध्ये यूरो जनः, अस्खलित-प्रयाणेन मृत्युसमीपगमनात् वीरत्वमवगन्तव्यम् ; यदा,—“नरवीर !” इति कस्याप्या-वगणम् ; भो नरवीर ! लोकः जनः, यामेव प्रथमाम् आद्यां, रात्रिं निशाम्, वसन्तम् ; भो नरवीर ! लोकः जनः, यामेव प्रथमाम् आद्यां, रात्रिं निशाम्, वसन्तम् [अत्यन्तसंयोगे द्वितीया] गर्भे निवासं वसतिम्, उपैति प्राप्नोति, यस्यामेव रात्रौ गर्भस्थो भवतीत्यर्थः, (“गर्भे निवासी नरवीर ! लोकः” इति पाठे—हे नरवीर ! लोकः निवासी वासार्थी सन् इत्यर्थः, गर्भे यामेव प्रथमां रात्रिम् उपैति अधितिष्ठ-तीत्यर्थः) ततः प्रभृति तामेव रात्रिमारभ्य, [प्रभृतिशब्दयोगे पञ्चमी] अस्खलित-प्रयाणः अविचलितगतिः सन्, स नरवीरः, प्रत्यहं प्रतिदिनं, मृत्युसमीपं मृत्योः निकटम्, एति गच्छति ; “मृत्युजन्मवतो वीर ! जन्मना सह जायते” इति विभावनीयमिति भावः । उपजातिः वृत्तम् ।

अथ (ङ) संसारं विचारय, शोकोऽयम् (ठ) अज्ञानस्य प्रपञ्चः । पश्य,—

अज्ञानं कारणं न स्याद्वियोगो यदि कारणम् ।

शोको दिनेषु गच्छत्सु वर्द्धतामपयाति किम् ? ॥ ८७ ॥

तद्गद ! (ण) आत्मानम् अनुसन्धेहि (त) शोकचर्चाच्च परिहर । यतः,—

अकाण्डपातजातानामस्त्राणां मर्मभेदिनाम् ।

गादशोकप्रहारानामचिन्तैव महौषधम् ॥ ८८ ॥

(ङ) संसारं—विश्वं, विश्ववासिनां प्रकृतिमिति यावत् ।

(ठ) अज्ञानस्य प्रपञ्चः,—मोहस्य विस्तृतिः, मोहविजृम्भणमित्यर्थः, (“विपर्यासि विस्तरे च प्रपञ्चः” इत्यमरः) अज्ञानतमसावृता एव जनाः शोकविमुग्धा भवन्ति, ये खलु ज्ञानिनः मोहावरणनिर्मुक्ताः ते पुनः शोकादिभिरनाक्रान्ता मोहन्ते इति भावः ।

(८७) शोककारणं सयुक्तिकं दर्शयन्नुपसंहरति, अज्ञानमिति ।—यदि वियोगः विच्छेद एव, कारणं हेतुः, शोकस्य इति शेषः, अज्ञानं मोहः, कारणं न स्यात् न भवेत्, तदा दिनेषु दिवसेषु, गच्छत्सु अतिक्रामत्सु, शोको मन्युः, वर्द्धताम् ? वृद्धिं गच्छतु ? किं किमर्थम्, अपयाति ? अपगच्छति ? कालेन प्रशमितो भवति इत्यर्थः, पुत्रादिवियोगशोकस्य अप्रतिविधेयत्वात् वियुक्तस्य पुनः प्राप्तिः सम्भावना-विरहाच्च तथा मिथवियोगस्य नित्यमेव सम्भवत्वाच्च उत्तरीतरं शोकस्य वृद्धिरेव उचिता न प्रशमनम्, अतः अज्ञानमेव शोकस्य कारणं न पुनर्विच्छेदः, तत्त्वदर्शिनां शोकाभिभूतत्वाददर्शनादिति भावः ।

(ण) आत्मानं—स्वं, कोऽहं कुतः किमर्थमागतः इत्येवमात्मज्ञानमित्यर्थः । अनुसन्धेहि—अन्वेषय, आत्मतत्त्वं विज्ञातुं प्रयत्नपरी भव इत्यर्थः ।

(त) शोकचर्चा—शोकचिन्ताम् । (“चर्चां स्वासकचिन्तयोः” इति शाश्वतः) ।

(८८) अकाण्डेति ।—मर्मभेदिनां मर्मविदारकाणाम्, अस्त्राणाम् आयुधानाम्, अस्त्रस्वरूपाणामित्यर्थः, अकाण्डे असमये, सहसा इत्यर्थः, पातः पतनं, तेन जातानाम् उत्पन्नानाम्, अचिन्तितपूर्वाणामित्यर्थः, गादशोकप्रहारानां तीक्ष्ण-

ततस्तद्वचनं निश्चय (थ) प्रबुद्ध इव कौण्डिन्य उवाच
 व्रजवीत्,—“तदक्षम् इदानीं गृह्नन् रक्वासेन, वनमेव
 गच्छामि” । पुनः कपिलो ब्रूते,—

“वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां

गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।

अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते

निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥ ८९ ॥

व्रतः,—दुःखितोऽपि चरेद्धर्मं यत्र कुत्राश्रमे रतः ।

समः सर्वेषु भूतेषु न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ ९० ॥

श्लोकावातानां, तज्जनितवेदनानामित्यर्थः, अचित्तैव अनालीचनेव, शोचस्य अक्षरस्य-
 मेव इत्यर्थः, महीषधं प्रधानं भेषजम् ।

(थ) प्रबुद्ध इव—जागरित इव, मोहनिद्रापगमानन्तरं लब्धचेतस्य इव
 इत्यर्थः ।

(८९) वनमेव गच्छामि इति कौण्डिन्योक्तेः प्रत्युत्तरमाह, वने
 इति ।—रागिणां विषयासक्तचेतसां, वनेऽपि अरण्येऽपि, गृहे तु सुतरामेव
 इत्यपर्यर्थः, दोषाः दूषणानि, लोभमोहादयः पापप्रवृत्तयः इत्यर्थः, प्रभवन्ति जायन्ते,
 श्रुत्वेन वर्तन्ते इत्यर्थः, गृहे भवने, पशूनां पक्षिसङ्घाकानाम्, इन्द्रियाणां चक्षुः-
 कणादीनां, नियतः संयमोऽपि, तपः नियमः, धर्मागुष्ठानम् इत्यर्थः, यः जनः,
 पकुत्सिते अनिन्दिते, पुण्ये इति यावत्, कर्मणि क्रियायां, प्रवर्तते तिष्ठति, पुण्य-
 कार्यमाचरति इत्यर्थः, तादृशस्य निवृत्तरागस्य विषयासक्तिरहितस्य, वीतसङ्गस्येति
 यावत्, जनस्येति शेषः, गृहं भवनम् एव, तपोवनं तपोवनवत् धर्मागुष्ठानस्थानं,
 प्रवर्ततेति शेषः; तद्वैव अनासक्ततया स्यात्तत्त्वं, किं वनगमनाभिधाषेण ? इति
 भावः । ज्ञानिशतकादिषु विविधप्राचीनग्रन्थेषु श्लोकस्यास्य भूयसा प्रचारी दृश्यते ।
 श्रेयस्थविलं वृत्तम् ।

(९०) दुःखित इति ।—दुःखितोऽपि प्राप्तदुःखोऽपि, पुदकलवाद्यभाव-
 जनितविविधदुःखं सहित्वाऽपीत्यर्थः, जलः इति शेषः, यत्र कुत्र यस्मिन् कस्मिन्नपि,
 पाशमे गार्हस्थ्यादौ, रतः अनुरक्तः, समाहितचित्तः सत् इत्यर्थः, धर्मे पुण्यं, चरेत्
 पशुतिष्ठेत्, सर्वेषु निखिलेषु, भूतेषु प्राणिषु, समः समभावः एव, [भावप्रधानः

इत्तञ्च,—वृत्त्यर्थं भोजनं येषां सन्तानार्थञ्च मैथुनम् ।

वाक् सत्यवचनार्थञ्च दुर्गाण्यपि तरन्ति ते ॥ ८१ ॥

तथा हि,—

आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था

सत्योदका शीलतटा दयोर्मिः ।

तत्राभिषेकं कुरु पाण्डुपुत्र !

न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा ॥ ८२ ॥

निर्देशः अयम्, अथवा विशेषणमेतत् जनः इत्यस्य, तत्र च समदर्शी इत्यर्थः, सर्वत्र आत्मवत् ज्ञानमित्यर्थः, धर्मकारणं धर्मस्य हेतुः, धर्मसाधनहेतुरित्यर्थः, लिङ्गं चिह्नं, ब्रह्मचर्याद्याग्रमन्यन्नकं दण्डाजिनधारणादि इत्यर्थः, न, धर्मकारणमिति शेषः । (मनुसंहितायां षष्ठाध्याये “दुःखितः” इत्यत्र “दूषितः” “कुत्र” इत्यत्र च “तत्र” इति पाठान्तरम्) ।

(८१) वृत्त्यर्थमिति ।—येषां नराणां, भोजनम् आहारः, वृत्तिः जीविका, अर्थः प्रयोजनं यस्य तत् जीविकार्थं, जीवनधारणार्थमित्यर्थः, न तु रसनाद्वयार्थमिति भावः ; मैथुनं स्त्रीसम्भोगश्च, सन्तानार्थम् अपत्यार्थं, न तु इन्द्रियसुखार्थमिति भावः ; वाक् वचनप्रयोगश्च, सत्यवचनार्थं सत्यवचननिमित्तं, न तु बहुजल्पनार्थं स्ववाजल्पनार्थं वा इति भावः, ते नराः, दुर्गाणि कृच्छ्राणि अपि, दारुणसङ्कटानपीत्यर्थः, दुस्तरसंसारदुःखानपीत्यर्थो वा, तरन्ति अतिक्रान्ति ; ते नराः धार्मिकाः, सर्वा विपदः अतिक्रम्य सुखेन वसन्ते च इति भावः । (भारतशान्तिपर्वोपरान्तधर्मवर्णनप्रकरणे दशाधिकशततमेऽध्याये,—“यावार्थं भोजनं येषां सन्तानार्थञ्च मैथुनम् । वाक् सत्यवचनार्थञ्च दुर्गाण्यपि तरन्ति ते” ॥ इति पाठः) ।

(८२) आत्मेति ।—आत्मा परं ब्रह्म एव, आत्मस्वरूपज्ञानमेवेत्यर्थः, संयमः इन्द्रियनियम एव, पुण्यं पवित्रं, तीर्थम् अवतारः, जलावतरणार्थं सोपानमित्यर्थः, (“अवतारे विदुर्कीर्थम्” इति शाश्वतः) यस्याः सा, संयमरूपसोपानसहायेन आत्मस्वरूपज्ञानरूपनद्यां प्रवेशाधिकारं लभेदिति भावः ; सत्यं तथ्यभाषणमेव, उदकं जलं यस्याः सा, शीलं सञ्चरितमेव, तटं तीर्थं यस्याः सा, दया भूतानुकम्पा एव, कृष्णिः तरङ्गमात्रा यस्याः तादृशी, नदी सरित्, नदीस्वरूपः इत्यर्थः, सर्वकालव्यविशेषकलात् इति भावः ; पाण्डुपुत्र ! हे युधिष्ठिर ! तत्र तादृश्याम् आत्मज्ञानरूप-
नद्याम्, अभिषेकं स्नानं, कुरु अवगाहस्व, सत्यशीलदयासंयमाद्यनुष्ठानेन आत्मज्ञानं

विशेषतश्च,—

जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिभूतम् ।

संसारमिममत्यन्तमसारं त्यजतः सुखम् ॥ ८३ ॥

यतः,—दुःखमेवास्ति न सुखं यस्मात् तदुपलक्ष्यते ।

दुःखार्त्तस्य प्रतीकारे सुखसंज्ञा विधीयते ॥ ८४ ॥

अत्र आत्मानं विशेषय इत्यर्थः, वारिणा जलेन, प्रसिद्धेन लौकिकजन्मेनेत्यर्थः, एतदात्मा अन्तरिन्द्रियं, चेत इत्यर्थः, न युध्यति बुद्धि न लभते, संयमाद्याचरणमेव वित्तशुद्धपाथः, न तु जलावगाहनमिति भावः । (“भारतौघशान्तिपर्वणि उद्योग-पर्वणि च “आत्मा नदी भारत ! पुण्यतीर्थां सत्योदका धृतिकृन्ना दशोन्मः । तस्यां मातः पूयते पुण्यकर्मां पुण्यो ह्यात्मा नित्यमन्योऽन्य एव” ॥ इति पाठः । युधिष्ठिरं प्रति भोषस्य उपदेशोऽयम्) । इन्द्रोपेन्द्रवन्नयोः उपजातिः इतम्,—“अनन्तरो-द्यौरितलक्षभाजौ पादौ यदीयावुपजातयन्ताः” इति लक्षणात् ।

(८३) जन्मेति ।—जन्म उत्पत्तिः, मृत्युः मरणं, जरा बाह्वं, व्याधिः रोगः, वेदना शोकादिजन्या व्यथा, ताभिरभिभूतं सङ्कुलं, परिपीडितमित्यर्थः, अत एव अत्यन्तम् अतिशयेन, असारं स्थिरांशशून्यं, तुच्छमित्यर्थः, इमं परिदृश्यमानं, संसारं भवं, त्यजतो विहाय गच्छतः, जनस्य इति शेषः, सुखं प्रीतिः, भवतीति शेषः । (भारतशान्तिपर्वणीयराजधर्मव्याख्याने नवमेऽध्याये,—“जन्ममृत्युजराव्याधि-वेदनाभिरभिभूतम् । अपारमिव चास्वस्थं संसारं त्यजतः सुखम्” ॥ इति पाठान्तरम्) ।

(८४) दुःखमिति ।—दुःखमेव क्लेश एव, अस्ति विद्यते, सुखं प्रीतिः, न, शक्ति इति पूर्वेष्वन्वयः, संसारे इति शेषः ; कुतः ? इत्याह,—यस्मात् यतः, तत् दुःखमेव, उपलक्ष्यते अनुभूयते ; ननु यदि संसारेऽस्मिन् सुखं नास्ति, निरवच्छिन्नं दुःखमेव विद्यते, तदा कथं सुखदुःखमिति नामद्वयं श्रूयते ? इत्याह,—दुःखार्त्तस्य दुःखकातरस्य, जनस्येति शेषः, प्रतीकारे दुःखोपशमे सति, सुखमज्ञा सुखम् इति नाम, विधीयते क्रियते, व्यवह्रियते इत्यर्थः ; जगति दुःखं दुःखाभावश्च इति द्वयमेव वर्तते, सुखव्यपदेशश्च दुःखाभावे एव लोकाणाम्, पतीऽलम् अलोकसुखान्वेषणेन भवतः इति हृदयम् । (भारतशान्तिपर्वणीयराजधर्म-वर्णने पञ्चविंशाध्याये,—“दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात्तदुपलभ्यते । दृष्ट्वाऽऽर्त्तिप्रभवं दुःखं दुःखाऽऽर्त्तिप्रभवं सुखम्” ॥ इति पाठः) ।

कौण्डिन्यो ब्रूते,—“एवमेव” । ततोऽहं तेन (द) शोकाकुलेन ब्राह्मणेन शप्तः यत्,—“अद्याभ्य (घ) मण्डूकानां वाहनं भविष्यसि” इति । कपिलो ब्रूते,—“सम्प्रति (न) उपदेशासहिष्णुः भवान्, शोकाविष्टं ते हृदयम्; तथाऽपि कार्यं शृणु,—

सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते ।

स सङ्गिः सह कर्त्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥८५॥

अन्यच्च,—कामः सर्वात्मना हेयः स चेद्वातुं न शक्यते ।

स्वभार्यां प्रति कर्त्तव्यः सैव तस्य हि भेषजम्” ॥८६॥

एतच्छ्रुत्वा स कौण्डिन्यः (प) कपिलोपदेशाभ्युत्पन्नप्रशान्त-

(द) शोकाकुलेन—शोकात्तेन । शप्तः,—एवं ते अनिष्टं मृयादित्येवम् आक्रुष्टः, अभिशापयन्त इत्यर्थः ।

(घ) मण्डूकानां—भेकानाम् ।

(न) उपदेशासहिष्णुः,—दुःखाभिसन्तप्तहृदयत्वात् हितवाक्यशृणु अचमः । शोकाविष्टं—शोकाभिभूतम् ।

(८५) सङ्ग इति ।—सङ्गः संसर्गः, लोकेः सह सम्बन्ध इत्यर्थः, आसक्तिः वा, विषयानुरागः इत्यर्थः, सर्वात्मना सर्वथा, त्याज्यः परिहर्त्तव्यः, चेत् यदि, स सङ्गः, त्यक्तुं परिहर्त्तुं, न शक्यते न पाठ्यते, तर्हि स सङ्गः, सङ्गिः साधुभिः, सह दाडं, कर्त्तव्यः विधेयः, हि यतः, सतां साधूनां, सङ्गः संसर्गः, भेषजम् औषधं, मानसव्याधिप्रशमकं सहौषधम् इति भावः ; सतां सङ्गिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवतीति तात्पर्यम् ।

(८६) काम इति ।—कामः इच्छा, विषयामिलाष इत्यर्थः, स्तुक्चन्दन-वनिताद्युपभोगेच्छा इति यावत्, (“कामः स्मरेच्छयोः पुमान्” इति मीढगी) सर्वात्मना सर्वप्रयत्नेन, हेयः त्याज्यः, चेत् यदि, स कामः, हातुं, त्यक्तुं, न शक्यते न चम्यते, तर्हि स्वभार्यां निजधन्यपत्नीं, प्रति कर्त्तव्यः विधेयः, हि यतः, सैव स्वभार्यैव, तस्य कामस्य, भेषजम् औषधं, तन्निवर्त्तिका इति भावः ।

(प) कपिलोपदेशाभ्युत्पन्नप्रशान्तशोकानलः,—कपिलस्य उपदेशः हितवचन-

शोकानलो (फ) यथाविधि दण्डग्रहणं कृतवान् । ततोऽहं
 शास्त्राण्यप्यं भोक्तुं मण्डूकान् वोढुम् अत्र तिष्ठामि । अनन्तरं
 तेन मण्डूकेन गत्वा मण्डूकनाथस्य जालपादनाम्नोऽप्ये तत्
 कथितम् । ततोऽसावागत्य मण्डूकनाथः सर्पमधिष्ठितवान् ।
 स च सर्पस्तं पृष्ठे कृत्वा (ब) चित्रपटक्रमं बभ्राम । परेद्यु-
 रलितुम् असमर्थं तं मण्डूकनाथोऽवदत्,—“किमिति भवान्
 प्रथमं मन्दगतिः ?” । सर्पो ब्रूते,—“देव ! आहाराविरहात्
 दुर्बलोऽस्मि” । मण्डूकनाथोऽवदत्,—“अस्मदाज्ञया मण्डूकान्
 भक्षय” । ततः “गृहीतोऽयं (भ) महाप्रसादः” इत्युक्त्वा क्रमशः
 स मण्डूकान् खादति । अथ निर्मण्डूकं सरो विलोक्य
 मण्डूकनाथोऽपि तेन खादितः । अतोऽहं ब्रवामि,—‘स्कन्धे-
 नापि वहिच्छत्रून्’ इत्यादि ।

[इति ब्रह्मसर्प-मण्डूककथा ।]

देव ! यातु इदानीं (म) पुरावृत्ताख्यानकथनम् । सर्वथा
 सन्धेयोऽयं हिरण्यगर्भो राजा सन्धोयतामिति मे मतिः” ।
 राजा उवाच,—“कोऽयं भवतो (य) विचारः ? यतो

तेन अमृतं पीयूषं, तेन प्रजान्तः उपशमं गतः, शोकानलः शोकदहनो यस्य सः,
 क्षपिलान्गासनेन नृत्तप्रबोध इत्यर्थः, सञ्जातनिर्वेद इति भावः ।

(फ) यथाविधि—यथाशास्त्रम् । दण्डग्रहणं—भेदाश्रमावलम्बनं, तत्रैव दण्ड-
 शास्त्रनियमादिति भावः ।

(ब) चित्रपटक्रमं—चित्रः विचित्रः, पटक्रमः पाटकल्पः, चरणव्यापार
 इत्यर्थः, गमनमिति यावत्, यस्मिन् तत् यथा तथा, विचित्रजनकगमनभङ्गोपदङ्गन-
 शरसरमित्यर्थः ।

(भ) महाप्रसादः,—महान् राजानुग्रहः इत्यर्थः ।

(म) पुरावृत्तेति ।—पुरावृत्ते इतिहासे, यदाख्यानं प्रसिद्धेतिवृत्तवर्णनं, तस्य
 वचनम् उक्तिः, पुनः कीर्तनमित्यर्थः, ऐतिहासिकवृत्तान्तस्य पुनरावृत्तिः ।

(य) विचारः,—नीतिः इत्यर्थः, मन्त्रणा इति यावत् ।

जितस्तावत् अयम् अस्माभिः । ततो यदि अस्मदाज्ञया
(र) सेवायां वसति, तदाऽऽस्तां, नो चेत् विगृह्यताम् । अत्रा-
न्तरे जम्बूद्वीपात् आगत्य शुक्रेण उक्तं,—“देव ! सिंहलद्वीपस्य
सारसो राजा सम्प्रति जम्बूद्वीपम् आक्रम्यावतिष्ठत” । राजा
तं (ल) सप्तभ्रूमम् आह,—“किं किम् ?” । शुकः पूर्वोक्तं
कथयति । गृध्रः स्वगतम् उवाच,—“साधु रे चक्रवाक !
मन्त्रिन् ! साधु” । राजा सक्रोपम् आह,—“आस्तां तावदयं,
गत्वा तमेव समूलमुन्मूलयामि” । दूरदर्शी विहस्याऽऽह,—

“न शरन्धेववत् कार्यं ह्यथैव घनगर्जितम् ।

परस्यार्थमनर्थं वा प्रकाशयति नो महान् ॥६७॥

अपरच,—एकदा न विगृह्णीयात् बहून् राजा विवादिनः ।

सदर्पोऽप्युरगः कीटैर्बहुभिर्नाश्यते भ्रुवम् ॥६८॥

(र) सेवायां—परिचर्यायाम् । वसति—तिष्ठति । विगृह्यतां—युध्यताम् ।

(ल) सप्तभ्रूमं—मार्चगं, सत्तरमित्यर्थः ।

(६७) इथा वागःङ्ग्वरी न महतां लक्षणमित्याह, नेति ।—शरन्धेववत्
शारदगलटेन इव, ह्यथैव विफलमेव, तदानीं जलवर्षणाभावादिति भावः । घन-
गर्जितं निरन्तरगर्जनं, (“घनं निरन्तरं सान्द्रम्” इत्यमरः) पुनः पुनः इथा
आस्फालनमित्यर्थः, न कार्यं न कर्तव्यं, महान् मनस्वी जनः, परस्य अन्यस्य, अर्थे
प्रयोजनम्, इष्टसम्पादनम् इति यावत्, अनर्थम् अनिष्टं वा, अनिष्टसम्पादनमित्यर्थः,
न प्रकाशयति न व्यक्तोक्तराति, न वाक्यान्तेण प्रकटयति, किन्तु कार्यतः दशम्येव
इत्यर्थः ; अतोऽलं युष्कजल्पनेन भवत इति भावः ।

(६८) युगपद्वह्नुभिः साहे कलहः नीतिविरुद्ध इत्याह, एकटेति ।—राजा
रूपः, विजिगीषुरिति यावत्, सदर्पः सगर्वः, अहङ्कारमत्तः सन् इत्यर्थः । एकदा
युगपत्, बहून् अनेकान्, विवादिनः विरोधिन्, शत्रूनिति यावत्, न विगृह्णीयात्
न युध्येत्, बहुभिः सह युगपत् न विद्वह्यात् इत्यर्थः, तथा हि उरगः सर्पोऽपि,
तीक्ष्णविषधरोऽपि इत्यर्थः, बहुभिः अनेकैः, कीटैः पिपीलिकादिभिः, भ्रुवं नाश्यते
नाशयते इत्यर्थः ; “चूद्राणामपि वलूनां संहतिः कार्यसाधिका” इति भावः ।

देव ! किम् (व) इतो विना सन्धानं गमनमस्ति ?
यतः अस्माकं पश्चात्प्रकोपोऽनेन कर्तव्यः । अपरञ्च,—
योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय क्रोधस्यैव वशं गतः ।

स तथा तप्यते मूढो ब्राह्मणो नकुलादयथा” ॥८९॥

राजा पृच्छति,—“कथमेतत् ?” । दूरदर्शी कथयति,—

ब्राह्मण-नकुलकथा ।

“अस्ति उज्जयिन्यां माधवो नाम ब्राह्मणः । तस्य ब्राह्मणी
प्रसूता । सा बालापत्यरक्षार्थं ब्राह्मणमवस्थाप्य स्नातुं गता । अथ
ब्राह्मणाय राज्ञः (श) पार्वणश्राद्धं दातुमाह्वानमागतम् । तत्
श्रुत्वा ब्राह्मणः (ष) सहजदारिद्र्यात् अचिन्तयत्,—“यदि सत्वरं
न गच्छामि तदा अन्यः कश्चिच्छ्राद्धं ग्रहीष्यति । उक्तञ्च,—

आदेयस्य प्रदेयस्य कर्त्तव्यस्य च कर्मणः ।

क्षिप्रमक्रियमाणस्य कालः पिबति तद्रसम् ॥१००॥

(व) इतः—अस्मात् स्थानात् । सन्धानं—सन्धिम् । पश्चात्प्रकोपः,—
पृष्ठदेशादाक्रमणमित्यर्थः । अनेन—राजहमेन ।

(८९) पूर्वापरमनालाद्य महमा क्रोधवशीभूततायाः दोषनाष्ट. य इति ।—यो
जनः. अर्थतत्त्वम् अर्थस्य प्रयोजनस्य, किम्प्रयोजनमुद्दिश्य एतत् काव्यमनुप्रितमित्येवं-
रूपस्येत्यर्थः. यथा,—अर्थस्य वस्तुनः. सङ्घटितव्यापारस्येत्यर्थः. (“अर्थोऽभिधेयैवस्तु-
प्रयोजननिवृत्तिषु” इत्यमरः) तत्त्वं आशार्थं. प्रकृतकारणम् इत्यर्थः. अविज्ञाद्यैव
अज्ञात्वा एव, क्रोधस्य कोपस्य, उत्कटरोषस्येत्यर्थः. वशम् अधीनतां. गतः प्राप्तः. यः
महसा क्रुध्यति इत्यर्थः. स मूढः. मूर्खः. नकुलात् नकुलं व्यापाद्य इत्यर्थः. ब्राह्मणः
यथा विप्रः यद्वत्, अतप्यत इति शेषः. तथा तद्वत्. तप्यते अनतापं लभते ।

(श) पार्वणश्राद्धं—पार्वणि समावस्थादौ विहितं, श्राद्धं पित्रादिभ्यः श्रद्धया
देये द्रव्यम् ।

(ष) सहजदारिद्र्यात्—आजन्मनिर्धनत्वात् ।

(१००) आदेयस्येति ।—आदेयस्य आदातुं योग्यस्य, अन्यस्मादयदीतव्यस्येत्यर्थः.
प्रदेयस्य दातव्यस्य, स्वयं सन्मदातुं
अन्यकर्तृकसम्प्रदानविषयीभूतस्य इति यावत्, प्रदेयस्य दातव्यस्य, स्वयं सन्मदातुं

किन्तु शिशोरत्र रक्षकः कोऽपि नास्ति, तत् किं करोमि ? भवतु तावत् चिरकालपालितममुं (स) सुतनिर्विशेषं नकुलं बालकरक्षार्थं व्यवस्थाप्य गच्छामि” । इति तथा कृत्वा गतः । ततस्तत्र नकुलेन बालकसमीपमागच्छन् तूष्णीं (ह) कृष्णसर्पो व्यापादितः खण्डितश्च । अथ असौ नकुलो ब्राह्मणमायान्तम् अवलोक्य (क) रक्तविलिप्तमुखपादः सत्वरम् उपगम्य तच्चरणयोर्लुलोठ । ततः असौ ब्राह्मणस्तं तथाविधं दृष्ट्वा,— “मम पुत्रः अनेन भक्षितः” इति अवधार्य तं व्यापादितवान् । अनन्तरं यावत् उपसृत्य पश्यति ब्राह्मणस्तावत् बालकः सुस्थः स्वपिति, सर्पस्तु व्यापादितस्तिष्ठति । ततः असौ ब्राह्मणः परं विषादम् उपगतः । अतोऽहं ब्रवीमि,—‘योऽर्थतत्त्वमविज्ञाय’ इत्यादि ।

[इति ब्राह्मण-नकुलकथा] ।

अपरञ्च,—कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा ।

षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी भवेत्” ॥१०१॥

योग्यस्य इत्यर्थः, तथा कर्त्तव्यस्य अवश्यसम्पादनीयस्य, कर्मणश्च कार्यस्य च, यद्वा,— कर्त्तव्यस्य आदेशस्य प्रदेयस्य च कर्मणः, क्षिप्रं शीघ्रम्, अक्षिप्रमाणस्य असम्पाद्य-मानस्य सतः, कालः समयः, यथाकालमक्षिप्रमाणत्वात् अतिक्रान्तः समय इत्यर्थः, तस्य कर्मणः, रमं स्वादं, साधुयमित्यर्थः, सारांशमिति यावत्, पिबति यमति, तत् कार्ये निपत्नीकरोतीत्यर्थः, अतः यथाकालमेव सम्पादनीयं सर्वं कर्त्तव्यमिति भावः ।

(स) सुतनिर्विशेषम्—अपत्यवत् जेहास्पदम् । व्यवस्थाप्य—निगोत्र्य ।

(ह) कृष्णनर्पः,—तीव्रविषः सर्पविशेषः । (केरटे इति भाषा) । [अत्र निश्चकच्यधारयसमासः] ।

(क) रक्तविलिप्तमुखपादः,—रक्तेन रुधिराण्य, सर्पशीघ्रिनेनेति यावत्, विलिप्तं रक्षितं मुखपादं वदनचरणं यस्य सः रुधिरदिग्धमुखचरणः ।

(१०१) आभ्यन्तरीयरिपष्टकस्य अवश्ययाज्यत्वे कामन्दकीयप्रथमसर्गोक्तश्रीकं प्रमाणप्रति, काम इति ।—कामः विषयभोगलिप्सा, सक्चन्दनवनिताद्युपभोगिच्छा

राजाऽऽह,—“मन्त्रिन् ! एष ते निश्चयः ?” । मन्त्री ब्रूते,
—“एवमेव । यतः,—

स्मृतिश्च परमार्थेषु वितर्को ज्ञाननिश्चयः ।

दृढता मन्त्रगुप्तिश्च मन्त्रिणः परमो गुणः ॥१०२॥

तथा च,—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।

वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥१०३॥

इत्यर्थः, क्रोधः कीपः, तथा लोभः परद्रव्येषु अन्यन्ताभिलाषः, हर्षः इष्टप्राप्तौ आनन्द-
इत्यर्थः, इष्टानिष्टप्राप्तौ हर्षविषादाधीनतायाः महापुरुषलक्षणविरोधान्, तदुक्तं,—
“सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादः रणे च वीरत्वम् । तं भुवनत्रयतिष्ठकं
जनयति जननी सुतं विरलम्” ॥ इति ; मानः चित्तसमुन्नतिः, आत्माभिमानजनक-
त्वात् तस्य षड्वर्गान्तर्गतत्वं वीर्यम् ; तथा मदः गर्वः, एनं षड्वर्गे रिपुघट्टकम्,
उत्पृजेत् परिहरेत्, तथा हि अस्मिन् षड्वर्गे, त्यक्ते पारिहते सति, सुखी आनन्दितः,
भवेत्, लाकः इति शेषः. (“कामः क्रोधी मदो मोहो लोभो मात्सर्यमेव च” इति
“कामः क्रोधस्तथा मोहो लोभो मानो मदस्तथा” इति च पाठान्तरम् । कामन्दकीय-
प्रथमसर्गे तु “भवेत्” इत्यत्र “नृपः” इति पाठः) । एते केवलं दुःखनिदानम्
इति हृदयम् ।

(१०२) मन्त्रिणः प्रधानगुणमाह, स्मृतिरिति ।—परमार्थेषु धर्मतत्त्वेषु, स्मृतिः
अभिनिवेशः, यद्वा,—परमार्थेषु आवश्यकक्रीयवस्तुषु, कर्तव्यविषयेषु इत्यर्थः, स्मृतिः
अरणं, वितर्कः विवेकबुद्धिः, विचारनैपुण्यं वा, कर्तव्यस्य फलाफलाचिन्तनमित्यर्थः,
ज्ञाननिश्चयः ज्ञानेन बुद्ध्या, निश्चयः सुनिपुणं विचार्य कर्तव्यस्थिरीकरणं बुद्धिस्थिरता
वा, दृढता अविचलितप्रतिज्ञता च, मन्त्रगुप्तिः गुह्यवाटसङ्गोपनय, मन्त्रितस्य पथं
प्रकाशनमित्यर्थः, इत्येतत् सर्वं मन्त्रिणः सचिवस्य, परमो महान्, गुणः धर्मः ।
(कामन्दकीयचतुर्थसर्गे तु,—“स्मृतिस्तत्परताऽर्धेषु वितर्को ज्ञाननिश्चयः । दृढता मन्त्र-
गुप्तिश्च मन्त्रिसम्पत्प्रकीर्तिता” ॥ इति पाठः) ।

(१०३) निश्चयज्ञानमन्तरेण कार्यप्रवृत्तौ दीवमाह, सहसेति ।—
सहसा इडात्, अविमृश्य इत्यर्थः, [“सहसेत्याक्रियकाविसंयोगः” इति
गणव्याख्याने खरादिपाठादव्ययम्] क्रियां किञ्चिदपि कार्यं, न

तद्देव ! यदि इदानीमस्मद्वचनं क्रियते तदा सम्भाय
गम्यताम् । यतः,—

यद्यप्युपायाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने ।

सङ्ख्यामात्रं फलं तेषां सिद्धिः सान्नि व्यवास्थिता ॥१०४॥

राजाऽऽह,—“कथमेवं सत्वरं सम्भाव्यते ?” । मन्त्री ब्रूते,
—“देव ! सत्वरं भविष्यति । यतः,—

सृष्टवत् सुखमेवो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।

सुजनस्तु कनकवटवत् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः ॥१०५॥

विदधौत न कुर्ष्यात्, कुत इत्याह,—अविवेकः विवेकशून्यता, अविशुध्य-
कारित्वमित्यर्थः, परम् अत्यन्तम्, आपदां विपदां, पदम् आस्यदम् ।
व्यातिरेकेणोक्ता इदानीमन्वयमुखेनाह, वृणते इति ।—गुणलुब्धाः गुणपक्षपातिन्यः,
सम्पदः श्रेयः, अत्र स्वयं वरणे गुणलुब्धत्वमेव हेतुः ; विशुध्यकारिणं विवेकिनं,
[विशुध्य करोतीति “उपपदमतिङ्” (२।२।१८ पा०) इति समासः] स्वयमेव
आत्मनैव, न तु परप्रेरणया इति भावः ; वृणते भजन्ते, स्वयंवरा भवन्तीत्यर्थः, हि
निश्चये ; अतो मया यदुक्तं तत् विशुध्येव उक्तमिति भावः । सुन्दरी वृत्तम् ।

(१०४) उपायचतुष्टये सन्धेरुपयोगितामाह, यदीति ।—यद्यपि यदि च,
साध्यसाधने साध्यस्य कार्यस्य, साधने सम्पादने, अभीष्टसिद्धिविषये इत्यर्थः, चत्वारः
चतुर्विधाः, उपायाः साधनानि, सामदानादयः इत्यर्थः, निर्दिष्टाः कथिताः, नीति-
विहिता इति शेषः, तथाऽपि तेषाम् उपायानां, सङ्ख्यामात्रं चतुःसङ्ख्याकत्वेन गणनामात्रं,
फलं लाभः, गणनया आधिक्यदृग्जननेव अस्य लाभः, नान्यः काश्चित् लाभ एभिर्भवति
इति भावः ; सिद्धिः कार्यसाधनान्तु, सान्नि सामप्रयोगे, सन्धिरूपे उपाये एव इत्यर्थः,
व्यवस्थिता निरूपिता ; सर्वत्र सान्नि एव संप्रत्यत्वादिति भावः ।

(१०५) सन्धिसंस्थापनस्य आशु एव सम्भाव्यत्वे हेतुं प्रदर्शयति, नृदिति ।—
दुर्जनः असज्जनः, सृष्टवत् सन्मयकृत् इव, सुखेन अनायासेन, भेद्यः विघटनीयः,
भेदाहः इत्यर्थः, स्वल्पेनैव कारणेन तेन सह मैत्रीभावः विच्छिन्नो भवतीति भावः ;
दुः कष्टसाध्यः, सन्धानं सन्धिर्यस्य स तथोक्तस्य दुःसन्धेयस्य, पुनर्मेलनानर्ह्येत्यर्थः,
भवति जायते, सुजनः सज्जनस्तु, कनकवटवत् सुवर्णमयकलस इव, दुर्भेद्यः
कष्टेन विशेषणीयः, आशु शीघ्रं, सन्धेयस्य सन्धानयोग्यस्य, पुनर्मेलनानर्हस्य इत्यर्थः ;

वपरश्च, — अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः ।

ज्ञानत्वद्विदग्धं ब्रह्माऽपि नरं न रञ्जयति ॥ १०६ ॥

विशेषतश्च अमौ धर्मज्ञो राजा, सर्वज्ञो मन्त्री च ; ज्ञातमेत-
न्मया पूर्वं मेघवर्णवचनात्, तत्कृतकार्यमन्दर्शनाच्च । यतः,—

कर्मान्मेघाः सर्वत्र परोक्षगुणवृत्तयः ।

तस्मात् परोक्षवृत्तीनां फलैः कर्म विभावयेत् ॥ १०७ ॥

भवति इति पूर्वेष्वन्वयः : सत्कुम्भी यथा स्वल्पेनैवाघातेन भग्नी भवति, अतश्चेष्टया
पुनर्न तं मयीजयितुं शक्नोति कश्चित्, एवं दुर्जनमैत्री स्वल्पेनैव हेतुना विच्छिन्ना
भवति न पुनः कोऽपि मेलायितुं शक्नोति ताम् । सुवर्णकम्भः सुजनश्च एतद्विपरीत-
गुणविशिष्ट एव, अतः सुजनस्यास्य मेलनं सुकरमेव इति भावः । आर्यां जातिः ।

(१०६) हेतुवन्तरं प्रदर्शयति, अज्ञ इति ।—अज्ञोऽविद्वान्, हिताहितबोधविहीनः
सूखं इति यावत्, सुखम अनायामं यथा तथा, अल्पायामेनेति यावत्, आराध्यः
प्रसादनीयः, स्वल्पमन्ततया आशुविश्रामितया च मधुरवाकोनैव स अनकुलश्रितव्य
इत्यर्थः, विशेषज्ञः विद्वान्, विवेकधीमन्त्यत्र इति यावत्, सुखतरम अनायामतरं,
ततोऽप्यल्पायामं यथा तथा इत्यर्थः, आराध्यते सेव्यते, प्रसादयितुं शक्यते इत्यर्थः,
हिताहितबोधमप्यसत्यात् युक्तियुक्तवचनप्रयोगमात्रमेव सः अनकुलो भवतीति भावः ;
परन्तु ज्ञानत्वद्विदग्धं ज्ञानत्वमेव बुद्धिक्षेत्रेण, स्वल्पमात्रेण बुद्ध्या इत्यर्थः, द्विदग्धम्
अविनीतं, पण्डिताभिमाननिमित्तकं, नरं मानधं, ब्रह्माऽपि विधाताऽपि, सकल-
ज्ञानाधारोऽपि इति यावत्, न रञ्जयति मन्त्रीषयितुं न शक्नोतीत्यर्थः, “स्वल्पविद्या
भयङ्करी” इत्युक्तेः तादृश्या विद्यया अहं विद्वान् इत्याद्याकारक आत्माभिमान
एव केवलं नाशने न कोऽपि तं बोधयितुं शक्नोति, अतः तादृशः पण्डितमन्यः खलु
सर्वजनविन्मत्तः अज्ञो जीव इति भावः । राज्ञोऽप्यर्थं विशेषज्ञः अतः सत्वरं
सुखतरमेव मन्त्रात् शक्यः इति तात्पर्यम् । सोकोऽयं विविधप्राचीनग्रन्थेषु परिदृश्यते ।
आर्यां जातिः ।

(१०७) काव्यदर्शनेन श्रीलाटीनामनुमयत्वे कामन्दकीयचतुर्थसर्गोक्तश्रीकं
प्रमाणयति, कर्मेति ।—सर्वत्र सर्वस्मिन् देशे विषये वा, परोक्षगुणवृत्तयः परोक्षा
अप्रत्यक्षा, गुणानां दशाधर्मादीनां, वृत्तिः व्यापारविशेषः येषां ते तादृशाः, जना
इति शेषः, कर्मणा कार्येण, व्यवहारदर्शनेनेत्यर्थः, अनुमेयाः अनुमातव्याः, एते

राजाऽऽह.—“अलम् (ख) उत्तरोत्तरेण, यथाऽभिप्रेतम् अनुष्ठेयताम्” । एतन्मन्त्रयित्वा गृध्रो महामन्त्री,—“तत्र यथाहं कर्तव्यम्” इत्युक्त्वा दुर्गाभ्यन्तरं प्रचलितः । ततः प्रणिधिवकेनागत्य राज्ञा हिरण्यगर्भस्य निवेदितं,—“देव ! सन्धिं कर्तुं महामन्त्रो गृध्रोऽस्मत्समौपम् आगच्छति” । राजहंसो ब्रूत,—“मन्त्रिन् ! पुनः (ग) अभिसन्धिना केनचिदत्रागतव्यम् ?” । सर्वज्ञो विहस्याऽऽह,—“देव ! न शङ्काऽऽसदमेतत्, यतो महाशयोऽसौ दूरदर्शी । अथवा (घ) स्थितिरियं मन्दमतौनां, कदाचित् शङ्कैव न क्रियते, कदाचित् सर्वत्र शङ्का । तथा हि,—

सरसि बहुशस्ताराच्छाये क्षणात् परिवर्च्चितः

कुमुदविटपान्वेषौ हंसो निशास्त्रविचक्षणः ।

दृष्टगुणनम्पन्नाः इति ज्ञातव्यम इत्यर्थः, तस्मात् अत एव, परोक्षवृत्तीनां परोक्षा इति गुणानां व्यापारविशेषः येषां तेषां प्रत्यक्षादृष्टगुणानामित्यर्थः, जनानामिति शेषः, कस्य कार्यं, दशाद्यनुष्ठानमित्यर्थः, फलैः परिणामैः, कार्यस्य परिणामदर्शनैरित्यर्थः, विभावयेत् जानौघात् ; यद्वा,—परोक्षा अप्रत्यक्षाः, अन्यतः श्रुताः न तु स्वयं दृष्टाः इति भावः, गुणवृत्तयः कस्मानुमंथाः स्वनिश्चयाद्यै कस्मदर्थनैरनुमातव्याः, तस्मात् परोक्षवृत्तीनां परोक्षा या वृत्तयः गुणवृत्तयः तासां, कस्य क्रिया, फलैः विभावयेत् ।

(ख) उत्तरोत्तरेण—उत्तरस्य उत्तरवाक्यस्य, उत्तरं प्रत्युत्तरेण, उत्तरप्रत्युत्तररूपवाक्प्रपञ्चेनेत्यर्थः ।

(ग) अभिसन्धिना—अभिसन्धानेन, व्याजिन इत्यर्थः, काचित् प्रतारणासुदृष्टेति यावत् । (“मन्त्रिना” इति पाठे—केनचित् आगन्तुकेन, सम्बन्धना सम्पर्कवता सता, कपटबन्धुना सता इत्यर्थः ।

(घ) स्थितिः,—अवस्थानं, निधनः इत्यर्थः । मन्दमतौनाम्—अल्पबुद्धीनाम् ।

(१०८) मूढानां प्रकृतिं प्रदर्शयति, सरसीति ।—निशास राविषु, कुमुदविटपं कैरवम् अन्विष्यतीति कुमुदविटपान्वेषौ कैरववृणालयादौ, अविचक्षणः मूढः, हंसः सरसि सरोवरे, बहुशः अनेकशः, ताराच्छाये नक्षत्रप्रतिबिम्बे, [“ह्याया

न दशति पुनस्ताराशङ्को दिवाऽपि सितोत्पलं
कुहकचकितो लोकः सत्येऽप्यपायमपेक्षते ॥१०८॥

दुर्जनदूर्षितमनसः सुजनेष्वपि नास्ति विश्वासः ।

बालः पायसदग्धो दध्यपि ननु फुत्कृतं भुङ्क्ते ॥१०९॥

तद्देव ! यथाशक्ति तत्पूजार्थं रत्नोपहारादिसामग्र्यो सुनज्जी-
क्रियताम्” । तथाऽनुष्ठितं सति स गृध्रो मन्त्रो दुर्गद्वारा-
च्चक्रवाक्रेण उपगम्य (ङ) सत्कृत्यानीय राजदर्शनं कारितो
दत्तासने च उपवेशितः । चक्रवाक उवाच,—“मन्त्रिन् !

बाहुल्ये” (२।४।२२ पा०) इति कायाशब्दस्य क्लीबत्वम्] यथा,—अविचक्षणः
हंसः निशासु ताराच्छाये ताराणां छाया यत्र तादृशे, सरसि बहुशः बहु-
वारान्, पुनः पुनरित्यर्थः, कुमुदविटपान्वेषी, चणात् चणकालमध्ये, यथा,—
चणात् उत्सवात्, कुमुदभक्षणाशान्तिनान्दादित्यर्थः, (“चणः पर्वोत्सवा-
व्यापारेषु मानेऽप्यनेहम्” इति मैदिनी), परिवर्धितः प्रतारितः सन्,
नक्षत्रप्रतिविम्बे कुमुदभान्या वञ्चितः सन् इत्यर्थः, दिवाऽपि दिवसेऽपि, पुनः मूयः,
ताराशङ्को नक्षत्रभान्तिमान्, सितोत्पलं श्वेतपद्मं, न दशति न कबलीकरोति,
तथा हि, कुहकेन क्लेशेन, चकितः विभ्रान्तचित्तः, लोकः जनः, सत्येऽपि
तथ्येऽपि, यथाशक्तिविषयेऽपीत्यर्थः, अपायम् अनिष्टम्, अपेक्षते मन्त्रते, आशङ्कते इति
यावत् ; सकृत् प्रतारितस्य पूर्वकृतप्रतारणानुस्मरणेन परमार्थवस्तुन्यपि संशयो जायते
इति भावः । हरिणी वृत्तम् ;—“नसमरसखा गः वङ्गदेह्यैर्हरिणी मता” इति
तल्लक्षणात् ।

(१०९) उक्तमर्थं प्रकारान्तरेण चाह, दुर्जनेति ।—दुर्जनेन खलीन, दूषितं
कलुषितं, मनश्चित्तं यस्य तस्य खलप्रतारितस्येत्यर्थः, जनस्य इति श्रवः, सुजनेषु साधुषु
अपि, विश्वासः प्रत्ययः, नास्ति न भवति । अत्र दृष्टान्तमाह,—ननु नियतं, पायसेन
परमान्नेन, अत्युष्णेन इति भावः, दग्धः प्रष्टमुखः, बालः शिशुः, दध्यपि फुत्कृतं
मफुत्कारं यथा तथा, मुखमारुतं दत्त्वा इत्यर्थः, भुङ्क्ते खादति ; चणज्ञाने-
नेति भावः । उपगोतिस्कन्दः,—“आर्यापराहंतुल्ये दक्षद्वये प्राङ्मुखगोतिम्” इति
लक्षणात् ।

(ङ) सत्कृत्य—सम्मान्य ।

(च) युष्मदायत्तं सर्वम् । स्वेच्छयोपभुज्यतामिदं राज्यम् ।
 राजहंसो ब्रूते,—“एवमेव” । दूरदर्शी कथयति,—“एवमेवैतत्,
 किन्तु इदानीं (छ) बहुप्रपञ्चवचनं निष्प्रयोजनम् । यतः,—
 लुब्धमर्थेन गृह्णीयात् स्तब्धमञ्जलिकर्मणा ।

मूर्खं कृन्दानुवृत्तेन याथातथ्येन पण्डितम् ॥११०॥

अन्वयः,—सद्भावेन हरिश्चित्तं सम्भ्रमेण तु बान्धवान् ।

स्त्रीभृत्यो दानमानैश्च दाक्षिण्येनैतरान् जनान् ॥१११॥

तत् इदानीं सन्धाय गम्यताम् । महाप्रतापश्चित्रवर्णो

(च) युष्मदायत्तं—युष्मदधीनम् ।

(छ) बहुप्रपञ्चवचनम्—अनेकशः वाग्विस्तरः, इथा वाक्पाङ्क्तिर इत्यर्थः ।

(११०) वाग्विस्तरस्य निष्प्रयोजनतायां हेतुप्रदर्शनमुखेन कीदृशं जनं कथं
 वशीकृत्यात् इति वक्तुं चाणक्यवचनं प्रमाणयति, लुब्धमित्यादिवाक्याम् ।—लुब्धं
 लोभपरवशं जनम्, अर्थेन धनेन, गृह्णीयात् वशमानयेत्, स्तब्धं गर्वितं जनं,
 (“नाधुम्” इति पाठान्तरम्) अञ्जलिकर्मणा युष्मकरूपव्यापारिण, हस्तयुग्मं
 कृत्वा विनयेन इत्यर्थः, मूर्खम् अज्ञं, कृन्दानुवृत्तेन अभिप्रेतकाव्यान्वष्टानेन,
 (“कृन्दोऽभिप्राय आशयः” इत्यमरः । “कृन्दानुवृत्तेन” इति पाठान्तरम्) पण्डितं
 विद्वान्, याथातथ्येन याथावृत्तेन, यथार्थज्ञापनेन इत्यर्थः, सर्वत्र गृह्णीयादित्यनुषङ्गः ।
 (भारतशान्तिपर्वोपापञ्चमस्कन्धे अस्यानुरूपश्लोको यथा,—“शूरमञ्जलिपातेन
 भीकं भेदेन भेदयेत् । लुब्धमर्थप्रदानेन समं तुल्येन विग्रहः” ॥ इति) ।
 भवान् पण्डितः, अतः भवत्पत्निधौ इथा वाक्पाङ्क्तिरं परिहृत्य यथार्थकथनमेव
 युज्यते इति भावः ।

(१११) सद्भावेनेति ।—सद्भावेन साधुव्यवहारिण, प्रणयेन इत्यर्थः, मित्रं
 सुहृदं, हरेत् वशीकृत्यात् इत्यर्थः, सम्भ्रमेण आदरेण, गौरवप्रदर्शनेन इत्यर्थः, तु पुनः,
 बान्धवान् आत्मीयान्, ज्ञातिप्रभृतीन् इत्यर्थः, दानमानैः अर्थादिदानेन सम्मान-
 प्रदर्शनेन च, स्त्रीभृत्यो भार्यानुकीविनौ, दाक्षिण्येन सारथ्येन, अक्षपटव्यवहारिण
 इत्यर्थः, इतरान् जडासीनान्, जनान्, अत्रापि हरेदिति सर्वत्रानुषङ्गः ; सर्वत्र पात्रानु-
 रूपं व्यवहृत्तमिति भावः । (“सद्भावेन हरेन्मित्रं सद्भावेन च बान्धवान् । स्त्रीभृत्यान्
 प्रेसदानाभ्यां दाक्षिण्येनैतरं जनम्” ॥ इति कामन्दकीयवृत्तीयसर्गाक्षपाठः) ।

राजा” । चक्रवाको ब्रूते,—“यथा सन्धानं कार्यं तदपि उच्यताम्” । राजहंसो ब्रूते,—(ज) “कति प्रकाराः सन्धीनां सम्भवन्ति ?” । गृध्रो वदति,—“कथयामि, श्रूयताम्,—

बलीयसाऽभियुक्तस्तु नृपो नान्यप्रतिक्रियः ।

आपन्नः सन्धिमन्विच्छेत् कुर्वाणः कालयापनम् ॥११२॥

कपाल उपहारश्च सन्तानः सङ्गतस्तथा ।

उपन्यासः प्रतीकारः संयोगः पुरुषान्तरः ॥११३॥

अदृष्टनर आदिष्ट आत्मादिष्ट उपग्रहः ।

परिक्रयस्तथोच्छिन्नस्तथा च परभूषणः ॥११४॥

स्कन्धोपनेयः सन्धिश्च षोडशः परिकीर्तितः ।

इति षोडशकं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः ॥११५॥

(ज) कति प्रकाराः,—कति भेदाः ।

(११२) कीदृशेन नृपेण सन्धिः कर्तव्य इति वक्तुं कामन्दकीयनवमसर्गोक्तिं प्रमाणयति, बलीयसेति ।—बलीयसा प्रबलेन शत्रुणा, अभियुक्तस्तु आक्रान्तः, न नास्ति, अन्या सन्धिव्यतिरिक्ता, प्रतिक्रिया प्रतिविधानं यस्य स तथाभूतः अनन्योपायः, उपायान्तरविरहित इत्यर्थः, (“बलिना विग्रहीतः सन् नृपोऽनन्यप्रतिप्रक्रियः” इति कामन्दकीयपाठः) अत एव आपन्नः विपन्नः, आपन्नतः इत्यर्थः, बलीयसाऽभियुक्तत्वादिति भावः, कालयापनं विविधच्छलेन समयान्तिपातं, कुर्वाणः विदधानः, शक्तिसंघयायमिति भावः, सन्धिं पणवन्, शत्रुणा सह मेलनमित्यर्थः, मन्विच्छेत् अभिलषेत् ; आपन्नस्य एव सन्धिः, न तु सार्वत्रिक इति भावः ।

(११३, ११४, ११५) कामन्दकीयं षोडशधा सन्धिभेदमाह, कपाल इत्यादिभिः विभिः ।—कपालः, उपहारः, सन्तानः, सङ्गतः, तथा उपन्यासः, प्रतीकारः, संयोगः, पुरुषान्तरः, अदृष्टनरः, आदिष्टः, आत्मादिष्टः (“आत्मानिषः” इति कामन्दकीयपाठः) उपग्रहः, परिक्रयः, तथा उच्छिन्नः, तथा परभूषणः, (“परभूषणः” इति कामन्दकीयपाठः) स्कन्धोपनेयश्च इति षोडशः षोडशविधः, सन्धिः परिकीर्तितः कथितः, (“षोडशः परिकीर्तितः” इत्यत्र “षोडशेते प्रकीर्तिताः” इति पाठे—स्कन्धोपनेयश्च सन्धिः सन्धिभेदः, ज्ञातश्च इति शेषः, एते पूर्वोक्ताः, षोडश षोडशविधा सन्धिः सन्धिभेदः, ज्ञातश्च इति शेषः, एते पूर्वोक्ताः, षोडश षोडशविधा सन्धिविचक्षणाः सन्धिशास्त्राभिज्ञाः, इत्यर्थः, सन्धयः इति शेषः, प्रकीर्तिताः कथिताः) सन्धिविचक्षणाः सन्धिशास्त्राभिज्ञाः,

कपालसन्धिर्विज्ञेयः केवलं समसंज्ञितः ।

सम्प्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते ॥११६॥

सन्तानसन्धिर्विज्ञेयो दारिकादानपूर्वकः ।

सङ्गिस्तु सङ्गतः सन्धिमैत्रीपूर्वं उदाहृतः ॥११७॥

यावदायुःप्रमाणस्तु समानार्थप्रयोजनः ।

सम्पत्तौ वा विपत्तौ वा कारणीर्यो न भिद्यते ॥११८॥

सङ्गतः सन्धिरेवायं प्रकृष्टत्वात् सुवर्णवत् ।

तथाऽन्यैः सन्धिकुशलैः काञ्चनः स उदाहृतः ॥११९॥

सन्धिम् इति पूर्वोक्तकल्पं, षोडशकं षोडशसङ्ख्याकं, प्राहुः कथयन्ति । अत्रायं वक्तव्यः,—सन्धेयत्वात् द्विविधः अनाभयोक्ता अभियोक्ता च, तत्र उपन्यासादयस्त्रयः सन्धयः अनभिधाक्तरि, शिष्टाश्च त्रयादश्च अभियोक्तरि ज्ञातव्या इति ।

(११६) पञ्चदशभिः श्लोकैः कामन्दकवचनमवलम्ब्य उद्दिष्टानां लक्षणान्याह, कपालाद्यादि ।—केवलं समसंज्ञितः समः तुल्यः, इति संज्ञा जाता अस्मिन् सम इति नात्वा प्रसिद्धः इत्यर्थः, सन्धिः कपालसन्धिः, विज्ञेयः वेदितव्यः । (“समसन्धितः” इति पाठे—समः समभावेन, सन्धितः मिलित इत्यर्थः । “समसन्धिकः” इति कामन्दकीयपाठे—समः तुल्यः, सन्धिना यः सः सन्धितुल्यः, न तु वास्तवसन्धिरित्यर्थः) अत्रायमाशयः,—यथा कपालयुगलं तुल्यतया संयोजितमपि नैकौभावो जायते सन्धेः, एवम् अनयोरन्योन्यमविश्रामात् नैकात्म्यौभावो घटते, तादृशं केवलं सन्धिरुच्यते इति । सम्प्रदानात् अर्थादिप्रदानात्, स्नेह्या आदावैव उपार्जयमाणत्वादिति भावः, यः सन्धिः, भवति, स उपहारः उपहारसन्धिः, उच्यते कील्यते ।

(११७) सन्तानेति ।—दारिकादानपूर्वकः कन्यादानारम्भकः, कन्याप्रदानेन सन्धेन सन्धेः इत्यर्थः, यः सन्धिः, सः सन्तानसन्धिः सन्तानहेतुत्वात् सन्तानसन्धिरिति, विज्ञेयः ज्ञातव्यः । सङ्गिः सञ्जनैः, नीतिविद्भिरित्यर्थः, मैत्रीपूर्वं मित्रतापूर्वकः, सन्धिः, सम्प्रदाने सन्धसति वा इति भावः, सङ्गतः सङ्गताख्यः सन्धिः उदाहृतः कथितः । (कामन्दके तु “सङ्गिः सङ्गतसन्धस्तु” इति पाठः) ।

(११८-११९) यावदित्यादि ।—यः सन्धिः, यावदायुःप्रमाणः यावज्जीवन-आशौ, (“यावदायुःप्रमाणम्” इति कामन्दकीयपाठे—यावज्जीवनमित्यर्थः) समानार्थप्रयोजन इत्यादिनां अन्वयः) समानार्थं विश्वासनैकीभावगतत्वात् तुल्यरूपम्

द्रव्यात्मकार्यसिद्धिन्तु समुद्दिश्य क्रियेत यः ।

स उपन्यासकुशलैरुपन्यास उदाहृतः ॥१२०॥

मयाऽस्योपकृतं पूर्वं समाप्येष करिष्यति ।

इति यः क्रियते सन्धिः प्रतीकारः स उच्यते ॥१२१॥

उपकारं करोम्यस्य समाप्येष करिष्यति ।

अयञ्चापि प्रतीकारो रामसुग्रीवयोरिव ॥१२२॥

एकप्रकारमित्यर्थः, प्रयोजनं कार्यं यस्मिन् सः तत्त्वकार्यः इत्यर्थः, सम्पत्तौ सम्पत्काले वा, विपत्तौ विपत्काले वा, कारणैः कैश्चिदपि हेतुभिः, न भिद्यते न भेदमाप्नोति, न विच्छिन्नीभवतीत्यर्थः, अयम् एतादृश एव, सन्धिः मङ्गतः सङ्गतः इति नाम्ना ख्यातः, तैवोपपत्तादिति भावः, तथा किञ्च, सुवर्णवत् स्वर्णं इव, पक्कटत्वात् उत्पन्नत्वात्, सर्वलोहेभ्यः सुवर्णं यथा उत्पन्नं तथा सर्वमन्त्रिभ्यः मङ्गतमन्त्रेः उत्पन्नत्वादित्यर्थः, सः मङ्गतसन्धिः, अन्यैः अपरैः, सन्धिकुशलैः सन्धितत्त्वनिपणैः, काचनः काचननाम्ना, उदाहृतः कथितः । चत्वार एते अभिधीकृतिर सन्धेयै द्रष्टव्याः । कामन्दके श्लोकावितौ किञ्चित्परिवर्तितौ दृश्येते ।

(१२०) द्रव्येति ।—द्रव्यं सम्पत्, आत्मा देहः, कार्यं कर्तव्यम्, एतेषां युष्मा, —द्रव्याय भव्याय, मङ्गलायेत्यर्थः, (“भव्यभेषजयोर्द्रव्यम्” इति शाब्दतः) यत् आत्मकार्यं लोकोयं कर्म, तस्य सिद्धिं साफल्यं, समुद्दिश्य अभिप्रेत्य, यः सन्धिः, क्रियेत भाष्येत, स सन्धिः, उपन्यासकुशलैः उपन्यासात्मकसन्धितत्त्वाभिज्ञैः उपन्यासः उपन्यासनाम्ना, उदाहृतः कीर्तितः । (अत्र प्रथमपाठे “आत्मकार्यस्य सिद्धिन्तु” इति पाठे—स्वकार्यसिद्धायम् इत्यर्थः । “भव्यासैकार्यमिद्धिम्” इति कामन्दकीयपाठे—भव्यां श्रमादृष्टाप, एकार्यमिद्धिं तत्त्वप्रयोजनसम्पादनं, रिपुदेषः इधीरेवावयोरनिष्टकारी, निहनेऽस्मिन्, मया तवापि इष्टसिद्धिरित्येवमुपन्यस्य यः सन्धिः क्रियते स उपन्यासः इति भावः) ।

(१२१) जयेति ।—बुधे प्राक्, मया अस्य आपन्नस्य एतस्य, उपकृतस्य उपकारः कृतः, मम अपि, आपन्नस्य इति भावः, एषः पूर्वोपकृतः अयं, करिष्यति विधाकृतिः उपकारमिति शेषः, (“नमाप्येष करिष्यति” इत्यत्र, “अयं प्रतिकरिष्यति” इति कामन्दके) इति एतदभिसम्बन्धः, यः सन्धिः, क्रियते ख्याप्यते, स प्रतीकारः प्रतीकाराख्यः सन्धिः, प्रतीकारहेतुत्वादिति भावः, उच्यते, प्रसिद्धैरिति शेषः । (१२२) उपकारमिति ।—अस्य उपकारं कृतं, करोमि, अङ्गमिति, शेषः ।

एकार्थां सम्यगुद्दिश्य क्रियां यत्र हि गच्छति ।

सुसंहितप्रमाणस्तु स च संयोग उच्यते ॥ १२३ ॥

आवयोर्योधमुख्येस्तु मदर्थः साध्यतामिति ।

यस्मिन् पणस्तु क्रियते सः सन्धिः पुरुषान्तरः ॥ १२४ ॥

त्वयैकेन मदीयोऽर्थः सम्प्रसाध्यस्त्वसाविति ।

यत्र शत्रुः पणं कुर्यात् सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥ १२५ ॥

एषः अपि मम करिष्यति च, उपकारमिति शेषः, रामसुग्रीवयोरिव अयमपि प्रतीकारः अपरविषः प्रतीकारसन्धिः ; तुल्यव्यसनगतयोः रामसुग्रीवयोः श्रीराम-चन्द्रः प्रत्युपकारलिप्तः वाल्मिकपूर्वकं राज्यकलत्रप्रदानेन प्रथमं सुग्रीवस्य उपकारं कृतवान्, अनन्तरं सुग्रीवोऽपि श्रीरामचन्द्रस्य प्रत्युपकारं कृतवान् एवमन्योन्यमुपकार-प्रत्याशया सन्धिकरणात् अयं प्रतीकारसन्धिः ।

(१२३) एकार्थमिति ।—यत्र हि सन्धौ, एकः अभिन्नः, अर्थः प्रयोजनं यस्याः सा तां तुल्यविषयिणीं, क्रियां काव्यम्, उद्दिश्य लक्ष्योक्त्य, सम्यक् साधु यथा तथा, सुदृढं यथा तथेत्यर्थः, गच्छति मेलनं याति, सन्धिं करोति इत्यर्थः, सु सुदृढं यथा तथा, संहितं सङ्घटितं, निबद्धमित्यर्थः, प्रमाणं मध्यादा, सोमा इत्यर्थः, यस्य तादृशः, सम्यक्निर्दिष्टावधिकाशः, स तु सन्धिः, संयोगः संयोगसन्धिः, उच्यते च कथ्यते । (“एकार्थां सम्यगुद्दिश्य यातां यत्र हि गच्छतः । स संहितप्रमाणस्तु सन्धिः संयोग उच्यते” ॥ इति कामन्दकीयपाठे—एकार्थां यातान् एकयातव्यावयवान्, उद्दिश्य सम्यक् गच्छतः, अरिविजिगीषू इति शेषः, संहतयोः मिलितयोः, प्रमाणं यत्र तादृशः सः सन्धिः संयोगसन्धिः उच्यते, उभयोर्निमित्तभावेन एकत्र गमनादिति भावः । नय एते अनभियोक्तविषयाः ज्ञातव्याः ।

(१२४) आवयोरिति ।—आवयोर्द्वयोः, योधमुख्यैः भटप्रधानैः, सेनापतिभि-रित्यर्थः, (“योधमुख्याभ्याम्” इति कामन्दकीयपाठे—तत्र मम च सेनापतिनां) मदर्थः मत्कार्ये, साध्यतां सम्पाद्यताम्, एतैरेव अस्मद्भूमौ विरोधाचरणादि कार्यं सम्पन्नं भवतु, आवान्नु उदासीनौ तिष्ठारः इति भावः, इति एवं, यस्मिन् सन्धौ, पणः नियमः, क्रियते, (“पणः प्रक्रियते” इति कामन्दकीयपाठः) स सन्धिस्तु पुरुषान्तरः पुरुषान्तरनामा सन्धिः, विजिगीषोः पुरुषान्तरसन्धानादिति भावः, उच्यते इति शेषः ।

(१२५) त्वयिति ।—त्वया भवता, एकेन असङ्काशेनैव, न वा मत्साहाय्येन

यत्र भूम्येकदेशेन पणेन रिपुरुर्जितः ।

सन्धीयते सन्धिविद्धिः आदिष्टः स उदाहृतः ॥१२६॥

स्वसैन्येन तु सन्धानमात्मादिष्ट उदाहृतः ।

क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः ॥१२७॥

कोषांशिनार्द्धकोषेण सर्वकोषेण वा पुनः ।

शिष्टस्य प्रतिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृतः ॥ १२८ ॥

न वा बलसाहाय्येन इति भावः, मदीयः असौ अर्थः प्रयोजनं, सम्प्रसाध्यः सम्पादनीयः, शत्रुः रिपुः, यत्र सन्धौ, इति इत्य, पणं नियमं, कृष्यान् स्थापयेदित्यर्थः, सः अदृष्टपुरुषः तन्नाम्ना ख्यातः सन्धिः, क्षुतः कथितः । सन्धिरथं विजिगीषोः शत्रुकाव्यमन्यव सम्पादयतः परेणादृष्टत्वाददृष्टपुरुषाख्यः ज्ञातव्यः ।

(१२६) येति ।—यत्र सन्धौ, भूम्येकदेशेन राज्यांशदानरूपेण इत्यर्थः, पणेन नियमेन, जाजंतः वस्त्रातिशययुक्तः, प्रबल इत्यर्थः, रिपुः शत्रुः, विजिगीषुरित्यर्थः, सन्धीयते सन्धेया भवति, हीनबलेनेति शेषः, शेषप्रकृतिरक्षाऽर्थमिति भावः, स सन्धिः, सन्धिविद्धिः सन्धिकुशलेः, आदिष्टः आदिष्टाभिधानः, जाजंतस्य रिपोरभिप्रायानुसारेण सम्पादितत्वादिति भावः ; उदाहृतः कथितः ।

(१२७) स्वेति ।—स्वसैन्येन निजबलेन सह, स्वकीयसेनया सह शत्रुसमीपमुपगम्य इत्यर्थः, तु पुनः, सन्धानं सन्धिः, क्रियते यदिति शेषः, स आत्मादिष्टः आत्मादिष्टाख्यः सन्धिः, आत्मानं शरीरादेशवहं कृत्वा क्रियमाणत्वादिति भावः ; उदाहृतः कथितः । (अत्र द्वितीयपादे “आत्मानिष इति क्षुतः” इति कामन्दकीयपाठे—स आत्मानिषनामा सन्धिः इति क्षुतः ; आत्मानमानिषीकृत्य क्रियमाणत्वादिति भावः) । प्राणरक्षार्थं जीवितरक्षार्थं, प्राणेषु रक्षितेषु सम्पत्तयः पुनरप्यजंनोग्राह्यं तु प्राणा इति बुद्ध्या इति भावः ; सर्वदानात् सर्वराज्यप्रदानात्, (“सर्वदानम्” इति कामन्दकीय पाठः) वः सन्धिः क्रियते संस्थाप्यते, स उपग्रहः उपग्रहनामा सन्धिः ; सर्वथा शत्रूपग्रहहेतुत्वादिति भावः ।

(१२८) कोषेति ।—यत्र कोषांशेन कोषस्य अर्थसमूहस्य, सञ्चिताधराशेरित्यर्थः, अंशेन एकदेशेन, विभागेण चतुर्भागेण वा इत्यर्थः, अर्द्धकोषेण सञ्चितधनं, आर्द्धदानेन, वा अथवा, सर्वकोषेण पुनः सर्वदानेनापि, शिष्टस्य अवशिष्टस्य, अनात्मादेरिति शेषः, सन्धस्य वा, प्रतिरक्षार्थं परित्याग्य, यः सन्धिः क्रियते इति

भुवां सारवतीनान्तु दानादुच्छिन्न उच्यते ।

भूम्युत्पलदानेन सर्वेण परभूषणः ॥ १२८ ॥

परिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिस्कन्धेन दीयते ।

स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः सन्धिं सन्धिविचक्षणाः ॥ १३० ॥

परस्पररोपकारस्तु मैत्री सम्बन्धकस्तथा

उपहारश्च विज्ञेयाश्चत्वारश्चैव सन्धयः ॥ १३१ ॥

शेषः. स पुनः परिक्रयः तन्नामा, उदाहरणः कथितः । (“अन्नं कोषेण” इत्यत्र “अथ कृष्येन” इति तथा “शिशुस्य प्रतिरक्षाशंम्” इत्यत्र “शेषप्रकृतिरक्षाशंम्” इति कामन्दकीयपाठे—कृष्येन स्पर्शरौप्येतरिण द्रव्येण, वस्त्रकम्बलादिना इत्यर्थः) । अयमवशिष्टाभावादीनामच्छिन्नानामिव परिक्रयणात् परिक्रयसन्धिः ।

(१२८) भुवामिति ।—सारवतीनाम् उर्वरत्वादिगुणयुक्तानां, कोषवलभ्यति-
जनिक्तानामिति यावत्, भुवां भूमिनां, दानात् त्यागात्, उच्छिन्नः उच्छिन्ननामा
सन्धिः, उच्यते कथ्यते । अयं सारभूमिदानेन उच्छिन्नसर्वेश्वर्यस्य सन्धिः उच्छिन्न-
सन्धिः । सर्वेण सकलेन, अधिकेनेत्यर्थः, भूम्युत्पलदानेन भूजातशस्यादीनामपणेन,
भूमिभ्यो यावन्ति फलानि उत्पद्यन्ते तदतिरिक्तानामपि समपणनेत्यर्थः, यः
सन्धिः स परभूषणः, उच्यते इति शेषः । सर्वभूमिजातफलेभ्यः अतिरिक्तग्रहणेन
वर्जितः परस्य भूषणभूतत्वादयं सन्धिः परभूषणः । (कामन्दके तु “सर्वभूम्युत्पत्त-
फलदानेन परभूषणः” इति पाठः । “अयं परस्य भूषणात् परभूषणः । तद्वथा—
अपकर्तृकामो ह्यन्यमायादभ्यधिकमिच्छतीति” इति तट्टीकाकारः शङ्कराख्यः) ।

(१३०) परिच्छिन्नमिति ।—यत्र यस्मिन् सन्धौ, परिच्छिन्नं त्वया पतावदुप-
नेतव्यम् इत्येवंरूपेण कृतविशेषनियममित्यर्थः, फलं नियमितं द्रव्यमित्यर्थः, प्रति-
स्कन्धेन स्तम्भं स्तम्भं प्रतिस्तम्भं तेन खण्डखण्डेन, नियममनुसृत्य द्वित्रिचतुर्वारिणेत्यर्थः,
दीयते अर्प्यते, अवलीनं बालिने रिपवे इति शेषः, सन्धिविचक्षणाः सन्धिनीति-
कुशलाः विद्वांसः, तं सन्धिं, स्तम्भोपनेयं तदाख्यं, प्राहुः वदन्ति, निर्दिष्टसमवे
अशाशविभागेन किञ्चित् किञ्चिद्दीयमानत्वादयं स्तम्भोपनेयाख्यः । नवेति सन्धयः
अभिधीकृतिरिज्ञातव्या इति । (“प्रतिस्तम्भेन दीयते” इत्यत्र “स्तम्भस्तम्भेन दीयते”
“सन्धिविचक्षणाः” इत्यत्र “सन्धिविदो जनाः” इति कामन्दकीयः पाठः) ।

(१३१) सन्धिविषये मतभेदमाह, परस्परिति ।—परस्पररोपकारः प्रतीकार-

एक एवोपहारश्च सन्धिरेव मतो मम ।

उपहारविभिन्नास्तु सर्वे सैवविवर्जिताः ॥ १३२ ॥

अभियोक्ता बलीयस्त्वादलब्ध्वा न निवर्त्तते ।

उपहारादृते तस्मात् सन्धिरन्यो न विद्यते ॥ १३३ ॥

राजाऽऽह,—“भवन्तो महापण्डिताः, तदत्रास्माकं यथा-
कार्यम् उपदिश्यताम्” । दूरदर्शी ब्रूते,—“आः ! किमुच्यते ?—

सन्धिः तु किञ्च, सैवो मित्रभावः. सङ्गतसन्धिरित्यर्थः, तथा सन्ध्वन्धः
स्नानसन्धिरित्यर्थः, दारिकादानपूर्वकसन्ध्वन्धसंस्थापनादिति भावः ; उपहारश्च इति
सन्धश्च चत्वारः चतुर्विधा एव, विज्ञेयाः वेदितव्याः, श्रेषाणामेवेवान्तर्भावान्, तथा
च, परस्परोपकाराख्यप्रतीकारसन्धौ उपन्याससंयोगयोरन्तर्भावः, तत्र हि समयो-
पि राज्ञोरेकाग्रसिद्धिः परस्परोपकारात्, कौषदण्डभूमीनाञ्च उपाङ्गयमाणात्
उपहारसन्धौ श्रेषाणामन्तर्भावः विज्ञेयः । (“परस्परोपकारश्च सैवः सन्ध्वन्धश्च ।
उपहारश्च विज्ञेयश्चत्वारोऽन्ये तु सन्धयः” ॥ इति कामन्दकीयपाठः) ।

(१३२) स्मृतमाह, एक इति ।—मम च मम पुनः, एकः उपहार एव तन्नामा
सन्धिरेव, सन्धिः इति मतः अभिप्रेतः. [अत्र “मतः” इति “मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च”
(३।१।१८८पा०) इति वक्तृमाने कविधानात् “क्तस्य च वक्तृमाने” (३।१।६७पा०) इति
मम इत्यत्र कर्त्तरि षष्ठी] सैवविवर्जिताः सङ्गतसन्धिं वर्जयित्वा इत्यर्थः, तत्र सम्प्रदाना-
भावादिति भावः ; सर्वे तु अन्ये सर्वे एव, उपहारविभिन्नाः उपहारसन्धेर्भेदा इत्यर्थः,
यथैवैव सन्धौ आदानप्रदानसन्ध्वन्धसत्त्वात् इति भावः । (“एक एवोपहारस्तु सन्धि-
रेत्यन्तर्हि नः । उपहारस्य भेदास्तु सर्वेऽन्ये सैवविवर्जिताः” ॥ इति कामन्दकीयपाठः) ।

(१३३) तदेव स्फुटयितुमाह, अभिबोक्तेति ।—अत्र यतः इति पदमध्या-
हार्यम् ; बलीयस्त्वात् बलवत्तरत्वात्, बलदपितत्वादित्यर्थः, (“बली यस्मात्” इति
कामन्दकीयपाठः) अभियोक्ता आक्रमणकारी शत्रुः, अलब्ध्वा किञ्चिदपि धना-
दिकम् अप्राप्य, न निवर्त्तते न प्रतिगच्छति, अनभियोक्ता अपि उपन्यासप्रतीकार-
संयोगसन्धिषु किञ्चित् प्रत्युपकाराभिप्रेत्याशया एव घटते न तु किञ्चिदप्यलब्धवान्
इति बोध्यम् ; तस्मात् कारणात्, उपहारात् ऋते उपहारं विना, अन्योऽन्यविधः,
सन्धिः, न विद्यते नास्ति ; सर्वेषामेव उपहारभेदत्वादिति भावः ; स च सन्धिः तत्र
प्रथमोपाय इत्यभिप्रायः ।

आधिव्याधिपरीतापैरद्य श्वो वा विनाशिने ।

को हि नाम शरीराय धर्मापितं समाचरेत् ? ॥१३४॥

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम् ।

तथाविधमिति ज्ञात्वा शश्वत् कल्याणमाचरेत् ॥१३५॥

वाताब्भविभ्रममिदं वसुधाऽऽधिपत्यम्

आपातमात्रमधुरो विषयोपभोगः ।

(१३४) यस्य हि शरीरस्यार्थं दुर्बलपौडनादिकं तत् दोषबहुत्वात् विमश्वरमिति वक्तुं कामन्दकीयद्वितीयसर्गोक्तश्लोकं प्रमाणयति, आधीति ।—आधिः मनोव्यथा, व्याधिः, रोगः, परीतापः पुत्रादिवियोगजनश्लोकः, तैः उपलक्षिताय, आधिव्याधि-परीतापैः हेतुभिरिति वा, (“आधिव्याधिपरीताय” इति कामन्दकीयपाठः) अद्य अस्मिन् अह्नि, श्वो वा परेऽह्नि वा, आशानिनि दिने वा इत्यर्थः, विनाशिने अवश्य क्षयशीलाय, नश्वरायैत्यर्थः, शरीराय देहायैव इत्यर्थः, को हि नाम जनः, नाम इति, प्रश्ने ; धर्मापितं धर्मविगर्हितं, पापमिति यावत्, अविचारेण दुर्बलपौडनादिरूपमिति भावः ; समाचरेत् ? अनुतिष्ठेत् ? न कीदृशीत्यर्थः, देहायै पापकारिणः खलु मूर्खा एव, न तु भवादृशा मादृशा वा इति भावः ।

(१३५) जीवितमनित्यं ज्ञात्वा नृजात्यभिः सदा ज्ञेय एवाचरितव्यमिति वक्तुं कामन्दकीयद्वितीयसर्गोक्तं प्रमाणयति, कलेति ।—देहिनां शरीरिणां, जीवितं जीवतं, खलु निययेन, जलान्तश्चन्द्रचपलं जलमध्यप्रतिविम्बितचन्द्रविम्बवत् चञ्चलं, क्षणविध्वंसीत्यर्थः, इति एवं, ज्ञात्वा विदित्वा, शश्वत् नित्यकालं, तथाविधं तादृशं, शरणागतदुर्बलरक्षणरूपमिति भावः ; कामन्दकीयद्वितीयसर्गे राज्ञानाचारव्यवस्था-प्रकरणे दीनपालनप्रस्तावे श्रीकस्यास्यं उक्तत्वात् ; कल्याणं शुभं, पुण्यमिति यावत्, आचरेत् कुर्यात्, अनित्यजीवनार्थं न कदाऽपि अकार्यं प्रवर्तितव्यमिति भावः ।

(१३६) धर्मस्यैव एकमात्रसहायकत्वे प्रसिद्धप्राचीनश्लोकमाह, वार्तेति ।—इदं, परिदृश्यमानं, वसुधाऽऽधिपत्यं, राजत्वं, वाताब्भविभ्रमं वातं चालितं यत् अश्वं मेघः, तस्य विभ्रमवत् विभ्रमो यस्य तादृशं वायुचालित-मेघ-विलासवत् अस्थिरम् ; अथवा वातस्य वायोः, अस्थस्य मेघस्य च, विभ्रमः भ्रमणं यत् तादृशं, तद्वत् क्षण-व्याधीत्यर्थः, विषयाणां श्लक्ष्णन्दनादीनाम्, उपभोगः रसास्वादनम्, आपात-मात्र-मधुरः आपातमात्रम् आपतनक्षणे, उपभोगसमकालीनैवेत्यर्थः, मधुरः शोभनः,

प्राणास्तृणाग्रजलविन्दुसमा नराणां

धर्मः सखा परमहो ! परलोकयाने ॥ १३६ ॥

मृगतृणासमं वीक्ष्य संसारं क्षणभङ्गुरम् ।

सज्जनैः सङ्गतं कुर्यात् धर्माय च सुखाय च ॥ १३७ ॥

तन्मम सम्प्रतेन (भू) तदेव क्रियताम् । यतः,—

अश्वमेधसहस्रस्य सत्यस्य तुलया धृतम् ।

अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेवातिरिच्यते ॥ १३८ ॥

तत्कालमुखपदः परिणतिविरस इति भावः ; नराणां मानवानां, प्राणाः जीवितस्य, तृणाग्रजलविन्दुसमाः तृणाग्रस्थितवारिकणसदृशाः, क्षणस्थायिन इत्यर्थः, परलोक-याने परलोकगमने, स्वर्गाद्यर्थम् इत्यर्थः, धर्मः सुकृतमेव, परम् एकमात्रः, सखा वस्तुः, सहायः इत्यर्थः, अहो ! इति विस्मये ; यतः धर्म एव पालनीयः सर्वैः इत्यत्र किमुपदेशान्तरेण इति भावः । वसन्ततिलकं वृत्तम् ।

(१३७) सत्यस्य फलमाह, मृतेति ।—क्षणभङ्गुरं क्षणविध्वंसिनं, संसारं विश्वं, मृगतृणासमं मरीचिकासदृशं, नायामयम् असारस्वेत्यर्थः, वीक्ष्य आलोक्य, धर्माय च धर्माय च, सुखाय च श्रेयसे च, सज्जनैः साधुभिः सह, सङ्गतं सन्धिं, मेलनमित्यर्थः, सङ्गताख्यं सन्धिमित्यर्थो वा, कुर्यात् विदधीत, सतां सङ्गिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति इति भावः । (“जगन्मृगतृणासमं वीक्ष्येदं क्षणभङ्गुरम् । सज्जनैः सङ्गतिं कुर्यात् धर्माय च सुखाय च” ॥ इति कामन्दक-तृतीयसर्गोक्तपाठः) ।

(भू) तदेव—काशनापरनामसङ्गताख्यसन्धानमेवेत्यर्थः । (“तावदेवम्” इति पाठः सङ्गतः) ।

(१३८) सत्यस्य शौक्ल्यमाह, अश्वमेधेति ।—अश्वमेधानाम् अश्वमेधयागानां, सहस्रस्य दशशतस्य, सहस्राश्वमेधयागफलस्वेत्यर्थः, तथा सत्यस्य सत्यपरायणता च, तुलया मानदण्डेन, धृतं तोलितं सत्, अश्वमेधसहस्रात् सहस्राश्वमेधयागात्, सत्यमेव सत्यपरायणतैव, अतिरिच्यते गुरुत्वेन अधिकं भवति इत्यर्थः, हि निश्चये, इति ब्रह्मणा श्रुतमिति शेषः । [कर्मकर्मरि लट्] । (“भारतादिपर्वान्तर्गतसम्भवपर्वणि “अतिरिच्यते” इत्यत्र “विश्रियते” इति पाठः । वाल्मीकीयरामायणे अयोध्याकाण्डे शौक्ल्याविलापे तु “अश्वमेधसहस्राद्धि” इत्यत्र “तुल्यविला तु पश्चान्ति”

अतः (ज) सत्याभिधानदिव्यपुरःसरं द्वयोरप्येतयोर्भूपालयोः काञ्चनाभिधानसन्धिविधीयताम् । सर्वज्ञो वदति,—“एवमस्तु” । ततो (ट) वस्त्रालङ्कारोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शी पूजितः प्रहृष्टमनाश्चक्रवाकं गृहीत्वा मयूरस्य राज्ञः समीपं गतः । ततः चित्रवर्णेन राज्ञा सर्वज्ञो गृध्रवचनात् बहुमानदानपुरःसरं सम्भाषितस्तथाविधं सन्धिं स्वीकृत्य राजहंससमीपं प्रस्थापितः । दूरदर्शी ब्रूते,—“देव ! सिद्धं नः (ठ) समीहितम्, इदानीं स्वस्थानमेव विन्याचलं प्रतिगम्यताम्” । अथ सर्वस्वस्थानं प्राप्य मनोवाञ्छितफलम् अनुभवन्ति ।

[* इति हंस-मयूरकथा] ।

विष्णुशर्मणा उक्तम्,—“अपरं किं कथयामि, तदुच्यताम्” । राजपुत्रा ऊचुः,—“आर्य ! तव प्रसादात् (ड) सकलराजव्यवहाराङ्गं ज्ञातं, ततः सुखिनो (ढ) भूता वयम्” । विष्णुशर्मोवाच,—“यद्यप्येवं तथाऽपि अपरमपीदमस्तु,—

इति पाठः । अस्यायिमशोकस्तु तत्रैव यथा,—“शाकशायं महाराज ! पौराणः प्रथितः चितौ । सत्यं पुरा तुल्यता स्वयं गीतः स्वयम्भुवा” ॥ इति) ।

(ज) सत्याभिधानदिव्यपुरःसरं—सत्याख्यप्रपञ्चपूर्वकं, सत्यप्रपञ्चं कृतेत्यर्थः । काञ्चनाभिधानसन्धिः,—काञ्चनसन्धिः, सङ्गतसाम्भारित्यर्थः ।

(ट) वस्त्रालङ्कारोपहारैः,—वसनभूषणोपढौकनप्रदानादिना ।

(ठ) समीहितम्—अभीष्टम् ।

(ड) सकलराजव्यवहाराङ्गं—राज्ञां कृपाणां, व्यवहारः स्थितिः, कर्तव्या-कर्तव्यावधारणमित्यर्थः । तन्निर्णायकं शास्त्रमिति यावत्, नीतिशास्त्रमिति भावः ; यद्वा,—व्यवहारः न्यायः, नियम इति यावत्, (“न्यवहारः द्रुमेष्टे व्याख्यायेंऽपि च पणे स्थितौ” इति मेदिनी) तस्य अङ्गम् अवयवः, अंश इत्यर्थः, सकलं निखिलं, राजव्यवहाराङ्गं नीतिशास्त्रस्य निखिलांश इत्यर्थः ।

(ढ) भूताः,—सन्नाताः ।

... इयं खलु विषये प्रारब्धा चतुर्षु सन्नातिं गता ।

सन्धिः सर्वमहोभुजां विजयिनामस्तु प्रमोदः सदा
 सन्तः सन्तु निरापदः सुकृतिनां कौर्त्तिश्चिरं वर्द्धताम् ।
 नोतिर्वारविलासिनीव सततं वचःस्थले संस्थिता
 वक्त्रं चम्बतु मन्त्रिणामहरदो भूयान्महानुत्सवः ॥१३८॥

अन्यच्चास्तु,—

उर्वीमुद्दामशस्यां जनयतु विसृजन् वासवो वृष्टिमिष्टाम्
 दृष्टैस्तैर्विष्टपानां विदधतु विधिवत् प्रीणनं विप्रमुख्याः ।
 आकल्पान्तश्च भूयात् नमुपचितसुखः सङ्गमः सज्जनानां
 निःशेषं यान्तु शान्तिं पिशुनजनगिरो दुर्जया

वज्रजेपाः ॥१४०॥

(१३८) ग्रन्थावसाने भरतवाक्यमाह, सन्धिरिति ।—विजयिनां जयश्रीलाभां,
 सर्वमहोभुजां सकृन्नरपतीनां, सन्धिः सेलनं, सदा सततं, प्रमोदयतीति प्रमोदः
 कौर्त्तिजननः, सन्तु भवतुं, ते अविष्टस्त सदा सन्धिमेव श्रेयसे परिगणयन्तु इत्यर्थः ;
 वक्त्रं,—सर्वमहोभुजां सन्धिः सन्तु भवतु, राजानः सर्वे परस्परं सख्यमृतेषावद्धाः
 तिष्ठन्तु इति भावः ; विजयिनां सदा प्रमोदः हर्षः, सन्तु भवतु ; सन्तः सज्जनाः,
 निरापदः निर्विघ्नाः, सन्तु तिष्ठन्तु, सुकृतिनां पुण्यवतां, कौर्त्तिः यशः, चिरं निर्व्यं,
 वर्द्धताम् आप्यायतां, समन्तात् प्रसृता भवतु इत्यर्थः, नोतिः नयः, वारविलासिनीव
 राजानेव, सततं सदा, मन्त्रिणां मुचिवाणां, वचःस्थले वचसि, मनसि इत्यर्थः,
 संस्थिता अधिष्ठिता सती, वक्त्रं मुखं, चम्बतु मुखे च निवसतु इत्यर्थः,
 मन्त्रिणः सदा नीत्यनुसारणैव राजकार्यं साधयन्तु इति भावः, अहरदः प्रतिदिनं,
 भूयान् अतिशयः, उद्दामः आनन्दानुष्ठानं, भूयात् सन्तु, जनानामिति जयः, प्रजाः
 शान्तिः महोत्सवेनेव दिनम् अतिवाहयन्तु इत्यर्थः । गार्हपत्यविक्रीडितं व्रतम् ।

(१४०) उर्वीमिति ।—वासवः इन्द्रः, दृष्टां पृथ्वीमां, वृष्टिं वर्षं, जलमित्यर्थः,
 विसृजन् मुच्यन्, यथेष्टं वारिवर्षणं कृत्वेत्यर्थः, उर्वीं पृथिवीम्, उद्दामशस्यां
 मुरधात्यादिसम्पन्नां, जनयतु विदधात, विप्रमुख्याः ब्राह्मणश्रेष्ठाः, यागविधिज्ञा
 नवरा इत्यर्थः, तैरिष्टैः यादृशैरिष्टैः विष्टपानां विधिवत् प्रीणनं भवति,
 दुर्जयैः कृतभिरित्यर्थः, (“विद्यादिष्टं कृतावपि” इति श्राव्यतः) विष्टपानां
 विष्टपानां, (“यथो जगती लोको विष्टपं सुवनं जगत्” इत्यमरः) विधिवत्

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥१४१॥

इति श्रीविष्णुशर्मविरचिते द्वितीयोपदेशे सन्निर्नाम

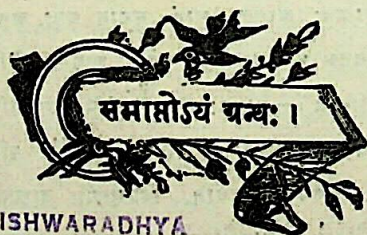
चतुर्थः अध्यायः ॥ ४ ॥

यथावत्, प्रीत्यर्थं तपस्यं, रक्षणमित्यर्थः, यागस्य पञ्चजनकत्वेन पञ्चन्यस्य च जगत्तर्पकत्वेनेति भावः; तथा च.—“अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः । यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः” ॥ इति; पितृभ्यः कुर्वन्तु, [वि+धा + लोट्-अन्तु] आकल्पान्तम् आप्रत्ययं, प्रलयकालपर्यन्तमित्यर्थः, सज्जनानां सत्त्विकानां, सङ्गमः मेलनश्च, समुपचितसुखः समुपचितं सम्यक् इति गतं, सुखम् आनन्दः यत्र तादृशः, अत्यर्थमानन्दजननः, भूयात् अस्तु, मुक्ताः परस्परं मिलिताः आप्रत्ययं सुखेन तिष्ठन्तु इत्यर्थः; दुर्जयाः अतिदारुणाः, वचलीपाः वचलीपवत् सुदृढतया मनसि अहिता इत्यर्थः, पिशुनजनगिरः खलानां वाचः, निःश्रेयं सम्पूर्णं यथा तथा, शान्तिं प्रशमं, यान्तु गच्छन्तु, खलजनाः खलखलोक्तिं सर्वथा परिहृत्य मुक्ताः मधुरभाषिणश्च भवन्तु इत्यर्थः, खलाः सर्वे विनष्टा भवन्तु इत्यर्थो वा । सन्धरा इत्तम् ।

*(१४१) सर्वे इति ।—सर्वे मुक्ताः, जना इति शेषः, सुखिनः सुखभाजः, भवन्तु जायन्तां, सर्वे निखिला लोकाः, निरामयाः नीरीगाः, सन्तु भवन्तु, सर्वे कृत्वा लोकाः, भद्राणि शुभानि, पश्यन्तु अवलोकन्तां, लभन्तामित्यर्थः, कश्चित् कोऽपि जनः, दुःखभाक् दुःखी, मा भवेत् न भवतु ।

इति पण्डितकुलपतिना श्रीमज्जीवानन्द-विद्यासागर-भट्टाचार्येण विरचिता

द्वितीयोपदेशव्याख्या ॥ ४ ॥



SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY.

Bangamwadi Math, VARANASI.

Acc. No. 1354

CC-0. Jagadgurur Math Collection. Digitized by eGangotri

$$\begin{array}{r} 01 = 52 \text{ } 25 \\ \hline 2434 \end{array}$$





